Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रवचनरत्नाकर

भाग-११

(समयसार सम्पूर्ण परिशिष्ट)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(भगवान महावीर 26 सौ वाँ जन्म-कल्याणक वर्ष)

प्रवचनरत्नाकर

भाग 11

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के समयसार पर हुए प्रवचन)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

अनुवादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रकाशक :

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम संस्करण : 3 हजार
(25 अप्रैल 2002)
महावीर जयन्ती

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
प्रिन्टो 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Pravachan Ratnakar Part 11 (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	26 April 2009	First electronic version

प्रकाशकीय

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थाधिराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचनरत्नाकर भाग 11 प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी इस युग में सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकार को यह दिगम्बर जैनसमाज युगों-युगों तक स्मरण रखेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवन-धारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रन्थ को पाकर सन् 1934 में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुँहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और सामान्य ब्रह्मचारी श्रावक के रूप में अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने 45 वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नही हैं ,तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया ही गया है; परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय मुम्बई के श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रन्थाधिराज पर हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ के गुजराती प्रवचन 11 भागों में प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार पर हुए प्रवचनों को हिन्दी में रूपान्तर करके 'प्रवचनरत्नाकर' के ही नाम से अभी तक दस भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह ग्यारहवाँ भाग आपके हाथों में है।

हिन्दी में रूपान्तरित प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में 1 से 25 गाथाएँ, द्वितीय भाग में 26 से 68, तृतीय भाग में 69 से 91, चतुर्थ भाग में 92 से 144, पाँचवें भाग में 145 से 180, छठवें भाग में 181 से 214, सातवें भाग में 215 से 236; आठवें भाग में 237 से 307, नौवें भाग में 308 से 372, दसवें भाग में 373 से 415 गाथाएँ और ग्यारहवे भाग में परिशिष्ट तक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद कार्य में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने सम्हाली है; अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं। वे सभी दान-दातार भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर पुस्तक को जन सामान्य के लिए अल्प मूल्य में उपलब्ध कराया है।

आप सभी प्रवचनरत्नाकर के माध्यम से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें – इसी भावना के साथ –

महामंत्री
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गूढ़ गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ। अन्यथा थोड़ी-सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गमीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर प्रारम्भिक परिश्रम और कठिनाईयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर अन्ततोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया था। इस कार्यभार को संभालने में संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचनरत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और

भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। प्रारम्भ में एक-दो भागों में जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ गुजराती-हिन्दी शब्दकोष के सहारे उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ। बाद के अनुवाद कार्य में तो वह भी कठिनाई नहीं हुई।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गंभीर रहस्यों को – जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्मसन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तः सुखाय बन गया आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्य निशास्त्रसमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः-पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा और अपेक्षा है।

– रतनचन्द भारिल्ल

सम्पादकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जन साधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त 19 बार तो सभा में प्रवचन दिए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन द्रष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है –

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र, बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले विरले ही थे। आज भी दि. जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले ही हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर

---

1. जैन सन्देश, 4 नवम्बर 1976, सम्पादकीय

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमगाम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर 18 वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। 16 अप्रेल, 1980 ई. को मुम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की 91 वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन,चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इसके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है। इसकारण मुझे यद्यपि इसके सम्पादन में अधिक श्रम उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर में जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गये हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ को जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लगभग चार सौ पृष्ठों

का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वोल्यूम बनाने में विषयवस्तु बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुररुक्ति भी बहुत पाई जाती है। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जाय – इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है; पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिन्दी के भी प्रायः एक पेज में ही आ गया है। ग्रन्थ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित हो गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूल ग्रन्थ संस्कृत व हिन्दी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत-सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गइराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन संबंधी छोटी-छोटी त्रुटियों की उपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसंबंधी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

– (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

(परिशिष्टम्)

यहाँ तक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य की ४१५ गाथाओं का विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है और उस विवेचन में कलश-रूप तथा सूचनिकारूप से २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि – इस शास्त्र में ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिए कोई यह प्रश्न करे कि – 'जैनमत तो स्याद्वादरूप है; तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता ? और एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व – दोनों कैसे घटित होते हैं ? ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्व-विशुद्धिज्ञान अधिकार के अन्त में परिशिष्ट रूप से कुछ कहते हैं। उसमें प्रथम श्लोक इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते।।२४७।।

श्लोकार्थ – (**अत्र**) यहाँ (**स्याद्वाद-शुद्धि-अर्थ**) स्याद्वाद की शुद्धि के लिए (**वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिः**) वस्तुतत्त्व की व्यवस्था (**च**) और (**उपाय-उपेय-भावः**) (एक ही ज्ञान में उपाय-उपेयतत्त्व कैसे घटित होता है, यह बतलाने के लिए) उपाय-उपेयभाव का (**मनाक् भूयः अपि**) थोड़ा-सा फिर से भी (**चिन्त्यते**) विचार करते हैं।

भावार्थ – वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक-अनेक धर्मस्वरूप होने से वह स्याद्वाद से ही सिद्ध किया जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धता (प्रामाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करने के लिए इस परिशिष्ट में वस्तुस्वरूप का विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जायेगा कि इस शास्त्र में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, फिर भी स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता) और दूसरे, एक ही

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान में साधकत्व तथा साध्यत्व कैसे बन सकता है – यह समझाने के लिए ज्ञान का उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधक-साध्यभाव भी इस परिशिष्ट में विचार किया जावेगा।

कलश २४७ पर प्रवचन

देखो, भगवान ने केवलज्ञान में आत्मवस्तु को जैसा देखा है, उसकी सिद्धि के लिए समयसार ग्रन्थ में अबतक भरपूर कहा जा चुका है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र स्याद्वाद की शुद्धि और वस्तुतत्त्व की व्यवस्था के विषय में कुछ और विशेष कहना चाहते हैं।

'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से और 'वाद' अर्थात् कथन करना। किसी अपेक्षा से कथन करने का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्तमय वस्तु को अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु को किसी न किसी अपेक्षा से कहने की शैली को स्याद्वाद कहते हैं।

प्रश्न – सम्पूर्ण समयसार में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है; क्या यह एकान्त नहीं है?

उत्तर – नहीं, यह एकान्त नहीं है; क्योंकि अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है। जैसे कि – ज्ञानमात्रवस्तु आत्मा आत्मापने से है तथा शरीर, मन, वाणी और रागादि परज्ञेयपने से नहीं है। आत्मा स्वरूप से है – यह आत्मा का अस्तिधर्म है तथा आत्मा परज्ञेयपने से नहीं है – आत्मा का यह नास्ति धर्म आत्मा में अस्तित्वपने है, अन्यथा तो स्व-पर मिलकर एकमेक हो जाते। दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् रहे, एतदर्थ प्रत्येक वस्तु में नास्ति धर्म का अस्तित्व होना अनिवार्य है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, सत्-असत् रूप अनेक धर्मों का होना ही तो अनेकान्त है।

यहाँ सम्यग्दर्शन आदि रूप धर्म की बात नहीं है। यहाँ तो वस्तु को धारण करनेवाले भाव को धर्म कहा है। इस रीति से यहाँ गुण एवं पर्यायों को धर्म कहा है। पुण्य-पाप के भावों को भी जीव ने एकसमय की पर्याय में धारण कर रखा है। इसकारण उन्हें धर्म भी कहते हैं। यहाँ अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि धर्मों के चौदह बोलों द्वारा स्याद्वाद की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धि करेंगे। आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से इसमें शरीरादि परद्रव्यों की नास्ति आ जाती है। इसप्रकार ज्ञानमात्रवस्तु (आत्मा) में अनेक धर्म आ जाते हैं। ज्ञानमात्रवस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है। इसतरह वस्तु में नित्य-अनित्य धर्म समा जाते हैं। 'ज्ञान है' – ऐसा कहने से, वह ज्ञेय भी होता है, इसतरह उसमें प्रमेयपना भी आ जाता है। 'ज्ञानमात्र' कहने से उसका अविनाभावी सुख भी आ गया, क्योंकि ज्ञानमात्र की स्वीकृति में अनाकुल आनन्द का अंश प्रगट होता ही है।

अहो! ऐसी बात सर्वज्ञदेव के मार्ग के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है।

अहा! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ने जैसा वस्तुस्वरूप जाना, वैसा जगत के समक्ष बिना इच्छा के ही जाहिर कर दिया है। अरहंत भगवान के वीतराग हो जाने से इच्छा तो होती ही नहीं। बिना इच्छा के ही उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। उनकी उस वाणी के आधार से सन्तों ने शास्त्र रचे हैं। उनमें अनेकान्तमय वस्तु के स्वरूप का वर्णन किया है।

अहा! 'यह वस्तु है' कहते ही उसमें पर की नास्ति आ जाती है। देखो! 'यह अंगुली है' – ऐसा कहते ही यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि यह अंगूठा आदि और कुछ नहीं है, यदि ऐसा न मानें तो वस्तु की सिद्धि ही संभव नहीं है। दो वस्तुएँ भिन्न-भिन्न सिद्ध नहीं हो सकेंगी। इसीप्रकार 'भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा प्रभु ज्ञानमात्रपने है', ऐसा कहते ही शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों और रागादि परज्ञेयों में इसकी नास्ति है, यह स्पष्ट हो जाता है। अहो! ऐसी अनेकान्तस्वरूप दृष्टि परमामृतरूप है। ये ही सम्यक्दृष्टि है।

अहा! भगवान आत्मा चैतन्य का पुंज प्रभु है। द्रव्यकर्म तो जड़ हैं ही, पुण्य-पाप के भाव भी आत्मा के विकार हैं। यद्यपि ये एकसमय की पर्याय के धर्म हैं; परन्तु त्रिकाली एक चैतन्यभाव में ये पुण्य-पापरूप विकार नहीं हैं, त्रिकाली स्वभाव सदा निर्विकार है। ऐसे निर्विकारी स्वभाव में रमणता करना धर्म है। लोक ऐसी अनुपम निजवस्तु को छोड़कर बाहर में धर्म मानते हैं। बस, यही अज्ञान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अरे रे ! इस अज्ञानी जीव ने आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया, परिणाम यह हुआ कि जगत ने भी इसे आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया, जीव नहीं माना; क्योंकि यह ऐसी-ऐसी हीन योनियों में गया जहाँ इसे जीव के रूप में पहचानना भी कठिन हो गया। अहा ! एक शरीर में अनन्त जीव और एक श्वांस में अठारह बार जन्म-मरण – ऐसी निगोद की योनियों में इतना सूक्ष्म शरीर मिला कि कोई मान ही नहीं पाता कि यहाँ भी जीव हैं। भाई ! यह बात कहने की नहीं, बल्कि पूर्ण सत्य बात है।

यहाँ दो बातें मुख्यरूप से कही हैं –

१. 'आत्मा ज्ञानमात्रवस्तु है' ऐसा कहना एकान्त नहीं, बल्कि यह अनेकान्त है, स्याद्वाद है।

२. एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में उपाय-उपेयपना घटित होता है।

उपाय-उपेयभाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि – आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इस एक ज्ञानस्वरूप आत्मा में साधकपना एवं साध्यपना घटता है। 'ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा वस्तुपने एक होते हुए भी साधक और साध्य या उपाय व उपेय – इस तरह दो भेदरूप है। जो ज्ञान साधकपने परिणमता है, उसे उपाय कहते हैं, मार्ग कहते हैं और यही ज्ञान जब परिपूर्ण परिणमता है तो उसे साध्य कहते हैं, मोक्ष कहते हैं।'

अहा ! ऐसा साधक-साध्य का स्वरूप कहा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बीच में जो दया-दान-व्रतादि के परिणाम आते हैं, वे साधकभाव नहीं हैं, मोक्षमार्ग नहीं हैं। वे पुण्यबंध के ही कारण हैं। स्वयं सर्वज्ञस्वभावी आत्मप्रभु एकाग्र होकर जो श्रद्धा-ज्ञान-शांति प्रगट करता है, वही मोक्षमार्ग है और वह आत्मा की ही दशा है, ज्ञान की दशा है, राग की नहीं।

चिदानन्दमय प्रभु भगवान आत्मा पूर्ण है, एक है। उसकी पर्याय में जो अपूर्ण साधकपना प्रगट होता है, वह आत्मा की निर्मलदशा है, इसके फल में जो केवलज्ञान की पूर्ण साध्यदशा प्रगट होती है, वह भी ज्ञान की – आत्मा की दशा है। इसप्रकार द्रव्यस्वभाव से एकरूप होते हुए भी उसकी पर्याय में दो भंग पड़ जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलश २४७ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान के ज्ञान में जो छह द्रव्यरूप वस्तुएँ आई हैं, उन सबका स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। त्रिकालद्रव्यरूप वस्तु सामान्यपने है और पर्यायरूप विशेषपने है। जो धर्म या गुण त्रिकाल ध्रुवपने रहे, वह सामान्य और उनका पलटना, वर्तमान अवस्थारूप होना विशेष। यह सामान्य व विशेष दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप जाने बिना धर्म की प्राप्ति कैसे हो ?

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में अनेक धर्म हैं सामान्यधर्म और विशेषधर्म – इसप्रकार वस्तु में मूलतः दो धर्म हैं। प्रथम एकरूप ध्रुवपने टिका रहनेवाला सामान्यधर्म और प्रकटनेरूप दूसरा विशेषधर्म। अहा ! इस तरह वस्तु अनेकधर्म युक्त होने के कारण अपेक्षा के कथन से ही साधी जा सकती है, सिद्ध की जा सकती है। अपेक्षा न रखकर मात्र सामान्य ही है, विशेष नहीं अथवा विशेष ही है,सामान्य नहीं – ऐसा एकान्त पकड़े तो वस्तु ही सिद्धि न हो; क्योंकि वस्तु स्वभाव से ही सामान्य-विशेषस्वरूप है। सामान्य त्रिकालीध्रुव का निर्णय करनेवाला विशेष (ज्ञान) भी पर्याय ही है। ऐसा सहज वस्तुस्वरूप है। इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धता, प्रामाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्भयता, अद्वितीयता सिद्ध करने के लिए इस परिशिष्ट में वस्तु का स्वरूप विचारने में आता है।

अहा ! देखो तो सही, स्याद्वाद के लिए कैसे-कैसे शब्दों का प्रयोग किया है।

देखो, ज्ञानस्वरूप आत्मा ही साधकपने होकर साध्यपने होता है। बीच में दया, दान आदि जो शुभराग होता है, वह साधक नहीं है, उपाय नहीं है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता-लीनता होने पर जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, वह मोक्ष का साधक है तथा उसके फलस्वरूप में जो केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है, वह साध्य है; उपेय है। स्वयं चैतन्यप्रकाश का पुंज है, इसप्रकार इसमें दो पना घटता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलश २४७ की संस्कृत टीका

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। से तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति। सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात्। तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक वस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्धशक्ति द्वयप्रकाशनमनेकांतः। तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनंत ज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तिपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदय -रूपाविभागद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंत-

---

अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं –

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला, अर्हत सर्वज्ञ का एक अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है' इसप्रकार उपदेश करता है; क्योंकि समस्त वस्तुयें अनेकान्त-स्वभाववाली हैं। ('सर्व वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं' – इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता; परन्तु जैसा अनेकान्तस्वरूप वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही कहता है।)

यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता से उपदेश करने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो (वस्तु) एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है – इसप्रकार 'एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।' इसलिए अपनी आत्मवस्तु को भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व और नित्यत्व-अनित्यत्व प्रकाशता ही है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन -सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेना सत्त्वात् अनादि-निधनविभागेकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेक वृत्त्यशंपरिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्त्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशात् एव।

ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्त प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशासनस्यतेऽनेकांतः ? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रत्वस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्र-मात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति। तथाहि — इह हि स्वभावात् एव बहुभावनिर्भर-

---

क्योंकि उसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) अंतरंग में चकचकित प्रकाशित होते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है और बाहर में प्रगट होते अनन्त, ज्ञेयत्व को प्राप्त, स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा (ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात ज्ञान उस रूप नही है); सहभूत (साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अंशों के समुदायरूप अविभागद्रव्य के द्वारा एकत्व है और अविभाग एक द्रव्य में व्याप्त, सभूत वर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अंशरूप (चैतन्य के अनन्त अंशों रूप) पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभावपने के द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्त्व है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल -भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभावपने के द्वारा असत्त्व है; अनादि निधन अविभाग एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा नित्यत्व है और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति अंशों रूप से परिणतपने के द्वारा अनित्यत्व है। (इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो-दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिए अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है)

प्रश्न — यदि आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी स्वयमेव अनेकान्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विश्वेसर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निद्धुषेमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव। तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भाव: शेषभावै: सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयानादिज्ञेय-परिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति १। यदा तु सर्वं वे खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाभिदन्नं ज्ञानं दर्शयन्नेकांत एव नाशयितुं न ददाति२। यदानेक

प्रकाशता है, तब फिर अरहंत भगवान साधन के रूप में अनेकान्त का (स्याद्वाद) का उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर – अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश देते हैं – ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में अनेकान्त (स्याद्वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसी को इसप्रकार समझाते हैं –

स्वभाव से ही बहुत भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्व भावों के स्वभाव से अद्वैत होने पर भी द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)। वहाँ जब यह ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) शेष (बाकी के) भावों के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता -ज्ञेय के संबंध के कारण और अनादि काल से ज्ञेयाकार परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब (उसे ज्ञानमात्रभाव का) स्वरूप से (ज्ञानरूप से) तत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञानरूप से ही है – ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूप से परिणमन के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञेयाकारैः खण्डितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा द्रव्येणैकत्वं-द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानाया-नेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन्ननेकांत एवं नाशयितुं न ददाति४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तथा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्येन प्रतिपाद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव

कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही (स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है – नाश नहीं होने देता ।१।

और जब ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' इसप्रकार अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से (ज्ञानरूप से) मानकर-अंगीकार करके विश्व के ग्रहण के द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगत को निजरूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रगट करके) विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (ज्ञानमात्र भाव का) नाश नहीं होने देता ।२।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (ज्ञेयों के आकारों द्वारा) नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है – नष्ट नहीं होने देता ।३।

और जब ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान आकार को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है, तब उस (ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं होने देता ।४।

जब यह ज्ञानमात्र, जानने में आनेवाले ऐसे परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर – अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब, (ज्ञानमात्र भाव का) स्वद्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नाशयितु न ददाति६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत. एव तमुज्जीवयति७। यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्रे एव ज्ञानस्य परक्षेत्र गतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वपरक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितु न ददाति८। यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ९। यदा त्वार्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपाद्यमानं नाशयति, तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत

ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।५।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)' इसप्रकार परद्रव्य का ज्ञातृत्वरूप से मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (अर्थात् आत्मा परद्रव्यरूप से नहीं है, इसप्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।६।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान का सत् मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।७।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में होने के लिए (रहने के लिए, परिणमने के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है, उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगतज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्र भाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।८।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वावलंबित पदार्थों के विनाशकाल में (पूर्व में)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एव नाशयितुं न ददाति१०। यदा ज्ञायमानपरभाव—परिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति११। यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति१२। यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खण्डित नित्यज्ञानसामान्या नाशमुपैति, तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं

जिनका आलम्बन किया था – ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय ज्ञान का असत्पना मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वकाल से (ज्ञान के काल से) सत्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता ६।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के आलम्बन काल में ही (मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही (ज्ञान का सत्पना मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेक़ान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।१०।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वभाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।११।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व मैं ही हूँ' इसप्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर अंगीकार-करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।१२।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति १३। यदा तु नित्यज्ञानसामान्यो–पादानायनित्यज्ञानविशेषोत्यागे नात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेषरूपेणा–नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १४।

ज्ञानमात्र भाव का) ज्ञानसामान्यरूप से नित्यत्व को प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता।१३।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।१४।

(यहाँ तत्-अतत् के २ भंग, एक-अनेक के २ भंग, सत्-असत् के द्रव्य-क्षेत्र- काल-भाव से ८ भंग और नित्य-अनित्य के २ भंग – इसप्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन चौदह भंगों में यह बताया गया है कि – एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।)

कलश २४७ की संस्कृत टीका पर प्रवचन

स्याद्वाद का स्वरूप

'स्याद्वाद' शब्द का अर्थ है अपेक्षा से कथन करना। यह शब्द दो पदों से मिलकर बना है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से और 'वाद' यानि कथन। इस तरह स्याद्वाद का अर्थ सापेक्ष कथन होता है। जैसे कि आत्मा त्रिकाल है, इस अपेक्षा से उसे नित्य कहा है तथा आत्मा की बदलती हुई अवस्था की अपेक्षा आत्मा अनित्य है। बस, यही स्याद्वाद है। वस्तुतः स्याद्वाद वस्तुस्वरूप को मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली का नाम है। यह स्याद्वाद समस्त वस्तुओं में परस्पर विरुद्ध रहनेवाले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत्, सत्-असत् आदि गुणधर्मों को अपेक्षा से साधने वाला भगवान सर्वज्ञदेव का निर्बाध शासन है।

यदि कोई आत्मा को एकान्त से सर्वव्यापक मान एकान्त से नित्य माने तो उसने स्याद्वाद को समझा ही नहीं, अनेकान्त को जाना-माना ही नहीं – यही माना जायेगा न! स्याद्वादी तो वह है जो द्रव्य-गुण-पर्यायमय वस्तु को मानता है। द्रव्य एक, गुण अनन्त, पर्यायें अनन्त – ऐसा जो मानता है, वही स्याद्वाद को सही समझता है। अनेकान्तात्मक वस्तु के अनन्त धर्ममय वस्तु के अनेक या अनन्त धर्म एकसाथ जाने तो जा सकते हैं; परन्तु कहे नहीं जा सकते। बस, मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली ही स्याद्वाद है। जगत में छह द्रव्य हैं, वे सभी अनेकधर्मस्वरूप हैं। यहाँ धर्म से तात्पर्य सामान्य-विशेष, एक-अनेक, गुण-पर्याय, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि वस्तु द्वारा धारण किए हुए जीवस्वभाव। आत्मा वस्तुपने एक है और गुण-पर्यायों की अपेक्षा अनेक है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु तथा धर्म-अधर्म, आकाश व काल – सभी अनेकान्त-स्वभाववाले होते हैं। इन सभी के अनन्त धर्मों का कथन स्याद्वाद वाणी के द्वारा किया जाता है। जैसा वस्तु का अनेकान्तस्वभाव है, वैसा ही स्याद्वाद कहता है। स्याद्वाद और अनेकान्त में वाचक-वाच्य संबंध है। स्याद्वाद वाचक है और अनेकान्त वाच्य।

अब आत्मा नामक वस्तु में अनेकान्त को सिद्ध करते हैं – देखो, रागादि से रहित, परद्रव्यों से भिन्न आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रपने उपदेश करने से भी इसमें स्याद्वाद व अनेकान्त का विरोध नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मा के स्वयमेव अनेकान्तपना है। ज्ञानमात्र वस्तु अनन्त परज्ञेयरूप से नहीं है – इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मा के अस्ति-नास्ति – दोनों धर्म हैं। इस बात की सिद्धि हो जाती है। नास्ति के कथन में पर की अपेक्षा भले हो; परन्तु वह 'नास्ति' धर्म भी वस्तु में अस्तिपने है। ज्ञानमात्र कहने पर ज्ञान भी आया और परज्ञेयों की नास्ति भी उसमें अस्तिरूप से आ गई। इसप्रकार उसमें सहजरूप से अनेकान्तपना है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसप्रकार यह कहा है कि 'अमुक भाई को बुलाओ' – ऐसा कहते ही अन्य सब का सहज ही निषेध हो गया; उसीप्रकार आत्मा को 'चैतन्यप्रकाश की मूर्ति' कहने पर उसमें स्वयमेव उसके सहभावी गुणों की अस्ति और प्रतिपक्षी गुणों की नास्ति आ ही जाती है।

तत्-अतत् का बोल –

तत्-अतत् वस्तु के धर्म हैं। जो तत् है, वही अतत् है। आत्मा ज्ञान स्वरूप से, अन्दर से तत् है तथा परज्ञेयरूप से अतत् है। इसतरह वस्तु में एक ही साथ दोनों धर्म सिद्ध हो जाते हैं।

अब कहते हैं कि जब आत्मवस्तु पररूप नहीं है तो पर इसकी क्या हानि कर सकते हैं तथा पर इसको लाभावन्वित भी कैसे कर सकता है? और जो परवस्तु परपने से है, आत्मपने से नहीं है, उस परवस्तु का आत्मा कर भी क्या सकता है? कुछ भी नहीं।

अहा! वस्तु का ऐसा स्वभाव जानकर स्वरूप की ओर झुकते ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। बस, यही धर्म है। इसके बिना तो सभी बाह्य क्रियाकाण्ड एक के बिना बिन्दी जैसा नगण्य है।

अरे! इन सेठिया बेचारों को यह तत्त्व समझने की फुरसत तो मिलती नहीं है। भले, लाख दो लाख रुपया रोज कमाते हों; पर इससे क्या? यह तो पाप की मजूरी है, ये बड़े लोग मोटे मजदूर हैं। इन्हें कहाँ फुरसत है? यह हँसने की बात नहीं है, जरा गंभीरता से सोचना पड़ेगा, अन्यथा मरकर कहीं नरक/निगोद में जन्म लेना पड़ेगा, जहाँ अनन्तकाल के लिए अनन्त दुःख भोगना पड़ेंगे।

अहाहा....! भगवान आत्मा जो तत् है, वही अतत् है। भगवान आत्मा जो चैतन्य के प्रकाशरूप से है, वह पररूप से नहीं है। कर्म, मन, वाणी, शरीर आदि जड़स्वरूप से आत्मा नहीं है। भाई! ऐसा यथार्थ निर्णय करे तो अन्दर में तत्त्व की सिद्धि हो। इसे ज्ञानमात्र देखते ही अन्दर में सम्यग्दर्शन होता है। तभी धर्म की शुरूआत होती है।

प्रश्न – तत्-अतत् की बात अपनी जगह सही है; परन्तु यह एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अंगुली दूसरी अंगुली के साथ जुड़ी हुई है न!

उत्तर – जुड़ी हुई नहीं है; यह तो दूसरी अंगुली के अभावस्वरूप ही है। यदि ऐसा न हो तो 'दो अंगुलियाँ' यह बात सिद्ध न हो। क्या दो वस्तुएँ कभी एक होती हैं? नहीं होतीं। दो तो दो ही रहती हैं; परन्तु 'ऐसा माना है' – यह कब कहा जाये? जब यह जीव ऐसा माने कि एक अंगुली दूसरी अंगुलीपने से है ही नहीं, यह पहली अंगुली दूसरी अंगुली का कुछ करती ही नहीं है, तब यह कहा जा सकता है कि एक अंगुली दूसरे से अतत् स्वरूप है, अभावस्वरूप है।

अहा......! चैतन्यप्रकाश का पुंज ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा के ज्ञान में ज्ञेयपने जो अनन्त पदार्थ जाने जाते हैं, वहाँ वस्तुतः तो आत्मा की ज्ञानपर्याय ही जानने में आती है, अपनी स्वपर प्रकाशक ज्ञानदशा ही जानने में आती है और वह ज्ञान ही आत्मा है। परज्ञेयरूप आत्मा नहीं है। परज्ञेयरूप से तो आत्मा अतत् स्वभाव है – ऐसा कहा है।

भाई! मैं (आत्मा) जिसप्रकार स्वरूप से तत् हूँ, उसीप्रकार यदि पर से भी तत् होऊँ तो पर व मैं (आत्मा) स्वयं एक हो जायेंगे, एकमेक हो जायेंगे अथवा कुछ भी नहीं रहेगा; परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। आत्मा स्वपने तत् है और पर से अतत् स्वभाव ही है। इसलिए यह बात सही नहीं ठहरती कि बाहर की अनुकूलता हो, धनादि सम्पत्ति हो तो मुझे धर्मसाधन अच्छा हो सकेगा। भाई! यह धर्मसाधन पर से बनता-बिगड़ता नहीं है; क्योंकि जब परपने वस्तु है ही नहीं, तो पर के कारण उसका भला-बुरा होने का प्रश्न ही कहाँ से आया?

बापू! यह अनेकान्त सिद्धान्त तो अमृत है। जो इसे समझकर स्वरूप की अन्तर्दृष्टि करे, उसको आनन्द-अमृत का स्वाद आता है। यह मनुष्य पर्याय प्राप्त कर यदि कुछ करने लायक है तो बस अनेकान्तमय वस्तु स्वरूप की समझ ही करने लायक है।

अहा! जो ज्ञानस्वभावी आत्मा स्व की अपेक्षा तत्पने से है, वही पर की अपेक्षा अतत्पने से है, अपने ज्ञानस्वरूप से है तथा अनन्त परज्ञेयरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ ज्ञान की पर्याय परज्ञेय से नहीं होती। यद्यपि ज्ञान की पर्याय में वस्तु परज्ञेयरूप से जानी जाती है, फिर भी ज्ञान अपने सहज परिणमनस्वभाव से परिणमता है, ज्ञेयों के कारण नहीं। केवलज्ञान की पर्यायें भी स्वपने हैं, परपने नहीं। इसलिए ज्ञेय भिन्न-भिन्न (समय-समय) स्वतंत्रपने परिणमते हैं और ज्ञान भी स्वतंत्रपने परिणमता है। ज्ञान परज्ञेय पने नहीं है, इसलिए परज्ञेयों से ज्ञान का परिणमन त्रिकाल संभव नहीं है।

प्रश्न – ज्ञान की जो पर्याय वर्तमान में अप्रगट (अविद्यमान) है, उस वर्तमान में अप्रगट पर्याय की भांति भूत-भविष्य की जो अन्य पर्यायें प्रगट नहीं हैं, उनको प्रगट मानें तो क्या यह मानना मिथ्या नहीं है ?

उत्तर – भाई ! 'जो पर्याय प्रगट नहीं है,' यह बात तो वर्तमान पर्याय की अपेक्षा कही है। भूत-भविष्य की अपेक्षा से तो वे भूत-भविष्य की पर्यायें उन-उन कालों में प्रगट ही हैं न ! ज्ञान ज्ञेयों की त्रिकाल की पर्यायों को और पर्यायें ज्ञान को छूती हैं, स्पर्श करती हैं – ऐसा शास्त्र में आता है। इसका अर्थ यह है कि जाननेवाली ज्ञानपर्याय उन ज्ञेयों की पर्यायों को जानती है। जितनी पर्यायें ज्ञेयरूप से, निमित्तपने हैं, वे सभी पर्यायें ज्ञान में जानी जाती हैं; कारण कि ज्ञेयों का प्रमेयस्वभाव है और ज्ञान का प्रमाण स्वभाव है। वहाँ तात्पर्य यह है कि परज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान परज्ञेयरूप नहीं हो जाता तथा ज्ञान में जाने जा रहे परज्ञेय ज्ञानरूप नहीं हो जाते। अरे भाई ! ऐसी सूक्ष्म बात है।

अहो ! यह तो संक्षिप्त शब्दों में आचार्यदेव ने तत्त्व का गहरा रहस्य खोल दिया है। भाई ! आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तो त्रिकाल ध्रुव हैं; किन्तु प्रतिसमय होनेवाली पर्याय का भी तत्-अतत् स्वभाव है अर्थात् पर्याय पर्यायपने तत् है और परपने अतत् है; इसीलिए आगम में यह कहा है कि पर्याय पर के कारण, निमित्त के कारण या कर्म के कारण नहीं होती।

जो तत् है, वही अतत् है। अहा......! इतने शब्दों में तो निमित्त-उपादान,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्धपर्याय आदि सबका निर्णय हो जाता है। जो पर्याय स्वकाल में क्रमबद्ध प्रगट हुई, वह स्वयं से-उसीपने से है और परपने से नहीं है। वह पर्याय पूर्व की पर्यायपने अथवा भविष्य की पर्यायपने और परद्रव्य की पर्यायपने नहीं है। इसकारण भूत-भविष्य की पर्याय या परद्रव्य की पर्याय किसी अन्य पर्याय का क्या कर सकती है ? कुछ भी नहीं। वे सभी सहज ही स्व-स्वकाल में स्वचतुष्टय की योग्यता से स्वाधीनपने प्रगट होती हैं। यह वस्तुस्थिति है। इसके समझने में किसी पाण्डित्य की जरूरत नहीं है। यह तो अन्तर की रुचि जागने पर सहज ही समझ में आ जाती है।

ओ हो ! भगवान की ॐ ध्वनि में आया है कि तू तत् भी है और तू अतत् भी है। ऐसा होने पर तुझे पर को पलटने का उत्साह कैसे आ सकता है ? पर की आशा भी तुझे कैसे हो सकती है ? जरा विचार कर और स्व में प्रवृत्ति कर !

प्रश्न – लोग कहते हैं कि इतना विशाल मन्दिर और ये भव्य मूर्तियाँ जो बनी हैं, ये तो कारीगर की कुशलता से ही बनी हैं न ?

उत्तर – भाई ! इस मन्दिर और इन मूर्तियों की जिसकाल में जिसप्रकार से, जिस निमित्त से जैसी बनने की योग्यता थी, उसी काल में, उसी विधि से, उन्हीं के निमित्त से वैसी ही उनकी स्वयं की तत्समय की योग्यता से बनी हैं। वे स्वयं से तत् हैं और पर से अतत् हैं अर्थात् वह मन्दिर एवं मूर्तियाँ कारीगर की चतुराई से अतत् हैं। वस्तुतः तो जो पर्याय जिस वस्तु की है, उसी का अंश उसी से होता है, पर से या निमित्तों से नहीं – ऐसा स्वीकार करे, तभी सत्पने की सिद्धि होती है।

यह तो वीतरागता का मार्ग है बापू ! इसमें से तो वीतरागता ही निकलती है। अहा ! मैं ज्ञानमात्र हूँ – ऐसा जिसको अन्तर में निर्णय हुआ, उसे स्वपने रहने में किसी परपदार्थ की जरूरत भासित नहीं होती। पर की ओर इसकी इच्छामात्र विराम पा जाती है। 'मै शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ' – जहाँ पर्याय में ऐसा जानपना हो जाता है, वहाँ शरीरादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुकूल संयोगों की भावना ही नहीं रहती। अरे ! इसको देव-शास्त्र -गुरु की भी अपेक्षा भासित नहीं होती; क्योंकि यह सबको परज्ञेयपने जानता है।

प्रश्न – इस कथन से तो सद्‌निमित्तों का भी निषेध हो जाता है न! ऐसे विचार से तो निमित्त का कोई स्थान ही नहीं रह जाता ?

उत्तर – नहीं, निमित्त का निषेध नहीं होता, बल्कि निमित्त की निमित्तपने सही स्थापना होती है तथा निमित्त से परकार्य होना मानने पर निमित्त का सही स्वरूप विकृत हो जाता है, निमित्त का निषेध हो जाता है; क्योंकि ऐसे विचार से निमित्त निमित्तरूप से रहता ही नहीं है।

भाई ! मैं स्वयंपने हूँ और परपने से नहीं हूँ यह परमार्थ है न ! मेरा अस्तित्व मेरे में मेरे से है; पर में मेरा अस्तित्व नहीं है, पर के कारण भी नहीं है। यह वस्तुस्थिति है तो फिर पर के कारण या निमित्त के कारण मुझमें कार्य हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

आत्मा ज्ञानमात्र है – ऐसा कहा है न ! इसका अर्थ यह है कि पर्याय में जो राग है, उसपने भी आत्मा नही है। भगवान आत्मा ज्ञान......ज्ञान... ज्ञानपने तत् है और वही आत्मा रागपने अतत् है। दया-दान-व्रत आदि का राग तथा देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-श्रद्धा के रागपने आत्मा नहीं है। इसीकारण यह कथन सत्य है कि व्यवहार के शुभराग से आत्मज्ञान नहीं होता। व्यवहारक्रिया का राग होता ही नहीं – ऐसा नहीं है, परन्तु उस शुभराग से आत्मा का ज्ञान कोई होता हो – ऐसा भी नहीं है। जैसे परद्रव्यरूप निमित्त अकिंचित्कर है, वैसे ही राग भी आत्मा के स्वभावरूप कार्य के प्रति अकिंचित्कर है।

भाई ! तुझे परद्रव्यरूप निमित्त का और व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर अपने वीर्यगुण को स्फुरायमान करके अर्थात् उत्साहित होकर अन्तर आत्मा में जमना-रमना चाहिए; क्योंकि मैं स्व-पने ज्ञानमात्रपने हूँ – ऐसा सम्यक् निर्णय पर्याय का त्रिकाली द्रव्य में रुके बिना कैसे होगा ? मैं पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु हूँ – ऐसा यथार्थ निर्णय तो त्रिकाली द्रव्य में ढलने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से ही होता है। ऐसी ही वस्तुस्थिति है। अहा! इस तत्-अतत् के बोल में कितना रहस्य भरा है? गागर में सागर भरा है। भाई! इसको समझने के लिए भारी धैर्य की जरूरत होती है। वस्तु स्ववस्तुपने तत् है और परवस्तुपने अतत् है अर्थात् नहीं है। यह जैनदर्शन की मूल बात है और यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्थापित करता है। जैसे कि –

–निमित्त से उपादान में कुछ नहीं होता, निमित्त उपादान में कुछ भी नहीं करता।

–व्यवहार से निश्चय नहीं होता।

–सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है।

निमित्त निमित्त के स्थान में और व्यवहार व्यवहार के स्थान में हो; परन्तु ये ज्ञान के परज्ञेयपने ही हैं, स्वज्ञेयपने नहीं।

अरे! अभी तो लोगो को केवलज्ञान का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है। कोई कहता है कि केवलज्ञान में क्षण-क्षण बदलने से केवलज्ञान भी समय-समय बदलता है, परन्तु ऐसा नहीं है। एक-एक समय केवलज्ञान की पर्याय स्वपने से है, परज्ञेयपने से नहीं है। ज्ञान का अपना उत्पाद-व्ययपने क्षण-क्षण में होना और ज्ञानरूप से ध्रुव रहना – ऐसा तत्पना स्वयं से ही है। परज्ञेय से तो केवलज्ञान के अतत्पना ही है। इसकारण ज्ञेयों के बदलने के कारण केवलज्ञान को नहीं बदलना पड़ता तथा केवलज्ञान के बदलने से परज्ञेयों को नहीं बदलना पड़ता। ज्ञान अपनी सामर्थ्य से ही प्रतिसमय केवलज्ञान पने परिणमता है। उसे किसी परज्ञेयों की अपेक्षा नहीं है और निज सामर्थ्य से स्वयं परिणमते परज्ञेयों को भी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। ऐसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति है। यह भगवान की वाणी में आया स्वतंत्रता का उद्घोष है।

एक-अनेक का दूसरा बोल –

'जो वस्तु एक है वही अनेक है।' परन्तु जिसपने एक है, उसीपने अनेक नहीं, बल्कि दोनों की अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं। भगवान आत्मा द्रव्यपने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक है और वही आत्मा गुण-पर्यायपने अनेक है – यह बात है। अनेक परवस्तुओं के कारण अनेक नहीं।

'एक' का अर्थ अनेक आत्माओं का समूहरूप एकपना नहीं है तथा सब आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं – इस अपेक्षा अनेकपना नहीं है; बल्कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा कहते ही वह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड द्रव्यपने एक है और वही आत्मा गुण-पर्यायपने अनेक है – ऐसा सहज ही आ जाता है। आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ और अनन्त पर्यायें हैं, वह आत्मा का अनेकपना है। एकपना व अनेकपना – दोनों आत्मा में ही हैं; एकवस्तु में ही हैं। इसमें परवस्तु की अपेक्षा नहीं है।

अहा ! ये शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय आदि जो भिन्न अस्तिपने से हैं, वे भगवान आत्मा के अस्तिपने से सर्वथा भिन्न ही हैं। वस्तु के रूप में आत्मा असंख्य प्रदेशों का पिण्ड अभेद-एक है और यही गुण-पर्यायों के भेद से देखा जाय तो अनेक है। यद्यपि जो एक है, वही अनेक है; तथापि वर्तमान पर्याय को आश्रय तो एक त्रिकाली द्रव्य का ही है। भिन्न-भिन्न पर्यायें अनेक हैं – यह तो ठीक है; परन्तु दृष्टि तो त्रिकाली शुद्ध एक द्रव्य पर ही रहती है, तभी 'जो एक है, वही अनेक है' – ऐसा वस्तु का सच्चा ज्ञान होता है। 'वस्तु शुद्ध ज्ञायक स्वभावपने एक है' – ऐसा एक का निर्णय भी तो उस एक में झुकी अनेकरूप पर्याय ने ही किया है। वहाँ एक के निर्णय में आत्मवस्तु पर्याय से अनेकान्त रूप है – यह आ ही जाता है।

तीसरा सत्-असत् का बोल –

आत्मा स्वरूप से है.........है.......है; अपने अस्तित्व में है और वही आत्मा पर से असत् है। अहा ! मैं स्वरूप से सत् हूँ – ऐसा जहाँ स्वरूप के अस्तित्व का निर्णय हुआ, वहाँ परवस्तु मेरे में नहीं है, पर से मैं असत् हूँ – ऐसा साथ में आ ही जाता है। जो स्वयं से सत् है, वही पर से असत् है – ऐसा यहाँ संक्षेप में कहा है। आगे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जो सत् है, वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चौथा नित्य-अनित्य का बोल –

यह त्रिकाली ध्रुव चैतन्यमय प्रभु आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है और वही पर्यायरूप से अनित्य है। यह अनित्यपर्याय ही स्व-सन्मुख होकर नित्य आत्मद्रव्य का निर्णय करती है कि 'मैं नित्य हूँ'।

आचार्य कहते हैं कि – 'तू ध्रुव अविनाशी नित्य है'। ऐसा निर्णय तेरी अन्दर को ढलती हुई ज्ञान की अनित्यपर्याय ने ही किया है। भाई! वस्तु ही ऐसी नित्यानित्य है तथा अनित्य पर्याय में ही नित्य का ज्ञान-श्रद्धान होता है।

इसप्रकार एकवस्तु में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि अनेक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म विद्यमान हैं।

अब कहते हैं कि इसप्रकार एकवस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली, प्रकाशित करनेवाली अथवा सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों के अनेक युगलों का प्रकाशन अनेकान्त है। वस्तु के गुण-पर्याय ही वस्तु का वस्तुत्व है, वस्तुपना है। वस्तु में जो ऐसा भाव-स्वभाव है, उसे प्रकाशित करनेवाली अथवा यथार्थरूप से अनुभव में (ज्ञान में) लानेवाली तत्-अतत् आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन अनेकान्त है।

अहा............! वस्तु में ऐसी परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन अनेकान्त है। बापू! अनन्तकाल से इस अज्ञानी जगत ने इस अनेकान्त स्वरूप अमृत का पान तो किया नहीं, तत्त्वाभ्यास कभी किया नहीं। अरे! आगे डॉक्टर और पीछे एम.ए., एल.एल.बी, की बड़ी-बड़ी उपाधियों की लम्बी पूँछ तो लगा ली; पर इस निरुपाधि की उपाधि प्राप्त नहीं की अर्थात् आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया।

यह अनेकान्त का सिद्धान्त तो सम्पूर्ण जिनवाणी का निचोड़ है, मक्खन है। वस्तुस्वरूप का मन्थन कर-करके आचार्यों ने यह मक्खन निकाला है। भाई! तू भी एक ऐसी ही वस्तु है। तुझमें भी अनन्त धर्म हैं। प्रभु तू अनन्त धर्मों का घर है। अपनी आत्मवस्तु ज्ञानमात्र होते हुए यहाँ १४ बोलों में समझाया है। भाई! इसको समझने के लिए चित्त की निर्मलता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और धीरज रखना चाहिए।

कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। वह अन्तरंग में चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप से तत् है, निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से आत्मा तत् है। पर्याय में भी जानने-देखने की पर्याय से तत् है तथा उस तत्पने रूप ज्ञान में जो अनन्त परज्ञेय जाने जाते हैं, वे आत्मा के ज्ञानप्रकाश में अतत्पने हैं, ज्ञानस्वरूप में उन परज्ञेयों की स्वपने सत्ता नहीं है। ये स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, धंधा-व्यापार आदि जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं न! वे ज्ञानस्वरूप में नहीं हैं, वास्तव में तो वे पदार्थ जानने में ही नहीं आते; जब वे परपदार्थ ज्ञान में झलकते हैं, तब की उस समय की अपनी वह ज्ञानपर्याय ही हमारे ज्ञान में आती है। परन्तु अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है, वह ऐसा मानता है कि 'मुझे' ये परपदार्थ दिख रहे हैं, वह भी मेरे ज्ञान की निर्मलपर्याय का कमाल है – ऐसी सच्ची श्रद्धा और ज्ञान से वह ज्ञान की पर्याय द्रव्य के सन्मुख होकर आत्मानुभूति के योग्य बन जाती है।

अहा! ज्ञान अपने स्वरूप से तत् है तथा परज्ञेयपने से अतत् है। ज्ञान में जो सब परज्ञेय जानने में आते हैं, वे वस्तुतः परज्ञेय नहीं; बल्कि अपने ज्ञान की दशा है। ज्ञेय तो पर हैं, भिन्न हैं; वास्तव में परज्ञेयों संबंधी अपना ज्ञान ही अंतरंग में जगमगाता हुआ प्रकाशित होता है। जो ज्ञान तत्पने है, उसी का यह प्रकाश है।

ये देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि जो ज्ञेय हमारे ज्ञान में जाने जाते हैं, वास्तव में वे नहीं जाने जाते; बल्कि हमारी उस ज्ञान की पर्याय को ही हम जानते हैं, जिसमें देव-शास्त्र-गुरु प्रतिबिम्बित हुए हैं। ज्ञेयों को तो नहीं जानते, ज्ञेय के कारण को भी नहीं जानते, ज्ञेयों को उस ज्ञान की पर्यायों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान स्वयं ही तत्पने ज्ञानप्रकाश की सामर्थ्य रूप है तथा वे परज्ञेय भी अतत्पने हैं, उनका तत्स्वरूप में ज्ञानस्वरूप में अभाव है।

परन्तु अज्ञानी जगत तो चिल्ला-चोट करता ही है, अफसोस तो यह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है कि बड़े-बड़े पण्डित भी यह कहने में पीछे नहीं हैं कि 'निमित्त बिना उपादान में कोई भी कार्य कैसे संभव है ?'

पर करें क्या ? भाई ! निमित्त तो परवस्तु है, परज्ञेय है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा उससे अतत् है। जिन परद्रव्यों से आत्मा अतत् है, जो आत्मा में हैं ही नहीं, जिन्हें आत्मा छूता ही नहीं है, वे निमित्त या परद्रव्य इसका, प्रभु आत्मा का क्या करें ? कैसे करें ? क्यों करें कुछ भी नहीं करता। समय-समय जो ज्ञान की अवस्था हो रही है, वह स्वयं अपने से हो रही है, उसमें निमित्त का या व्यवहार का कुछ भी कार्य नहीं।

यद्यपि ज्ञान की पर्याय के सामने जैसा निमित्तरूप परद्रव्य होता है, वैसा ही जाननेरूप ज्ञान की पर्याय होती है; तथापि वह निमित्त के कारण नहीं होती। अहा ! ज्ञानस्वरूपी आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञायकभाव में रहकर अपनी ज्ञानपर्याय में ऐसा जानता है कि 'यह अमुक पदार्थ है' परन्तु ऐसा व्यवहार है। वस्तुतः तो निश्चय से तो ज्ञान की पर्याय स्वयं से स्वयं को ही जानती है।

अहा ! 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, परपने नहीं हूँ' – ऐसा तत्पने का जहाँ निर्णय करता है, वहाँ अनन्तगुणों की पर्याय निर्मलपने प्रगट हो जाती है।

अहा......! 'मैं मुझसे हूँ और पर से नहीं हूँ' – जिसने ऐसे अपने स्वभाव का निर्णय नहीं किया, उसने मनुष्य देह पाकर क्या किया ? अरे भाई ! 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ और क्या हूँ' इसका वास्तविक निर्णय किए बिना तू कहाँ जायेगा ? जरा विचार तो कर कि यह शरीर मेरे हिलाने/डुलाने से हिलता/चलता है या नहीं, यह वाणी मैं बोलता हूँ या नहीं; वस्तुतः न मेरे हिलाने से शरीर हिलता है और न मैं वाणी बोलाता हूँ; क्योंकि इन शरीर, वाणी आदि की तो मुझमें नास्ति है और मेरी इनमें नास्ति है। मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप ही हूँ, यदि ऐसा निर्णय नहीं किया तो चौरासी के चक्कर में रखड़ना पड़ेगा।

देखो, यहाँ कहते हैं कि शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, धन, कुटुम्ब, परिवार और देव-शास्त्र-गुरु तथा इनके लक्ष्य से हुए पुण्य-पाप के भाव –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये सब परज्ञेय हैं। अन्त में चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित ज्ञानस्वभावी आत्मा निज ज्ञानस्वरूप से तत् है और परज्ञेयरूप से अतत् है। आत्मा की वर्तमानदशा में परज्ञेयों से कुछ भी नहीं होता।

भाई! आत्मा में निर्मलज्ञान-श्रद्धान-आचरण की जो-जो पर्यायें होती हैं, वे सबकी सब शत-प्रतिशत अपने शुद्ध अन्तःपुरुषार्थ से ही हैं, पर से या रागादि से नहीं।

भाई! धर्म कैसे हो, यह बात चल रही है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुण साथ-साथ अर्थात् अक्रम से रहते हैं और पर्यायें क्रम से प्रवर्तती हैं।

ये साथ रहनेवाले ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुण और क्रम से एक के बाद एक प्रगट होनेवाली पर्यायें – ये सब चैतन्य के अंश हैं। इनके समुदाय रूप अभेद-अविभाग द्रव्यवस्तु से आत्मा में एकपना है। सब द्रव्य मिलकर नहीं; अनेक द्रव्य तो सब अपने-अपने में पृथक्-पृथक् ही हैं। यहाँ तो आत्मा के अनन्तगुण तथा उसकी क्रम से होती पर्यायों के समुदायरूप अभेद एकरूप को एकपना कहा है। ऐसे अभेद एक आत्मा के ऊपर दृष्टि पड़ते ही द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है और तब अनेकरूप पर्याय में आनन्द-अमृत का स्वाद आता है। भाई! यह अनेकान्त वीतराग-सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ जैनदर्शन का महासिद्धान्त है।

अहाहा.........! देखो, अनन्त गुण-पर्यायों के समुदायरूप अभेद द्रव्य की अपेक्षा एक है तथा गुण-पर्यायों के भेदों को देखने पर अनेकता है। जब अनेकरूप पर्याय एक का (ध्रुव द्रव्य का) निर्णय करती है, तब 'पर्याय से अनेकपना है' – ऐसा ज्ञान हो जाता है। अहा! वस्तु द्रव्यस्वरूप से तो एक है, वही द्रवती हुई (परिणमती हुई) पर्यायरूप से अनेकपने होती है, इसलिए वही अनेक है।

अहा! जिसप्रकार अनन्त अवस्थाएँ, अनतानन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाश – इस प्रकार जाति अपेक्षा ये छहों द्रव्य अपने स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावपने से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं। उसीप्रकार आत्मवस्तु अपने त्रिकाली द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, अस्तिपने से एकरूप है स्वयं से है, पर से नहीं।

अहाहा........! आत्मा का स्वकाल वर्तमान अंश भी स्व से होता है, पर से नहीं। जो पर्याय जिस समय में सुनिश्चित होने योग्य है, उस-उस समय ही प्रगट होती है। इसप्रकार प्रतिसमय पर्याय नियत क्रमबद्ध प्रगट होती है।

जिसप्रकार त्रिकाल (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) निश्चित है, उसीप्रकार वर्तमान वर्तती पर्याय भी निश्चित है। हाँ, परन्तु इस बात का यथार्थ निर्णय निज त्रिकाली द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाने से होता है।

वर्तमान में जो यह विवाद चलता है कि पर्यायें मात्र क्रमबद्ध नहीं; बल्कि अक्रम से भी होतीं हैं तथा निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर नहीं है। कार्य के सम्पन्न होने में उसका भी ५० प्रतिशत योगदान है।

प्रस्तुत प्रकरण के स्पष्टीकरण में इन दोनों विवादस्थ विषयों का भी समाधान है। अनन्तगुणों के पिण्ड प्रभु आत्मा की प्रतिसमय में होती हुई पर्यायें स्व से हैं, पर से नहीं। इसका अर्थ ही यह है कि पर अर्थात् निमित्त के कारण पर्यायें नहीं होतीं। पर निमित्त होता ही न हो – यह बात भी नहीं है; किन्तु जिसतरह अनन्त द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप से हैं, इन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, उसीप्रकार इनकी पर्यायों का भी एक समय का अस्तित्व है, उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। एक समय की पर्याय भी स्व सहाय से ही प्रगट होती है। अहा ! पर्याय के एकसमय के अस्तित्व को निमित्त की अपेक्षा तो है ही नहीं। यदि गहराई से देखें तो ज्ञात होगा कि वस्तुतः पर्याय को अपने परिणमन में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भी अपेक्षा नहीं है। देखो, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तो सदा एकरूप एक सदृश है, तथापि पर्याय में तो विविधता-अनेकविधता है। इसलिए पर्याय तो निज के कारण से ही प्रगट होती है। यह निश्चय है।

कर्म के काल में परद्रव्यरूप निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु निमित्त के कारण किसी भी द्रव्य में परिणमन नहीं होता। जो स्वयं से सत् है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे पर की क्या अपेक्षा ? सत् को पर की अपेक्षा हो ही नहीं सकती। इसलिए आचार्य कहते है कि मैं होशयार हूँ, मैंने अमुक कार्य किया है – ऐसे पर के कार्य करने का अभिमान छोड़ दे।

अहा ! भगवान ! तू अनन्तगुणों का पिण्ड निर्मलानन्दस्वरूप प्रभु है न! उस अपने स्वरूप पर दृष्टि करते ही तेरी पर्याय में भी शान्ति और वीतरागता प्रगट होना प्रारंभ हो जायेगा। इस वीतरागता के साथ जो किंचित् शुभराग रह जाता है, उसे व्यवहार कहते हैं। एक ही समय में वीतरागता और राग दोनों हैं; इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि पहले व्यवहार और पीछे निश्चय अथवा व्यवहार से निश्चय होता है। द्रव्यसंग्रह में गाथा ४७ में भी यह कहा है कि – 'ध्यान में निश्चय और व्यवहार एक ही काल में होते हैं'।

प्रश्न – विकार तो कर्मोदय के कारण होता है न ! कर्म ही विकार कराते हैं – ऐसा कथन शास्त्रों में भी तो आता है ! फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि निमित्त कुछ नहीं करता ?

उत्तर – भाई ! कर्म तो जड़ हैं, ये तो आत्मा का स्पर्श तक नहीं करते तो फिर आत्मा को विकारी कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते। आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है, वह तो स्वयं का स्वयं के द्वारा हुआ अपराध है; कर्म तो उसमें बाह्य निमित्तमात्र हैं। अरे ! जगतजन शान्ति से और धैर्य से विचार नहीं करते। अतः यह भ्रान्ति दूर नहीं होती।

आत्मा ध्रुव द्रव्यपने सदा स्थिर तत्त्व है और पर्यायपने पलटता है पर्यायपने आत्मा नित्य परिणामी पदार्थ है। ये सब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में समा जाते हैं। समय-समय की पर्याय अपने कारण से, अपनी सामर्थ्य से प्रगट होती हुई सत् है। यहाँ वजन स्वकाल पर है – अपने स्वकाल में होने का पर्याय का जो स्वभाव है, उस स्वभाव से पर्याय का सत्पना है। अहा ! जो वस्तु कायम रहकर अवस्थापने परिणमती न हो तो दुःख का अभाव होकर सुख कहाँ से/कैसे हो ? मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व प्रगट कैसे हो ? संसार का अभाव होकर सिद्धदशा कैसे प्रगट हो ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए प्रत्येक वस्तु स्वयं टिकी रहकर परिणमती है – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

यदि किसी भी परपदार्थ को सिद्ध करना हो तो चाहे वह जड़ हो या चेतन। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और वर्तमानदशा से ही उसकी सिद्धि हो सकती है। जैसे कि – अपना आत्मा द्रव्य, इसके भाव गुण, इसका शरीरप्रमाण असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र और इसकी अवस्था काल – पदार्थ का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने कारण सत् होने से स्वयं सत् है तथा उसका वर्तमान परिणमन उसका स्वकाल है। अहा ! जिसको यह बात समझ में आ जाती है, उसका तो कहना ही क्या है ? तत्काल उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाकर उसकी निर्मलपर्याय का स्वकाल प्रगट हो जाता है।

अरे ! लोग धर्म को साधारण वस्तु मान बैठे हैं; परन्तु धर्म तो कोई महान-अपूर्व वस्तु है। भाई ! आत्मा अनन्त गुणरत्नाकर प्रभु है। उसमें सम्प्रदान नाम का गुण है। जहाँ गुण के धारक गुणी (द्रव्य) की प्रतीति हुई, वहाँ वर्तमान पर्याय में 'उपाय' (मोक्षमार्ग) प्रगट हो जाता है तथा आगामी पर्याय के रूप में 'उपेय' मोक्ष प्रगट होता है – ऐसी प्रतीति हो जाती है।

भाई ! अपना सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभाव नक्की किए बिना धर्म हो ही नहीं सकता। एकसमय की पर्याय में जिसको सर्वज्ञपना और सर्वदर्शीपना प्रगट हुआ है – जो उसका निर्णय करता है, उसे अन्तरंग में ऐसा निर्णय हो जाता है कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मेरा स्वभाव है – ऐसी दृष्टि व निर्णय ही धर्म है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के आश्रय से जो अन्तर्दृष्टि हुई, वह धर्म है। अरे ! त्रिकाली शुद्ध द्रव्य निश्चय और उसके आश्रय से प्रगट होती हुई निर्मल रत्नत्रय की परिणति व्यवहार है।

अब कहते हैं कि वास्तविकता तो यह है कि पर के द्रव्य, पर के क्षेत्र, पर के भाव तथा पर की पर्यायरूप से नहीं होने की शक्तिरूप आत्मा का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव है। जैसे – इस शरीर की अवस्थारूप से नहीं होने की शक्तिरूप आत्मा का स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी जगत तो 'दूसरों को मारूँ' अथवा दूसरों का बचाऊँ, पैसा कमाऊँ, पैसों का दान दूँ इत्यादि परद्रव्य को करना मानता है। उस अज्ञानी जगत को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि बापू! जब पर की अवस्थापने नहीं होने की शक्तिरूप तेरा स्वभाव है, तो तू पर का क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। अहाहा..! जैसा आत्मा का अपनी पर्यायरूप से होने का स्वभाव है, वैसा ही उनका पर की पर्यायरूप से नहीं होने की शक्तिरूप स्वभाव है।

अनन्त अखण्ड एक द्रव्यरूप से आत्मा नित्य है तथा समय-समय की पलटती हुई पर्यायरूप से आत्मा अनित्य है। इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को तत्-अतत् आदि परस्पर विरुद्ध दोनों शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होने से अनेकान्त स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

प्रश्न – यदि आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रपना होने से भी स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशित होता है अर्थात् उसमें तत्-अतत् आदि अनेक धर्म स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं तो फिर अरहंत भगवान उसके साधन के रूप में अनेकान्त या स्याद्वाद का निरूपण (उपदेश) किसलिए करते हैं?

उत्तर – देखो, अज्ञानियों को ज्ञानमात्र आत्मा प्रसिद्ध नहीं है, इस कारण निजआत्मवस्तु की प्रसिद्धि के लिए अनेकान्त-स्याद्वाद द्वारा उनको उपदेश दिया जाता है। अहाहा......! आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु ज्ञानस्वरूप से है और परज्ञेय स्वरूप से नहीं है। ऐसा उपदेश देने से उसको आत्मा ज्ञानमात्र सिद्ध (प्रसिद्ध) हो जाता है। इसलिए स्याद्वाद से उपेदश है। इस उपदेश को ग्रहण करके जो वर्तमानदशा में ऐसा निर्णय हुआ कि 'मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ' उसी दशा में 'परवस्तु का मुझ में अभाव है' – ऐसा भी निर्णय हो जाता है तथा 'मैं द्रव्यस्वरूप से एक हूँ' और गुण-पर्यायों के स्वरूप में अनेक हूँ, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् हूँ और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् हूँ – ऐसा भी साथ ही निश्चय हो जाता है तथा वस्तु की पर्यायें सहज ही क्रम से (क्रमबद्ध) प्रगट होती हैं एवं 'मैं तो इन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सबका मात्र ज्ञायक हूँ,' – ऐसा भी सिद्ध हो जाता है।

अहा! जहाँ ऐसा निर्णय हुआ कि 'अन्तर में आत्मा ज्ञानमात्र है' बस, वहाँ ज्ञान के साथ अस्तिरूप से अनन्तगुण की पर्यायें एकसाथ हैं (अक्रम से हैं) – ऐसा भी ज्ञान हो जाता है तथा अनन्तगुणों की पर्यायें क्षण-क्षण में क्रमबद्ध ही प्रगट हो जाती हैं – ऐसा भी ज्ञान में आ जाता है। साथ में चारित्र व आनन्दगुण की दशा में किंचित् विकार है; जो कि स्व से ही है, पर से नहीं – ऐसा अन्तरंग में भान होने पर अपने-अपने क्रम में जो अवस्थायें होंगी, उनका सर्वज्ञ की भांति ज्ञाता-दृष्टा रह जाता है, पर्यायों में हेराफेरी करने की बुद्धि नहीं करता।

अहा! जहाँ यह निर्णय हुआ कि 'ज्ञानमात्र वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। वहाँ पर्याय के उत्पन्न होने में पर की अपेक्षा नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में आत्मा को मात्र ज्ञाता-दृष्टापने से प्रवर्तन करना ही रहा। इसप्रकार अनेकान्त से वस्तु को यथार्थ समझने से आत्मा का बड़ा भारी लाभ होता है।

जिसको सर्वज्ञदेव के द्वारा देखे और कहे मात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा के स्वरूप पर श्रद्धा हो जाती है, उसे स्वभाव और स्वभाव का पुरुषार्थ हो गया समझो, कर्मों का अभाव भी हो गया समझो तथा जो स्वभाव के निर्णयरूप दशा होने योग्य थी, वही हुई एवं वह स्वकाल में क्रमबद्ध ही हुई – इसतरह भवितव्यता और काललब्धि भी आ ही गई। इसप्रकार पाँचों समवाय और उनका यथार्थ निर्णय एकसाथ हो जाता है।

प्रश्न – जब आत्मा को ज्ञानमात्र कहते ही उसमें अनेक (अनन्त) धर्म सिद्ध हो जाते हैं तो फिर भगवान केवली ने अनेकान्त को साधन क्यों कहा?

उत्तर – यद्यपि 'ज्ञानमात्र' इस शब्द में हैं अनन्त गुण व्याप्त; परन्तु अज्ञानी को आत्मा के 'ज्ञानमात्र' लक्षण से लक्षित भगवान आत्मा के स्वरूप की खबर नहीं है। इसकारण अनेकान्त-स्याद्वाद से उनको उपदेश किया गया है। जैसे कि आत्मा ज्ञानस्वरूप से तत् है और परज्ञेयरूप से अतत्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

है। ऐसा अतत् जानने पर मेरा ज्ञान परज्ञेय के कारण नही है – ऐसे निर्णय से परद्रव्य के निमित्त का आलम्बन मिट जाता है।

अरे ! लोगों को तत्त्व का अभ्यास नही है, इसकारण वे स्वतत्त्व को यथार्थ नहीं जानते। कोई तो आत्मा को सर्वथा एक मानते हैं तथा कोई एकान्त से सर्वव्यापक मानते हैं। कोई कर्ता तो कोई एकान्त से नित्य मानते हैं। उनके लिए सर्वज्ञ द्वारा निरूपित आत्मा का, अनेकान्त का स्वरूप स्याद्वाद शैली में कहा गया है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि यह विश्व स्वभाव से ही बहुभावों से भरा है। उसका अर्थ यह है कि विश्व में जो अनन्त आत्माएँ हैं, अनन्तानन्त परमाणु आदि छह द्रव्य हैं – ये अकृत्रिम हैं, इन्हें किसी ने किया नहीं है, ये पदार्थ भी किसी के कर्ता नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव से ही अद्वैत होने से अर्थात् स्वयं वस्तुपने एक होते हुए गुणभेद से द्वैत भी है। यह द्वैताद्वैतपना किसी पर के कारण नहीं है। आत्मा स्वपने है – ऐसा अस्तिपना-अद्वैतपना और पररूप से नहीं है – ऐसा नास्तिपना-द्वैतपना – ऐसे दोनों धर्म वस्तु में सहज ही सिद्ध हैं।

आत्मा ज्ञानमात्र है – ऐसी अस्ति करने पर परपने नहीं है – ऐसी नास्ति सिद्ध हो जाती है। ज्ञान है तो ज्ञान का सहभावी आनन्द भी सिद्ध हो जाता है। ज्ञान है तो उसके प्रयोजनभूत परिणमनेरूप वस्तुपना भी है। यह सिद्ध हो जाता है। ज्ञान के साथ ज्ञान का प्रमेय गुण भी सिद्ध होता है। प्रमेय को जाननेवाला प्रमाण भी है ही। इसप्रकार द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप में प्रवृत्ति और परद्रव्य-गुण-पर्यायरूप से निवृत्ति – इसप्रकार दोनों भावों से अध्यासित है।

अहो ! वीतराग के शासन के सिवाय यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु वीतराग धर्म के सम्पर्क में आ जाने पर भी अनादि-अज्ञान के कारण बिचारे यह नहीं जानते कि 'मैं अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु हूँ, स्वाधीन हूँ, मेरी वर्तमान परिणति मुझ से ही होती है, पर से नहीं होती।' यदि शब्दों में

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कदाचित् जान भी ले तो उनकी श्रद्धा में यह बात बैठती ही नहीं है।

देखो, दर्पण की स्वाधीन निर्मलपर्याय में प्रतिबिम्बित ज्ञेय की भांति ज्ञानदर्पण के सामने जैसी ज्ञेयवस्तु हो, वैसी ज्ञान की पर्याय यद्यपि स्वतंत्रपने अपने स्वचतुष्टय से ही हुई है, फिर भी अज्ञानी जगत को वह ज्ञेयाकार ज्ञानपर्याय ज्ञेय के कारण हुई प्रतीत होती है।

'स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति' – ऐसा कहकर सम्पूर्ण जैनदर्शन कह दिया है। कहते हैं कि – प्रभु ! तू द्रव्यपने आत्मद्रव्य, अनन्तगुणपने ज्ञान-दर्शन आदि और पर्यायपने जाननेवाली, श्रद्धा करनेवाली तथा अनुभव करनेवाली सत्वस्तु है तथा परद्रव्य एवं परभावों से असत् है। इसलिए भगवान की वाणी के कारण तुझमें ज्ञान-श्रद्धान की पर्याय नहीं होती। तेरे गुणों का जो समय-समय परिणमन होता है, उन-उन दशाओं में तू स्वयं प्रवृत्त है तथा पर से व्यावृत्त है, भिन्न है। इसलिए पर के या देव-शास्त्र-गुरु के कारण तेरे गुणों का परिणमन नहीं है। इसीप्रकार कर्म के कारण विकार होता है – यह बात भी सही नहीं है।

बापू ! अपना परिणमन स्व से है और पर से नही है – ऐसा जानने पर पर से जो सच्ची उदासीनता हो जाती है, उसे ही सच्चा वैराग्य कहते हैं। चाहे सर्वज्ञदेव हों, चाहे उनकी वाणी; भगवान आत्मा उनसे व्यावृत्त (निर्वृत्त) ही है। भाई ! भगवान तो अपने स्वरूप में ही प्रवृत्त रहते हैं। यह आत्मा तो उनसे सदा निर्वृत्त ही है। इसप्रकार पर से निर्वृत्ति एवं स्व में प्रवृत्ति होने से मेरी पर्याय मुझसे ही होती है; पर से नहीं, निमित्त से नहीं – यह सिद्धान्त है।

अहाहा......! भगवान अन्दर देख तो सही, तू स्वयं ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा है। 'भग' अर्थात् ज्ञानानन्द लक्ष्मी तथा 'वान्' अर्थात् वाला – इस तरह 'भगवान' का अर्थ है ज्ञानानन्दलक्ष्मी से भरपूर। प्रभु ! जब तू आनन्द से स्वयं भरपूर है तो तुझे आनन्द प्राप्त करने के लिए अन्य वस्तु की क्या गर्ज है। आनन्द को बाहर में खोजने की जरूरत ही नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देव-शास्त्र-गुरु से भी तुझे आनन्द नहीं मिलेगा। पर से हटकर स्वसन्मुख परिणमन करते ही आनन्द का परिणमन हो जाता है; क्योंकि स्वयं ही आनन्दस्वरूप है न!

भाई! एक-एक परमाणु स्वयं से है व पर से नहीं है। एक पानी की बूँद में अनन्त परमाणु हैं। वे प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सत् हैं तथा पर से – दूसरे परमाणुओं से असत् हैं। स्व से प्रवृत्त हैं व पर से व्यावृत्त हैं। अब कहते हैं कि जब एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से असत् होने से उसकी पर्याय को करता ही नहीं है तो आत्मा जड़ की पर्याय का कर्ता कैसे हो सकता है? इन दोनों में तो परस्पर अत्यन्ताभाव है। भाई! आत्मा का सत्पना अपनी वस्तु की परिणति से है और आत्मवस्तु पर से असत् है – यह अनेकान्त है स्व की अपेक्षा परवस्तु असत् है और पर की अपेक्षा आत्मा असत् है।

इसप्रकार समस्त वस्तुएँ स्वरूप में प्रवृत्ति और पर से व्यावृत्ति – दोनों ही भावों से अध्यासित हैं, दोनों ही भाव वस्तु में रहते हैं।

अहा! यह चैतन्य की लीला तो देखो! जाननेवाला ज्ञायकस्वभावी प्रभु स्वयं ही ज्ञान है और स्वयं ही ज्ञेय है। प्रमाण भी स्वयं एवं प्रमेय भी स्वयं है जानने के भाव से स्वयं प्रमाण है तथा जानने में आनेवाले भाव से स्वयं ही प्रमेय है। इसप्रकार एक ज्ञानप्रमाण में द्वैत है, भेद है।

यह आत्मा अपने से भिन्न अन्य पदार्थों के साथ निजरस से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध के कारण – स्वयं ज्ञाता है और अन्य पदार्थ भी ज्ञेय हैं – ऐसे सहज संबंध के कारण ऐसा मान बैठा है कि ज्ञेयों के परिणमन से ज्ञान का (आत्मा का) परिणमन होता है, जबकि वस्तुतः बात यह है कि ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेयों के कारण नहीं होता। ज्ञेयों से ज्ञान होना मानना नितान्त मिथ्या है।

जगत में ज्ञानतत्त्व है और इससे जुदा ज्ञेयतत्त्व भी है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञेय के अस्तित्व में ज्ञान नहीं है और ज्ञान की सत्ता में ज्ञेय नहीं है। ज्ञान का परिणमन ज्ञान के अस्तित्व में स्वयं के कारण है, ज्ञेयों के कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किंचित् भी नहीं। ज्ञान में ज्ञेय आत्मा जाना गया, उस ज्ञेय के कारण ज्ञान में बिल्कुल भी परिणमन नहीं हुआ। फिर भी अज्ञानी ज्ञान के परिणमन को ज्ञेयकृत मानता है। ऐसा विपरीत मानने के कारण स्वयं को ज्ञेयरूप करता हुआ अपने ज्ञानतत्त्व का अभाव करता है।

जिसप्रकार यह शरीर है, उसीप्रकार आत्मा-अस्तिरूप एकपदार्थ है, किन्तु अज्ञानी की दृष्टि ध्रुव एक ज्ञानस्वभावी आत्मा पर नहीं होने से अनादि से स्वयं के चैतन्यप्रकाशरूप अपनी शक्ति से प्रवर्तित होता हुआ भी इसके ज्ञान में जो दया, दान, पूजा, भक्ति आदि का राग एवं शरीर, मन, वाणी, आदि परज्ञेय जाने जाते हैं, उन्हें भी निजरूप मानकर अपनी ज्ञानसत्ता का अनादर करता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव से स्वयं के तत्पना है। – ऐसा प्रकाशित करके ज्ञानी पुरुष की सत्ता को स्वीकार करता है, अपनी सत्ता का नाश नहीं होने देता। 'मैं त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मप्रभु हूँ' तथा मेरा अस्तिपना मुझसे है – जब ऐसा अन्तरंग में निर्णय होता है, तब अवस्था में परिणमन शुद्ध होता है। यह शुद्ध परिणमन अपने षट्कारकपने से स्वतंत्र होता है। जिसप्रकार आत्मा में ज्ञान-आनन्द आदि स्वभाव त्रिकाल हैं; उसीप्रकार इन षट्कारकों से जो निर्मल परिणमन होता है, उसका कर्ता- कर्म अन्य कोई नहीं है।

अहाहा.......! भगवान आत्मा के मात्र ज्ञानस्वभाव में अनन्तगुण समा जाते हैं। ऐसी ज्ञानमात्रभाव वस्तु को अन्तरंग में तत्पने, ज्ञानभावपने अन्तर्दृष्टि से स्वीकार करने पर अनन्तगुण पर्याय में, ज्ञातास्वभाव के परिणमनरूप अवस्था में ज्ञानपने-आनन्दपने-श्रद्धानपने एवं शान्तिपने परिणमन जाते हैं। इस स्वरूपसन्मुख परिणमन में पर का बिल्कुल भी अधिकार नहीं है। 'मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ' – ऐसा जानकर ज्ञान की पर्याय जहाँ आत्मा में स्थिर हुई, वहीं अनन्तगुण एकसाथ निर्मल उत्पाद-रूप हो जाते हैं। जहाँ तक राग है, वह तो परज्ञेय है। आत्मा में निर्मल परिणमन में ये कुछ नहीं है – ऐसा ज्ञाता का ज्ञानमय परिणमन है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

त्रिकाली द्रव्य पर लक्ष्य जाते ही 'यह ज्ञानमात्र आत्मा मैं ही हूँ' तथा पररूप मैं नही हूँ – ऐसा पररूप मैं नहीं हूँ – ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय सहित आत्मा का अनुभवरूप ज्ञान व आनन्द प्रगट हो जाता है, यही जीव का यथार्थ जीवन है।

अहा! जिसने स्वरूप के अस्तिरूप को 'जैसा है वैसा ही जान लिया' बस उसी ने अपनी जीवन-ज्योति को जीवित रखकर अपना जीवन सफल एवं धन्य कर लिया है तथा जिसने इस रीति (ज्ञानमात्रपने से) अपना स्वरूप स्वीकार न करके 'मैं पुण्यवान हूँ, सुन्दर शरीरवाला हूँ, स्त्री-पुत्रादि-परिवार एवं धनवाला हूँ' – ऐसा माना उसने जीवन-ज्योति को मानो बुझा ही दिया है, अपना सत्यानाश कर लिया है।

अब कहते हैं कि जब वह ज्ञानमात्र भाव पर को अपने स्वरूप में समेटता हुआ ऐसा मानता है कि – शरीर-मन-वाणी-रागादि पुण्य-पाप सब आत्मा ही हैं, तब अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से स्वीकार करके विश्व के ग्रहण से अपना नाश करता है। ऐसी स्थिति में पर से अतत्पना प्रकाशित करके विश्व से ज्ञानमात्र आत्मा को भिन्न प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही अपना नाश नहीं होने देता।

प्रश्न – पुण्य-पाप के भाव तो आत्मा की ही पर्याय में होते हैं न? फिर उन्हें अज्ञानतत्त्व क्यों कहा?

उत्तर – भाई! पुण्य-पाप के भाव होते तो आत्मा की ही पर्याय में हैं; परन्तु वे विभाव हैं, विपरीतभाव हैं। वे दुःखरूप और दुःख के एवं बंध के कारणरूप हैं। उनमें चैतन्य का अंश नहीं है। वे चैतन्य के प्रकाशस्वरूप नहीं हैं, इसकारण वे चैतन्य से जुदे हैं, अज्ञानतत्त्व हैं। अरे! अपनी आत्मा की अपेक्षा साक्षात् सर्वज्ञपरमात्मा, पंचपरमेष्ठी और शास्त्र आदि सब अज्ञानतत्त्व हैं; क्योंकि वे इस आत्मा के ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, परज्ञेयरूप हैं। अहो! आचार्यदेव ने इस अनेकान्त में तो सम्पूर्ण भेदविज्ञान समा दिया है।

देखो न! एक ओर अनन्तगुणस्वरूप ज्ञानपुंज प्रभु आत्माराम और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दूसरी ओर पुण्य-पाप के विकल्पों से सहित शरीर-मन-वाणी-धन-परिजन-देव-गुरु आदि विश्व की समस्त पर वस्तुएँ, पूरा का पूरा ग्राम। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा विश्व के इन सब परद्रव्यों को जाननेवाला है; किन्तु इनमें अपना (आत्मा का) एक भी नहीं है। फिर भी अज्ञानी जीव इन्हें स्वपने स्वीकार करके समस्त विश्व के ग्रहण द्वारा अपने ज्ञानतत्त्व का अनादर करता है। अपनी चैतन्यशक्ति का नाश करता है। ऐसा आत्मघात ही वस्तुतः हिंसा है, अधर्म है। भाई ! धर्म व अधर्म – यह तो अन्तरंग मान्यता एवं आचरण के आधार से होता है। बाहर से इसका कोई माप संभव नहीं है।

प्रश्न – 'पुण्यफला अरहन्ता..............' अरहंतपना पुण्य का फल है – शास्त्र में यह लिखा मिलता है – इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – हाँ, यह तो बाह्य सामग्री की, संयोगों की अपेक्षा कथन है। अरहंत परमात्मा के बाहर में जो समवशरण की रचना होती है, दिव्य-ध्वनि खिरती है, वे सब पुण्य के फलरूप हैं। अरहंत का केवलज्ञान पुण्य का फल नहीं है। पुण्य व परपदार्थों से आत्मा को लाभ होना मानना तो अतत् को तत् मानना हुआ। धर्मीजीव अतत् अर्थात् निमित्त से या रागरूप व्यवहार से अपना आत्मलाभ होना कभी नहीं मानते। इसी अपेक्षा कहते हैं कि अपने आत्मा को विश्व से भिन्न प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही अपना नाश नहीं होने देता।

अब एक-अनेक के बोल द्वारा अनेकान्त को प्रकाशित करते हैं।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे प्रभु ! आपने एक सैकेण्ड के भी असंख्यात भाग में अर्थात् एक ही समय में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को जाना – यही आपकी सर्वज्ञता का चिन्ह है। 'एक ही समय में वस्तु पूर्व अवस्था से व्यय, उत्तर अवस्था से उत्पाद और वस्तुपने ध्रुव रहती है' – यह आपने जाना, इससे मैंने निश्चय किया कि आप सर्वज्ञ हो।

यहाँ वस्तु के 'एक-अनेक' भंग के संदर्भ में कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा की दशा में अनेक ज्ञेयों का ज्ञान होता है; किन्तु अज्ञानी ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मानता है कि 'ज्ञेयों के खण्ड-खण्ड ज्ञान से मैं खण्ड-खण्ड हो गया।' 'मैं अखण्ड ज्ञानाकार हूँ' इसलिए जानने में भी एकपना ही होना चाहिए – अज्ञानी ऐसा एकान्त से मानता है तथा अनेक ज्ञेयों के जानते ही मैं खण्ड -खण्ड हो जाऊँगा – ऐसा मानकर वह अपने स्वरूप का नाश करता है।

अपनी पर्याय में अनेकपना होना आत्मा का पर्यायस्वभाव है। अनेक ज्ञेयों को जानना आत्मा की ज्ञानपर्याय का स्वभाव है। पर्यायगत स्वभाव में ऐसा अनेकपना होते हुए भी द्रव्यस्वभाव में 'मैं अखण्ड एक हूँ' – ऐसा प्रकाशित करते हुए अनेकान्त ही वस्तु को जीवित रखता है अर्थात् वस्तु के अस्तित्व को कायम रखता है। द्रव्य से मैं एक ही हूँ, अनेक नहीं हुआ; पर्याय से मैं अनेक हूँ – इसप्रकार द्रव्य से एक एवं पर्याय से अनेक – ऐसे अनेकान्त सिद्धान्त द्वारा ही आत्मा का अस्तित्व कायम रहता है।

आगे कहते हैं कि जब अज्ञानी जीव ज्ञानमात्र भाव से एक ज्ञानाकार को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयों को जानना छोड़ देता है, जबकि अनेक का ज्ञानपना भी तो आत्मा का पर्यायस्वभाव है, अनेक को जानना कोई दोष ही नहीं है; परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं समझता। अतः वह एक को जानने के लिए अनेक का त्याग करके आत्मा के पर्यायस्वभाव का नाश ही करता है।

अहा! ज्ञान की पर्याय त्रिकाली द्रव्य को, उसके अनन्त गुणों को तथा प्रगट हुई, दर्शन की, आनन्द की, श्रद्धा की, शान्ति की, स्वच्छता, प्रभुता आदि सभी की पर्यायों को भी जानता है तथा वह पर्याय परपदार्थों एवं रागादि को भी जानती है। ऐसा ही कोई ज्ञान की पर्याय का स्वपर को प्रकाशित करने का चमत्कारिक सामर्थ्य है। इसप्रकार पर्याय-अपेक्षा जिसे अनेकपना स्वीकृत नहीं है – ऐसा अज्ञानी अनेकपने के जानने का त्याग करके – अभाव करके अपना नाश करता है अर्थात् स्वानुभूति में प्राप्त होने योग्य अतीन्द्रिय आनन्द से दूर रहता है तथा धर्मी ज्ञानी पुरुष ज्ञानमात्र भाव का पर्याय से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ पर्यायस्वभाव का नाश

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होने देता।

अहा! धर्मी ऐसा मानता है कि द्रव्य से मैं एकरूप होते हुए भी पर्याय से अनेकपना होना मेरा स्वभाव है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अनेकपना आश्रय करने लायक है। आश्रय करने योग्य तो एक त्रिकाली द्रव्य ही है; किन्तु पर्याय से अनेकपना होना – यह वस्तुस्थिति है। द्रव्य जिस अपेक्षा से एक है, उसी की अपेक्षा से अनेक नहीं होता। पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा एक है और पर्याय अपेक्षा या गुणभेद की अपेक्षा अनेक है – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। इसे स्वीकार करता हुआ ज्ञानी यथार्थ दृष्टि से अपने अस्तित्व की सुरक्षा करता है, उसे नष्ट नहीं होने देता।

पर्याय विकारी हो या अविकारी, अनेक पर्यायपने होना मेरा स्वभाव है। इस अनेक पर्यायपने मैं हूँ – धर्मात्मा को अन्तरसन्मुखता के झुकाव के कारण ऐसा ज्ञान होता है कि मेरी विकारीपर्याय पर के कारण हुई है। इसप्रकार वह केवल राग का ज्ञाता-दृष्टा रहता है। साथ में वर्तता हुआ ज्ञान यह जानता है कि पर्याय अपेक्षा ज्ञान मुझमें है। इसप्रकार सत्यार्थ दृष्टि द्वारा धर्मी पुरुष अपने जीवन को सुरक्षित रखता है। यही अनेकान्त का फल है।

प्रश्न – हम तो ऐसा समझते हैं कि ज्ञानी पर्याय में दुःख का वेदन नहीं करता। यदि ऐसा कहोगे कि वह जानता है और वेदन भी करता है तो फिर उसमें ज्ञाता-दृष्टापना कैसे रहेगा?

उत्तर – अरे भाई! दुःख को जानना कहो या वेदन करना कहो – दोनों एक ही बात हैं। यदि दुःख को दुःखरूप से जानेगा-वेदेगा नहीं तो दुःख आया ही कहाँ तथा दुःख का वेदन बिना यह दुःख है – ऐसा कहना और जानना भी कैसे संभव है? भाई! ज्ञानी धर्मी जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द के साथ ही पर्याय में भूमिकानुसार प्राप्त दुःख का भी वेदन है। 'यह दुःख है' – ऐसा स्वयं से ही वेदन है। धर्मी को एक ही पर्याय में आनन्द और दुःख – दोनों का वेदन है। यदि ऐसा नहीं माना गया तो वस्तु की ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धि नहीं होगी। दुःख को दोष मानकर स्वयं को उसका ज्ञाता-दृष्टा कहना यह तो द्रव्यदृष्टि की बात है; किन्तु ज्ञान की अपेक्षा आत्मा दुःख का वेदन करता है।

प्रश्न – ज्ञानी राग को, दुःख को जानता है – ऐसा कोई कहे तो उससे पूछते हैं कि वह उसका मात्र ज्ञाता है कि भोक्ता भी है ?

उत्तर – ज्ञाता भी है और भोक्ता भी है। स्वभाव की दृष्टि से वह ज्ञाता है, कर्ता-भोक्ता नहीं; किन्तु पर्याय का ज्ञान करने की अपेक्षा से कर्ता-भोक्ता है, वेदक है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया तो दुःख का वेदन परद्रव्य को होने का प्रसंग आयेगा, जो असंभव है। ज्ञानी के ज्ञान धारा के साथ कर्मधारा भी है न! ज्ञानी की कर्मधारा है – इसका अर्थ यह है कि पर्याय के वेदन की अपेक्षा उन्हें दुःख का वेदन है।

यहाँ तक तत्-अतत् और एक-अनेक के चार बोल हुए। अब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के पाँचवे बोल में पहले द्रव्य की बात करते हैं – अब कहते हैं कि शरीरादिरूप परद्रव्य के परिणमन करने और जानने में आने के समय अज्ञानी का लक्ष्य परद्रव्य पर रहता है। शरीरादि परद्रव्य की जो-जो दशायें होती हैं – वे मैं ही हूँ – ऐसा मानकर वह अपने ज्ञातृद्रव्य से इन्कार करता है। वास्तव में तो पर का परिणमन पररूप है। आत्मरूप नहीं है तथा उस पर का अपने में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना है, अपने से हुआ है; किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर यह मानता है कि यह जो परद्रव्य का परिणमन है, वह मैं ही हूँ अर्थात् इसी से मैं हूँ, इसी से मेरी सत्ता है। इसप्रकार स्वपर को एकमेक करता हुआ 'स्व' का नाश करता है।

अनादि से जीवों को परद्रव्य का लक्ष्य है। स्वद्रव्य का लक्ष्य नहीं है। वे पर की सत्ता से अपनी सत्ता मानते हैं। पैसे बिना नहीं चलता, अन्न-पानी के बिना नहीं चलता, मकान-बंगला बिना नहीं चलता – इसप्रकार पर से ही मेरा जीवन चलता है – ऐसा अज्ञानी मानता है। स्वद्रव्यपने स्वयं अनादि-अनन्त सत् होते हुए भी इसे अपना लक्ष्य व ध्येय न बनाकर पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को अपना लक्ष्य बनाकर स्वयं को पररूप करता है – इसप्रकार स्वद्रव्य का नाश करता है, स्वानुभूति नहीं करता।

जबकि धर्मी पुरुष ऐसा जानता-मानता और अनुभव करता है कि 'मैं एक आत्मा ज्ञातृद्रव्य अपने स्वद्रव्यपने से सत् हूँ, मुझे परद्रव्य से क्या काम ? इसप्रकार स्वद्रव्य से सत् का अनुभव करता है। अहा! मेरे स्वद्रव्य से मैं हूँ', इसतरह स्वद्रव्य से सत्पना प्रकाशित करता हुआ स्वसत्ता में अपनी दृष्टि स्थापित करता हुआ ज्ञानी पुरुष अनेकान्त तत्त्व का आदर कर स्वयं की सत्ता जीवित रखता है। अहा! अनेकान्त की ऐसी अलौकिक महिमा है।

भाई! जबतक यह भेदज्ञान न हो कि 'मैं स्वद्रव्य से हूँ और परद्रव्य से नहीं हूँ' तबतक सम्यग्दर्शन और धर्म होना संभव नहीं है। अहा! जाननेवाले को जाने बिना कोई व्रत-तप करके शरीर को सुखा भी ले तो भी क्या ? ये सब तो रागभाव ही हैं। वस्तुतः तो पर से निरपेक्ष पूर्ण ज्ञान व आनन्द स्वरूप स्वसत्ता को स्वाभिमुख होकर स्वीकार करने से सम्यग्दर्शन होता है।

अब यहाँ छठवें बोल में परद्रव्य से असत्पने की बात कहते हैं। बालकपन में माता-पिता का आधार, पढ़ने में अध्यापक का आधार, धर्म साधन में देव-शास्त्र-गुरु का आधार – ऐसा सारा अज्ञानी जगत जानता/मानता है; परन्तु वास्तव में किसी को भी किसी अन्य का आधार नहीं है। भगवान आत्मा स्वयं से सत् है और सम्पूर्ण परद्रव्यों से असत् है। अरे भाई! जिस पर से तू असत् है, जिस पर की अपेक्षा से तू है ही नहीं; उसका आधार कैसा ?

भगवान! तू स्वयं से सत् है और परद्रव्य की अपेक्षा तेरा त्रिकाल में कहीं/कोई अस्तित्व ही नहीं है – ऐसा जान! भाई! परद्रव्यरूप ज्ञेयों से, शरीर-मन-वाणी से, देव-शास्त्र-गुरु से तू त्रिकाल असत् है। यह अन्तर में बैठाने की बात है।

अहा! 'मैं पर से असत् हूँ' – यह असत्पना प्रकाशित करता हुआ –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परवस्तुपने आत्मा नहीं है – ऐसा प्रगट करते हुए अनेकान्त ही आत्मा का नाश नहीं होने देता।

देखो, यह अनेकान्त है। मैं स्वपने त्रिकाल सत् हूँ और परपने त्रिकाल असत् हूँ – ऐसा अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है और इसका फल स्वपर का भेदज्ञान है।

आत्मा स्वद्रव्य से सत् है और परद्रव्य से असत् है – ऐसा निश्चय होने से कोई परद्रव्य व ईश्वर इनका कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है। इस परम सत्य तक पहुँचना बहुत कठिन है। अनन्तकाल से इस अज्ञानी ने यह बात लक्ष्य में ली नहीं; इसकारण कठिन हो रहा है।

अब सातवें बोल में स्व-क्षेत्र की बात करते हैं। आत्मा का ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में है तथा शरीर-मन-वाणी सब परक्षेत्रगत हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि परक्षेत्रगत ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से मेरा ज्ञान है आदि। ऐसा मानकर वह स्वक्षेत्र का नाश करता है। अज्ञानी सोचता है कि 'मुझे रहने के लिए श्रेष्ठ साधन हों, बढ़िया क्षेत्र (जगह) हो, चारों ओर से हवादार अच्छा लम्बा-चौड़ा अनेक कमरों का मकान हो तो आनन्द आ जाय' – इसप्रकार अज्ञानी परक्षेत्र से अपने सुख में वृद्धि मानता है; परन्तु ऐसे विचार से वह अपने स्वरूप का नाश करता है।

जबकि धर्मीजीव ऐसा मानता है कि मेरा स्वक्षेत्र तो आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में है। मैं अपने असंख्यात प्रदेशी आत्मा से सत् हूँ और परक्षेत्र से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है – ऐसा मानता हुआ ज्ञानी अपना नाश नहीं होने देता। शरीरगत लोकप्रमाण चैतन्य के असंख्यात प्रदेश मेरा स्वक्षेत्र है, इससे ही मेरा अस्तित्व है। इसके सिवाय अन्य कहीं परक्षेत्र में मैं नहीं हूँ।

प्रश्न – मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा लिखा है कि नारकी को क्षेत्रगत वेदना है। यह किसप्रकार/किस अपेक्षा से कहा जाता है?

उत्तर – हाँ, कहा है; पर वह तो व्यवहारनय की कथनी है। वस्तुतः देखा जाय तो वह नरक क्षेत्र की नहीं, नारकी जीव की स्वयं की वेदना है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा जीव का वेदन जीव के असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में ही होता है, न कि नरक के क्षेत्र में। भाई ! चैतन्य के क्षेत्र में और नरक के क्षेत्र में तो परस्पर अत्यन्ताभाव है। इसलिए परक्षेत्र अर्थात् नरक के क्षेत्र के कारण नारकी जीवों को वेदना नहीं होती। उस काल में मोहजन्य जो अपने राग-द्वेष के भाव अपने क्षेत्र में हैं – उसका वेदन होता है, अपनी पर्याय का वेदन है। शास्त्रों में जो क्षेत्रगत वेदना का कथन है – वह तो संयोग से – निमित्त से किया कथन है। निमित्त से कथन करने की ऐसी ही पद्धति है तथा जगत को अनादि से ऐसा ही अध्यास है कि यह जीव परक्षेत्र एवं परवस्तु को वेदता है-भोगता है। बापू ! यह अध्यास ही तेरे नाश का, दुःख का कारण है। इसके कारण ही तुझे अपना एकत्व-विभक्त्वपना भासित नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के बीच अन्दर से प्रज्ञारूपी करवत डालो। जो ज्ञानी 'मैं तो स्वक्षेत्र में ही हूँ, परक्षेत्र में नहीं' – ऐसी भेदविज्ञान की कला का अन्दर में विकास करके स्वक्षेत्र में ही निवास करके जीवन जीना चाहता है, वह सत्यार्थ जीवन को प्राप्त होता है।

आठवाँ बोल – इस बोल में अज्ञानी की मान्यता बताते हुए यह कहा है कि ज्ञान में जो परक्षेत्र के ज्ञेयाकार ज्ञात होते हैं; यदि मैं उन्हें छोड़ दूँ तो मैं अपने क्षेत्र में आ सकता हूँ; परन्तु उसका यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि परक्षेत्र को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है। परक्षेत्र को जानते हुए ज्ञान में परक्षेत्र के आकार से जो ज्ञान हुआ – यह तो जीव का स्वरूप है। इसमें परक्षेत्र ज्ञान में नहीं आता तथा ज्ञान परक्षेत्र में नहीं जाता। भाई ! तू तो परक्षेत्र को जानने के काल में भी अपने स्वक्षेत्र में ही विराजमान है न ! किन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'यदि मैं इस परक्षेत्र को जाननेवाले ज्ञान को छोड़ दूँ तो स्वक्षेत्र में आऊँ।' इसप्रकार वह परक्षेत्र को जाननेवाले ज्ञान के त्याग द्वारा तो ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना ही नाश करता है।

जबकि ज्ञानी स्वक्षेत्र में रहकर परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणमन करनेवाला ज्ञान का स्वभाव होने से अर्थात् स्वरूप में रहकर पर -पदार्थों को जाननेवाला आत्मा का स्वभाव होने से परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ – परक्षेत्र मुझ में नहीं, परक्षेत्र से मैं नहीं – इसप्रकार पर से अपना नास्तित्व प्रगट करता हुआ अनेकान्त से ही अपना नाश नहीं होने देता।

परक्षेत्र, चाहे वह समवशरण ही क्यों न हो – वहाँ भी तो मिथ्यादृष्टि रहते हैं। यदि क्षेत्र से फर्क पड़ता हो तो वहाँ बैठे व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कैसे रह सकते हैं ? भाई ! लाभ-हानि तो अन्तरंग परिणामों से हैं, परक्षेत्र से नहीं वास्तव में परक्षेत्र से तो जीव की नास्ति ही है।

अरे भाई ! अनन्तगुणरूप स्वक्षेत्र में जो ध्रुव चैतन्य परमेश्वर विराजता है, उसकी प्रीति और रति करने से लाभ होता है, परक्षेत्र से न लाभ है और न हानि; क्योंकि परक्षेत्र में तो जीव की नास्ति ही है न !

'स्वयं स्वक्षेत्र से है और परक्षेत्र से नहीं' – ऐसा अनेकान्त न मानकर दोनों से ही है – ऐसा मानना भी भ्रम ही है। ऐसी मान्यता से तो सब एक हो जायेंगे। वेदान्त मतवाले ऐसा मानते हैं कि 'एक ईश्वर ही सर्वज्ञ स्व-पर क्षेत्र में व्यापक है', ज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि 'स्वक्षेत्र में ही मैं हूँ'। सिद्धक्षेत्र में रहनेवाले सिद्ध भगवन्त अपने-अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में ही रहते हैं, वे परक्षेत्र में नहीं रहते हैं। जहाँ सिद्ध परमात्मा हैं, वहाँ उसी आकाश के क्षेत्र में दूसरे अनन्त निगोदिया जीव हैं, परन्तु उन सबका अपना-अपना स्वक्षेत्र जुदा-जुदा है।

नौवाँ बोल – यहाँ इस बोल में स्वकाल की बात करते हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा के ज्ञान में, परिणमन में जो परकाल का या परद्रव्य का परिणमन जाना जाता है, वही मैं हूँ, इसी के कारण वह मेरा परिणमन है। उससे कहते हैं कि भाई ! स्वकाल में अपनी ज्ञान की पर्याय पर को और स्वयं को जाननेरूप होती है – यह तो इसका स्वरूप है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर 'परिणमती हुई परद्रव्य की पर्याय से मेरी पर्याय हुई और उसके नाश से मेरी पर्याय का नाश हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गया'– ऐसा मानकर अपने स्वकाल का नाश (अभाव) करता है। परकाल से, परद्रव्य की अवस्था से अपना अस्तिपना माननेवाला अपने स्वकाल का नाश करता है।

देखो, इस आत्मा की अपेक्षा से परद्रव्य की-निमित्त की पर्याय परकाल है। भले उसी द्रव्य की अपेक्षा वह उसका स्वकाल है, इस जीव की अपेक्षा तो वह परकाल ही है। स्वकाल में परकाल का अभाव है; फिर भी निमित्त या परद्रव्य के कारण अपनी अवस्था या स्वकाल की परिणति हुई – ऐसा माननेवाला अपने स्वकाल का नाश करता है।

प्रश्न – शास्त्रों में तो यह लिखा है कि इस पंचमकाल में केवलज्ञानी उत्पन्न नहीं होते अर्थात् किसी को भी केवलज्ञान नहीं होता ?

उत्तर – बापू! बात तो सही ही लिखी है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कोई काल पर में साधक या बाधक होता है; क्योंकि परकाल की आत्मा के स्वकाल में नास्ति है। अतः वस्तुतः ऐसा मानना मिथ्या है कि 'पंचमकाल के कारण केवलज्ञान नहीं होता और चौथे काल के कारण होता है। यदि ऐसा मानेंगे तो हम चौथे काल में भी थे न! फिर हमें केवलज्ञान क्यों नहीं हो गया। अरे! परकाल से अपना लाभ मानना मिथ्या मान्यता है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानमात्र भाव ने पहले जिन ज्ञेयों का आलंबन लिया था, उन ज्ञेयपदार्थों के विनाश के साथ ही ज्ञान का असत्पना मानकर अर्थात् परकाल के पलटते ही मेरा ज्ञान नाश हो गया – ऐसा मानकर अज्ञानी जब अपना नाश करता है, तब स्वकाल का सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नाश नहीं होने देता। भाई! आत्मा में निर्मल ज्ञान-श्रद्धान-शान्ति की जो दशा होती है, वह स्वयं से ही होती है, निमित्त के कारण नहीं होती।

प्रश्न – क्या समयसार पढ़ने से समयसार का ज्ञान नहीं होता ?,

उत्तर – हाँ, समयसार पढ़ने से समयसार का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि शास्त्र के शब्दों द्वारा ज्ञान की दशा नहीं होती। अपनी स्वयं की समय-समय की पर्याय अपने स्वकाल के कारण होती है, परकाल के कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि 'स्वकाल से मेरा अस्तित्व है, परकाल से नहीं' – ऐसा जानता हुआ धर्मी अनेकान्त से स्वयं को जीवित रखता है, अपना नाश नहीं होने देता।

आत्मा की समय-समय की अवस्था अपनी स्वयं की योग्यता के अनुसार आत्मा में ही होती है, निमित्त के कारण नहीं। निमित्त हों और उन्हें आत्मा जाने भी; परन्तु निमित्तों को जाननेवाली अपनी ज्ञान की पर्याय अपने से है, निमित्तों के कारण नहीं।

प्रश्न – जब दुकान पर बैठते हैं, तब धंधा करने के पापरूप अशुभ भाव होते हैं तथा मन्दिर में आकर देव-दर्शन-पूजन और प्रवचन सुनने से पुण्यरूप शुभभाव होते हैं – इसप्रकार निमित्तकारणों से शुभ-अशुभ भाव होते हैं न!

उत्तर – प्रभु! सुन तो सही, यह तो सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव है। धर्मी जीव को जो प्रेरणा देने का, धर्मोपदेश देने का भाव आता है – वह उसका स्वकाल है और सुननेवाले की सुननेरूप जो राग की पर्याय हुई वह उसका अपना स्वकाल है। दोनों का समकाल अवश्य है; परन्तु एक के कारण दूसरे की अवस्था नहीं हुई है। अहा! पर्याय के स्वकाल का यथार्थ निर्णय होते ही सभी अज्ञानजन्य अवस्थायें नष्ट हो जाती हैं।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों ही सत् हैं, इसका अर्थ यह है कि अनन्त पर्यायें जिस समय जो होती हैं, वही उनका स्वकाल है, वही उनकी काललब्धि है। वे सभी पर्यायें स्वयं से सत् हैं। वस्तुतः वे पर्यायें पर से, निमित्त से तो हैं ही नहीं, अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों से भी नहीं हैं – ऐसा उन पर्यायों का स्वतंत्र सत्पना है। बापू! बात थोड़ी सूक्ष्म है – कहते हैं कि ये मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि भाव जो जीव की अवस्था में होते हैं, वे अपने स्वतंत्र षट्कारक से होते हैं। जब विकार भी अपने स्वकाल में एक समय के अपने षट्कारकों से होता है तो निर्मल-निर्विकार दशाओं का क्या कहना? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशायें भी अपने स्वयं के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

षट्कारक से प्रगट होती हैं। भाई! जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है, उसमें कोई देव-शास्त्र-गुरु की, व्यवहारनय की या दर्शनमोह के अभाव की अपेक्षा नहीं है। भाई! सत् का ऐसा ही स्वरूप है।

उपादान और निमित्त – दोनों में अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन एक साथ होता है, प्रत्येक द्रव्य की उन-उन पर्यायों का अपना-अपना स्वकाल है। तात्पर्य यह है कि एक-दूसरे से कुछ नहीं होता। दोनों में काल प्रत्यासत्ति व क्षेत्र प्रत्यासत्ति देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि निमित्त के कारण उपादान में कार्य हुआ है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यदि निमित्त से कार्य का होना मानें तो इसकी द्रव्यगत तत्कालीन योग्यतारूप उपादान सिद्ध ही नहीं होगा।

साधक को जो सम्यग्ज्ञान की दशा है, वह अपने स्वकाल में हुई है, वह दशा ही उसका स्वकाल है, किन्तु वह अपूर्ण है, उसके साथ उस काल में राग-व्यवहार भी है। उसमें जो शुद्ध परिणति है, वह निश्चय है तथा साथ में जो राग है, वह व्यवहार है। साधक को दोनों का यथार्थज्ञान है; परन्तु वह ऐसा नहीं मानता कि व्यवहार से निश्चय होता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी नहीं है।

दसवाँ बोल – कहते हैं कि जब अज्ञानी जीव निमित्तरूप परपदार्थों के आलम्बन के काल में ही अर्थात् परकाल से ही अपने ज्ञान का सत्पना (अस्तित्व) मानकर अपना नाश (अभाव) करता है, तब ज्ञानमात्र भाव का परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्पना प्रकाशित करते हुए अनेकान्त ही आत्मा को जीवित रखता है, नाश नहीं होने देता। अहा! विकारी पर्यायें हों या निर्विकारी पर्यायें हों – दोनों ही स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं। वस्तुस्वरूप में ऐसी स्वतंत्रता है, तथापि अज्ञानी निमित्त के काल से ही – परकाल से ही ज्ञान का सत्पना मानकर अपना नाश करता है, मिथ्यात्वरूप परिणमन करके चतुर्गति में परिभ्रमण करता है।

ज्ञानी तो ज्ञानमात्र भाव का परकाल से असत्पना प्रकाशित करते हुए अर्थात् निमित्त की दशा से ही मेरी ज्ञान की दशा नहीं हुई, किन्तु मेरी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानदशा का यही स्वकाल है – ऐसा मानता हुआ अनेकान्त द्वारा अपना नाश नहीं होने देता। अहा! ज्ञान और आनन्द आदि रूप जो पर्यायें प्रगट हैं,वे अपने स्वकाल से असत् हैं – ऐसा अनेकान्त धर्मात्माओं को जीवित रखता है, उन्हें मिथ्यात्व से बचाता है, दीर्घसंसारी नहीं होने देता। कार्य के अनुकूल जो निमित्त की दशा है, वह आत्मा की अपेक्षा परकाल है और उस परकाल से मैं असत् हूँ – ऐसा अनेकान्त धर्मात्मा का नाश नहीं होने देता। ऐसी अनेकान्ती दृष्टि से धर्मात्मा अपने निर्मल ज्ञान-श्रद्धान-शान्ति के परिणाम को प्राप्त कर लेता है।

ग्यारहवाँ बोल – यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में भाव संबंधी स्वभाव का बोल है। भगवान आत्मा एक ज्ञायकभावरूप है। जानना.......... जानना. ....जानना........– यह आत्मा का स्वभाव है; पर अज्ञानी ऐसा न मानकर ये जो परद्रव्य के भाव आत्मा के जानने में आते है – मैं उन भावरूप हो गया हूँ – ऐसा मानते हैं। परभाव को जानते समय ज्ञान तो एक ज्ञायकभावपने ही है; तथापि अज्ञानी जानता है कि मैं परभावरूप हो गया हूँ। अज्ञानी का लक्ष्य परभाव पर ही रहता है, अपने अन्दर जो एक ज्ञायकस्वभाव है, उस ओर उसका लक्ष्य नहीं है। इसप्रकार स्वयं को परभावरूप करता हुआ अपने एक ज्ञायकभाव का अभाव करता हुआ अपना नाश करता है।

तथा धर्मी पुरुष का अपने एक ज्ञायकभाव-स्वभाव भाव के ऊपर लक्ष्य होने से परभाव को जाननेवाला ज्ञान मेरे ज्ञायकभाव से ही है – ऐसा स्वभाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त दृष्टि से अपने अस्तित्व को कायम रखता है, अपना नाश नहीं होने देता। परभाव को जाननेवाला ज्ञान परभावरूप हो गया हो – ऐसा नहीं है; किन्तु निजस्वभावरूप ही रहा है – ऐसी अपनी आत्मलीला को यथार्थ जानता हुआ ज्ञानी अपने स्वरूप को सुरक्षित टिकाये रखता है। अहा! आत्मा में अनन्तगुणों के अस्तित्वमय ही वर्तमान भाव का परिणमन होता है, मेरे भाव से ही मेरी पर्याय है, परभाव से नहीं – ऐसा अनेकान्त आत्मा के जीवन को टिकाये रखता है।

बारहवाँ बोल – यह आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में 'परभाव' का बारहवाँ बोल है। आत्मा ज्ञानस्वभाव मात्र है, परन्तु अज्ञानी जीव का जगत के अन्य जड़-चेतन भावों पर लक्ष्य जाने पर वह ऐसा मानता है कि 'ये परभाव मैं हूँ' इन परभावों के कारण ही मेरी यह वर्तमान पर्याय है। जैसे कि – शास्त्र सुनने या स्वयं स्वाध्याय प्रारम्भ करने के पहले मेरे ज्ञान की निर्मलता ऐसी नहीं थी, जैसे कि अब स्वाध्याय करने और प्रवचन सुनने के बाद है – अतः शास्त्र पढ़ने से, प्रवचन सुनने से बहुत लाभ हुआ – यह बात कहने/सुनने में ही अच्छी लग सकती है; परन्तु यह मान्यता तो मिथ्या ही है; क्योंकि वस्तुतः बात यह है कि वह ज्ञान की निर्मलता, विषय की स्पष्टता प्रवचन व शास्त्र में से नहीं; बल्कि अन्दर अपने ज्ञानस्वभाव में से आई है। अहा! वह वर्तमान विशेष ज्ञानदशा अपने ज्ञानसामान्य में से आई है।

अज्ञानी ऐसा न मानकर उसे जो परभाव का लक्ष्य है, उस परभाव में से वह वर्तमान निर्मल ज्ञानपर्याय प्रगट हुई है – ऐसा मानता है। ऐसा मानता हुआ परभाव को अपने रूप करता हुआ अपने स्वभाव का नाश करता है।

अहाहा......! भगवान आत्मा चैतन्य मूर्ति प्रभु अन्दर एक स्वभावभाव, ज्ञानभाव से भरा हुआ पदार्थ है। भले ही वह उस समय परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवं परभावों को देखता हो तो भी उस काल में उसकी जाननेरूप दशा (पर्याय) अपने भाव में से – ज्ञानभाव में से ही आई है; किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर यह मानता है कि यह मेरी ज्ञानपर्याय-जानने की दशा परभाव से उत्पन्न हुई है। इसप्रकार वह अपना नाश करता है।

लोग ऐसा कहते हुए भी देखे जा सकते हैं। अमुक आदमी बाहर खूब घूमता है, अतः इसका ज्ञान अच्छा है; अतः हमें भी ज्ञान बढ़ाने के लिए खूब पर्यटन करना चाहिए, इससे ही तो ज्ञान का विकास होता है। आचार्य कहते हैं कि यही तो मिथ्या मान्यता है। बाहर से, परभाव में से ज्ञान का विकास होता ही नहीं है। अरे! ज्ञान की दशा अन्दर के शान्ति के भावों में से आती है, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विकार भी जो अन्दर में होता है, वह भाव की (गुण की) उल्टी दशा है। यह भी निमित्त के कारण नहीं होता। यद्यपि वह निमित्त के लक्ष्य से निमित्त के आधीन किया नहीं गया; किन्तु वह स्वयं के आधीन हुआ है; फिर भी वह अपनी आत्मा की दशा है। जब जीव क्रोधादिरूप परिणमता है, तब वह पर्याय उत्पन्न नहीं होती। वास्तव में तो जिससमय जो पर्याय होती है, उसी जाति की उस समय आत्मा के अन्दर स्वयं की योग्यता है; अतः ऐसा मानना कि केशर आदि डालकर दूध पीने से बुद्धि विकसित होती है – यह मानना भी मूढ़ता है।

अहा! भगवान आत्मा अनन्त भाव-स्वभाव से पूर्ण प्रभु है। इसकारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि परभावों में से मेरी पर्याय प्रगट होती है। यह उसका भ्रम है। जबकि धर्मी ज्ञानी परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त दृष्टि से अपना कल्याण करता है।

तेरहवाँ एवं चौदहवाँ बोल – कहते हैं, देखो ! वस्तु सामान्य से नित्य है और विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है; किन्तु इस अनित्य पर्याय को देखने से अपना नित्य-सामान्य ज्ञान खण्डित हो गया – अज्ञानी ऐसा मानता है।

वस्तुपने ध्रुव नित्य होते हुए भी आत्मा पर्याय से अनित्य है; परन्तु अनित्य से नित्यवस्तु खण्ड-खण्ड हो जाती है – ऐसा मानकर अज्ञानी नित्य को छोड़ देता है। इसप्रकार पर्याय का अभाव करके वह अपना नाश करता है। अज्ञानी को एकान्त से नित्यपने का – एकपने का अध्यास है। वह बदलती हुई पर्याय को देखकर 'मैं यह नहीं हूँ' इसप्रकार पर्याय को छोड़कर अपना नाश करता है, क्योंकि पर्याय रहित तो कोई द्रव्य होता ही नहीं है।

अरे भाई ! अवस्थापने यदि वस्तु पलटती ही न हो तो दुःख से मुक्त होने के उपदेश की सार्थकता ही नहीं रहेगी। अज्ञानी अपने अज्ञान से मुक्त हो ज्ञानी कैसे बन सकेगा ? भाई ! पर्याय से पलटना तो द्रव्य का अपना सहज स्वभाव है। वस्तु तो सहज ही द्रव्य-पर्याय स्वरूप है। 'मैं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनित्य नहीं' – ऐसा माननेवाला अपना नाश करता है – यह कहकर पर्याय का आश्रय कराने की बात नहीं है। पर्याय का आश्रय तो अज्ञानी को अनादि से है और इसीकारण तो वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो यह ज्ञान कराना है कि वस्तु सहज ही द्रव्य-पर्याय स्वरूप है। ऐसे ज्ञान से अज्ञानी का वस्तु को नित्य एकान्तरूप मानने का दुराग्रह छुड़ाना मुख्य प्रयोजन है।

इस शरीर से भिन्न अन्दर पूर्णानन्द का नाथ परमात्मस्वरूप आत्मा अनादि-अनन्त नित्य प्रभु है और वही पर्याय में पामर है। दोनों का एक साथ ग्रहण करना प्रमाणज्ञान का विषय है। प्रमाण निश्चय के विषय को भी दृष्टि में रखकर पर्याय का ज्ञान कराता है अर्थात् दोनों को एक साथ ग्रहण करता है। किसी एक को भी उड़ाता नहीं है। भाई ! वस्तु की स्थिति द्रव्य-पर्यायरूप है – इस बात को बड़े धैर्य और शान्ति से समझना चाहिए।

ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा तो नित्य-अनित्यरूप है; परन्तु अज्ञानी जीव नित्य सामान्य को ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेष का त्याग कर देता है, उसे छोड़ देता है। वह कहता है कि क्रम से प्रगट होते हुये इन अनित्य ज्ञानविशेषों से मुझे क्या प्रयोजन? मुझे तो एक नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण ही इष्ट है – ऐसा मानकर अज्ञानी अपने अनित्य ज्ञानविशेष का त्याग करता हुआ अपने स्वरूप का नाश करता है। जबकि पर्याय अपेक्षा देखने पर अनादि निधन वस्तु का क्षण-क्षण में बदलना तो सहज है। अनित्य ज्ञानविशेषों का होना ज्ञान का सहज स्वभाव है और इन बदलते अनित्य ज्ञानविशेषों में ही नित्यवस्तु का भान-ग्रहण होता है। ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है; परन्तु अज्ञानी कहता है कि इन पलटते हुए अनित्य ज्ञानविशेषों से मुझे क्या? – ऐसा मानकर अज्ञानी अनित्य ज्ञान की दशाओं के त्याग द्वारा अपना नाश करता है। अनित्यता स्वीकार करने पर उसके नित्यपना भी नहीं रहता; क्योंकि नित्यपने का ज्ञान करनेवाली पर्यायविशेष का तो त्याग कर दिया है। अहा! मैं एक नित्य ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हूँ – ऐसा मानकर अनित्य पर्याय को छोड़ता है, ज्ञान में से निकाल देता है। उसे नित्यवस्तु को ग्रहण करनेवाली दशा ही नहीं रहती। इसकारण उस अज्ञानी को नित्य ध्रुव की दृष्टि ही नहीं होती। वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

अहा ! वस्तुस्वरूप अनेकान्तमय है। वह नित्यानित्य है। धर्मी-स्याद्वादी अपनी ज्ञानमात्र वस्तु को ज्ञानसामान्य से नित्य होते हुए भी वर्तमान वर्तती ज्ञानदशा से यह अनित्य है – ऐसा बराबर जानता है। 'ज्ञानमात्र भाव के ज्ञान विशेष भी हैं' ऐसा नित्यानित्य – दोनों को स्वीकार करके नित्य पर लक्ष्य करते हुए नित्य के आश्रय से प्रवर्तता हुआ अनित्य पर्याय में स्वात्मजनित आनन्द व शांति का अनुभव करता है।

अनादि से जीवों को स्व-स्वरूप को समझने में भारी भ्रान्ति रही है। अपनी मान्यता को बदले बिना यह भ्रान्ति कैसे मिटे ? निर्भ्रान्ति होने के लिए कभी न कभी एक बार तो अपनी अनादि की मिथ्या मान्यता को छोड़ना ही पड़ेगा न ! परमानन्दस्वरूप धर्म और मोक्ष भी तो पर्यायें हैं। यदि पर्याय को ही उड़ा दें, पर्याय का ही निषेध कर दें तो अन्तरंग में जो शुद्ध ध्रुव नित्य है, उसे भी नहीं पा सकेंगे अर्थात् शुद्ध का अनुभव नहीं कर सकेंगे; क्योंकि अनुभव तो पर्याय में ही होता है।

ज्ञानी पर्याय की अनित्यता को जानते हुए वस्तु के नित्य धर्म को दृष्टि में लेते हुए अनेकान्त दृष्टि द्वारा अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है, अपने स्वरूप का नाश नहीं होने देता।

यहाँ तत्-अतत् के दो भंग, एक-अनेक के दो भंग तथा द्रव्य-क्षेत्र -काल- भाव के आठ भंग – सब मिलाकर १४ भंग होते हैं। इन चौदह भंगों में ऐसा बताया है कि एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है अर्थात् अज्ञानी एकान्त से आत्मा नित्यस्वरूप है, उसे स्वरूप से समझता नहीं है तथा ज्ञानी अनेकान्त से वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझता है, स्वरूप में परिणमित होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ निम्नप्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे है – उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन–
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति।।२४८।।

श्लोकार्थ – (**बाह्य-अर्थैः परिपीतम्**) बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया (**उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्**) अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से रिक्त (शून्य) हुआ, (**परितः पररूपे एव विश्रान्तं**) सम्पूर्णतया पर -रूप में ही विश्रांत (अर्थात् पररूप के ऊपर ही आधार रखता हुआ) ऐसे (**पशोः ज्ञानम्**) पशु का ज्ञान (पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान) (**सीदति**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादिनः तत् पुनः**) और स्याद्वादी का ज्ञान तो, (**'यत् तत् तत् इह स्वरूपतः तत्' इति**) जो तत् है वह स्वरूप से तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को – वस्तु को स्वरूप में तत्पना है) ऐसी मान्यता के कारण (**दूर-उन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः**) अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, (**पूर्णं समुन्मज्जति**) सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है।

भावार्थ – कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि घटज्ञान घट के आधार से ही होता है; इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप होकर (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानतत्त्व को नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग कहा है।

कलश २४८ पर प्रवचन

कलश २४७ के बाद की आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में जो वस्तु के अनेकान्तस्वरूप के प्रकाशक १४ बोल आये हैं, उन्हें ही यहाँ कलशों के रूप में कहा गया है – इसी क्रम में ४७ शक्तियों का वर्णन आगे है।

देखो, यहाँ अज्ञानी की मान्यता को स्पष्ट करते हुए इस कलश में कहते हैं कि उसकी मान्यता के अनुसार आनन्द आदि गुणों की जो अनेक पर्यायें होती हैं, वे परज्ञेयों से या निमित्तों से होती हैं – परन्तु ऐसा जो मानता है, उसके ज्ञान को तो परज्ञेय ही, निमित्त ही पूरी तरह पी जाते हैं; क्योंकि उसने अपना सम्पूर्ण परिणमन निमित्त के आधीन कर लिया है। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरे वर्तमान ज्ञान की दशा मेरे ही कारण हुई है।' – ऐसा उसने नहीं माना। इसकारण वह ज्ञेयों में अटक जाता है।

अज्ञानी तर्क करता है कि जैसे कपड़े में कोट बनने की योग्यता तो है; परन्तु दर्जी (टेलर) जब कोट को बनायेगा तभी बनेगा न! कपड़ा रखा-रखा अपने आप ही तो कोट बनेगा नहीं। इसलिए हम कह सकते हैं कि उपादान में योग्यता होते हुए भी जब निमित्त मिलेगा तभी काम होगा। ऐसा मानने या कहनेवाले अज्ञानी जीव यह नहीं समझ पाते कि कपड़ा में कोट बनने का स्वकाल है अर्थात् पर्याय का स्वकाल भी होता है और जब उस पर्याय का स्वकाल या पर्यायगत योग्यता होती है, तब दर्जी (टेलर) निमित्त के रूप में होता ही है। वह तो एक पर्याय के काल में दूसरी पर्याय की कल्पना करके निमित्तों से कार्य की सिद्धि मानता है।

अहा! तीनकाल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की तीन काल की पर्यायें हैं। इसकारण यहाँ (आत्मा में) जिस समय जो निमित्त होना है, वही होता है, वही निमित्त उस कार्य का प्रतिनियत है। यह बात हमारे तुम्हारे मन की (मनगढ़न्त) कल्पना नहीं; केवलज्ञानी के ज्ञान में भासित हुई बात है। फिर भी पता नहीं क्यों ? लोग कुछ न समझ कर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुतर्क करते हैं ? उनका कहना है कि केवलज्ञान में ग्रह भासित हुआ है कि इस समय यही होना है यह तो सही है; परन्तु कर्तव्य के काल में यह बात ज्ञात नहीं है। अतः उसे तो अनियत मानकर निमित्तों को जुटाना पड़ेगा न!

आचार्य समझाते हैं कि अरे भाई! तू यह बता कि उसे सर्वज्ञता की श्रद्धा है या नहीं ? यदि श्रद्धा है तो उस केवलज्ञान में उस कार्य के अनुकूल निमित्त भी आया ही होगा न! भले काम करनेवालों को पता न हो तो भी उसके पता होने या न होने से वस्तु का परिणमन थोड़े ही रुकता है या होता है। दोनों स्वतंत्र हैं न!

प्रश्न – केवलज्ञान में लोक के अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति तो है, परन्तु यदि सामने लोक के अनन्त पदार्थ ही न हों तो केवलज्ञान है, यह सिद्ध कैसे होता ? केवलज्ञान किस को जानता ? इसलिए ऐसा मानने में क्या दोष है कि लोकालोक है और इस कारण उसको जाननेवाला केवलज्ञान भी है। लोकालोक को जानने के कारण ही तो केवलज्ञान केवलज्ञान है न!

उत्तर – नहीं भाई! ऐसा नहीं है। यद्यपि लोकालोक है और केवलज्ञान भी है और केवलज्ञान एक ही समय में लोकालोक को जानता भी है; तथापि लोकालोक को जानने के कारण केवलज्ञान की सत्ता नहीं है, भले वह लोकालोक को जानता है; परन्तु दोनों की सत्ता स्वतंत्ररूप से है; एक-दूसरे के कारण नहीं।

जो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह तो अपने से हुआ है। जब वह केवलज्ञान लोकालोक से वस्तुतः असत्‌सिद्ध है तो फिर उसका अस्तित्व लोकालोक से कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता है।

आत्मा में जिस समय जो पर्याय होने योग्य है, वह स्वयं से ही होती है, किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर जिस समय पर्याय हुई, उस समय जो निमित्त दिखा, उसे ही उस पर्याय का या कार्य का कर्ता मान लेता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस प्रकार वह अपनी ज्ञानपर्याय का अस्तित्व परज्ञेयों से अर्थात् निमित्तों से मानता है। प्रगट हुई पर्यायें अपने-अपने समय की सत् हैं – ऐसा न मानकर अज्ञानी स्वयं के सत् को उड़ा देता है, निमित्तों के हवाले कर देता है।

अहा ! जिसप्रकार ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु आत्मा स्वस्वरूप से ही शोभित है, उसीप्रकार इसकी वर्तमान की दशा स्वयं से शोभित है। परज्ञेयों के कारण इसकी वर्तमान की दशा नहीं हुई है। 'मैं और मेरी दशा (पर्याय) परनिमित्त के कारण है – ऐसा माननेवालों का ज्ञान पर में अटक गया है। अर्थात् पराश्रित हो गया हैं – इस कारण उसे अपने स्वरूप के सत् का भान ही नहीं रहा – इसप्रकार अपना नाश करता है।

देखो, ऐसी मान्यतावालों को आचार्य यहाँ पशु कह रहे हैं; क्योंकि पर की सत्ता से अपने ज्ञान को सत् मानने की ऐसी विपरीत मान्यता का, मिथ्यात्व का फल पशुगति और निगोद है – ऐसे जीव भविष्य में नियम से निगोद जायेंगे। अरे ! पशु की भांति एकान्तवादी अज्ञानी यदि ऐसा मानता है कि मेरी और परद्रव्य की समय-समय होती अवस्था का अस्तित्व पर के कारण है तो तू पशुवत् ही है। भाई ! तेरा अस्तित्व पर के कारण मानने पर तेरे सम्पूर्ण सत् का अस्तित्व उड़ जाता है।

ओ हो ! जगत में अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गल आदि अनन्तद्रव्य हैं। उनमें जिसकी जिसप्रकार की पर्याय (काल) है, वह उसीप्रकार स्वयं से अस्तिपने है और पर से बिल्कुल नहीं है। परनिमित्त तो अकिंचित्कर है। निमित्त को प्रवचनसार गाथा ६७ में स्पष्टरूप से अकिंचित्कर कहा है। जब उपादान स्वयं कर्ता होकर कार्यरूप परिणमित होता है, तब निमित्त पर अर्थात् तदनुकूल परद्रव्य पर कर्ता का आरोप आता है, किन्तु वास्तव में निमित्त से कार्य होता नहीं है। यह वस्तुस्थिति है।

अब कहते हैं कि जिसने स्याद्वाद द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तु को यथार्थ रूप से साधा है, उस धर्मी जीव पुरुष का ज्ञान तो ऐसी यथार्थ मान्यता से है कि जो तत् है वह स्वरूप से तत् है अर्थात् अपना ज्ञायकतत्त्व,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसके अनन्तगुण तथा उनकी वर्तमान पर्यायें सब स्वयं से तत् हैं और पर से अतत् हैं अर्थात् नहीं हैं – ऐसी यथार्थ मान्यता से प्रगट हुआ ज्ञानघनरूप स्वभाव के अतिशय तेज से सम्पूर्णपने उदित होता है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से, निज स्वरूप से अर्थात् ज्ञानस्वरूप से तत् है और पर से अतत् है अर्थात् नहीं है। ऐसी भेदज्ञान की दृष्टि होने पर ज्ञानी को प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा सम्पूर्ण पर्याय में प्रगट होता है, ज्ञाता होता है; अनुभव में आता है।

अहा! पर्याय में जो पूर्णपना प्रगट होता है, वह स्वयं से तत् है तथा उसीप्रकार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग होता है, वह भी स्वयं से तत् है, पर के कारण या शुभराग के कारण नहीं है और तो और व्यवहार रत्नत्रय, देव-शास्त्र-गुरु तथा कर्मों के उपशमादि से भी वह ज्ञान की निर्मल रत्नत्रय की पर्याय नहीं हुई।

तात्पर्य यह है कि (१) परज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता। (२) व्यवहार से निश्चय नहीं होता।

बस, समय-समय की पर्यायें अपने स्वरूप से सत् हैं। प्रत्येक समय जो पर्याय होती है, वह स्वयं से ही होती है, पर से नहीं तथा सांकल की भांति क्रमनियमित है, आगे-पीछे नहीं होती।

कलश २४८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, 'ज्ञेयों के आधार से मेरा ज्ञान है' – ऐसा माननेवालों के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ भी नहीं रहा, शून्य हो गया, मानो नष्ट ही हो गया। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो गया।

देखो, अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को जाननेवाला स्याद्वादी ऐसा मानता है कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है। ज्ञेयों को जाननेरूप हुआ ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञेयस्वरूप नहीं हुआ है, किन्तु ज्ञेयों से पृथक् ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञेयस्वरूप नहीं। अहा! ऐसी यथार्थ समझ के कारण स्याद्वादी ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब दूसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन–
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्।।२४९।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**'विश्वं ज्ञानम्' इति प्रतर्क्य**) 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार करके (**सकलं स्वतत्त्व-आशया दृष्ट्वा**) विश्वमय (समस्त ज्ञेय- पदार्थमय) होकर, (**पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते**) पशु की भांति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है – प्रवृत्त होता है; (**पुनः**) और (**स्याद्वाददर्शी**) स्याद्वाद को देखनेवाला तो यह मानता है कि (**'यत् तत् तत् पररूपतः न तत् इति**)' जो तत् है वह पररूप से तत् नहीं है। (अर्थात् प्रत्येक) तत्व को स्वरूप से तत्पना होने पर भी पररूप से अतत्पना है)', इसलिए (**विश्ववात् भिन्नम् अविश्वविश्वघटितं**) विश्व से भिन्न ऐसे तथा विश्व से (विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न) ऐसा (**तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्**) अपने तत्त्व का स्पर्श, अनुभव करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी यह मानता है कि विश्व (समस्त वस्तुएँ) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है। इसप्रकार विश्व को अभिन्न मानकर, अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भांति हेय-उपादेय के विवेक बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। स्याद्वादी तो यह मानता है कि जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है, इसलिए ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है; परन्तु परज्ञेयों के स्वरूप से अतत्स्वरूप है अर्थात् परज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनसे भिन्न है।

इसप्रकार पररूप से अतत्पने का भंग कहा है।

कलश २४६ पर प्रवचन

छह द्रव्यमय सारा जगत ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप भिन्न वस्तु है। दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा होते हुए भी अज्ञानी ऐसा न मानकर यह मानते हैं कि – 'ये परज्ञेयरूप वस्तुयें ही मैं हूँ, ये मेरी हैं और इनका मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ।' – ऐसा माननेवाले परज्ञेयों को अपनेपने जानते-मानते हैं; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, उन्हें आचार्यदेव ने पशु कहकर ललकारा है कि – अरे! पशु की तरह स्वछन्द चेष्टा मत करो।

भाई! यह आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है। इसमें पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं, जगत के पदार्थ भी इसमें नहीं हैं। ये सर्व पदार्थ इसके ज्ञान में जानने योग्य परज्ञेय हैं।

ये परज्ञेय ज्ञान में जाने जाते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है कि ये परपदार्थ ज्ञान में आ जाते हैं तथा यह शरीर, इन्द्रिय, वाणी, मन-धन, परिजन आदि जगत के पदार्थ भी इसमें नहीं हैं। ये सब पदार्थ इसके ज्ञान में जानने योग्य परज्ञेय हैं। यद्यपि ये परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं, जाने जाते हैं, तथापि ज्ञान अपने स्वरूप को छोड़कर इन ज्ञेयरूप नहीं होता तथा ये ज्ञेय भी अपना स्वरूप छोड़कर ज्ञानस्वरूप नहीं होते। यही वस्तुस्थिति है।

ऐसा होने पर भी जो ऐसा वस्तुस्वरूप स्वीकार न करके ऐसा मानते हैं कि – 'जानने में आनेवाले ज्ञेय मैं हूँ, ये मेरे हैं, इन्हें मैं करता हूँ अर्थात् मैं इनका कर्त्ता-भोक्ता हूँ।' उन्हें भगवान ने पशु संज्ञा दी है, पशु कहा है। देखो, मूल कलश में 'पशु' एवं 'पशुरिव' कहा है। भले वह बड़ा विद्वान हो, बड़ा सेठ हो या बड़ा राजा और देव ही क्यों न हो; जबतक उनके वस्तु के स्वरूप सम्बन्धी एकान्तमान्यतारूप मूढ़पना वर्तता है, तबतक वे पशु जैसे ही हैं। अहा! वे मिथ्यात्व के सेवन से बंधे ही हैं और इसके फल में वे एकेन्द्रिय आदि तिर्यंच पर्याय में ही उत्पन्न होते हैं।

अरे भाई! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा जानता है और जाननेरूप में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रवर्तता है, अन्य कुछ भी नहीं करता। एक परमाणु में भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। हलन-चलन करना, उठना-बैठना, बोलना-चालना – ये सब तो जड़ की क्रियायें हैं। आत्मा इनका कर्त्ता-धर्ता नहीं है। आत्मा तो जैसी वस्तु है, जैसे ज्ञेयपदार्थ हैं, उनको मात्र वैसा जानता है और जाननेरूप से ही प्रवर्तता है। 'पर को जानता है', यह कहना भी व्यवहार है; वास्तव में तो वह तत्सम्बन्धी अपने ज्ञान को ही जानता है। बात बहुत सूक्ष्म है। इस वस्तुस्वरूप को सर्वज्ञ भगवान ने बनाया नहीं, बल्कि बताया है।

'मैं परजीवों की दया पाल सकता हूँ, दीन-दुखियों की सहायता कर सकता हूँ और यह मेरा कर्त्तव्य है' – ऐसा जो मानता है, वह परज्ञेयों को ज्ञान (आत्मा) मानता है। पुण्य-पाप आदि भावों को भी जो अपने मानता है, उन्हें भला-बुरा मानता है, पुण्य करने को अपना कर्त्तव्य मानता है। वह भी ज्ञेयों को ही ज्ञान (आत्मा) मानता है। ऐसा सर्वथा एकान्तवादी सारे जगत को आत्मा मानता है। इस तरह वह स्वयं को सर्वव्यापी मानकर स्वयं को विश्वरूप करता है।

अरे! जिसको अपनी सही पहचान नहीं है। 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है, मैं क्या कर सकता हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है' – यह नहीं जानता; वह वर्तमान में भले बड़ा सेठ या राजा हो; वह मरकर नियम से कीड़ा-मकोड़ा होगा तथा चार गति-चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करेगा। मिथ्यात्व का यही फल है। देखो! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था न! सोलह हजार देव जिसकी सेवा करते थे और घर में ९६ हजार रानियाँ थीं। उसके वैभव का क्या कहना। वह मरकर भयंकर नरक में गया; क्योंकि परज्ञेयों को वह अपने मानता था। ऐसी मिथ्या मान्यता का यही फल है। भाई! असंयोगी निज तत्त्व को छोड़कर जिसने पर संयोगी वस्तुओं को अपना माना है, वह मरकर संयोगों में ही चला जाता है।

जिसप्रकार हाथी चूरमा (लाडू) और घास को भिन्न-भिन्न न जानकर दोनों के मिले-जुले स्वाद को घास का ही स्वाद मानकर सेवन करता है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार जो अज्ञानी ज्ञानस्वरूपी आत्मा और ज्ञेयों को मेल-सेल करके – मिलाकर उनको मिश्रित ही अनुभव करता है – मैं देही ही हूँ, रागी-द्वेषी ही हूँ, मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ आदि प्रकार से अनुभव करता हुआ मैं यही हूँ – ऐसा अनुभव करता है, वह हाथी की भाँति ही पशु जैसा ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, वह अपने ज्ञानस्वरूप से तत् पने परिणमता है और ज्ञेयरूप से अतत् नहीं परिणमता, उसे धर्म कहा है; परन्तु जगत यह तो समझता नहीं है और बाह्यक्रिया में धर्मबुद्धि से व्रत, तप, भक्ति और दान आदि रागभाव में धर्म मानकर पर में ही प्रवृत्ति किया करता है। उससे आचार्य कहते हैं कि यह तो तेरी स्वछन्द चेष्टा है।

वस्तुतः स्वयं स्वरूप से तत् और पर से अतत् है। ऐसा होते हुए भी पर से, पैसा से, धन से, शरीर व इन्द्रियों से और इन्द्रियों के विषयों से अपने को सुखी मानता है, जबकि ऐसा माननेवाला बहिरात्मा पशु जैसा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर स्वछन्द अज्ञानमय आचरण करता है। वह मिथ्यादृष्टि रहता हुआ दुःखमय चारों गतियों में ही रमण करता रहता है।

अब कहते हैं कि स्याद्वाद को देखने-जाननेवाले स्याद्वाददर्शी धर्मीजीव तो ऐसा मानते हैं कि मैं तो अपने ज्ञान व आनन्दस्वरूप से तत् हूँ तथा पर से अतत् हूँ। इसलिए मेरे ज्ञान-दर्शन, सुख, समकित, शक्ति आदि सब स्व में स्वयं से होते हैं, पर से नहीं। जो ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानते-देखते हैं, वे विलक्षण पुरुष हैं। शेष दुनिया का काम करनेवालों, दुनिया का उद्धार करने को निकलनेवालों को दुनिया भले ही चतुर कहे; परन्तु वस्तुतः वे दुनियाँ में ही रखड़ेंगे। वे सचमुच चतुर नहीं हैं। वे मूढ़ हैं, पागल हैं – उन्हें यहाँ कलश में पशु कहा है।

अहा! मेरा चैतन्य महाप्रभु मेरे स्वरूप से-ज्ञानस्वरूप से तत् है और पर से अतत् है। भले ज्ञेयों का ज्ञान होता है; परन्तु वह ज्ञेयों का ज्ञान नहीं है, ज्ञान का ही ज्ञान है – ऐसा स्वस्वरूप से तत्पना और पररूप से अतत्पना मानने से स्याद्वादी ज्ञेयों का ज्ञान जानने के काल में भी ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की रचना स्वयं से हुई है – ऐसा जानने से विश्वरूप अनुभव करता है, अपने को निजरूप ही अनुभव करता है। जितना विश्व है, उतना ही यहाँ आत्मा में ज्ञान होता है – यह तो आत्मा का निजस्वभाव है। विश्व को जाननेरूप जो निजज्ञान की पर्याय होती है, उसमें विश्व निमित्त होता है, इस कारण विश्व को जाननेवाली उस केवलज्ञान की पर्याय को विश्वरचित कहा जाता है। वस्तुतः तो वह ज्ञानपर्याय ज्ञानरूप ही है, विश्वरूप नहीं हुई है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी विश्वरूप नहीं होता हुआ निजतत्त्व का अनुभव करता है, विश्व को तो मात्र जानता ही है। विश्व को जानते हुए भी वह विश्वरूप नहीं होता।

कलश २४६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, एकान्तवादी ज्ञान में परज्ञेयों को देखकर ऐसा मानता है कि – यदि ये परज्ञेय न हों तो इन सम्बन्धी ज्ञान मुझे कैसे हो सकता है ? ऐसा मानता हुआ अपने को परज्ञेयरूप – विश्वरूप करता है। भगवान आत्मा स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वरूप होते हुए रागादि परवस्तु के साथ एकपना मानते हुए अपने को विश्वमय (सर्वरूप) मानकर एकान्ती पशुतुल्य होकर उपादेय के विवेक बिना सर्वत्र स्वच्छन्दरूप से प्रवर्तता है। निमित्तों से, पर से मुझमें रागादि विकार होता है और शुभराग से धर्म होता है – ऐसा माननेवाला रागादि एवं निजज्ञायक तत्त्व में हेयोपादेय के विवेक बिना स्वछन्दरूप से रागादि आचरणरूप ही प्रवर्तता है, वह घोर संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो, ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि – 'मैं स्वयं से, निजज्ञानस्वरूप से तत् हूँ और पुण्य-पाप के परिणामों से तथा व्यवहार के विकल्पों से अतत् हूँ। ऐसा जानते हुए परज्ञेयों से भिन्न निजज्ञानतत्त्व का स्पर्श करता है, अनुभव करता है।

यहाँ पहले भंग में यह सिद्ध किया है कि यह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से तत् है और दूसरे भंग में पर से अतत् है, पर से तत् नहीं है – यह सिद्ध किया है। ज्ञानी धर्मात्मा पर से विमुख होकर स्वरूप के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आश्रय से प्रवर्तता है। इस रीति से वह निर्मल अन्तरंग ज्ञान-श्रद्धान व आचरण को प्राप्त होकर निराकुल आनन्द का अनुभव करता है – ऐसी बात है।'

इसप्रकार पर से अतत्‌पने का भंग कहा।

अब तीसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस–
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय–
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित्॥२५०॥

श्लोकार्थ :– (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकांतवादी अज्ञानी, (**बाह्य-अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरतः**) बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण, (**विष्वग्-विचित्र-उल्लसत्- ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः**) चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेकप्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों के ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न खण्ड-खण्डरूप हो गई मानकर) (**अभितः त्रुटयन्**) सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खण्ड-खण्ड) अनेकरूप होता हुआ) (**नश्यति**) नष्ट हो जाता है; (**अनेकान्तवित्**) और अनेकान्त का जानकार तो (**सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया**) सदा उदित (प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण, (**भेदभ्रमं ध्वंसयन्**) भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है – ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ), (**एकम् अबाधित-अनुभवनं ज्ञानम्**) जो एक है (सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को (**पश्यति**) देखता है-अनुभव करता है।

भावार्थ – ज्ञान है वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित होने से अनेक दिखाई देता है, इसलिए सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खण्डखण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय ऐसे निज का नाश करता है और स्याद्वादी तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा देखता है।

इसप्रकार एकत्व का भंग कहा है।

कलश २५० एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह तीसरे भंग का कलशरूप काव्य है –

देखो, यहाँ कहते हैं कि – जो मिथ्यात्व से बंधे हैं, वे पशु हैं। उन्हें यहाँ पशु कहकर संबोधित किया है; क्योंकि वे मिथ्याभाव युक्त होने से बंधते हैं। अपनी ज्ञान की पर्याय में अनेकपने अनेक ज्ञेयाकारों को जानता हुआ ऐसा मानता है कि 'मैं अनेक हो गया – ऐसा मानते हुए अज्ञानी अपने स्वरूप के अस्तित्व का नाश करता है, मिथ्याभाव से बन्धन को प्राप्त होता है। एक समय की ज्ञान की पर्याय में छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने का आत्मा का स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी मानता है कि अनेकप्रकार के ज्ञेयाकारों से मेरी ज्ञानशक्ति खण्डित, छिन्न-भिन्न हो गई है, मुझमें एकपना नहीं रहा, जबकि वास्तविक बात तो यह है कि जो वस्तु, एकस्वरूप है वही अनेकस्वरूप है। पर्याय में अनेकपना होते हुए भी द्रव्य के एकपने को कहीं/कोई आंच नहीं आती है; तथापि एकपने की इच्छा करनेवाले को यह भ्रम हो गया है कि 'मैं अनेक हो गया।'

इसप्रकार अनेकपने से अपनी ज्ञानशक्ति को खण्ड-खण्डरूप होती हुई मानकर अनेक को जाननेरूप परिणमन देखकर स्वयं खण्ड-खण्ड हो गया – ऐसा मानता हुआ अनेकपने से इन्कार कर अपनी सत्ता का नाश करता है, मिथ्यात्वभाव से परिणमन करता है।

अहा! दृष्टि के विषयभूत एकरूप स्वभाव की प्राप्ति और उसका आश्रय तो पर्याय में होता है, जो वस्तु की पर्याय को और पर्याय के स्वभाव को ही एकान्त से स्वीकार नहीं करता, उसे यथार्थदृष्टि,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यक्दृष्टि कैसे हो सकती है ? बापू! वस्तु तो द्रव्य-पर्यायरूप है, द्रव्यपने भी है और पर्यायपने भी है। द्रव्यपने जो एक है, वही पर्यायपने अनेक है। एकान्त से द्रव्यरूप-एकरूप ही वस्तु नहीं है; परन्तु एकान्ती एकान्त से एकपने मानकर पर्याय को छोड़ देता है। इसप्रकार वह एकान्त से अपने सत्त्व का ही नाश करता है।

अब कहते हैं कि – वस्तु के अनन्त धर्मों को यथावत् जाननेवाले स्याद्वादी-सम्यक्दृष्टि तो यह कहते हैं कि यद्यपि पर्याय की दृष्टि से मैं भले ही अनेक को जाननेवाला हूँ; परन्तु नित्य उदयमान अखण्ड एकद्रव्यपने के कारण मैं तो एक ही हूँ। पर्याय में अनेक को जानने का भी मेरा स्वभाव है, किन्तु एकरूप द्रव्यस्वभाव को क्या बाधा है, द्रव्य तो एक अखण्डित ही है।

इसप्रकार 'ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में वस्तुभेद हो गया, ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया' – ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ, अनेकपने को गौण करता हुआ ज्ञानी निर्बाधरूप से एक ज्ञानस्वरूप को ही देखता है, अनुभव करता है। बस, इसी का नाम धर्म है। इसके सिवाय सब निःसार है।

भावार्थ यह है कि – एकान्तवादी को पर्याय में अनेक ज्ञेयाकारों को देखकर यह बात स्वीकार नहीं होती कि – 'वस्तुपने अन्तर में मैं अकेला अखण्डानन्द, नित्यानन्द, ज्ञानानन्द प्रभु हूँ।' वह अनेक ज्ञेयों के आकारों को देखकर ऐसा मानता है कि – मैं सर्वथा खण्ड-खण्ड हो गया हूँ। इसतरह वह अपने अस्तित्व को नकार कर अपना ही नाश करता है।

जबकि स्याद्वादी, ज्ञानीपुरुष अनेक ज्ञेयाकारों को जाननेरूप पर्याय को गौण करके सदा उदयमान द्रव्यपने से ज्ञान को देखता है, एक ज्ञान स्वभाव को ही देखता है, अनुभव करता है।

इसप्रकार यह एकपने का भंग हुआ।

अब चौथे भंग का कलशरूप काव्य कहा जाता है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय–
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित्।।२५१।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**ज्ञेयाकार-कलंक-मेचक-चिति प्रक्षालने कल्पयन्**) ज्ञेयाकाररूपी कलंक से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतन में प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतन की अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ), (**एकाकार-चिकीर्षया स्फुटम् अपि ज्ञानं न इच्छति**) एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को–यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकार रूप से प्रगट है तथापि नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञान का अभाव करता है।); (**अनेकान्तवित्**) और अनेकान्त का जाननेवाला तो, (**पर्यायैः तद् अनेकतां परिमृशन्**) पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ, (**वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम् उपगतं ज्ञानम्**) विचित्र होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी एकरूप) ऐसे ज्ञान को (**स्वतः क्षालितं**) स्वतः क्षालित (**स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध**) (**पश्यति**) अनुभव करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर, उसे धोकर-उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभाव को जानता है, इसलिए ज्ञान का स्वरूप से ही अनेकाकारपना मानता है।

इसप्रकार अनेकत्व का भंग कहा है।

कलश २५१ एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब चौथे अनेकपने के भंग की सिद्धि करनेवाले कलशरूप काव्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की व्याख्या करते हैं। कहते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं को सर्वथा एकरूप मानकर पर्यायदृष्टि से जो अनेकपना भी वस्तु का स्वभाव है, उसे स्वीकार नहीं करता, आचार्य ने उसे पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी कहा है; क्योंकि वस्तु तो सहज ही द्रव्य-पर्यायरूप है। द्रव्यरूप से एकपना एवं पर्यायरूप से अनेकपना यह तो वस्तु का सहज स्वभाव ही है। त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वभाव से आत्मा एक है और उसमें अनन्तगुण व उसकी प्रतिसमय परणमती अनन्त पर्यायें हैं, ज्ञान में वे ज्ञात भी होती हैं – इस अपेक्षा अर्थात् पर्याय अपेक्षा से वे अनेक हैं; किन्तु अज्ञानी उस ज्ञान की पर्याय में जो अनेक परज्ञेय जानने में आते हैं, उन्हें कलंक मानकर निकाल देना चाहता है, ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेयाकारों का नाश करना चाहता है, निकालना चाहता है, परन्तु यह संभव नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकाररूप परिणत ज्ञान पर्याय में से ज्ञेयाकारों के नाश के साथ पर्याय का भी नाश होता ही है।

देखो, जिसप्रकार दर्पण के सामने कोयला हो या बिच्छू हो तो कोयला या बिच्छू का प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है; जो कि दर्पण की ही निर्मल पर्याय का परिणमन है। कोयला या बिच्छु वहाँ उस दर्पण में नहीं है। यदि उस दर्पण की पर्याय में से कोयला या बिच्छु को निकालना चाहें तो दर्पण की उस अवस्था का ही नाश होगा अर्थात् उसरूप परिणत दर्पण का ही नाश होगा न!

उसीप्रकार आत्मा चैतन्यदर्पण है। वह द्रव्यरूप से कायम एकरूप रहकर, उसकी एक समय की ज्ञान की पर्याय, परज्ञेयों का स्पर्श किये बिना ही, उसका आश्रय लिए बिना ही अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप से परिणत होता है। यद्यपि सामने परज्ञेय है; परन्तु इसके कारण इसका ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं होता। यह तो ज्ञान की निर्मलपर्याय का ही ऐसा स्वभाव है कि अनन्त ज्ञेयाकारों रूप ज्ञान का परिणमन स्वयं का स्वयं में स्वयं से होता है। अज्ञानी उसे कलंक मानकर उन ज्ञेयाकारों को मिटा देना चाहता है। वह सोचता है कि 'मैं तो एकरूप हूँ, उसमें यह अनेकरूपता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कैसी ? यह तो कलंक है।' – ऐसा मानकर वह उन ज्ञेयाकारों को दूर करने की इच्छा से अपनी ही स्वरूपसत्ता का नाश करता है, अपनी स्वरूपसत्ता से इन्कार करता है। अहा ! वह यह नहीं जानता कि – अनन्त परज्ञेयों को जाननेरूप परिणमन करने का मेरा, ज्ञानपर्याय का ही सहज स्वभाव है।

यह सब समझना पड़ेगा। बापू ! यह धैर्य के धनियों का काम है। धर्म कहीं बाहर में लुटता नहीं है, बँटता नहीं है; बाजारों में बिकता नहीं है, जिसे लूट लिया जाय अथवा मोल खरीद लिया जाय।

प्रश्न – आप तो हमें यह बताइये कि धर्म कैसे होगा ? उसके लिए हमें क्या करना होगा ? आप जो कहें, हम वही सब करने को तैयार हैं।

उत्तर – भाई ! धर्म की इच्छा करनेवालों को सबसे पहले यह जानना होगा और यही निश्चय करना पड़ेगा कि – मेरा अर्थात् मेरे अस्तित्व का मेरे द्रव्य-क्षेत्र, काल (पर्याय),भाव (गुण) का क्या स्वरूप है ? 'धर्म किसके आश्रय से होता है ?' यह जाने बिना धर्म कैसे प्रगट करेगा ? ये दया, दान, भक्ति, पूजा के परिणाम धर्म नहीं हैं, ये सब तो विकल्प हैं, रागरूप हैं। 'स्व'के आश्रय में गये बिना भव का अभाव करनेवाला बीजरूप सम्यग्दर्शन तीनकाल में भी संभव नहीं है; जो कि धर्म का मूल है।

भाई ! तुझे धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निर्मलरत्नत्रय, जिसे निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं, वह धर्म है। अष्टपाहुड़ में इसे 'अक्षय-अमेय' कहा है। अहा ! एकरूप ज्ञायक का जिसमें ज्ञान हुआ उसको अक्षय-अमेय कहा है; क्योंकि उस पर्याय में अनन्त को जानने की ताकत स्वयं से ही है। इसीप्रकार एक शुद्ध ज्ञायक का जिसमें श्रद्धान हुआ, वह पर्याय भी 'अक्षय अमेय' है; क्योंकि अनन्त की श्रद्धा करनेवाली (निश्चय से अनन्त सामर्थ्यवान अपने स्वभाव की) श्रद्धा करनेवाली इसकी ताकत स्वयं के कारण ही है। इसीप्रकार चारित्र की, आनन्द की, वीर्य की, पर्याय भी अक्षय-अमेय है। अक्षय अनन्त सामर्थ्यवाले आत्मतत्त्व का, शुद्ध एक ज्ञायक का आश्रय करती है, इसकारण उस पर्याय को भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अक्षय-अमेय कहा है। इसप्रकार अनन्तगुण की एक समय में अनन्त पर्यायें अक्षय-अमेय हैं, उसीप्रकार उसके आश्रय से प्रगट निर्मल पर्यायें भी अक्षय-अमेय हैं।

यहाँ कहते हैं कि – अज्ञानी एकाकार की इच्छा से अर्थात् ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानकर अनेकार हुए ज्ञान को स्वीकार न करके अपने अस्तित्व का ही अभाव करता है। वस्तुपने से अनन्तगुणमय एकरूप स्वयं होते हुए भी एक समय में अनन्तगुणों की अनन्त पर्यायें हैं और उन एक-एक पर्यायों में अनन्तता है। ज्ञान की एक पर्याय में सम्पूर्ण विश्व ज्ञेयरूप से है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। उसे नहीं मानकर एकान्त से एकपने को ही इच्छता हुआ वह वस्तु के अनन्त धर्मात्मकस्वरूप का विनाश करता है। अनन्तपने को कलंक मानकर वस्तु के अनन्तपने के निषेध द्वारा अपनी ज्ञानपर्याय के स्वरूप के निषेध से अपने द्रव्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है।

अब कहते हैं कि – 'मैं एक भी हूँ और अनेक भी हूँ' – ऐसी स्याद्वाद शैली से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले अनेकान्तवादी पर्यायों से ज्ञान की अनेकता जानते हुए अर्थात् एक समय में अनन्तगुणों की अनन्त पर्यायें और एक-एक पर्याय में अनन्ती ताकत है – ऐसा जानते हुए अनेकरूप होने पर भी मैं द्रव्यरूप से एकरूप ही हूँ – ऐसा जानकर ज्ञानी एकरूप ज्ञान को स्वतः शुद्ध ही अनुभव करता है। स्याद्वादी अनेकपने के ज्ञान को कलंक या मलिनता नहीं मानता, क्योंकि अनन्त को अनेकरूप जानने का ज्ञान का सहज स्वभाव है। भावार्थ यह है कि – अपना जो ध्रुवज्ञायकतत्त्व है, वह जो पर्याय में अनन्त ज्ञेयाकारों को जाननेरूप हुआ है – वह उसकी पर्याय का स्वभाव है – ऐसा न मानकर जो ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित – एक आकाररूप मानता है, वह अज्ञानी पर्यायस्वभाव का नाश करता है। इसप्रकार वह अपना ही नाश करता है।

अरे भाई! अनन्तज्ञेयों को जानना तो वस्तु का पर्यायगत स्वभाव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार ज्ञान को जहाँ स्वरूप से ही अनेकाकारपना है, वहाँ मलिनता कैसी ? ज्ञान में अनन्तता जानी जाय – यह तो ज्ञान की निर्मलता है। केवलज्ञान में तो ज्ञात होती ही है न ? यहाँ मति-श्रुतज्ञान की पर्याय में भी अनन्तता जानी जाती है – यह कहा है। पर्याय में भले ही अनन्तता जानी जाती है; तथापि ज्ञानपर्याय तो एक ज्ञानरूप ही है, वह ज्ञेयरूप नहीं होती। तथा वस्तुपने तो मैं एक ही हूँ – ज्ञानी इसप्रकार अनेकान्तमय वस्तु को, सम्यक् प्रकार से जानता है। इसप्रकार अनेकपने का चौथा भंग हुआ।

अब पाँचवे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति।।२५२।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**प्रत्यक्ष अलिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्य-अस्तिता-वंचितः**) प्रत्यक्ष अलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल) और स्थिर (निश्चल) परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ, (**स्वद्रव्य अनवलोकनेन परितः शून्यः**) स्वद्रव्य को (स्वद्रव्य के अस्तित्व को) नहीं देखता होने से सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो (**स्वद्रव्य-अस्तितया निपुणं निरूप्य**) आत्मा को स्वद्रव्यरूप से, अस्तिपने से निपुणतया देखता है; इसलिए (**सद्यः समुन्मज्जता विशुद्ध-बोध-महसा-पूर्णः भवन्**) तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ (जीवति) जीता है-नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ – एकान्ती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्व को मानता है, परन्तु अपने आत्मद्रव्य को इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं देखता;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए उसे शून्य मानकर आत्मा का नाश करता है। स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेज से अपने आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व अवलोकन करता है; इसलिए जीता है-अपना नाश नहीं करता।

इसप्रकार स्वद्रव्य-अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५२ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि – शरीर, इन्द्रिय, स्त्री-पुत्र आदि परद्रव्यों से मुझे लाभ है अथवा हानि है – ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं; पशुतुल्य हैं। अरे भाई! ये स्त्री-पुत्रादि थोड़े ही काल पहले तेरे नहीं थे तथा थोड़े काल बाद पुनः तेरे रहनेवाले नहीं हैं तो ये तेरे अभी कैसे हो गये? और जिनवाणी के अनुसार ये जब तेरा भला-बुरा कर ही नहीं सकते तो इनमें तूने भले-बुरे की मिथ्या कल्पना क्यों कर ली? तू कैसा जिनवाणी का भक्त है रे?

अरे भाई! आत्मा तो सदैव त्रिकाल अकेला ही था, अकेला ही है और अकेला ही रहेगा। पुत्र और पत्नी से अपने को सुखी मानना ही तेरा पागलपन है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि – अज्ञानी स्त्री, पुत्र, पुत्री और शरीर आदि को सामने प्रत्यक्ष देखकर और उनसे स्वयं को सुखी-दुःखी मानकर ठगाया गया है। यह शरीर निरोगी हो, पत्नी पुत्रादि सेवा करते हों, रहने की कोठी अनुकूल हो, खाने-पीने की सामग्री भरपूर हो तो अपने को सुखी माननेवाला ठगाया गया है तथा इनके बिना मैं दुःखी हूँ – ऐसा माननेवाला भी ठगाया गया है। अहा! ये सब पर के अस्तित्व से स्वयं का अस्तित्व माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। ये सब मोहवश ठगाये गये जीव हैं; क्योंकि परद्रव्य कभी भी निज आत्मरूप नहीं होते और वे पर्यायपने से स्थिर भी नहीं रहते।

अहा! अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जो अपना अव्यक्त (इन्द्रिय ज्ञान अगोचर) आत्मद्रव्य त्रिकाल ज्ञानानन्दमय है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं है तथा जानने-देखने की चिन्ता भी नहीं करता। इसप्रकार अपने आत्मद्रव्य के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अस्तित्व को नहीं देखता हुआ समस्तपने शून्य होता हुआ बाह्य वस्तुओं को ही निजरूप मानता है – ये ही मैं हूँ इन्हीं से मुझे सुख है – ऐसा मानता है।

अहा! जाननेवाले की उपस्थिति में, ज्ञायक के अस्तित्व में – ज्ञान की भूमिका में इन सभी बाह्य वस्तुओं को देखकर 'इनको जानने वाला मैं हूँ' – ऐसा न मानकर इन बाह्य वस्तुओं को ही निजरूप मान लेता है – ये मैं ही हूँ – ऐसा मानकर स्वयं शून्यरूप अभावरूप होता हुआ अज्ञानी अपना नाश करता है; इसतरह सारा अज्ञानी जगत मोह से मूर्छित हुआ ठगाया जा रहा है।

देखो, संसार की विचित्रता – एक व्यक्ति की चालीस वर्ष की उम्र में पत्नी का देहान्त हो गया। पहले तो वह उसके वियोग में दुःखी हुआ, बड़ा प्रेम प्रदर्शित करके विषाद करता रहा; फिर कुछ काल बाद ही वह सोचने लगा – यदि मरना ही था तो दस वर्ष पहले ही मर जाती, इससे दूसरी शादी तो हो जाती। अब तो कहीं का नहीं रहा! उसके इस विचार से उसकी स्वार्थपरता का पता चलता है।

इसीकारण तो नियमसार के एक कलश में इस समस्त कुटुम्ब-परिवार को धूर्तों की टोली कहा है। बापू! सारा जगत स्वार्थ का पुतला है। यहाँ तो यह कहते हैं कि परद्रव्यों से अपना भला-बुरा होना माननेवाले ठगाये जा रहे हैं; क्योंकि परद्रव्य इस जीवस्वरूप नहीं हैं और संयोग से स्थिर भी नहीं हैं।

अहा! अपनी चैतन्यवस्तु अपने से है, स्वद्रव्य से है – इसके भान बिना स्वद्रव्य को नहीं देखता। पर के कारण मैं ठीक हूँ, पर से ही मेरा अस्तित्व है – ऐसा अज्ञानी मानता है। 'मैं स्वद्रव्य से सम्पूर्ण हूँ' – ऐसा अनुभव करने के बदले परवस्तु हो तो भरा-पूरा कहलाऊँ – ऐसा मानकर अज्ञानी अपने भाव से शून्य होता हुआ अपनी अनादि-अनन्त नित्य स्वद्रव्यरूप चैतन्यसत्ता का नाश करता है। वास्तव में वह स्वद्रव्य का खून करनेवाला खूनी है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'मैं पर के कारण हूँ, पर के द्वारा मेरा अस्तित्व है अर्थात् मैं आज जो कुछ हूँ, जैसा भी बन सका हूँ, जो भी मेरी उन्नति हुई है, वह सब अमुक व्यक्ति के कारण हुई है, अन्यथा मेरी क्या हस्ती थी। मैं तो कुछ भी नहीं था इत्यादि मान्यता से अज्ञानी अपने त्रिकाली स्वतत्त्व के श्रद्धान का नाश करता है, जबकि ज्ञानी जीव, धर्मीपुरुष अपने ज्ञानघनस्वरूप पूर्ण द्रव्य को स्वपने अस्तिरूप स्वीकार करके आत्मा को जैसा है वैसा ही जीवित रखता है।

बेचारा अज्ञानी बाहर में स्त्री-पुत्र-परिवार, बाग-बगीचा, बंगला, धन-दौलत में अटक कर और धर्म के नाम पर बाह्यक्रियाकाण्ड में अटक कर अपने चैतन्य के सत्त्वरूप स्वद्रव्य को भूल गया है।

स्याद्वादी तो स्वयं को स्वद्रव्यरूप से सत्पने अवलोकन करता है। 'मैं एक ज्ञायकभाव मात्र हूँ' – ऐसा अपने को अभेदरूप अनुभव करता है। मैं और ज्ञायकभाव – ऐसा भेद भी नहीं रहता।'

समयसार कलश टीका में इस कलश के अर्थ में विशेष सूक्ष्मता की बात की है। वहाँ कहा है कि जिस निर्विकल्पमात्र, अभेद वस्तु में गुणभेद भी नहीं है, उसे 'स्वद्रव्य' कहा है। आधारमात्र वस्तु के प्रदेशों की अपेक्षा अर्थात् असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी ऐसे प्रदेशभेद से भी रहित एकक्षेत्र को 'स्वक्षेत्र' कहा है। वस्तुमात्र की मूल अवस्था सम्पूर्ण त्रिकालस्थित एक वस्तु को स्वकाल कहा है और वस्तु की मूल सहज शक्ति को स्वभाव कहा है।

तथा वहीं सविकल्प भेदकल्पना को अर्थात् अखण्ड एकद्रव्यरूप वस्तु में गुण-गुणी का भेद डालने को परद्रव्य कहा है। ये शरीरादि परद्रव्य तो परद्रव्य हैं ही, यहाँ तो एक ही वस्तु में भेदकल्पना करने को परद्रव्य कहा है। वस्तु के आधारभूत प्रदेशों में सविकल्प भेदकल्पना से असंख्यात प्रदेशों के भेद को लक्ष्य में लेना परक्षेत्र है।

पंचास्तिकाय में असंख्यप्रदेशी आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हुए भी एकप्रदेशी कहा है; क्योंकि असंख्यप्रदेश अभेद एकवस्तुपने रहते हैं, उन्हें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

असंख्य प्रदेशों का भेद करके समझना परक्षेत्र है। द्रव्य की मूल निर्विकल्प दशा अर्थात् एकरूप त्रिकालीवस्तु स्वकाल है, उसमें एक समय की अवस्था का भेद करना परकाल है। इसीतरह द्रव्य की, मूल की सहज शक्ति स्वभाव तथा उसमें ज्ञान-दर्शन का भेद करना परभाव है।

संक्षेप में कहो तो त्रिकाली एकरूप वस्तु स्वद्रव्य, वही स्वक्षेत्र, वही स्वकाल एवं वही स्वभाव है। इसमें यदि भेदकल्पना की जाय तो वे ही सब परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव हैं। ऐसी भेदकल्पना रहित अभेद एक जो स्वद्रव्य वस्तु है, उसका स्याद्वादी निपुणपने अवलोकन करता है, अनुभव करता है। यही धर्म है।

इस २५२ कलश का भावार्थ यह है कि – शरीर, इन्द्रिय, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार आदि सब अज्ञानी को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, इसकारण वह इनका अस्तित्व मानता है। यद्यपि कर्म उसे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, तथापि उनके फल में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग उसे दिखाई देते हैं, इसकारण वह कर्मों के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है; परन्तु इन सबका ज्ञाता मैं इन सबसे न्यारा हूँ – ऐसा वह स्वीकार नहीं करता। अहा! अन्दर आनन्द का धाम ज्ञानघन प्रभु स्वयं स्वपने सत् स्वरूप विराजता है, किन्तु वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने से अज्ञानी उसे स्वीकार नहीं करता। आत्मा-फात्मा कुछ भी नहीं है – ऐसा शून्य मानकर अज्ञानी अपना ही नाश करता है। पर जीव को कोई बचाता है या नाश करता है, यह तो आत्मा के अधिकार की बात नहीं है, किन्तु अज्ञानी प्राणी यह स्वीकार नहीं करता कि – मैं अन्दर पूर्ण चैतन्य सत्तापने स्वस्वरूप से स्वयं विराजता हूँ। इसतरह स्वयं को शून्य मानकर वह अपना नाश करता है – यह कैसी विडम्बना है?

अहा! धर्मी-स्याद्वादी वर्तमान दशा को अन्तर में झुकाकर ऐसा अनुभव करता है, स्वीकार करता है कि 'मैं स्वयं एक शुद्ध चैतन्य के अस्तित्ववाला ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकारण वह जीवित है। वह स्वयं को अपघात से बचाता है। जबकि अज्ञानी पर से व राग से अपनी सत्ता को मानकर अपने स्वद्रव्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का ही निषेध करके अपघात करता है, मिथ्याभाव से स्वयं को मरणतुल्य कर लेता है।

अब छट्ठे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासित:
स्वद्रव्यभ्रमत: पशु: किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥२५३॥

श्लोकार्थ – (**पशु:**) पशु सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**दुर्वासना-वासित:**) दुर्वासना से (कुनय की वासना से) वासित होता हुआ, (**पुरुषं सर्व-द्रव्यमयं प्रपद्य**) आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, (**स्वद्रव्यभ्रमत: परद्रव्येषु किल विश्राम्यति**) (परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है; (**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो, (**समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन्**) समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ, (**निर्मल-शुद्ध-बोध-महिमा**) जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है – ऐसा वर्तता हुआ, (**स्वद्रव्यम् एव आश्रयेत्**) स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मा मे जो परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व है उसका लोप करता है और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निज द्रव्य में रहता है।

इसप्रकार परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व का (असत्पने का) भंग कहा है।

कलश २५३ एवं भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में परद्रव्य की अपेक्षा 'नास्तित्व' के भंग की बात कह रहे हैं। देखो, 'परवस्तु है तो मैं हूँ, परवस्तु न रहे तो मैं ही नहीं रहूँगा।'– इसप्रकार पर से ही अपने अस्तित्व को माननेवाला एकान्तवादी पशु है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा एकान्ती दुर्नय की वासना से वासित है।

देखो तो सही, संसार में कैसी विचित्रता है? धन-वैभव एवं स्त्री-पुत्रादि यद्यपि 'पर' हैं; तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि इनके न रहने पर, मर जाने पर मैं जीवित कैसे रह सकता हूँ – ऐसे जीवों के प्रति आचार्य कहते हैं कि वे 'पर' से अपने अस्तित्व को माननेवाले हैं। 'परद्रव्य से या परवस्तु से मेरा जीवन है' ऐसी दुर्वासना उनके मन में घर कर गई है।

उससे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि – अरे! यह तुझे क्या हो गया है? क्या तेरी सत्ता, तेरा अस्तित्व पर के कारण है? पर में तो तेरी नास्ति है न? तेरा चैतन्य तत्त्व तो सदा ही तेरे निजभाव से ही टिक रहा है न? पर से तुझे क्या काम? यह तेरी कैसी भ्रमणा है कि जो तू नहीं है, जो तेरा नहीं है; उसे अपनी मनोकल्पना से तू अपनी मानता है। इस मिथ्या मान्यता को छोड़! अरे! जरा सोच तो सही! जिसके बिना तू क्षण भी नहीं जी सकेगा – ऐसा मानता था, उसके बिना तेरा अनन्तकाल बीता कि नहीं? स्त्री-पुत्रादि और यह भवन-बंगला आदि तेरे जन्म के पहले तेरे नहीं थे न? और अनेक पूर्व पर्यायें मरण के बाद नहीं रहतीं, फिर भी तू रहा कि नहीं? ऐसा विचार करके दुर्वासना का त्याग कर!

यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना तेरा अनन्तकाल यों ही इष्ट के विरहपूर्वक अनन्त दुःखों में बीत गया तथा संयोग के काल में भी ये वस्तुयें तेरी कहाँ हैं? इनके बिना ही तू है और रहेगा।

बिहार प्रान्त की एक सही घटना है। एक करोड़पति सेठ था। वह एक दिन घोड़ागाड़ी में बैठकर घूमने के लिए निकला। इसी बीच उसके घर के आसपास अचानक भूकम्प आया और जमीन फटी। सेठ का पूरा परिवार, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-मकान, धन-सम्पत्ति आदि सब जमीन के अन्दर धंस गया। सेठ ने लौटकर जब हाल देखा तो वह बहुत दुःखी हुआ और विलाप करने लगा। हाय! मैं बर्बाद हो गया, मेरा सबकुछ चला गया। अब मैं क्या करूँ? उसके इस रुदन को सुन ज्ञानी उसे संबोधते हैं – अरे भाई! धीरज धरो। तेरा कुछ भी नहीं गया। तू तो पूर्ण विज्ञानघन जैसे का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तैसा है। जो गया वह तेरा था ही नहीं। यदि तेरे होते तो तुझे छोड़कर कैसे चले जाते? इसलिए इस मोह को छोड़कर तेरे ही अन्दर में जो तेरा विज्ञानघन स्वभाव है, उसकी संभाल कर!

जो अज्ञानी परवस्तु से अपना अस्तित्व और सुख-दु:ख मानता है, ऐसी दुर्वासना से ग्रसित होता हुआ स्वयं को सर्वद्रव्यमय मानकर जगत की सभी अनुकूलताओं को जुटाता रहता है। कदाचित् एकाध अनुकूलता भी कम होती हो तो वहीं हाय-हाय करने लगता है। कदाचित् स्त्री, पुत्र, धन या प्रतिष्ठा आदि कोई एक की कमी होते ही सारा आनन्द दु:ख में बदल जाता है और आक्रन्दन करने लगता है। उससे कहते हैं कि – भाई! तू तो अन्दर में ज्ञानानन्द भगवान है न! भगवान होकर तू यह क्या करता है? मोह महामद पीकर तू जो यह पागलों जैसी चेष्टा करता है, उसे छोड़! और अपने स्वद्रव्य को ग्रहण कर! उसमें ही अपनापन स्थापित कर!

यहाँ कहते हैं कि पशु, एकान्तवादी अज्ञानी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है। मेरा आधार परद्रव्य ही है – ऐसा परद्रव्यों में ही अपना अस्तित्व स्थापित करता है। मैं परद्रव्य से असत् हूँ, भिन्न हूँ – ऐसा इसके चित्त को स्वीकृत नहीं होता। अन्दर में दुर्वासना बैठी है न! इसतरह यह अपना ही नाश करता है।

अहा! एकान्तवादी अज्ञानी ऐसा मानता है कि – परद्रव्यों से मुझे लाभ होता है। वह ऐसी कुनय की वासना से ग्रसित हो रहा है। कदाचित् कुटुम्ब-परिवार की और धन-लक्ष्मी की नश्वरता जानकर उनसे मोह कम भी कर दे तो भी ये देव-शास्त्र-गुरु, ये मन्दिर, ये तीर्थ, ये सब मेरे लिए लाभदायक हैं। इसप्रकार इनसे लाभ मानता है। ये पंचपरमेष्ठी मेरे हैं, इनकी पूजा से मुझे लाभ होता है, जबकि ये सब परद्रव्य हैं और दो द्रव्यों के बीच वज्र की दीवाल है।

यद्यपि देव-शास्त्र-गुरु सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में निमित्त अवश्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते हैं; तथापि उन निमित्तों से आत्मा में सच्चा ज्ञान हो जाता हो – ऐसा नहीं है। निमित्त होता है; परन्तु वह उपादान में कुछ करता नहीं है।

यद्यपि निमित्त कार्य होने में अनुकूल है, तथापि नैमित्तिकभाव को वह अनुकूलपने से करता कुछ भी नहीं है। आत्मा में सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट होता है, उसमें निश्चय से तो अपना स्वद्रव्य ही कारण है; क्योंकि स्वद्रव्य के आश्रय से ही कार्य होता है तथा व्यवहार से दर्शनमोह कर्म का अभाव उसमें अंतरंग निमित्त है और देव-गुरु-शास्त्र बाह्य निमित्त हैं। यहाँ कहते हैं कि अनुकूल निमित्त के कारण सम्यग्दर्शनरूप कार्य नहीं हुआ, बल्कि जब कार्य उपादान में हुआ तो बाह्य अनुकूल संयोग को निमित्त कारण की संज्ञा प्राप्त हो जाती है अथवा व्यवहार से अनुकूल संयोग को निमित्त कारण कहा जाता है। यदि देव-शास्त्र-गुरु आदि परद्रव्य से लाभ होना मानकर उनकी सेवा करे, उनका आश्रय ले तो उसे सम्यग्दर्शन रूप कार्य प्रगट ही नहीं होगा।

देखो, स्याद्वादी धर्मी तो ऐसा मानता है कि – परद्रव्य हो तो हो, मेरा परद्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है; परद्रव्य से तो मेरी नास्ति है। मेरा अस्तित्व परद्रव्य के कारण नहीं है। तथा मेरे कारण परद्रव्य का अस्तित्व नहीं है। इसप्रकार समस्त वस्तुओं में परद्रव्यरूप से अपना नास्तित्व जानते हुए मैं एक पूर्ण शुद्ध ज्ञानघन चैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा हूँ – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-आचरण पूर्वक स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। बस, इसी का नाम धर्म है।

बहुत से लोग तो ऐसा कहते हैं कि जो जैनकुल में जन्मा उसे जनम से ही सम्यग्दर्शन तो है ही, बस, थोड़ा सा चारित्र करने की बात ही शेष रही सो उसे धारण करो...............!

उनसे आचार्य कहते हैं कि – अरे भाई ! यह तुम क्या कहते हो ? वस्तु ऐसी नहीं है। जो भी परद्रव्य से लाभ मानता है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता मानता है, शुभभावों में धर्म मानता है, वह निपट अज्ञानी है, भले ही वह जैनकुल में क्यों न जन्मा हो। बापू ! परद्रव्य और परभावों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से भेदज्ञान हुये बिना समकित नहीं होता और समकित के बिना चारित्र, धर्म नहीं होता। धर्मात्मा परद्रव्यों से व राग से धर्म होना नहीं मानते।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – एकान्तवादी वेदान्त आदि जो सबको मिलकर एक मानते हैं अथवा जो परद्रव्य से स्वद्रव्य का लाभ मानते हैं, वे सब परद्रव्य को ही आत्मा (स्वद्रव्य) मानते हैं। वे जीव आत्मा में परद्रव्य की नास्ति नहीं मानते। वे परद्रव्य को स्व का साधन मानकर स्वद्रव्य के अस्तित्व को खो बैठे हैं।

देखो, धर्मी-स्याद्वादी को तो ऐसा निर्णय है, ऐसी दृढ़ आस्था है कि मेरी पूंजी – मेरी सम्पदा और मेरे सम्पूर्ण सुख के साधन तो मेरे ही पास हैं और वे सब मुझमें ही विद्यमान हैं। मेरे स्वरूप से अन्य कुछ भी मेरे सुख के साधन नहीं हैं। पर साधनों की मुझे कोई अपेक्षा एवं जरूरत नहीं है। पर से तो मैं नास्तिस्वरूप ही हूँ। ज्ञानी ऐसा मानते हुए स्वरूप में ही रंमता है।

यहाँ कोई ऐसा कह सकता है कि जब देव-शास्त्र-गुरु आदि पर होने से आत्मा का कुछ भी नहीं करते, हमें तार नहीं सकते, तो फिर हम उनकी पूजा आदि क्यों करे ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! वे तारते हैं – ऐसा तो कोई भी जैन नहीं मानता; क्योंकि जैन तीर्थंकर परमात्मा तो पूर्ण वीतराग होते हैं। भक्त भी ऐसी कोई लौकिक कामना से भगवान की भक्ति नहीं करता। ज्ञानी को तो परम वीतरागता और परमशुद्धता ही इष्ट है; परन्तु जबतक किंचित् अस्थिरता होती है, तबतक धर्मी को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय-भक्ति आदि का शुभभाव होता ही है। अशुभ से बचने के लिए और वीतरागता की प्राप्ति के लिए ज्ञानी को धर्मानुरागवश ऐसा भक्ति-पूजा का भाव सहज होता ही है, फिर भी वे उस शुभभाव को धर्म नहीं मानते। उससे धर्म का होना भी नहीं मानते।

अब सातवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन–
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्।।२५४।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः**) भिन्नक्षेत्र में रहते हुए ज्ञेयपदार्थ में जो ज्ञेय-ज्ञायक संबंधरूप निश्चित व्यापार है, उसमें प्रवर्तता हुआ, (**पुमांसम् अभितः बहिः पतन्ततम् पश्यन्**) आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर (स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर), (**सदा सीदति एव**) सदा नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादवेदी पुनः**) और स्याद्वाद के जाननेवाले तो (**स्वक्षेत्र-अस्तितया निरुद्धरभसः**) स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ), (**आत्म-निखात-बोध्य-नियत-व्यापार-शक्तिः भवन्**) आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर, (**तिष्ठति**) टिकता है-जीता है (नाश को प्राप्त नहीं होता)

भावार्थ – एकान्तवादी भिन्नक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को जानने के कार्य में प्रवृत्त होने पर आत्मा को बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्र से अस्तित्व न मानकर), अपने को नष्ट करता है और स्याद्वादी तो 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में रहा आत्मा स्वक्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है 'ऐसा मानता हुआ टिकता है, नाश को प्राप्त नहीं होता है।

इसप्रकार स्वक्षेत्र से अस्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५४ एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जैसे पशु को यह भान नहीं है कि मेरी सानी (पशु आहार) में अनाज और भूसा का यह मिला-जुला स्वाद है। वह तो उसे घास (भूसा)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का ही स्वाद मानता है। ठीक इसीप्रकार एकान्ती अज्ञानी जीव को यह विवेक नहीं है कि – ये स्त्री, पुत्र, मकान, पैसा आदि पृथक् परद्रव्य हैं और शरीर आदि एकक्षेत्रावगाही परद्रव्यों का क्षेत्र भिन्न है और असंख्यात-प्रदेशी अपना (निज आत्मा का) क्षेत्र भिन्न है। उन्हें आचार्य पशु कहकर संबोधित करते हैं, उन्हें तिर्यंच की संज्ञा देते हैं।

अपना एक ज्ञायकभाव ही स्वक्षेत्ररूप है तथा सम्पूर्ण परज्ञेय परक्षेत्र रूप हैं। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि दोनों के बीच में ज्ञेय-ज्ञायकपने का व्यवहार संबंध है; किन्तु इससे ज्ञायक ज्ञेयरूप नहीं हो जाता तथा ज्ञेय ज्ञायक रूप नहीं हो जाता। यह वस्तुस्थिति है; फिर भी अज्ञानी प्राणी परक्षेत्र के आकार से ज्ञान की पर्याय होने पर ऐसा न मानकर कि – "यह मेरी ही ज्ञान की पर्याय है' ऐसा भ्रम पाल लेता है कि – 'ज्ञान परक्षेत्रमय हो गया है, मैं परक्षेत्र में चला गया हूँ।' जबकि स्वयं तो सदा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप ही है। स्व-पर को जानने का तो इसका स्वयं का ही स्वभाव है। इसकारण सामने के बाग-बंगला और शरीर आदि अनेक परक्षेत्र में स्थित पदार्थ आात्मा के ज्ञान में ज्ञात होते हैं। ये परपदार्थ जिस आत्मा की ज्ञानपर्याय में जाने जाते हैं। वह स्वक्षेत्र में रहनेवाली ज्ञानपर्याय या ज्ञान की अवस्था का आकार है। यह किसी परक्षेत्र का आकार नहीं है; फिर भी अज्ञानी परक्षेत्र का ज्ञान होने पर 'मैं बाहर परक्षेत्र में बह गया, परक्षेत्रमय हो गया– ऐसा मानकर अपना नाश करता है।

आत्मा का अपना स्वक्षेत्र अन्दर में है। जितने में अपना स्वरूप ज्ञान और आनन्द रहता है, वही अपना (आत्मा का) स्वक्षेत्र है तथा वही इसका अस्तित्व है। इसके स्वक्षेत्र में ही इसके गुण-धर्म रहते हैं, परक्षेत्र में इसके कोई गुण व पर्यायें नहीं हैं। भगवान का समोशरण एवं सम्मेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्र भी परक्षेत्र हैं। जो वस्तुतः ऐसा मानते हैं कि इन क्षेत्रों में जाने से मेरी पर्याय पवित्र हो गई, वे भी भूल में हैं। सद्‌निमित्तों के प्रति ऐसा कहने का भाव ज्ञानी को भी आता है; परन्तु ऐसा ही मानले तो मान्यता मिथ्या हो जाती है; क्योंकि परक्षेत्र में आत्मा का कोई गुण एवं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय नहीं है। आनन्द का भण्डार तो आत्मा का स्वक्षेत्र है। परक्षेत्र में सुख-शान्ति एवं ज्ञान आदि जब हैं ही नहीं तो फिर मिलेंगे कहाँ से ?

जिसने सच्चा धर्म पा लिया जो वस्तुस्वरूप को समझ चुका है – ऐसा स्याद्वादी तो ऐसा कहता है कि – परक्षेत्र का जानना मेरी पर्याय में होते हुए भी मैं पर में जाता नहीं हूँ। मैं तो मुझमें ही रहता हूँ। ऐसा मानते हुए धर्मी का परक्षेत्र में जाने का उत्साह भंग हो गया है। अतः अब वह स्वक्षेत्र में ही रहता हुआ आनन्दरस का प्रगट अनुभव करता है।

धर्मी आत्मा में ही आकाररूप होकर ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर टिकता है अर्थात् अपने स्वक्षेत्र में ही उत्पन्न हुई ज्ञान पर्याय में परक्षेत्र का ज्ञान होते हुए भी मैं ही मेरे ज्ञान में हूँ, मेरे क्षेत्र में परक्षेत्र का प्रवेश नहीं है – ऐसा अपने में जो परक्षेत्र को जाननेरूप विशेषता है, उसके व्यापार की शक्तिवाला होकर स्वयं जीवित रहता है, नष्ट नहीं होता। बात बहुत सूक्ष्म है। कहते हैं कि परक्षेत्र को जानते हुए भी पर्याय पर की नहीं है, बल्कि मेरे स्वक्षेत्र में उत्पन्न हुई मेरी स्वयं की पर्याय है, वह निज शक्ति के व्यापाररूप है। इसप्रकार निजशक्ति के व्यापार में रहकर धर्मी अपने जीवन को टिकाकर रखता है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – एकान्तवादी भिन्न क्षेत्र में – परक्षेत्र में रहते हुए शरीरादि परपदार्थों को जानते हुए ऐसा मानता है कि – मेरी पर्याय परक्षेत्ररूप हो गई है। परज्ञेयों को जाननेरूप आकार से मेरी पर्याय ही उस रूप है – ऐसा न मानकर, आत्मा को ही बाहर पड़ता हुआ मानकर अज्ञानी अपने अस्तित्व का नाश करता है।

अहा ! अपने में जो परक्षेत्र का ज्ञान होता है, वह पर के कारण है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी स्वयं को परक्षेत्ररूप करता है।

कुछ लोग कहते हैं कि – तीर्थक्षेत्र में जाने से तो शान्ति मिलती है न! उनसे कहते हैं कि भाई ! तीर्थक्षेत्र में तो क्या, तू तो अनंतबार समोशरण में भी गया, परन्तु परक्षेत्र से एकत्व से गया, इसकारण वह जाना भी व्यर्थ ही रहा। अज्ञानी परक्षेत्र से लाभ होना मानकर उसे जानता हुआ परक्षेत्रमय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो जाता है। इसप्रकार अपना नाश करता है।

यहाँ तो कहते हैं कि स्याद्वादी परक्षेत्र को जानते हुए भी स्वक्षेत्र में ही रहता है; पर को जानते हुए भी आत्मा अपने ही क्षेत्र में रहता है। परक्षेत्ररूप से होता ही नहीं है।

अब आठवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्।।२५५।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**स्वक्षेत्र-स्थितये पृथग्विध-परक्षेत्र-स्थित-अर्थ-उज्झनात्**) स्वक्षेत्र में रहने के लिए भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों को छोड़ने से, (**अर्थैः सह चिद् आकारान् वमन्**) ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से चैतन्य में जो आकार होता है उनको भी छोड़ता हुआ) (**तुच्छीभूय**) तुच्छ होकर (**प्रणश्यति**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो (**स्वधामनि वसन्**) स्वक्षेत्र में रहता हुआ, (**परक्षेत्रे नास्तितां विदन्**) परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ (**त्यक्त-अर्थः अपि**) (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ भी (**परान् आकारकर्षी**) वह पर पदार्थों में चैतन्य के आकारों को खींचता है (अर्थात् ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता) (**तुच्छताम् अनुभवति न**) इसलिए तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ – परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप चैतन्य के आकार होते हैं, उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा तो स्वक्षेत्र में भी व्याप्त हो जाऊँगा, ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के साथ ही साथ चैतन्य के आकारों को भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित तुच्छ होता है, नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने अस्तित्व को न जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता; इसलिए वह तुच्छ नही होता, नष्ट नहीं होता।

इसप्रकार परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५५ एवं भावार्थ पर प्रवचन

इस आत्मा को अपने में असंख्यातप्रदेशी परक्षेत्र का ज्ञान होता है अर्थात् अपनी पर्याय में आत्मा को जो परक्षेत्र का ज्ञान होता है – यह तो इसका अपना स्वभाव है। परक्षेत्र को जाननेरूप जो ज्ञानाकार हुआ, वह स्वक्षेत्र में स्थित अपनी ही ज्ञान की दशा है। क्या इसमें परक्षेत्र प्रवेश कर गया है अथवा स्वयं परक्षेत्र में गया है ? ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए स्वक्षेत्र में रहने के आशय से परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेयपदार्थों के अपने ज्ञान को छोड़ दूँ तो स्वक्षेत्र में रह सकता है – ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकार को भी छोड़ देता है। इसप्रकार ज्ञानाकारों से तुच्छ हुआ वह अपना नाश करता है।

अहा ! जो एकान्ती अपने आत्मा को दृष्टि में नहीं लेता है, उससे आचार्य कहते हैं कि – अरे भगवान ! तू तो तेरे असंख्यातप्रदेशी स्वक्षेत्र में ही रहता है न ! यह परक्षेत्र संबंधी ज्ञान तो तेरे ज्ञानस्वभाव के कारण से ही होता है, परक्षेत्र के कारण नहीं होता। तेरा ज्ञान परक्षेत्रमय नहीं हुआ है, परक्षेत्र को जाननेवाला ज्ञान अपने स्वप्रदेश में हुई अपनी ही ज्ञान की दशा है तो भी एकान्ती अज्ञानी प्राणी अपनी ज्ञान की दशा में परक्षेत्र प्रविष्ट हो गया है – ऐसा मानकर परक्षेत्र के निमित्त से हुई अपनी ज्ञानाकार पर्याय को भी छोड़ देता है। इसप्रकार ज्ञान से ही तुच्छ होता हुआ अपना नाश करता है।

जबकि स्याद्वादी-ज्ञानी तो निज असंख्यातप्रदेशी स्वक्षेत्र में रहता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुआ परक्षेत्र से अपना नास्तित्व जानता हुआ परक्षेत्र का लक्ष्य छोड़ते हुए परक्षेत्र संबंधी अपनी ज्ञान की दशा को जानता है। अहा! परक्षेत्र-परज्ञेय संबंधी अपना ज्ञानाकार तो अपना ही स्वभावरूप है – ऐसा जानता हुआ तुच्छता को प्राप्त नहीं होता, नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि धर्मी बाहर कहीं भी किसी भी/किसी भी क्षेत्र में हो, वह अपने स्वक्षेत्र में आनन्द में ही रहता है।

सम्मेदशिखर में हो या गिरनार में हो, धर्मी जानता है कि – मैं इस परक्षेत्र से नास्तिरूप हूँ, भिन्न हूँ। सम्मेदशिखर के दर्शनरूप जो अपनी ज्ञान की पर्याय हुई है, वह स्वयं अपनी अपने से ही हुई है, परक्षेत्र के कारण उत्पन्न नहीं हुई – इसप्रकार यथार्थ जानता हुआ धर्मी पर पदार्थों को छोड़ता हुआ उनके निमित्त से प्रगट अपने चैतन्य आकार को छोड़ता हुआ, पर पदार्थों में से चैतन्य के आकार को खींचता हुआ – ऐसा जो कहा उसका अर्थ है – परपदार्थों के निमित्त से आत्मा में जो चैतन्य का आकार प्रगट हुआ, उसे न छोड़ता हुआ अर्थात् उसे अपने में ही अपने आप रखता होने से नष्ट नहीं होता। स्वस्थित निराकुल आनन्द का अनुभव करते हुए जीवित रहता है।

भावार्थ यह है कि – 'परक्षेत्र के निमित्त से आत्मा में जो ज्ञान होता है, उसे अपना माने तो आत्मा परद्रव्यमय हो जायेगा' – ऐसी एकान्त कल्पना से अज्ञानी परक्षेत्र को छोड़ने के साथ अपने चैतन्य आकार को अर्थात् अपने ज्ञान की पर्याय को भी छोड़ देता है। इसप्रकार वह स्वयं चैतन्य के आकार से रहित तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

जबकि स्याद्वादी स्वक्षेत्र में रहता हुआ परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, परक्षेत्र से स्वयं को भिन्न जानता हुआ,भिन्न अनुभव करता हुआ, परक्षेत्र को ही छोड़ देता है अर्थात् परक्षेत्र में मैं नहीं हूँ – ऐसा जानता है, किन्तु परक्षेत्र संबंधी जो अपना ज्ञान है, उसमें मैं हूँ और ये मेरा है – ऐसा जानता हुआ उसे छोड़ता नहीं है। धर्मी जीव स्वयं जहाँ खड़ा है, वहाँ उस क्षेत्र को, परक्षेत्र को छोड़ते हुए भी उस संबंधी अपनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट ज्ञान की दशा को नहीं छोड़ता। अपनी जानकर उसे अपने में सम्मलित करके रखता है। इसकारण नष्ट नहीं होता, जीवित रहता है।

अब नवमें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहूर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि।।२५६।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, (**पूर्व आलम्बित-बोध्य-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्**) पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञान का भी नाश जानता हुआ, (**न किंचन् अपि कलयन्**) और इसप्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ), (**अत्यन्त तुच्छः**) अत्यन्त तुच्छ होता हुआ (**सीदति एव**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादी पुनः**) और स्याद्वाद का ज्ञाता तो (**अस्य निज–कालतः अस्तित्वं कलयन्**) आत्मा का निज काल से अस्तित्व जानता हुआ, (**बाह्यवस्तुषु मुहूः भूत्वा विनश्यत्सु अपि**) बाह्य वस्तुयें बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं, फिर भी (**पूर्णः तिष्ठति**) स्वयं पूर्ण रहता है।

भावार्थ – पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाना थे, वे उत्तरकाल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता।

इसप्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अज्ञानी ऐसा मानता है कि पूर्वकाल में लक्ष्य किए ज्ञेय-पदार्थों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के नाश के काल में ही तत्संबंधी ज्ञान का भी नाश हो जाता है। वास्तविक बात तो यह है कि – समय-समय परज्ञेयरूप पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वयं से होता है; परन्तु एकान्ती अज्ञानी परकाल से (परक्षेत्र से) अपने में स्वकाल हुआ मानकर अपनी ज्ञान की पर्याय का नाश करता है।

अपने में परकाल को जानने की शक्ति अपनी स्वयं से है। परकाल-परज्ञेय बदलने पर जो ज्ञान की दशा बदली; वह स्वतः बदली है, परज्ञेय के कारण नहीं बदली जैसे कि – ज्ञान की पूर्व पर्याय में भगवान के बिम्ब को देखा, बाद में भगवान के बिम्ब के न दिखने से तत्संबंधी ज्ञान की पर्याय नहीं रही, बदल गई, वहाँ पूर्वकालीन ज्ञान की दशा अपनी स्वयं से थी, भगवान के बिम्ब के कारण नहीं हुई तथा जो वर्तमान बदली,वह भी अपनी स्वयं से ही बदली है। वही उसका स्वकाल है, परज्ञेय के कारण नहीं बदली; परन्तु अज्ञानी यह स्वीकार नहीं करता। वह तो आलम्बित ज्ञेय का अभाव-नाश होने पर अपने ज्ञेय का नाश हुआ है – ऐसा मानता हुआ अपने अस्तित्व का अभाव-नाश करता है।

जैसे कि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह दर्पण की अवस्था है। सामने से अग्नि हट जाने पर दर्पण में से भी अग्नि संबंधी दर्पण की पर्याय का अभाव हो जाता है तथा दर्पण की अन्य अवस्था प्रगट हो जाती है; परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि अग्नि के हट जाने से दर्पण की दशा नष्ट हुई है। इसप्रकार वह दर्पण का ही नाश करता है।

दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह दर्पण की अवस्था है। सामने की अग्नि चले जाने पर दर्पण में झलकी अग्नि संबंधी दर्पण की जिस पर्याय का अभाव हुआ और दर्पण की दूसरी नवीन अवस्था प्रगट हुई। वह स्वयं से हुई है, अग्नि के अभाव के कारण नहीं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि – अग्नि नष्ट होने पर दर्पण की अवस्था हुई है। इसप्रकार वह दर्पण का ही नाश करता है।

इसीप्रकार अपने ज्ञान में परपदार्थ – परज्ञेयरूप से जानने में आते हैं, वे अपने आत्मा की अवस्था हैं, वे परपदार्थ के कारण नहीं हैं तथा जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायरूप परिणमन होता है, वह भी अपनी ज्ञान की दशा का स्वकाल है परपदार्थ के बदलने से ज्ञानपर्याय नहीं बदली; परन्तु अज्ञानी अपनी ज्ञान की पर्याय को परालम्बित मानता हुआ परज्ञेय का नाश होने के कारण अपनी ज्ञानपर्याय का नाश होना मानता है।

इसतरह अपनी ज्ञानवस्तु को नहीं मानता हुआ अपना ही नाश करता है।

अहाहा ....! स्वयं भगवान आत्मा त्रिकाल एक ज्ञायकस्वरूप है। पर के ज्ञेयरूप अर्थात् परज्ञेय को जानने रूप जो ज्ञान की पूर्वकाल में ज्ञान की दशा थी, वह स्वयं की, स्वयं से है, परज्ञेय के कारण नहीं तथा वर्तमान में वह बदलकर अन्य ज्ञेयों को जानने रूप हुई, वह भी अपने से ही है। अन्य ज्ञेयों के कारण नहीं। अहा ! स्वपर को जाननेरूप जो प्रतिसमय परिणमन करती है, वह ज्ञान का अर्थात् आत्मा का ही स्वरूप है, परन्तु अज्ञानी एकान्ती ऐसा नहीं मानकर पूर्व में जानने में आते हुए परज्ञेयों के नाश से अपने ज्ञान का नाश हुआ मानता है; क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर ही है, परावलम्बी है।

अब कहते हैं कि – स्याद्वादी ऐसा मानता है कि – मैं स्वकाल से अस्तिरूप हूँ, मेरा ज्ञान परकाल के कारण नहीं है। कलश टीका में २५२ वे कलश में त्रिकाली वस्तु को स्वकाल कहा है तथा उसकी वर्तमान वर्तती हुई अवस्था के भेद को द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा परकाल कहा है। अहा ! ज्ञानी कहते हैं कि मेरी वर्तमानदशा में स्वतः पलटना होते हुए भी मैं स्वकाल से अस्तिरूप हूँ, द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल अस्तिरूप हूँ, एक ज्ञायक स्वभावमय हूँ।

धर्मी जानते हैं कि – सामने जो भगवान विराजमान हैं, उनको जाननेरूप मेरे ज्ञान की जो पर्याय प्रगट हुई है, वह मेरी स्वयं की स्वयं से हुई है, भगवान के कारण नहीं। अहाहा.....! परकालरूप पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञान में जाने जाते हैं, उनके पर्यायरूप परिमणन के काल में भी 'मैं तो एक ज्ञायक ही हूँ' – ऐसा आत्मा का निजकाल से अस्तित्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानते हुए बाह्यवस्तुरूप जो ज्ञेय भले ही समय-समय पलटते रहते हैं तो भी स्वयं पूर्ण रहता है अर्थात् मैं तो ज्ञानानन्द-पूर्णानन्दस्वरूप ही हूँ – ऐसा स्वयं को जानता है, अनुभव करता है। अहा! अपनी ज्ञान की दशा अपने ही आलम्बन से उत्पन्न हुई है – ऐसा जानता हुआ धर्मी स्वयं पूर्ण रहता है, अपना नाश नहीं होने देता।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – अज्ञानी परकाल से अर्थात् परज्ञेय से अपना ज्ञान होना मानता है। इसकारण उसकी मान्यतानुसार परज्ञेयों के नष्ट होने पर अपने ज्ञान का भी नाश हो गया। ऐसा मानकर वह अपना ही नाश कर लेता है। जबकि स्याद्वादी ऐसा मानता है कि – मैं एक त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप हूँ और मेरी दशा-पर्याय एक ज्ञायक के आश्रय से मुझमें होती है – ऐसा मानता हुआ ज्ञानी-धर्मी आत्मा के अस्तित्व को यथावत् सुरक्षित रखता है।

प्रश्न – यहाँ स्वकाल का क्या अर्थ है ?

उत्तर – पर की अपेक्षा अपनी वर्तमान पर्याय को स्वकाल कहा गया है और इसे ही त्रिकाली एक द्रव्य की अपेक्षा परकाल कहा जाता है। त्रिकाली एक द्रव्य स्वकाल और उसकी अपेक्षा उसी की वर्तमान दशा रूप परकाल है।

इसप्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा।

अब दशवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि–
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्॥२५७॥

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, (**अर्थ-आलम्बन –काले एव ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन्**) ज्ञेयपदार्थों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ, (**बहिः ज्ञेय-आलम्बन-लालसेन-मनसा भ्राम्यन्**) बाह्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादीवेदी पुनः**) और स्याद्वाद का ज्ञाता तो (**पर-कालतः अस्य नास्तित्वं कलयन्**) परकाल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, (**आत्म-निखात-नित्य-सहज-ज्ञान-एक-पुञ्जीभवन्**) आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ (**तिष्ठति**) टिकता है-नष्ट नहीं होता।

भावार्थ – एकान्तवादी ज्ञेयों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का सत्पना जानता है, इसलिए ज्ञेयों के आलम्बन में मन को लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। स्याद्वादी तो पर ज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिए ज्ञेयों से भिन्न, ऐसा ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता; इसप्रकार परकाल की अपेक्षा नास्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५७ एवं भावार्थ पर प्रवचन

जिसे आत्मा की ही खबर नहीं है, वह अज्ञानी ढोरवत् है। उसकी वर्तमान ज्ञान की पर्याय का लक्ष्य बाह्य पदार्थ पर ही होता है। वह ऐसा मानता है कि इन परज्ञेयरूप पदार्थों पर अवलम्बित ही ज्ञान का जानपना है और इसी से मेरी सत्ता है। इसकारण बाह्य ज्ञेयों को ग्रहण करने की लालसावान होकर अर्थात् पर को अधिक से अधिक जानने की लालसा से चित्त को बाहर-बाहर में ही भ्रमाता हुआ अपने अस्तित्व का नाश करता है।

अहा ! मैं मुझसे ही जानता हूँ तथा ज्ञान की दशा में जो बदलाव होता है, वह मेरे ज्ञानस्वभाव के ही आश्रित है, परज्ञेयाश्रित नहीं है – ऐसा सत्यार्थ नहीं समझता हुआ बाहर-बाहर में ही भटकता हुआ अज्ञानी एकान्ती नाश को प्राप्त होता है। अहा ! आलम्बन के काल में आलम्बनरूप से जो निमित्त है, उससे ही मेरी अवस्था है – ऐसा मानकर अज्ञानी अपने अस्तित्व का, अपनी सत्ता का निषेध करता है।

अहा ! भगवान तू वस्तु (पदार्थ) है या नहीं ? यदि है तो उसमें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनादि -अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों की जो वर्तमान दशा होती है, वह स्वयं स्वयं से होती है। वह दशा वस्तु का स्वकाल है, वर्तमान ज्ञान की दशा ज्ञान का 'स्वकाल' है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए भी जो वर्तमान ज्ञान की दशा को देव-शास्त्र-गुरु के कारण मानता है, वह मूढ़ है। यहाँ कहते हैं कि वह मूढ़ आत्मा की वर्तमान अवस्था का इन्कार करते हुए अपना नाश करता है। वस्तु की पर्याय को, स्वकाल को न मानकर निमित्त से अपनी पर्याय हुई मानकर तथा जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं, तदनुसार पर्याय होती है – ऐसा माननेवाला मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

अहा! जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही वस्तु की तीनकाल की पर्यायें हैं। वे प्रत्येक पर्यायें प्रतिसमय क्रमबद्ध हो रही हैं – ऐसा न मानकर, व्यवहार में ही नजर होने से वह परकाल से-परनिमित्त से हो रही है – ऐसा अज्ञानी मानता है और इसप्रकार वह अपनी वर्तमान अवस्था की स्वयं से नास्ति मानता है। इसप्रकार जिसने ज्ञान में से वर्तमान दशा का अस्तित्व उड़ा दिया है, उसको त्रिकाली वस्तु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होता, दृष्टि में नहीं आता।

कुछ लोग कहते हैं कि – उपादान की अनेक योग्यतायें होती हैं जिनमें जिस काल में जैसा निमित्त मिलता है, तदनुसार योग्यता प्रगटरूप होकर कार्य उत्पन्न होता है। वे कहते हैं कि वर्तमानदशारूप होना तो द्रव्य का परिणमन स्वभाव है, पर विकाररूप होना या निर्विकाररूप होना तो संयोग के अनुसार ही होगा न? विकारी अविकारी होना तो निमित्त पर आधारित ही है न?

उससे कहते हैं कि अरे भाई! वस्तु का परिणमनस्वभाव, परिणाम और परिणमन का होना – क्या ये जुदी-जुदी चीज होंगी? नहीं होंगी। प्रत्येक जीव की तथा एक-एक रजकण के परिणमन से उत्पन्न हुई दशा स्वयं से ही होती है, पर से या निमित्त से कभी नहीं होती। भले निमित्त होता है, परन्तु उससे वस्तु में परिणमन या पर्याय कदापि – तीनकाल में भी नहीं होती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ कहते हैं कि जिसकी ऐसी मान्यता है कि जीव का या किसी भी पदार्थ का परिणमन पर के कारण होता है, वह निमित्त की या पर की लालसावाला होकर निमित्त की खोज में बाहर ही भ्रमण करता हुआ – भटकता हुआ वृथा ही व्यग्र होता है; क्योंकि पर्यायों का अपना-अपना सहज स्वतः अस्तित्व है, इस बात की उस अज्ञानी को खबर नहीं है।

प्रश्न – यहाँ आपके पास (सोनगढ़) आते हैं, तभी तो तत्त्व की बात सुनने को मिलती है, यदि आपका निमित्त न मिलता तो आत्मा की बात कहाँ मिलती? इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि जैसा निमित्त मिलता है; वैसा ही उपादान में कार्य होता है।

उत्तर – अरे भाई! प्रति समय वस्तु में होता हुआ परिणमन और परिणाम ही तो उसका स्वकाल है; बाहर का स्वकाल दूसरा है, उससे वर्तमान तत्त्व को जाननेरूप दशा कैसे हो सकती है? प्रत्येक समय होती हुई भिन्न-भिन्न दशा अपने स्वयं के कारण से ही है। उसका कारण अन्य कोई नहीं है। जो भिन्न-भिन्न अवस्था पर के कारण हो तो अपने अस्तित्व का ही नाश हो जाय। वस्तु की प्रत्येक अवस्था स्व से होती है, पर से नहीं होती है, यह अनेकान्त है। पर से होना मानना तो एकान्त है, मिथ्यात्व है।

देखो, यह भाषा जो हम-तुम बोल रहे हैं, यह भाषावर्गणा का परिणमन है, यह भाषा के परिणमन का स्वकाल है। यह भाषा जीव के बोलने के विकल्प के कारण नहीं बोली गई। भाषा का अस्तित्व उस भाषा के कारण ही है, जीव के कारण नहीं।

भाई! ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। यद्यपि निमित्त होता है; तथापि निमित्त उपादान में कुछ भी नहीं करता। वास्तव में तो प्रत्येक पर्याय अपने-अपने षट्कारकों से होकर स्वयं ही उत्पन्न होती है। उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं होती।

पर्याय होती तो स्वयं से स्वयं ही है, परन्तु उस समय लक्ष्य निमित्त पर होने से अज्ञानी को ऐसा भासित होता है कि यह दशा बाह्य निमित्त के कारण हुई है। इसकारण मैं सभी बाह्य निमित्तों को मिलाऊँ। अज्ञानी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसे निमित्तों की लालसारूप चित्त से भ्रमित होता है और वृथा खेद-खिन्न होकर अपना नाश करता है।

अहा ! वस्तु तो अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव सत् है ही, वर्तमान वर्तती दशा भी सत् है; अत: वह दशा पर के कारण नहीं है। ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है, फिर भी अज्ञानी अपनी अवस्था को पर से हुई मानता है तथा ऐसा मानता है कि शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ-स्त्री-कुटुम्ब-परिवार-लक्ष्मी आदि सभी बाह्य निमित्त अनुकूल हों तो मुझे सुख होता है। इसतरह अज्ञानी निरन्तर निमित्त की ओर ही झांकता रहता है और निमित्त अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होते नहीं हैं, इसकारण यह मिथ्या कल्पना दु:खकारी ही बनती है। वास्तव में परवस्तु कार्य सम्पन्न होने में सर्वथा अकिंचित्कर ही है।

अहा ! ज्ञेयों की अवस्था रूप जो-जो परिणमन होता है, वह अज्ञानी के ज्ञान में ज्ञात होने से उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि इस ज्ञेय की अवस्था के परिणमन के आधार से ही मेरी ज्ञान की दशा है।

अरे ! अज्ञानी बाह्य ज्ञेयों के अवलम्बन का लालसावान होकर स्त्री-पुत्रादि परिणाम आदि में भ्रमित हो जाता है। उससे आचार्य कहते हैं कि – भाई ! तेरी जो आनन्द की दशा उत्पन्न होती है, वह तुझ से ही होती है, तू उसे बाहर में मत खोज !

यह शरीर आदि की जो अवस्था जिस काल में होनी हो, वह उसी काल में होती है। भाई ! इस शरीर की तू लाख दवा करे, भले ऊपर से इन्द्र भी क्यों न उतर आये तो भी जो होना है, वही होगा, उसमें फेर-बदल करना त्रिकाल संभव नहीं है। फिर भी जो ऐसा मानता है कि – अमुक दवा से मेरी निरोगता हुई है तथा निरोग शरीर हो तो धर्म होता है – ऐसा माननेवाला मूढ़ है। अरे भाई ! निरोगता तो जड़ शरीर की अवस्था है, क्या इससे आत्मा का धर्म हो सकता है ? जड़ से चेतन की और चेतन से जड़ की अवस्था भी कभी नहीं होती। यह भगवान केवली की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब कहते हैं कि स्याद्वादी धर्मी तो ऐसा ही मानते हैं कि अपनी दशा स्वयं से ही होती है, पर से नहीं होती, पर से तो इसकी नास्ति ही है – ऐसा जानते हुए वर्तमान ज्ञान की दशा को सहज नित्य ज्ञानपुञ्ज आत्मा में एकाग्र होकर 'मैं तो ज्ञानपुञ्ज आत्मा हूँ' – ऐसा वर्तता हुआ अपने सत् को जीवित रखता है।

भाई ! दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के परिणाम शुभभाव हैं, वे कहीं धर्म नहीं हैं तथा इनमें कर्ताबुद्धि का होना मिथ्यात्व भाव है। एक स्वद्रव्य के लक्ष्य से आनन्द की जो दशा होती है। उसे ही परमात्मा धर्म कहते हैं। स्याद्वादी धर्मात्मा इसतरह स्वद्रव्य के आश्रय में ही रहकर अपने सत् को जीवित रखता है।

भावार्थ पर प्रवचन

प्रस्तुत कलश का भावार्थ यह है कि – एकान्ती अज्ञानी ज्ञेयों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का अस्तित्व मानता है; इसकारण वह ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाला होकर अपने चित्त को ज्ञेयों के आलम्बन में जोड़ता है। इसप्रकार बाहर के विषयों में ही भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है अर्थात् अशान्त और व्यग्र ही होता है।

इसके विपरीत स्याद्वादी ऐसा यथार्थ वस्तु का स्वरूप मानता है कि मेरी दशा मुझ से ही हुई है, पर से या निमित्त से नहीं। अहा ! साक्षात् तीनलोक का नाथ सर्वज्ञ परमात्मा हो, निर्ग्रन्थ गुरु हो या शास्त्र हो, मेरी अवस्था इनके नास्तिपने ही है। इनके कारण मेरी दशा हुई ही नहीं है। ऐसा मानता हुआ, धर्मी जीव स्वद्रव्य के आलम्बन से 'मैं ज्ञानपुञ्ज आत्मा हूँ' – ऐसा प्रवर्तन करता हुआ जीवित रहता है, नष्ट नहीं होता, सत्यार्थ प्रवर्तन करता हुआ जीवित रहता है, नष्ट नहीं होता, सत्यार्थ आनन्दमय जीवन जीता है। 'मेरी अवस्था पर से है' – ऐसा नहीं मानता, पराश्रय में नहीं प्रवर्तता।

प्रश्न – शास्त्रों में तो ऐसा आता है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन तीर्थंकर केवली आदि के समीप में होता है – इसका क्या आशय है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – भाई ! वह तो बाह्य निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहारनय का कथन है। क्षायिक समकिती भी ऐसा नहीं मानता कि – 'मैं केवली के पादमूल में हूँ, इसकारण मुझे क्षायिक समकित हुआ है' उसमें तो ज्ञानपुञ्ज आत्मा की समीपता ही मुख्य है।

अहा ! धर्मी को किंचित् राग होते हुए भी उस राग में धर्मी तन्मय नहीं होता, वह तो निरन्तर अपने ज्ञान और आनन्द में ही मग्न (तन्मय) रहता है, क्योंकि वह आत्मा के समीप है। जबकि अज्ञानी समोशरण में बैठा हो तो भी वह राग में ही तन्मय रहता है, क्योंकि वह आत्मा के समीप नहीं रहता। वह तो पर से ही अपना अस्तित्व (हानि-लाभ आदि) मानता है।

अब ग्यारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः।।२५८।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) एकान्तवादी अज्ञानी, (**परभाव-भाव-कलनात्**) परभावों के भवन (अस्तित्व-परिणमन) को ही जानता है (अर्थात् परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है,) इसलिए (**नित्यं बहिः-वस्तुषु विश्रान्तः**) सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ, (**स्वभाव-महिमनि एकान्त-निश्चेतनः**) (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, (**नश्यति एव**) नाश को प्राप्त होता है; (**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो (**नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानात् सर्वस्मात् विभक्तः भवन्**) (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप (परिणमनस्वरूप) ज्ञान के कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ, (**सहज स्पष्टीकृत-प्रत्ययः**) जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, (**नाशम् एति न**)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ – एकान्तवादी परभावों से ही अपना सत्‌पना मानता है, इसलिए बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता।

इसप्रकार स्वभाव की (अपने भाव की) अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५८ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी-एकान्ती अपने भावों-गुणों की अनन्त सामर्थ्य को पहचानता नहीं है। वस्तुतः तो भावस्वरूप (गुणस्वरूप) स्वयं है, इनसे ही अपनी सत्ता है, अपना अस्तित्व है; परन्तु अज्ञानी का लक्ष्य निरन्तर पर के ऊपर होने से वह ऐसा मानता है कि ये परभाव जो मुझे अपने ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं, उनसे ही मेरी सत्ता है।

वस्तुतः अपने अनन्त गुणों की अनन्त सामर्थ्य है और इन्हीं में से अपनी पर्यायें प्रगट होती हैं – ऐसा न मानकर अज्ञानी मन-वाणी-इन्द्रिय, देव-शास्त्र-गुरु, धन-सम्पत्ति आदि जगत की अनन्त वस्तुओं को लक्ष्य में लेकर उन ज्ञेयों से अपने ज्ञान का अस्तित्व मानता है। अहा ! अपने अनन्त गुणमय अस्तित्व का अज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान नहीं है। इसकारण स्वयं को छोड़कर सदा बाह्य वस्तुओं में ही विश्राम करता है। इसप्रकार स्वयं जड़-निश्चेतन होता हुआ अपनी सत्ता का नाश करता है।

अज्ञानी बाह्य विषयों में सुख मानता है, स्वयं अन्दर में सुख का धाम प्रभु है, उसे न गिनकर, उसे लक्ष्य में न लेकर स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों से मुझे लाभ होता है, आनन्द आता है, वह मानता है और इसीकारण स्पर्शादि विषयों में प्रवर्तता है। जड़ जैसा होकर वहीं विश्राम करता है। परन्तु भाई ! ये पाँचों इन्द्रियों के विषय तो जड़ की शक्ति है। इनसे तेरे सुख का अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है। परभाव में सुख खोजने जाने पर, परभाव में विश्राम करने जाने पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तेरे अनन्त सुखस्वभाव का विच्छेद हो जाता है।

अहा ! आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख इत्यादि अनन्त महिमायुक्त अनन्त भाव हैं। इन भावों का प्रवाह सतत् स्वयं से ही परिणमन करता है। जैसे – ज्ञान का प्रवाह, सुख का प्रवाह निरन्तर स्वयं से ही परिणमता रहता है, परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर वर्तमान पर्याय को परभाव में से प्रगट हुई मानता है। इसप्रकार वह अपने स्वभाव की महिमा से रहित होकर जड़-अचेतन हो रहा है। वह अपने निज चैतन्यस्वभाव की महिमा से रहित होकर जड़ परभाव की महिमा में स्थित होकर जड़ हो रहा है।

प्रभु ! तू सम्पूर्ण ध्रुव चित्स्वरूप ऐसा पदार्थ है, जिसमें शान्ति का भाव पूर्ण, ज्ञान का भाव पूर्ण, श्रद्धा का भाव पूर्ण, आनन्द का भाव पूर्ण, प्रभुता का भाव पूर्ण – इसतरह अनन्त पूर्ण भाव तेरे एक ज्ञायकतत्त्व में भरे पड़े हैं। अहाहा..........! इस भगवान आत्मा के सामर्थ्य की क्या बात करें ? परन्तु ऐसे निज सामर्थ्य की प्रतीति बिना पर्याय में परभाव जानने में आने पर ऐसा माने कि यह मेरा भाव प्रगट हुआ है तथा वृद्धिंगत हो रहा है। इसतरह अपने अन्दर परभाव की महिमा लाकर अज्ञानी अपने भाव के सामर्थ्य का तिरस्कार करता है।

अहा ! विकल्पवाला ज्ञान, केवली आदि परभाव को जाननेवाला परलक्ष्यी ज्ञान अपनी जाति का भाव नहीं है, विपरीत भाव है। विपरीत भाव होने पर भी ऐसा मानना कि इससे मुझे धर्म होता है तो ऐसा माननेवाला परभाव में स्थित होता हुआ अपने अस्तित्व का नाश करता है।

'जैसा निमित्त होगा, वैसी अपने भाव की दशा होती है – ऐसा जो मानता है, वह वास्तव में अपनी दशा के भाव की अन्तरंग योग्यता को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि निरन्तर निमित्त-परभाव के ऊपर ही रहती है। उसके चित्त में निमित्त की, परवस्तु की ही महिमा रहती है। उसे अपने स्वभाव व सामर्थ्य की महिमा का उदय नहीं होता।

'भगवान अरहन्त की दिव्यध्वनि की गर्जना हो तो मेरा उत्साह बढ़े

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और मुझ में भाव प्रगट हो' – ऐसा बाह्यवस्तु में ही अज्ञानी विश्राम करता है।

अरे भाई ! स्वभाव की सामर्थ्य का अन्तर्लक्ष्य हुए बिना तेरे में भाव प्रगट कैसे हों ? बाह्यवस्तु में, निमित्त में तेरे 'भाव' के प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं है। बापू ! तू गलत रास्ते पर भटक गया है।

भाई ! तू स्वयं विचार कर ! तू परतंत्रता में राजी हो रहा है, परन्तु इससे तेरी स्वतंत्रता लुट रही है।

प्रभु ! भले ही वर्तमान पर्याय विकारी हो, परन्तु वह भी अपनी योग्यता से हुई है, कर्म के उदय के कारण नहीं हुई। एक समय की विकार की पर्याय में षट्कारकरूप से परिणमना ही इस 'भाव' की पर्याय का स्वभाव है। त्रिकाल 'भाव' में षट्कारक की शक्ति गुणरूप से पड़ी है और उसका परिणमन अपनी पर्याय में अपने जन्मक्षण में अपनी सामर्थ्य से होता है। अहा ! जो ऐसा नहीं मानता, उसका लक्ष्य परभाव की महिमा में अटका है। उसको स्वभाव की महिमा छूट गई है। इसकारण वह अत्यन्त जड़ होकर वर्तता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

अहा ! अपने 'भाव' की सामर्थ्य पूर्ण है। फिर भी इसे स्वीकार न करके जो कोई ऐसा मानता है कि – मेरी पर्याय में जो कुछ सामर्थ्य प्रगट होती है। वह पर के कारण प्रगट होती है। वह जीव अपने भाव की सामर्थ्य से रहित होता हुआ अत्यन्त जड़ हो गया है। 'जैसा निमित्त होगा, वैसा ही परिणमन करना पड़ेगा' – ऐसा माननेवाला अत्यन्त अज्ञानी है। भाई ! एक समय की पर्याय की योग्यता अपने भाव की सामर्थ्य से अपने स्वयं के कारण है। ऐसी प्रतीति से परकर्तृत्व का अभिमान और बोझा उतर जाता है। भाई ! अज्ञानी को भी जो कर्तृत्व का बोझा है, वह पर के कारण नहीं है, बल्कि उसी की विपरीत मान्यता का बोझा है। उसकी दशा की मर्यादा उसी की सत्तातक ही सीमित है, बाहर में नहीं।

अहाहा ! स्याद्वादी अर्थात् अनेकान्त के स्वरूप को जाननेवाला, अपने त्रिकाल नियत स्वभाव के अनुसार होने योग्य का अपना परिणमन अपने कारण है – ऐसा जानता हुआ पर से भिन्न वर्तता है। इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वांचन-श्रवण- चिन्तवन के विकल्प से मेरे ज्ञान का परिणमन नहीं होता। मेरे द्रव्य के लक्ष्य से यह मेरे स्वभाव का ही परिणमन है।

अहा ! ज्ञानी जानता है कि – मेरा आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्ता-कर्म, साधन आदि अनन्त स्वभावों से पूर्ण भरा हुआ है। अहा ! मेरा स्वभाव ही कर्ता गुण से, साधन व आधार गुण से पूर्ण भरा है। मुझे पर की क्या अपेक्षा ? अहा ! जिसने अपने सहज स्वभाव की-एक ज्ञायकभाव की प्रतीति की है, वह ज्ञानी जीवित रहता है, परम आनन्द का अनुभव करता है, नष्ट नहीं होता।

भावार्थ यह है कि – एकान्तवादी जीव परभावों से अपना सत्पना मानता है। ऐसा मानते हुए बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता है। निमित्त मिले तो मुझ में मेरा काम हो – ऐसी मान्यता से निमित्तों की प्रतीक्षा करता रहता है, अन्तःपुरुषार्थ खो बैठता है। उसे अन्तःपुरुषार्थ जाग्रत नहीं होता।

शास्त्र में जो अकालनय की बात आती है, वहाँ तो काल की मुख्यता न करके काल के साथ स्वभाव, पुरुषार्थ, निमित्त आदि दूसरे समवायों की अपेक्षा से अकालनय कहा है। अकाल अर्थात् काल कारण नहीं; बल्कि काल के सिवाय अन्य समवायों की अपेक्षा से बात है। अकाल अर्थात् काल के सिवाय अन्य पुरुषार्थ आदि कारणों की मुख्यता से जो अवस्था जिस समय होनी हो, वही होती है। भूत-भविष्य-वर्तमान – तीनों कालों की जितनी भी पर्यायें हैं। उन सभी पर्यायों के समूह को द्रव्य कहते हैं और जिस काल में, जिस भाव से जो पर्याय आनेवाली हो, वही आती है। भगवान के ज्ञान में भी ऐसा ही भासित हुआ है, प्रगट होने योग्य सामर्थ्यरूप जो शक्ति है, उस शक्ति में से व्यक्ति-पर्याय समय-समय प्रगट होती हैं। अज्ञानी को इस बात का विश्वास नहीं है, इसकारण परवस्तु में रुककर-अटककर अपने अस्तित्व के ही नाश का प्रसंग बना लेता है।

और स्याद्वादी ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि ज्ञेयाकाररूप ज्ञानभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का होना मेरा सहज स्वभाव है। यह ज्ञेयाकार हुआ मेरा ज्ञान ज्ञेय के कारण ज्ञेयाकार नहीं हुआ, बल्कि ज्ञान का ही ऐसा सहज स्वभाव है। इसप्रकार अपना नाश नहीं होने देता, स्वयं को जीवित रखता है।

इसप्रकार निजस्वभाव की अपेक्षा से, अपने भाव की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग हुआ।

अब बारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा–
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः॥२५९॥

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, (**सर्व-भाव-भवनं आत्मनि अध्यास शुद्ध-स्वभाव-च्युतः**) सर्वभावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थों के भावरूप है, ऐसा मानकर) शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ, (**अनिवारितः सर्वत्र अपि स्वैरं गतभयः क्रीडति**) किसी परभाव को शेष रखे बिना सर्व परभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भयता से (**निःशंकतया**) क्रीड़ा करता है; (**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो (**स्वस्य स्वभावं भरात् आरूढ़ः**) अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ, (**परभाव-भाव-विरह-व्यालोक-निष्कम्पितः**) परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि के कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्यों के भावों रूप से नहीं है – ऐसा जानता होने से) निष्कम्प वर्तता हुआ, (**विशुद्ध एव लसति**) शुद्ध ही विराजित रहता है।

भावार्थ – एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से निःशंकतया प्रवृत्त होता है और स्याद्वादी तो, परभावों को जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शोभित होता है।

इसप्रकार परभाव की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।

कलश २५६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, भगवान आत्मा स्वभाव से ईश्वर-परमेश्वर है। परमेश्वर की शक्ति इसमें त्रिकाली पड़ी है न! अहा! जिसका एक-एक गुण परम ईश्वरता से भरा है – ऐसा आत्मा अनन्त गुणों की सामर्थ्य का स्वामी है। इसकी ईश्वरता (सर्वशक्ति सम्पन्नता) किसी से खण्डित नहीं होती – ऐसी अखण्डित हैं। इसे किसी पर की सहायता की अपेक्षा नहीं है। यह भगवान आत्मा ऐसा परमेश्वर है।

श्रीमद् राजचन्द्र के अनुसार जगत में तीन प्रकार के ईश्वर हैं – एक स्वभाव ईश्वर – भगवान आत्मा अनन्त चैतन्यस्वभाव की सामर्थ्य से भरा होने से स्वयं स्वभाव ईश्वर है। दो विभावेश्वर – अज्ञानी को राग व पुण्य ही अपना सर्वस्व होने से वह अज्ञानी विभावेश्वर है। तीन – जड़ेश्वर – पुद्गल परमाणु जड़ेश्वर है, क्योंकि वह भी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतंत्र परिणम रहा है।

यहाँ अज्ञानी की विभावेश्वरपने की बात है। उसे यहाँ पशु कहा है। अहाहा......! आत्मा अनन्त गुणों के स्वभाव से भरा परमेश्वर है। उसकी जो वर्तमान दशा हुई है, वह तो अपने भाव (गुणों) के अस्तित्व से हुई है। गुणों में या भाव में जो वर्तमान पर्याय की शक्ति व्यक्त होने योग्य है, वही व्यक्त (प्रगट) हुई है, उसमें परभाव जानने में आते हुए – ये परभाव हैं, वही मैं हूँ – ऐसा अज्ञानी परभावों को अपने रूप करता है। अहा! अज्ञानी को स्वभाव-परभाव का कोई विवेक ही नहीं है।

वस्तु का स्वरूप अपने भाव से है और परभाव से नहीं है; परन्तु वह अज्ञानी ऐसा न मानकर जानने में आते हुए शरीरादि परभाव ही मैं हूँ – ऐसा मान लेता है। रागादि एवं शरीरादि से मुझे लाभ होता है या हानि होती है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी सब परभावों को ही अपने रूप करता है। उसे इसीकारण पशु कहा गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहा! परद्रव्यों के भावों के परिणमनरूप अवस्थायें ज्ञान में ज्ञेयरूप से आते समय ज्ञान जो परभावों के आकार से परिणमा – वह अपना ज्ञान है और वह अपने स्वकाल में प्रगट हुआ है, परिणमा है। कहने का तात्पर्य यह है कि – परभावों को जाननेवाला ज्ञान जो यहाँ आत्मा में प्रगट हुआ है, वह उसका स्वयं का स्वकाल है, उससमय वह स्वयं से हुआ है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर ऐसा मानता है कि मुझे परभावों से ज्ञान हुआ है। वह परभावों को अपने रूप करता है।

निमित्त से उपादान में विलक्षणता होती है। 'ऐसा जो मानता है वह भी परभाव को अपनेरूप करता है; क्योंकि अपनी अवस्था में परभाव का जो ज्ञान होता है, वह स्वयं से होता है, परभाव से नहीं।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो सामने जैसी वस्तु होती है, वैसा ही यहाँ ज्ञान क्यों होता है?

उत्तर – अहा! आत्मद्रव्य के भाव की ऐसी ही स्वयं की योग्यता है कि सामने जैसा परभाव ज्ञेय निमित्तपने से हो, वैसा ही वह ज्ञान में आता है। उस आत्मद्रव्य की ऐसी ही तत्कालीन शक्ति-योग्यता है, इसकारण वैसा ही ज्ञान में आता है, निमित्त के कारण नहीं।

भाई! अज्ञानी निजशक्ति को तो समझता नहीं; इसकारण परभाव के कारण अपने ज्ञान का परिणमन होता है – ऐसा मानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है, भ्रष्ट होता है।

अब कहते हैं कि – स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि तो अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ हुआ है। उसकी परभावरूप होने के त्याग की दृष्टि खिल गई है। अहाहा.........! वह विचारता है कि 'मुझ में यह जो कोई दशा प्रगट होती है, वह मुझमें जो शक्तिरूप ज्ञान है, उससे आती है, परभावों के कारण नहीं आती। समय-समय पर प्रगट होती हुई पर्याय अपने स्वभाव की शक्ति की ही व्यक्ति है और वही उसका स्वकाल है। ओहो......! भाव में तो शक्तिरूप से त्रिकालवर्ती सभी पर्यायें पड़ी हैं।

समयसार की ४६ वीं गाथा में अव्यक्त के बोल में आता है कि चैतन्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ (पर्यायें) अन्तर्लीन हैं, इसलिए आत्मा अव्यक्त है। आत्मा में चैतन्य का जो सामान्यपना, ध्रुवपना, एकपना है, उसे अव्यक्त कहा है; क्योंकि इसमें चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ अन्तर्लीन हैं। इसमें से प्रतिनियत एक-एक पर्याय अपने काल में प्रगट होती है। निश्चय से देखें तो स्वभाव-परभाव को जाननेरूप स्व-पर प्रकाशक पर्याय प्रगट होती है, वह उसी जाति की, उसी काल में उत्पन्न होनेवाली पर्याय की शक्ति-योग्यता है, वह प्रगट होती है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु का सामान्यपना कारण नहीं है। यदि वस्तु का सामान्य स्वभाव वास्तविक कारण हो तो समय-समय उत्पन्न होनेवाली पर्यायें एक सरीखी-एक जैसी ही होनी चाहिए; क्योंकि सामान्य स्वभाव तो सदा एकरूप है और पर्याय एक जैसी होती नहीं; क्योंकि पर्यायों का जिस-जिसप्रकार का अपना-अपना स्वकाल है, उसी-उसी काल में वैसी ही योग्यता है।

अहा! अपने द्रव्य में जो ज्ञान, श्रद्धा, शान्ति, आनन्द आदि शक्तियाँ हैं, उनमें से जितनी पर्यायें प्रगट हो गई हैं और जितनी प्रगट होंगी, वे सब उसमें अन्तर्लीन हैं तथा उससे स्व-पर को, स्वभाव-परभाव को जानने का जो पर्यायभाव उत्पन्न होता है, वह स्वयं से ही होता है, पर से नहीं और त्रिकाली सामान्यस्वभाव से भी नहीं। त्रिकालीद्रव्य में जो उस समय की, जो उसप्रकार की योग्यता विद्यमान है, वह उसीसमय पर्यायरूप से प्रगट होती है। इसका अर्थ है कि – वस्तुतः सामान्य द्रव्य भी पर्याय का कारण नहीं रहा।

भाई! यह बात तो तू पहले ख्याल में ले। यदि पहले बुद्धिगम्य हो तो बाद में अनुभवगम्य हो सकेगी न!

देखो, धर्मी अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ परभावोंरूप होने के अभाव की दृष्टि के कारण निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है। धर्मी के 'परभाव में से मेरा भाव होता है' – ऐसी दृष्टि का अभाव त्याग हो गया है और अपने स्वभाव से अपना अस्तित्व होने की दृष्टि प्रगट हुई

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, इसकारण वह स्वभाव में आरूढ़ होकर निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है।

अहा ! निज आत्मद्रव्य को दृष्टि में से जो सम्यग्दर्शन हुआ, वह निष्कम्प है, क्योंकि साथ में अजोगपना भी अंशरूप से प्रगट होता है न ! 'सर्वगुणांश समकित' के सिद्धान्तानुसार समकित होने के साथ आत्मा के योग नाम के गुण में भी आंशिकरूप से निष्कम्प होने का काल है। इसकारण ज्ञानी स्वभाव में आरूढ़ हो,निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है। परभाव को अपने में मिलाता नहीं है। एक शुद्ध स्वरूप का ही अनुभव करता है।

अहाहा.......! कहते हैं कि – 'विशुद्धः एव वसति' ज्ञानी शुद्ध ही विराजता है। किंचित् राग है, फिर भी शुद्ध ही विराजता है; क्योंकि उस किंचित् राग का वह मात्र ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं तथा वह राग उसमें मिला नहीं है, क्योंकि उसे जाननेवाला ज्ञान स्वयं से है, राग के कारण नहीं।

जो अज्ञानी जीव निमित्त या संयोग और परभाव से अपने भाव की (ज्ञान की) दशा हुई मानते हैं, वे उस संयोग और परभाव को अपनेरूप हुआ मानते हैं। वे मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी तो स्वभाव की अस्ति की मस्ती में रहता हुआ परभावरूप होने के त्याग की दृष्टि के कारण निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है, शुद्ध का ही अनुभव करता है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – एक ही पक्ष को ग्रहण करनेवाला एकान्तवादी सर्व परभावों को अपनेरूप जानता है।

अहाहा..........! अन्दर में मेरी शुद्ध चैतन्य वस्तु तो परभाव के अभाव स्वरूप ही है – ऐसा मानकर ज्ञानी शुद्ध एक ज्ञानस्वभाव में लीन होकर प्रवर्तता ही शोभता है। जबकि अज्ञानी परभाव से अपनी दशा होना मानता है। ऐसा जानता हुआ अज्ञानी परभावों में लीन होकर प्रवर्तता है।

अब तेरहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति।।२६०।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, (**प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहत्-अंश-नाना-आत्मना निर्ज्ञानात्**) उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे परिणमते हुए ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा ही (आत्मा का) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ, (**क्षणभंग-संग-पतितः**) क्षणभंग के संग में पड़ा हुआ, (**प्रायः नश्यति**) बहुलता से नाश को प्राप्त होता है,(**स्याद्वादी तु**) और स्याद्वादी तो (**चिद्-आत्मना चिद्-वस्तु-नित्य-उदितं परिमृशन्**) चैतन्यात्मकता के द्वारा चैतन्य वस्तु को नित्य-उदित अनुभव करता हुआ, (**टंकोत्कीर्ण घनस्वभाव-महिम ज्ञानं भवन्**) टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (टंकोत्कीर्ण पिण्डरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ, (**जीवति**) जीता है।

भावार्थ – एकान्तवादी ज्ञेयों के अनुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्याय के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपने को नष्ट करता है और स्याद्वादी तो यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी चैतन्यस्वभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ जीता है-नाश को प्राप्त नहीं होता है।

इसप्रकार नित्यत्व का भंग कहा है।

कलश २६० एवं भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् है। एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें उत्पन्न होती हैं और दूसरे समय में उनका व्यय हो जाता है। यह वस्तु का पर्याय धर्म है। इसप्रकार आत्मा नित्य-अनित्य दोनों रूप हैं; परन्तु अज्ञानी वस्तु के स्वरूप को ऐसा न मानकर एकान्त से वस्तु को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मात्र अनित्य मानता है। वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप ही मानता है। अपने ध्रुव नित्यपने को नहीं मानता। इसतरह अनित्यता अर्थात् मात्र उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य के अंश को ही अपना स्वरूप मानकर आत्मा का ही नाश करता है। जबकि स्याद्वादी ऐसा मानता है कि – पर्याय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हुए भी मेरी वस्तु अर्थात् मैं शाश्वत शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ – इसप्रकार धर्मी अपने नित्य उदित स्वभाव का अनुभव करता हुआ अपने ज्ञानरूप वर्तता हुआ जीवित रहता है, अपने अस्तित्व को नष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ यह है कि – एकान्तवादी ज्ञेयों के आकार के अनुसार ज्ञान को उपजता-विनशता देखकर अनित्य पर्यायों द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ स्वयं को नष्ट करता है तथा स्याद्वादी तो अपने ज्ञान (आत्मा) को ज्ञेयों के अनुसार उपजता–विनशता हुआ मानते हुए भी – चैतन्यस्वभाव को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ जीवित रहता है, नष्ट नहीं होता।

अब चौदहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्।।२६१।।

श्लोकार्थ – (**पशुः**) पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, (**टंकोत्कीर्ण विशुद्ध-बोध-विसर-आकार-आत्म-तत्त्व-आशया**) टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्व की आशा से, (**उच्छलत्-अच्छ-चित्परिणतेः भिन्नं किंचन वाञ्छति**) उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं), (**स्याद्वादी**) और स्याद्वादी तो, (**चिद्-वस्तु-वृत्ति-**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्रमात् तद्-अनित्यतां परिमृशन्) चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (परिणति के पर्याय के) क्रम द्वारा उसकी अनित्यता का अनुभव करता हुआ, (**नित्यम् ज्ञानं अनित्यता परिगमे अपि उज्ज्वलम् आसादयति**) नित्य ऐसे ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (निर्मल) मानता है-अनुभव करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार-नित्य प्राप्त करने की वांछा से, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है, परन्तु परिणाम के अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता। स्याद्वादी तो यह मानता है कि – यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है; तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्य परिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

इसप्रकार अनित्यत्व का भंग कहा गया।

आत्मा ध्रुवपने त्रिकाली नित्य है और अवस्थापने क्षण-क्षण में बदलता है, अनित्य है। वस्तु का ऐसा ही नित्यानित्यात्मक स्वरूप है; परन्तु एकान्तवादी पशुवत् अज्ञानी जीव आत्मा को टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के फैलावरूप एकाकार सर्वथा नित्य मानता है। पर्याय में जो अनेकाकार ज्ञान की दशायें होती हैं, उन्हें वस्तु ही नहीं मानता। इसतरह अज्ञानी ध्रुव नित्यतत्त्व की आशा से वर्तमान वर्तती पर्यायों का उच्छेद करता है। अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि नित्य, टंकोत्कीर्ण, ध्रुव शाश्वत ज्ञान-स्वभावी आत्मा का निर्णय करनेवाली, जाननेवाली तो वह वर्तमान अनित्य, एक समय की ही पर्याय है, जिसका वह निषेध करता है, इसतरह वर्तमान वर्तती पर्याय को न मानकर वह ध्रुवतत्त्व चैतन्यमय आत्मा को प्राप्त न करके अपना नाश करता है।

अरे भाई ! परिणाम परिणामी का है, पर्याय पर्यायवान द्रव्य की है। पर्याय से जुदा (अलग) आत्मतत्त्व को खोजने की असफल चेष्टा मत कर ! क्योंकि पर्याय बिना द्रव्य होता ही नहीं है तो तुझे मिलेगा कहाँ ? अनित्य पर्याय को छोड़ने का अर्थ है अपना ही सर्वस्व विनाश।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! आत्मा में नित्य व अनित्य – ऐसे दो पक्ष हैं, दो पहलू हैं। ध्रुव त्रिकाली द्रव्यरूप से वह बदलती है, अनित्य है। ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है। जिसका नित्य ध्रुव अंश जुदा हो और पर्याय जुदी हो। भले पर्याय त्रिकाली नहीं है; परन्तु परिणाम या पर्याय परिणामी द्रव्य की ही है, भिन्न नहीं है; क्योंकि दोनों के प्रदेश एक हैं।

प्रश्न – ध्रुव में पर्याय नहीं है और पर्याय में ध्रुव नहीं है – ऐसा कथन भी तो आगम में आता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – वह अपेक्षा जुदी है। वहाँ यह कहना चाहते हैं कि – एक समय की अवस्था का अंश त्रिकाली ध्रुवरूप नहीं है तथा त्रिकाली ध्रुव भी एक समय की अवस्थारूप नहीं हो जाता। इसतरह वहाँ परस्पर अन्यता की बात है। यह तो समयसार गाथा ४९ में अव्यक्त के पाँचवें बोल में आया है कि – 'व्यक्तता तथा अव्यक्तता मिश्रित रूप से प्रतिभासित होते हुए भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है। वहाँ तो निश्चय से अभेद एक ध्रुवतत्त्व कैसा है ? यह सिद्ध करना है। इसलिए कहा है कि – ध्रुव एक समय के अंश में (पर्याय में) नहीं है, पर्याय का स्पर्श नहीं करता; परन्तु वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो एकान्तवादी पर्याय रहित अकेले ध्रुव की आशा करके बैठा है। उससे कहते हैं कि – भाई ! पर्याय रहित ध्रुव होता ही नहीं है और ध्रुव का निर्णय करनेवाली तो पर्याय ही है न ! ध्रुव, ध्रुव का निर्णय नहीं करता।

अहाहा......! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सत् और आनन्द की त्रिकाल ध्रुवता करनेवाला तत्त्व है। उसकी वर्तमान दशा में जो पर्याय होती है, वह उससे भिन्न नहीं है, अभिन्न ही है। पंचास्तिकाय में आता है कि – पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्याय कोई वस्तु ही नहीं है। यह वस्तुस्थिति है; तथापि अनित्य पर्याय को अनेकरूप परिणमती हुई देखकर – यह पर्याय मैं नहीं हूँ – ऐसा मानकर अज्ञानी इनसे जुदा ध्रुव आत्मतत्त्व को खोजने जाता है, परन्तु उसे वह उसे कहीं नजर नहीं आता।

जिसतरह कोई आंख फोड़कर किसी को देखने जाय तो उसे कुछ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी दिखाई नहीं देता, उसी तरह जो वर्तमान पर्यायरूप आंख को उड़ाकर ध्रुवतत्त्व खोजने जायेगा तो उसे कुछ भी दिखाई नहीं देगा। जब देखनेवाली पर्याय ही न होगी तो आत्मा को जानेगा कौन ? वेदान्तादि मतवाले जो वस्तु को सर्वथा कूटस्थ मानते हैं, पर्याय को नहीं मानते, उन्हें वस्तु की कभी उपलब्धि नहीं होती।

अहाहा......! भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि स्वभाववाला अस्तिरूप महापदार्थ है। ऐसे नित्यानन्दस्वभावी प्रभु की वर्तमानदशा क्रम से होती है। पर्याय का लक्षण ही क्रमवर्तीपना है। क्रमवर्ती का अर्थ मात्र एक पर्याय पलट कर दूसरी उत्पन्न होना नहीं है, बल्कि जिस काल में जो होती हो, वही होती है। हार में गुथे मोतियों की भांति उन्हें आगे-पीछे नहीं किया जा सकता। पर्यायों का ऐसा क्रमवर्तीपना धर्मी जानते हैं। इसकारण क्रम द्वारा उसकी अनित्यता को जानते हुए, वस्तु जो नित्य है, वह अनित्यता से व्याप्त होते हुए उसके उज्ज्वल पक्ष का अनुभव करता है। वस्तु वस्तुपने त्रिकाली नित्य होते हुए भी धर्मी पुरुष पर्याय में जो अनेकरूपता क्रम से होती है, उसे जानता है। ऐसा मानता हुआ वह नित्य शुद्ध आत्मस्वरूपपने अनुभवता है।

भाई ! जबतक प्रमाणज्ञान द्वारा ऐसा निष्कर्ष नहीं होता कि – जो नित्य है, वही अनित्य है तथा जो अनित्य है, वही नित्य है, तबतक पर्याय में निर्मलतारूप धर्म प्रगट नहीं होता।

धर्मी जीव आत्मा की वर्तमानदशा में क्रमवर्तीपने जो अनित्यता वर्तती है, उसे जानता हुआ अवस्था में एक के बाद एक पर्याय होती है, उनसे सहित होता हुआ अपने नित्य पवित्र स्वभाव को निर्मल अनुभव करता है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – एक ही धर्म को देखनेवाला एकान्ती चैतन्य की अनेकरूप परिणति को उपाधि मानता है, उसे दूर करके सर्वथा नित्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है; परन्तु चैतन्य की परिणति से भिन्न कोई आत्मतत्त्व है ही नहीं; क्योंकि परिणाम के बिना कोई परिणामी होता ही नहीं है। इसकारण एकान्तवादी को चैतन्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्रुवतत्त्व की प्राप्ति होती ही नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि – जो जुदी-जुदी परिणति होती है, वह पर के कारण होती है। उससे पूछते हैं कि यदि परिणाम स्व नहीं, पर से होता है – ऐसा जो तू मानता है तो क्या आत्मा परिणाम (पर्याय) बिना होता है? क्या परिणमना आत्मा का स्वभाव नहीं है? जबकि यथार्थ में देखा जाय तो परिणाम से जुदा कोई परिणामी होता ही नहीं है।

आगम में जो आत्मा को नित्य अपरिणामी कहा है, वह तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने के प्रयोजन से कहा है; परन्तु दृष्टि करनेवाली पर्याय तो है। उस उछलती परिणति को न माने और इससे रहित आत्मतत्त्व की इच्छा करे तो इसे वह कहाँ से/कैसे प्राप्त हो सकती है? नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा कोई पृथक् ज्ञान (आत्मतत्त्व) ही नहीं है। भाई! पर्याय से भिन्न कोई द्रव्य है ही नहीं। अंश में अंशी नहीं है, अंशी में अंश नहीं है – यह तो अभेद की दृष्टि करने की अपेक्षा कथन है। वस्तुतः तो परिणाम व परिणामी भिन्न-भिन्न रहें – ऐसा क्षेत्रभेद दोनों में नहीं है। जहाँ त्रिकाली ध्रुव है, वहीं उसकी दशा (पर्याय) है।

देखो, आत्मा द्रव्य से नित्य होते हुए पर्याय से अनित्य है और पर्याय से अनित्य होते हुए द्रव्य से नित्य है। ऐसा यथार्थ मानने का नाम अनेकान्तवाद है। इसप्रकार अनित्य का भंग हुआ।

'पूर्वोक्त प्रकार से अनेकांत, अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है–समझा देता है' इस अर्थ का काव्य कहा जाता है –

(अनुष्टुप्)

इत्यज्ञानविमूढ़ानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते।।२६२।।

श्लोकार्थ – (**इति**) इसप्रकार (**अनेकान्तः**) अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद (**अज्ञान-विमूढ़ानां ज्ञानमात्रं आत्मतत्त्वम् प्रसाधयन्**) अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ (**स्वयमेव अनुभूयते**) स्वयमेव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुभव में आता है।

भावार्थ – ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है; परन्तु अनादिकाल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्तस्वरूपपना प्रगट करता है-समझाता है। यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके-अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। इसलिए हे प्रवीण पुरुषों! तुम ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है।

कलश २६२ एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो; यहाँ अनेकान्त एवं स्याद्वाद को एक अर्थ में प्रयोग किया है। वस्तुतः अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का द्योतक है, बतानेवाला या कथन करनेवाला है। स्याद्वाद अर्थात् सापेक्षकथन करना। 'स्यात्' अर्थात् अपेक्षा बता कर और 'वाद' माने कथन करना। इसप्रकार स्याद्वाद अनेकान्तस्वरूप वस्तु के कथन करने की पद्धति है, शैली है। जैसे कि – 'आत्मा नित्य है – यह कथन द्रव्य की अपेक्षा किया गया है, इस समय आत्मा में विद्यमान अनित्य धर्म को गौण कर दिया है तथा जब यह कहेंगे कि – आत्मा अनित्य है तो यह कथन पर्याय की अपेक्षा से किया गया है। इस कथन में द्रव्य का नित्य धर्म गौण है। इसप्रकार स्याद्वाद अपेक्षा से वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी दो धर्मों को मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तु को सिद्ध करता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ अनेकान्त व स्याद्वाद का वाचक-वाच्य संबंध का भेद बतानेवाला – ऐसा अर्थ न करके दोनों को पर्यायवाची के रूप में ही प्रयोग किया है। इसलिए कहते हैं कि – इसप्रकार अनेकान्त, अज्ञान से विमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मा प्रसिद्ध करता है। अहाहा.....! अनेकान्त को जानते हुए स्व-स्वरूप वस्तु आत्मा स्वयमेव अनुभव में आ जाता है। आत्मवस्तु को जाननेरूप पर्याय स्वयमेव अपने से ही परिणमती है, पर से नहीं।

कुछ लोग पूछते हैं कि – आत्मा को कैसे देखें ? जब भी आंख बन्द करके अन्तर में झांकते हैं तो अंधेरा-अंधेरा सा दिखता है, आत्मा तो कहीं दिखाई नहीं देता।

उनके कहते है कि – यह 'अंधेरा' है, यह किसने जाना ? और किससे जाना ? आत्मा ने ज्ञान से ही तो जाना कि – 'यह अंधेरा' है, इसी से सिद्ध हो गया कि अंधेरे को जाननेवाला अन्दर में कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा है। दूसरे प्रकार से कहें तो – आत्मा जानता नहीं है' यह निर्णय किसने किया? यह निर्णय भी तेरे ज्ञान में ही हुआ है न ? भाई ! स्वस्वरूप में अन्तर्मुख दृष्टि करे तो अवश्य ही देखने-जानने वाला भगवान आत्मा दिखाई देता ही है, अनुभव में आता ही है।

भावार्थ यह कि – ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को अनेकान्तमय ज्ञानमात्र कहने से ही आत्मा ज्ञानस्वरूप से तत् और परज्ञेयस्वरूप से अतत्, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् इत्यादि अनेक धर्म आत्मा में सिद्ध हो जाते हैं। मैं वस्तुपने एक हूँ – ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र कहते ही आत्मवस्तु अनेकान्तमय सिद्ध हो जाती है। इन चौदह बोलों से आचार्यदेव ने संक्षेप में आत्मा का वास्तविक दर्शन कराया है।

परन्तु अनादिकाल से प्राणी स्वयं ही या एकान्तवादियों का उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञनमात्र आत्मतत्त्व का नाश करता है। कोई तो सर्वथा पर्याय को ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा मानता है। दूसरे कोई सर्वथा नित्य ध्रुवद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं, अन्य कोई आत्मा को सर्वथा एकरूप मानता है तो कोई सर्वथा अनेकरूप मानता है तथा कोई स्व-पर को मिलाकर एकरूप मानता है। इसप्रकार पक्षपात करके एकान्तवादी अपने आत्मतत्त्व का नाश करता है अर्थात् वस्तुतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता।

कुछ लोग कहते हैं कि – उपादान में अनेकप्रकार की योग्यतायें हैं। इनमें कई योग्यतायें निमित्ताधीन हैं। वे भी वस्तु के सही स्वरूप को नहीं समझते।

अब कहते हैं कि – आत्मवस्तु को जो ज्ञानमात्र कहा है, उसका अर्थ अकेला ज्ञान गुण ही आत्मा में है – ऐसा नहीं समझना। उसके साथ दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व-नास्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्तधर्म हैं। यदि अपनी ओर देखकर-अनुभव करके देखें तो ज्ञानमात्र वस्तु स्वतः अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। अहाहा............! मैं 'स्व' से हूँ और 'पर से' नहीं हूँ, ज्ञानस्वरूप से हूँ और परज्ञेय से नहीं – ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर नित्य, ध्रुव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमन करते हुए आत्मा का अनुभव होता है और उस अनुभव में ज्ञान की, आनन्द की श्रद्धा की, स्थिरता की – आदि अनेक पर्यायें प्रत्यक्ष वेदन में आती हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष होना, स्वानुभूति में ज्ञात होना आत्मा का स्वभाव ही है। अहाहा ....! आत्मवस्तु स्वानुभवगोचर होने पर – मैं द्रव्य-स्वरूप से एकरूप हूँ, पर्याय से अनेक हूँ – ऐसा ज्ञान में यथार्थ भासित होता है।

अब कहते हैं कि – जाननेवाली ज्ञान पर्याय में आत्मा के स्वरूप को जानकर शुद्ध एक आत्मद्रव्य का लक्ष्य करके, उसे ही ध्यान का ध्येय बनाकर अनुभव करके प्रतीति करो। जब आत्मवस्तु अनुभवगोचर होकर प्रतीति में आती है, तब ही उसको सम्यग्ज्ञान होता है।

'पूर्वोक्त प्रकार से वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय होने से अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ' इस अर्थ का काव्य अब कहा जाता है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(अनुष्टुप्)

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः।।२६३।।

श्लोकार्थ :— (**एवं**) इसप्रकार (**अनेकान्त**) अनेकान्त – (**जैनम् अलंघ्यं शासनं**) जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाय ऐसा) शासन है वह – (**तत्त्व-व्यवस्थित्या**) वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा (**स्वयम् एवं व्यवस्थापयन्**) स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ (**व्यवस्थितः**) स्थित हुआ-निश्चित हुआ-सिद्ध हुआ।

भावार्थ – अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिए हे निपुण पुरुषों ! भलीभांति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो।

कलश २६३ एवं भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में कहते हैं कि – जिस समय परमात्मस्वरूप निजज्ञान मात्र आत्मा पर्याय झुकती है, वह स्व से ही झुकती है, पर से नहीं। कर्म के मंद उदय से अथवा कर्म के अभाव से भी नहीं। अहाहा.....! वस्तु से मैं एक हूँ व पर्याय से अनेक हूँ तथा ये सब स्वयं से ही हैं, पर से नहीं – इसप्रकार सब ज्ञान में निश्चित हो जाता है।

इसप्रकार कहते हैं कि – अनेकान्त वीतराग सर्वज्ञदेव का अलंघ्य शासन है, अनेकान्त तो वस्तु का स्वरूप है। अहा ! शक्ति से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं परमेश्वर है; परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप वीतराग-सर्वज्ञदेव ने प्रगट करके बताया है, इसकारण इसे यहाँ जैन परमेश्वर का शासन कहा है। अहा ! ऐसा यह जिनदेव का शासन अलंघ्य है। अन्दर में जिनस्वरूप भगवान आत्मा है। जो पुरुष अपने ऐसे निजस्वरूप को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत, असंयुक्त देखता है, वह सर्व जिन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शासन को देखता है – ऐसा समयसार गाथा १५ में आया है न!

इसतरह अनेकान्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति द्वारा स्वयं अपने को स्थापित करते हुए सिद्ध हुआ।

अहाहा.......! स्वयं स्वयं से ही स्वयं को जानता है। ऐसा ही भगवान आत्मा का स्वभाव है।

नियमसार में आता है कि – अपने शुद्धस्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप रत्नत्रय ही नियम से कर्तव्य है। मूल गाथा इसप्रकार है –

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाण-दंसण चरित्तं।
विवरीयं परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।१३।।

भाई! पर्याय के स्वद्रव्य में ढलकर अन्तर्लीन होने पर अनेकान्तपना जो वस्तु का स्वरूप है, वह व्यवस्थित-सुनिश्चित होकर (जैसा है वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होने पर) सिद्ध होता है और नियम से यही कर्तव्य है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि – आत्मा स्वयं से सत् है और पर के किसी अंशपने भी नहीं है – यह सम्यक् अनेकान्त है। ऐसा नहीं कि – आत्मा स्वयं से भी है और पर से भी है।

अरे! अज्ञानी को अनादि से ऐसा ही भासित हो रहा है कि मैं परद्रव्य का कार्य (सुख-दुःख) आदि करता हूँ और दूसरे द्रव्य मेरे सुख-दुखरूप कार्य के कर्ता हैं; परन्तु आचार्य कहते हैं कि – जहाँ तेरी वस्तु अर्थात् तू स्वयं 'स्वपने' से है और परपने से तेरी नास्ति है, ज्ञानस्वरूप से तू तत् स्वरूप है, परज्ञेयरूप से अतत् है, नहीं है तो तू पर आत्मा में क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं। अहा! जिसने ऐसा माना कि मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ। शरीरादि को हिला-डुला सकता हूँ – वह मान्यता से पररूप हो गया है तथा 'पर से मुझे ज्ञान और सुख होता है – ऐसा जिसने माना, उसने स्वयं की सत्ता को ही नहीं माना। वह भी पर में मूढ़ हो गया या उसी में अटक गया। अनेकान्त उसे वस्तु का सही स्वरूप दिखाकर जीवित रखता है।

अहा......! अनेकान्त तो वस्तु के स्वरूप को यथार्थपने बतानेवाला

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महासिद्धान्त है। या यों कहें कि जैनदर्शन का मूल रहस्य है। नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत-असत् आदि धर्म परस्पर विरुद्ध होते हुए वे वस्तु को अविरोधपने सिद्ध करते हैं। इसके सिवाय कोई अन्य रीति से माने तो उसने अनेकान्त के स्वरूप को समझा ही नहीं है। तत्त्व अपनी व्यवस्था करने में स्वयं ही व्यवस्थित है। इसकी व्यवस्था अर्थात् विशेष अवस्था (पर्याय) पलटने में अन्य द्रव्य सहयोगी हो, कर्ता हो – ऐसा जैनशासन के अनुसार वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी ने अनेकान्त का स्वरूप इस-प्रकार कहा है कि – अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद ही जिसका स्वरूप है – ऐसी सर्वज्ञवाणी (दिव्यध्वनि) है। यहाँ यदि किसी को ऐसी आंशका है कि – अनेकान्त तो संशय है और संशय मिथ्याज्ञान है। उसका समाधान ऐसा है कि – अनेकान्त संशय नहीं, बल्कि संशय को दूर करनेवाला तथा वस्तु स्वरूप को सिद्ध करनेवाला सिद्धान्त है। इसका विवरण – जो भी सत्ता स्वरूप वस्तु है, वह द्रव्य-गुणात्मक है। इसमें जो भी सत्ता अभेदरूप से द्रव्य कहलाती है, वही सत्ता भेदरूप से गुण कहलाती है। इसी का नाम अनेकान्त है।

अब कहते हैं कि – यह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है, क्योंकि वह जैसी वस्तु है, उसे वैसा ही कहता है, वैसी ही स्थापित करता है। भाई ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी है। इसमें असंभव कल्पना करना संभव ही नहीं है। भगवान की वाणी में तो याथातथ्य वस्तु के स्वरूप का निरूपण आया है। इसीलिए तो अनेकान्त को जिनदेव का अलंघ्यशासन कहा है।

इसलिए हे निपुण पुरुषों ! ऐसी अनेकान्तमयी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझकर, प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव करके देखो। आपका कल्याण होगा।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। यद्यपि ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा अनन्त धर्म स्वरूप वस्तु है; तथापि परद्रव्यों से और परभावों से भिन्न पहचानने के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लिए आचार्यदेव उसे 'ज्ञानमात्र' कहते आ रहे हैं। आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से ज्ञान से विरुद्ध जो जड़द्रव्य हैं और रागादिभाव हैं, उनका तो निषेध हो जाता है; परन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले जो दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुणों का निषेध नहीं होता। इसप्रकार 'ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा' में ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त धर्म होने से ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है।

यहाँ यह बात आचार्य प्रश्नोत्तर के रूप में स्पष्ट करते हैं –

प्रश्न – आत्मा अनेकान्तमय अर्थात् अनन्तधर्मात्मक होते हुए भी यहाँ उसे 'ज्ञानमात्र' क्यों कहा गया है ? 'ज्ञानमात्र' कहने से क्या अन्य धर्मों का निषेध नहीं समझ लिया जायेगा ? जब आत्मा में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्म स्वयं ही प्रकाशित होते हैं तो फिर 'आत्मा ज्ञानमात्र' है – ऐसा कहने का आपका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहा गया है, ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। इसकारण ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

अहा ! ज्ञानस्वरूप आत्मा को रागादि से भिन्न जानकर शुद्ध एक आत्मा को प्रसिद्ध करता है। हाँ, यहाँ इतना ध्यान रखें कि – परलक्ष्यीज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है, बल्कि अन्तर्मुख होकर जो ज्ञान आत्मा को जानता है, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है और वही आत्मा को प्रसिद्ध करता है। जो ज्ञान शुद्ध आत्मा को जाने ही नहीं और पर में या रागादि में ही एकाकार होकर प्रवर्तता है, वह ज्ञान तो वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि नहीं करता। वह तो मात्र पर को ही प्रकाशित करता है।

यह शरीर तो जड़-पुद्गलकर्म है और रागादिभाव भी आत्मा से विपरीत स्वभाववाले हैं; इसकारण शरीर व रागादि आत्मा के लक्षण नहीं हैं। एक ज्ञान ही आत्मा का असाधारण गुण है, उससे ज्ञान ही आत्मा का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लक्षण है। असाधारण का अर्थ है – ऐसा विशेष गुण, जो आत्मा को उसके, अनन्तधर्मों से पृथक् करता है। आत्मा के अनन्तगुणों में एक ज्ञान ही स्व-पर प्रकाशक है। इससे ज्ञानगुण असाधारण है। इससे भगवान आत्मा को ग्रहण कर सकते हैं। इसप्रकार ज्ञानलक्षण आत्मा की परम प्रसिद्धि का साधन है। ज्ञान आत्मा को पहचानने का साधन होने से आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

अहा! 'ज्ञान......... ज्ञान......... ज्ञान.........जानपना ही आत्मा है। पहले अभेद आत्मा में ऐसा ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य का भेद करके बाद में ज्यों ही वृत्ति लक्ष्य में अन्तर्मुख हुई कि आत्मा प्रसिद्ध हो जाता है – इसी का अर्थ है लक्षण से लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। लक्षण अर्थात् ज्ञान की वर्तमान दशा तथा लक्ष्य अर्थात् शुद्ध आत्मा। लक्षण के रूप में जब प्रसिद्ध ज्ञान की वर्तमान पर्याय अन्तर्मुख होकर शुद्धात्मा को जानती है तो लक्ष्य की भी प्रसिद्धि हो जाती है। क्या कहा ? ज्ञान की वर्तमान पर्याय जो आत्मा का लक्षण है, वह प्रगट है तथा उसके द्वारा अप्रगट (शक्तिरूप) लक्ष्य शुद्धात्मा जाना जाता है। अहा! त्रिकाली ज्ञायक..... स्वरूप आत्मा (लक्ष्य) तो प्रगट नहीं है; परन्तु लक्षण प्रगट है, उसमें आत्मापन की पहचान होना ही लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य की प्रसिद्धि होना कहलाता है। बस, इसीलिए आत्मा को ज्ञानमात्र संज्ञा प्राप्त है।

आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है। यह जानने के बाद शिष्य पूछता है कि – "इस लक्षण की प्रसिद्धि से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ? जब मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य है, प्रसिद्धि करने योग्य है तो फिर लक्षण को प्रसिद्ध किए बिना मात्र लक्ष्य को ही प्रसिद्ध क्यों नहीं कर लेते ? 'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसा लक्षण-लक्ष्य का भेद करने से क्या प्रयोजन है ?

जिसको लक्षण अप्रसिद्ध हो उसको लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसको ज्ञान लक्षण से लक्ष्य का भान हो चुका है, उसे तो अब लक्ष्य-लक्षण के भेद से प्रयोजन नहीं रहा; परन्तु जिसको लक्ष्य की अर्थात् आत्मा की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खबर ही नहीं है उसे तो यथार्थ लक्षण के द्वारा लक्ष्य की पहचान जरूरी है न ! क्योंकि जिसे लक्षण की पहचान हो, उसे ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। अज्ञानी को लक्षण अप्रसिद्ध है। वह देह को व रागादि को आत्मा मानता है। अतः यथार्थ लक्षण की पहचान अत्यावश्यक है। ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है; क्योंकि आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान से पहचाना जाता है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके उसके आत्मवस्तु से एक होने पर आत्मा पहचाना जाता है, प्रसिद्ध होता है – इसप्रकार ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि द्वारा आत्म लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।

देखो, यहाँ जो लक्ष्य-लक्षण का भेद किया है, वह लक्ष्य में अटकने के लिए नहीं किया है; परन्तु अभेद आत्मा का लक्ष्य करने के लिए किया है। भेदों को गौण करके जो अभेद का लक्ष्य करता है, उसे अभेद आत्मा की प्रसिद्धि होती है। जब अभेद आत्मा की उपलब्धि हो जाती है, तब जिस भेद को गौण करके अभेद में जाता है, उसके उस व्यवहार को ही वास्तविक व्यवहार कहते हैं। जो व्यवहार में ही अटका रहे, उसे आत्मप्रसिद्धि तो होती ही नहीं, उसका वह व्यवहार भी यथार्थतः व्यवहार नाम नहीं पाता है।

यदि कोई अज्ञानी कहे कि – 'ज्ञान-ज्ञान' क्या करते हो ? पुण्य का उदय हो और हम बाह्य साधना करें तो वे भी तो आत्मा को जानने में साधन बन सकते हैं ? उनके द्वारा भी तो आत्मा की पहचान हो सकती है? नहीं ऐसा कभी नहीं होता। भाई ! देह की क्रिया और पुण्य की क्रियायें या पुण्य का उदय आत्मा को पहचानने के साधन नहीं हैं। एकमात्र ज्ञान लक्षण से ही आत्मा की पहचान संभव है – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने व्यवहाराभास का निषेध किया है।

निश्चयाभास का निषेध करने के लिए आचार्य कहते हैं कि यदि कोई ऐसा कहे कि लक्ष्य-लक्षण का भेद किसलिए करते हो। सीधा आत्मा ही बता दो न! उसका उत्तर यह है कि – जो लक्षण को नहीं जानता, वह लक्ष्य को भी नहीं जानता। लक्षण की पहचान से ही लक्ष्य की पहचान हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकती है। इसप्रकार ज्ञान लक्षण से ही आत्मा लक्षित होता है – ऐसा कहकर निश्चयाभास का निषेध किया है।

प्रश्न – 'जिसको लक्षण प्रसिद्ध है, उसे ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है' – यदि ऐसा है तो क्या लक्ष्यरूप आत्मा ज्ञान लक्षण से जुदी वस्तु है? क्या ज्ञान की प्रसिद्धि और आत्मा की प्रसिद्धि – ये दो जुदी-जुदी वस्तुएँ हैं?

उत्तर – आचार्य कहते हैं – देखो, पात्र शिष्य को लक्ष्य-लक्षण का भेद भी सुहाता नहीं है, इसकारण यह प्रश्न किया है। शिष्य को स्वानुभव की तीव्र अभिलाषा है न!

अरे भाई! ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान व आत्मा में द्रव्यपने अभेद है; फिर भी अज्ञानी को लक्ष्य की पहचान कराने के लिए भेद से बात कही है; क्योंकि लक्षण लक्ष्य को बताता है न! वस्तुतः लक्ष्य (आत्मा) ज्ञान- लक्षण से भिन्न कोई अन्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान व आत्मा में द्रव्यपने अभेद है अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वभावमय ही है।

यहाँ ज्ञान का अर्थ पर का ज्ञान अथवा शास्त्र का ज्ञान नहीं है। यहाँ तो राग से भिन्न पड़ा हुआ अन्तर्मुखाकार ज्ञानलक्षण लक्ष्य से भिन्न नहीं है – यह अर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार शक्कर मीठी है – ऐसा जो कहा जाता है, उससे कोई ऐसा नहीं मानता कि मिठास शक्कर से भिन्न अलग कोई वस्तु है, बल्कि शक्कर व मिठास में गुण-गुणी का भेद होते हुए भी दोनों को अभेद ही माना जाता है; उसी तरह जाननस्वभाव और आत्मा एक ही है। जैसे राग व आत्मा जुदे-जुदे हैं, वैसे ज्ञान व आत्मा जुदे नहीं हैं।

यद्यपि ज्ञान एक गुण है और आत्मा अनन्तगुणमय है फिर भी ज्ञान व आत्मा वस्तुपने अभेद है। इसलिए जो ज्ञान की प्रसिद्धि है वही आत्मा की प्रसिद्धि है इसप्रकार लक्ष्य-लक्षण की सिद्धि एक साथ ही है और एक वस्तुमय है।

प्रश्न – जब दोनों एक ही हैं तो भेद किया ही क्यों?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – प्रसिद्धत्व व प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण व लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञानलक्षण प्रसिद्ध है, कारण कि ज्ञानमात्र को स्व-संवेदन से सिद्धपना है अर्थात् ज्ञान सभी प्राणियों को स्व-संवेदन से अनुभव में आता है। ऐसे प्रसिद्ध ज्ञान से अविनाभूत अनन्तगुणमय अभेद एक भगवान आत्मा प्रसाध्यमान है, साधने योग्य है। यहाँ ज्ञान को अन्तर्मुख करके उसके अविनाभूत शुद्ध आत्मा को ध्येय बनाने की बात है, परद्रव्य व रागादि को जानने की बात यहाँ नहीं कही जा रही है; क्योंकि इसी रीति से आत्मा की प्रसिद्धि संभव है अर्थात् सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान प्रगट करने की यही एक मात्र विधि है।

अहा ! अन्तर में सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा विराज रहा है, उसे ध्येय बनाये बिना, उसका आश्रय किए बिना सब क्रिया-कलाप व्यर्थ हैं; क्योंकि प्रसिद्ध ज्ञान के द्वारा मात्र एक शुद्ध आत्मा ही प्रसाध्यमान है। कहते हैं कि जिस दशा में जानपना है, वह जानने रूप ज्ञानपर्याय प्रसिद्ध है; क्योंकि वह हम सबके स्व-संवेदन से सिद्ध है। ज्ञान सर्व को जानता है, पर को भी जानता है। यहाँ पर को जानने की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि – अन्तरंग में अनन्त धर्मों का धारक ध्रुवधाम निज ध्येयरूप प्रभु आत्मा को ही जानो, उसे ही ग्रहण करना है, वही एक मात्र प्रसाध्यमान है। जाननेरूप लक्षण और ध्रुव भगवान लक्ष्य बस; इसके सिवाय अन्य देव-शास्त्र-गुरु आदि लक्ष्य नहीं हैं।

अब कहते हैं कि – इसलिए ज्ञानमात्र लक्षण से प्रसाध्यमान आत्मा में अविचलपने स्थापित दृष्टि द्वारा क्रमरूप अर्थात् समय-समय से प्रगट होती हुई निर्मलपर्यायें और अक्रमरूप अर्थात् द्रव्य में अन्वयपने से विद्यमान अनन्तगुण एकसाथ समा जाते हैं, उस आत्मा में अविचल दृष्टि के स्थापित होने से क्रम व अक्रमरूप से प्रवर्तित होते हुए ज्ञान से अविनाभावी संबंध रखनेवाले अनन्त धर्म समूहमय आत्मा लक्षित हो जाता है। यह प्रमाण ज्ञान का विषय है। ज्यों ही पर्याय में ऐसा सम्यक् ज्ञान प्रगट होता है, त्यों ही ज्ञान के साथ आत्मा में अभेदपने रहनेवाले तथा ज्ञान में प्रतिभासित

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते हुए अनंत गुणों की निर्मल पर्यायें ग्रहण करता है, रागादि भेदव्यवहार आत्मा नहीं; क्योंकि राग- व्यवहार आत्मा नहीं है। उनका आत्मा में अभाव है। शक्तियों के इस अधिकार में विकारी पर्यायों को आत्मा नहीं गिना।

अहा हा..........! लक्षणभूत ज्ञान की पर्याय द्वारा जब प्रसाध्यमान आत्मा प्रसिद्ध हुआ, अनुभव में आया, तब ये क्रम से प्रवर्तमान पर्यायों और अक्रम से रहनेवाले गुणों सहित सम्पूर्ण आत्मा ज्ञान में प्रमेय होता है और यही प्रमाणज्ञान है।

सूक्ष्म बात है भाई! यह अन्तिम परिशिष्ट है, परिशिष्ट अर्थात् संक्षेप में बहुत कुछ कह देना। कहते हैं कि वस्तुपने लक्ष्य व लक्षण – ऐसे दो भेद नहीं हैं अर्थात् दो वस्तुएँ नहीं हैं। ज्ञान के साथ आत्मद्रव्य के एकपना है। अविनाभावीपना है अर्थात् जो ज्ञान है वही अनन्तधर्ममय आत्मवस्तु है, क्षेत्रभेद नहीं है, कालभेद भी नहीं है। मात्र समझाने के लिए भेद करके समझाया है।

भाई! जबतक अकेले भेदों पर दृष्टि है, तबतक राग व विकल्प की ही उत्त्पत्ति होती है, आत्मा की अनुभूति नहीं होती। जब भेदों को गौण करके ज्ञान अभेद में ढलता है, तब आत्मा की प्रसिद्धि होती है। तब उस गौण किए या निषिद्ध किए भेद को व्यवहार से साधन कहा जाता है। बस, इसीकारण यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रपने व्यपदेश किया है।

जिसप्रकार द्रव्य के अनन्त गुण परस्पर भिन्न हैं, उसी तरह गुणों की प्रत्येक समय की पर्यायें भी परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। यद्यपि अनन्त गुणों की पर्यायें एक साथ हैं; किन्तु उनमें से किसी एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्यायरूप नहीं है, उनमें परस्पर एकपना नहीं है। तथा एक ही गुण की क्रम से प्रगट होती हुई पर्यायों में भी एक समय की पर्याय अपने पूर्ववर्ती समय की पर्यायरूप नहीं होती और उत्तरवर्ती समय की पर्याय रूप भी नहीं होती। ओ हो! प्रत्येक गुण की समय-समयवर्ती – अनन्त समय की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है। अहा! प्रभु आत्मा गुण-पर्याय रूप धर्मों का अभेद पिण्ड है। आत्मा में ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायें हैं। यद्यपि एक गुण का रूप दूसरे गुण में है; परन्तु एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। एक गुण की पर्याय भी दूसरे गुण के कारण नहीं होती। प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय में छह कारक रूप परिणमने की स्वयं की स्वतंत्र सामर्थ्य है। प्रत्येक पर्याय स्वयं ही अपनी सामर्थ्य से अपनी रचना करती है। ऐसा स्वयं पर्याय का अपना धर्म है। पर्याय का कारण परद्रव्य तो है ही नहीं, परन्तु स्वद्रव्य और उसके गुण भी नहीं हैं। पर्याय स्वयं ही स्वयं का कारण है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। एक ही समय में स्वयं कारण और कार्य है। कारण-कार्य का भेद करना वास्तव में व्यवहार है। आ हा हा.........! प्रत्येक द्रव्य सत्, प्रत्येक गुण सत् तथा प्रतिसमय होनेवाली उनकी पर्यायें भी अपने स्वरूप से सत् हैं। (यहाँ अतद्भाव भिन्नता की बात है) अतद्भाव भिन्नता का अर्थ है एक द्रव्य में अनेक गुण एकसाथ रहते हुए भी एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता, एक पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं होती। द्रव्य के स्वचतुष्टय में भी अतद्भाव ही होता है, क्योंकि इनमें प्रदेशभेद नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय स्वतंत्र और मोक्ष की पर्याय भी स्वतंत्र है। इसमें तो अकेला निरपेक्ष वीतरागभाव ही सिद्ध होता है, मात्र ज्ञातापना ही सिद्ध होता है। ऐसा क्यों ?' ऐसे विकल्प को अवकाश नहीं है। आ हा हा........! ऐसा आत्मा अनंत धर्मों के समुदायरूप एक धर्मी है।

आलू के एक राई जितने टुकड़े में असंख्यात औदारिक शरीर हैं; तथा प्रत्येक शरीर में अनंत जीव हैं। वे सभी जीव भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। प्रत्येक जीव अनंत शक्तियों का एक अखण्ड पिण्ड है। उन्हीं शक्तियों के विषय में यहाँ कहा है कि प्रत्येक शक्ति परस्पर में भिन्न है, प्रत्येक शक्ति की क्रम से होनेवाली पर्यायें भी स्वतंत्र हैं तथा प्रत्येक पर्याय के अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद रूप अंश हैं। उनमें से एक अंश दूसरे अंश रूप नहीं है। अहा! ऐसी अलौकिक स्वतंत्रता को प्रसिद्ध करनेवाला वस्तुदर्शन ही जैनदर्शन है। इसमें सभी अनेकान्तस्वरूप हैं। 'स्वपने है और परपने नहीं है' ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य में, गुण में, पर्याय में और एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद में भी अनेकान्त है। प्रभु ! आत्मा ऐसी अनेकान्तमय मूर्ति है। 'अनंत धर्मों के समुदायरूप परिणत "एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप स्वयं ही होने से आत्मा को ज्ञानमात्रपना है" – ऐसा कहकर एक ज्ञानमात्रभाव में अनंतधर्मों को अभेद करके समा दिया है। अहो ! यह अलौकिक बात है।

आ हा हा.......! मैं ज्ञानलक्षण से लक्षित अनंत गुणों का पिण्ड – ऐसा एक ज्ञानमात्र आत्मा हूँ – ऐसी जहाँ निर्विकल्प दृष्टि होती है वहाँ जानन क्रिया मात्र – एक ज्ञप्ति क्रिया मात्र भाव प्रगट होता है। इसमें ज्ञान के साथ अन्य अनंत गुणों का निर्मल परिणमन उत्पन्न होता है। अनंत गुण और उसकी अनंत पर्यायें जो ज्ञान में ज्ञेय होने पर भी एक ज्ञप्ति मात्र भाव में अभेदरूप से समा जाते हैं और स्वयं आत्मा होने से आत्मा को ज्ञानमात्रपना है।

आ हा हा ! अन्दर दृष्टि करते ही निहाल हो जाय – चैतन्य महा प्रभु आत्मा ऐसा है। जिसमें परस्पर भिन्न अनंतधर्म हैं – ऐसे अभेद आत्मा का लक्ष करके जहाँ ज्ञान परिणमित हुआ, वहाँ उसके साथ अनंतगुणों का परिणमन हुआ। यह ज्ञप्तिक्रिया आत्मा की निर्विकारी धर्मक्रिया है। भगवान की वाणी बहुत गंभीर है। उसके एक-एक शब्द में अमृत की धारा बहती है।

विचार तो कर कि 'तू कौन है ?' तथा तू क्या करता है ? अन्तर्मुखदृष्टि बिना भेदज्ञान की दृष्टि बिना तेरे जन्म-मरण के दुःख नहीं मिटेंगे।

श्री वादिराज मुनिराज कहते हैं कि भूतकाल के दुःखों को याद करते हैं तो अन्दर वज्रघात समान घाव लगते हैं। भाई! तुझे ऐसे घोरातिघोर दुःखों से बचना हो तो उसका यहाँ आचार्यदेव उपाय बतलाते हैं। तू सावधान होकर सुन !

अ हा.....! प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप स्वद्रव्य का आश्रय लेने से जहाँ आत्मज्ञान प्रगट हुआ, उसमें निर्विकल्प प्रमाण ज्ञान एकसाथ प्रगट हो जाता है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसमें अनन्त गुणों का पिण्ड स्वद्रव्य तथा अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायें समा जाती हैं। इसीलिये यहाँ कहा है कि ज्ञानमात्रभाव के अन्दर अनंत शक्तियाँ उछलती हैं।

आत्मा के अनंत गुणों में लक्षणभेद भले हो; परंतु क्षेत्रभेद नहीं है। तथा परिणमन का कालभेद भी नहीं है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में एक ही साथ अनंत गुण व्याप्त हो रहे हैं। इसलिये आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन साथ ही रहता है।

अहाहा........! आत्मा के परिणमन में अनन्तगुण एक साथ ही निर्मलपने उछलते हैं, परिणमन करते हैं। साधक के गुणों के परिणमन में जो हीनाधिकरूप तारतम्यता है, वह बात यहाँ नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व का परिणमन होने पर भी चारित्र की निर्मलता पूर्ण नहीं होती – यह गुणभेद यहाँ मुख्य नहीं है। यहाँ तो अभेद द्रव्य के परिणमित होने पर सभी गुणों का निर्मल परिणमन होता है। ऐसे अभेद की मुख्यता से बात कही जा रही है। देखो, यहाँ 'परिणमन' शब्द से ही निर्मल परिणमन की बात कही गई है। यहाँ शक्तियों के परिणमन की चर्चा में विकारी परिणमन को तो गिना ही नहीं है; क्योंकि विकार आत्मा नहीं है। यहाँ तो द्रव्य, गुण एवं उनकी निर्मल परिणति – इन तीनों को अभेद करके इसे ही आत्मा माना है। ज्ञान लक्षण के बल से विकार को तो आत्मा से भिन्न ही कर दिया है।

क्षायिक समकित होते ही साधक के सभी गुण एकसाथ पूर्ण खिलते हैं; अतः कथंचित् गुणभेद है; परन्तु यहाँ यह बात मुख्य नहीं है; गौण है। यहाँ तो वस्तुरूप से सभी गुण अभेद हैं। इस कारण द्रव्य के अभेद परिणमन के साथ सभी गुणों के अंश एकसाथ प्रगट हो जाते हैं। एक गुण निर्मल परिणमे और दूसरा गुण सर्वथा मलिन रहे, अंशरूप से भी निर्मल न हो – ऐसा नहीं होता।

ज्ञानमात्रभाव से अन्तःपातिनी अनंत शक्तियाँ उछलती हैं। इसका यही आशय है; परन्तु अरे रे! इस अज्ञानी जीव ने कभी स्व-सन्मुखता की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं, जहाँ अपना निज भगवान निर्मलानन्द का नाथ प्रभु विराजता है।

देखो, इसप्रकार यहाँ – 'ज्ञानमात्र' कहकर परद्रव्य और विकार से भेद कराया।

ज्ञान लक्षण से लक्ष्यरूप आत्मा की प्रसिद्धि कराई।

इस 'ज्ञानमात्र' भाव में अनंत शक्तियाँ एकसाथ उछलती हैं – यह ज्ञान कराया।

अब आचार्यदेव आत्मा की अनन्त शक्तियों में से मुख्य-मुख्य प्रयोजनभूत ४७ शक्तियों का वर्णन करते हैं, जो इसप्रकार है –

आ हा हा.....! भगवान आत्मा शक्तियों का संग्रहालय चैतन्य महापदार्थ है। शक्तिमान आत्मा एक द्रव्य है और उसमें संख्या की अपेक्षा अनंत शक्तियाँ हैं

इस जगत में जीव अनंत हैं, पुद्गल परमाणओं की संख्या उससे भी अनंतगुणी अनंतानन्त है। उससे भी अनंतगुणी संख्या तीन काल के समयों की है। उससे भी अनंतगुणे एक आकाश द्रव्य के प्रदेश हैं। यह लोकालोक में व्याप्त आकाश नाम का अरूपी महापदार्थ है। उसका दशों दिशाओं में कहीं अंत नहीं है। चौदह राजु में यह लोक है। शेष सभी भाग में दशों दिशाओं में सर्वत्र अनंत-अनंत विस्तारयुक्त अलोकाकाश है। इस आकाश के प्रदेश तीन काल के समयों से भी अनंतगुणे हैं, उससे भी अनंतगुणी एक जीवद्रव्य में शक्तियाँ हैं। ओ हो ! इतना बड़ा भगवान आत्मा एक चैतन्य महापदार्थ है। इतना बड़ा होते हुए भी अमूर्तिक होने से यद्यपि इन्द्रियगम्य नहीं है, किन्तु स्वानुभवगम्य है। उपयोग को अन्तर्मुख करने से जानने में आता है।

भाई ! तुझे चैतन्य महापदार्थ देखना है तो इन्द्रियों से और राग से पार जो अन्दर आत्मवस्तु है, वहाँ उपयोग को लगा दे।

भाई ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जगत को दिव्यध्वनि द्वारा यह बात कही है। उस ॐ ध्वनि में यह आया है कि – प्रभु ! तू एक अनंत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्तिवंत द्रव्यवस्तु है। तेरे में जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य इत्यादि अनंत शक्तियाँ भरी हैं। न केवल तुझमें, बल्कि प्रत्येक आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, अनन्त गुण हैं। वे गुण अक्रम से एक साथ हैं तथा उन गुणों का जो परिणमन होता है, वह क्रम से होता है। जिसप्रकार सांकल में अनेक कड़ियों का समूह है, उसीप्रकार आत्मा असंख्यात प्रदेशों का समूह है। आत्मा में ऐसे असंख्यात प्रदेश हैं, उन प्रदेशों में अनंत गुण व्याप्त हैं। उन अनंत गुणों की प्रत्येक समय में अनंत पर्यायें होती हैं। द्रव्य-गुण कूटस्थ रहते हुए उनकी पर्यायें पलटती हैं; इसलिए पर्यायें क्रमवर्ती हैं और गुण एकसाथ रहते हैं; इसलिए वे अक्रमवर्ती हैं। इन अक्रमवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों का समूह आत्मद्रव्य है। ऐसी बात वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के शासन के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। भाई! तेरी ज्ञानानन्दमयी वस्तु अन्दर कैसी है, उसे कभी तूने जाना नहीं; इस कारण अबतक जन्म-मरण हुआ, अब तो उसका निर्णय कर।

अरे ! ऐसा मनुष्यपना मिला, जैन कुल में जन्म हुआ और अपने चैतन्य महाप्रभु को न जाना तो भव का अंत कब आयेगा ? अरे भाई ! अपनी वस्तु की महानता की कीमत किये बिना, पर चीजों की, राग की महिमा कर-कर के तू अनंतकाल से चार गति में भ्रमता फिरा है, अब तो निज चैतन्य वस्तु का निर्णय कर ! यह काम अभी नहीं करेगा तो कब करेगा ?

अहा ! जल में जैसे तरंग उठती है वैसे ही द्रव्य में से पर्याय द्रवती है, उत्पन्न होती है।

ये शरीर, मन, वाणी, कर्म तो धूल-माटी-जड़-अजीव हैं और अन्दर में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे भी परमार्थ से अचेतन हैं; क्योंकि वे भाव चैतन्य की जाति के नहीं हैं। अहा..! अंतरंग में जो चैतन्य महापदार्थ है, वह तो पुण्य-पाप से रहित अनंत शक्तियों का संग्रहालय है। अनंत शक्तियों में से प्रथम यहाँ जीव के जीवनरूप जीवत्वशक्ति का प्रारंभ करते हैं।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१. जीवत्वशक्ति

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण है, स्वरूप है – ऐसी जीवत्वशक्ति।

देखो! आचार्य कहते हैं कि अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद और अनंत वीर्य रूप भावप्राण धारण करना जिसका लक्षण, स्वरूप है; वह जीवत्वशक्ति है। जिससे जीव अनादि-अनंत जीता है, वह जीवत्वशक्ति है। 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो' – ऐसा समयसार गाथा २ में कहा है। उसमें से ही आचार्यदेव ने जीवत्वशक्ति निकाली है। देखो! पहले आचार्य-देव ने अनंतगुणों से अभेद एक ज्ञानमात्र आत्मा का लक्ष कराया है और अब उस अभेद आत्मा के लक्षपूर्वक इन शक्तियों की पहचान कराते हैं।

अरे भाई! तेरे आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, इसकी तुझे खबर नहीं है। तेरे वैभव की तुझे खबर ही नहीं। 'आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण करना जिसका लक्षण है, स्वरूप है – ऐसी जीवत्वशक्ति है।

प्रश्न – यहाँ चैतन्यमात्रभाव को आत्मद्रव्य का कारण क्यों कहा?

उत्तर – क्योंकि चैतन्यभाव द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। अगर चैतन्यमात्रभाव न हो तो जीव ही सिद्ध नहीं होगा। चैतन्यभाव बिना आत्म-द्रव्य ही नहीं हो सकता; इसलिए चैतन्यमात्रभाव को आत्मद्रव्य का कारण कहा है। ऐसी जीवत्वशक्ति जानकर अनंतशक्तियों को धरनेवाला शक्तिवान एक ज्ञानमात्र आत्मा है। उस पर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तथा जीवत्व सहित अनंत शक्तियों का क्रमवर्ती निर्मल परिणमन प्रगट होता है।

प्रश्न – शक्तियों का लक्ष करने से सम्यग्दर्शन होता है या नहीं?

उत्तर – नहीं होता, क्योंकि शक्तियाँ तो गुणोंरूप एवं भेदरूप हैं।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसे गुणभेद की दृष्टि है उसे तो रागरूप विकल्प ही होता है। गुणभेद या गुणीभेद में जो अटकता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह तो राग-विकल्प में ही अटका है।

अरे भाई ! तुझे तेरे शाश्वत शुद्ध चैतन्य प्राणमय त्रिकाली जीवन की खबर न पड़े तो तू सच्चा जीवन किस तरह जियेगा ? आहार-पानी या शरीरादि जड़ प्राणों से तू जीना मानता है वह सच्चा जीवन नहीं। अहा ! शरीर स्वयं जड़, मृतक कलेवर है तो तू उससे कैसे जियेगा ? भाई ! अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों द्वारा ही तू त्रिकाल जीता है तथा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु के आश्रय से सिद्धपद को प्राप्त कर सादि-अनंत पूर्ण आनंदमय जीवन जीना ही जीव का सच्चा जीवन है। आ हा हा...! देखो न ! ये सिद्ध भगवान शरीरादि बिना ही अपने चैतन्य प्राण से परम सुखमय जीवन जी रहे हैं। भाई ! तुझे भी सत्य जीवन जीना हो तो जीवत्वशक्ति जिसमें उछल रही है ऐसे तेरे ज्ञानमात्र आत्मा में दृष्टि कर और वहीं लीन हो जा !

जो चैतन्यमात्रभावरूप आत्मा को लक्ष में लेता है, उसके ही अनंतगुणों का निर्मल परिणमन होता है वहाँ से ही सच्चे पवित्र जीवन का क्रम प्रारंभ होता है।

ज्ञानप्राण, दर्शनप्राण, आनंदप्राण, वीर्यप्राण – ऐसे शक्तिरूप चैतन्य भावप्राण हैं, इन्हें धारण करना जीवत्वशक्ति का स्वरूप है। शरीर को, इन्द्रियों को, आयु को, राग को धारण करना जीवत्वशक्ति का स्वरूप नहीं है। इन्हें धारण कर रखने की एक भी शक्ति आत्मा में नहीं है; इसलिए जड़ प्राणों से मैं जीता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्या है।

जगत में तेरी चैतन्य वस्तु के सिवाय तुझे कौन शरण है ? ज्ञानमात्र आत्मा चैतन्य परमेश्वर तू स्वयं ही स्वयं को शरण है – ऐसा जानकर उसमें एकाग्र हो, उसी में लीन हो, तुझे तेरा सच्चा आनंदमय जीवन प्राप्त होगा।

अहा ! तीनलोक के नाथ भगवान परमेश्वर ने आत्मा का ऐसा स्वरूप बतलाया है। आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, मगर एक शक्ति का रूप अन्य अनंत शक्तियों में है। जैसे कि आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में अस्ति-सत्ता एक गुण है, इस अस्ति गुण का रूप अनंतशक्तियों में है। ज्ञान है, दर्शन है, वीर्य है, ऐसे ही अनंत गुणों में 'है' पना यह अस्तित्व गुण का रूप है। इसीप्रकार अनंत शक्तियों का परस्पर एक दूसरे में रूप है। इसप्रकार जीवत्वशक्ति का रूप प्रत्येक शक्ति में है। जैसे ज्ञान जीवंत, वीर्य जीवंत। आ हा हा.......! ऐसी अनंत शक्तियाँ जिसका जीवन है, ऐसा भगवान आत्मा है। भाई! तुझे उसकी पहचान नहीं है; तू अंतरंग में दृष्टि कर तो निहाल हो – ऐसी अनंत चैतन्य संपदा से तू भरा हुआ है। यहाँ जीवत्वशक्ति कहकर आचार्यदेव तेरा सच्चा जीवन बतलाते हैं। हमको तो संवत् **१९७८** में यह समयसार हाथ लगा, तब सहज ही ऐसा लगा कि अहो! यह शास्त्र तो अशरीरी होने का परमागम है।

भाई ! ये शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, स्त्री, बच्चे तथा रुपया-पैसा बंगला आदि तो धूलधानी हैं। अज्ञानी जीवों को इनकी महिमा आती है। अहा! अन्दर में अनंत-अनंत चैतन्य लक्ष्मी का भंडार आत्मप्रभु स्वयं विराजता है, उसकी प्रतीति जिन्हें नहीं होती, वे सभी जीव दुःखी हैं। पैसेवाले को लोग सुखी कहते हैं, मगर वह भी महादुःखी है। अन्दर चैतन्य में लक्ष्मी स्वरूप स्वयं विराज रहा है, उसकी जो प्रतीति करे अनुभव करे; वही वास्तव में श्रेष्ठ (सेठ) है। लोक में उसका जीवन श्रेष्ठ है, बाकी तो सब कहने के सेठ हैं। पैसे से कोई सेठ (श्रेष्ठ) नहीं हो जाता। प्रभु तुझे क्या हो गया है ? भगवान की दिव्यध्वनि में तो यह आया है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय – इन सभी का लक्ष छोड़, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव करके जिसने इन्द्रियों को जीता है, उसका नाम सम्यग्दृष्टी है, वही श्रेष्ठ है। यहाँ भी यही कहा है कि ज्ञान, दर्शन, आनंद और वीर्य – ये जीव के भावप्राण हैं। अन्तर्मुख दृष्टि करके ऐसे शुद्ध भावप्राण से जो जीता है, जीता था, जीवेगा उसे भगवान जीव कहते हैं; इसलिये बहिर्लक्ष छोड़कर अन्तर्मुख हो और यथार्थ जीवन प्रगट कर! जिसमें शक्तियों का ऐसा शुद्ध जीवत्वरूप परिणमन होता है – जो समकिती जीव ऐसा ज्ञानानंदमय, अनाकुल, प्रभुतामय जीवन जीता है, वही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वास्तविक जीवन है।

आ हा हा........! जीव की जीवत्वशक्ति अनंत शक्तियों में व्याप्त है, उसे शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो, भाव कहो; वह एक जीवत्वभाव सर्व भावों में व्याप्त है। जीवत्वशक्ति द्रव्य में व्यापक है, गुण में व्यापक है और शक्तिवान त्रिकाली ध्रुव द्रव्य की दृष्टि होते ही पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है। अरे! अनादि से अज्ञानी जीव को निज शक्ति का भान न होने से उसकी पर्याय में जीवत्वशक्ति व्याप्त नहीं होती, विकार ही व्याप्त रहता है, उसे शक्ति का फल प्राप्त नहीं होता; परन्तु जहाँ शक्ति की महिमा लाकर शक्तिवान द्रव्य की दृष्टि की, वहाँ पर्याय में निर्मल जीवत्व प्रगट हो जाता है। जब ऐसा निर्मल ज्ञानानंदमय जीवन प्रगट होता है तो तत्काल यह मान्यता छूट जाती है कि – 'मैं द्रव्यप्राणों से या अशुद्ध भावप्राणों से जीता हूँ।' व्यवहार प्राणों का भी आश्रय छूट जाता है।

ध्यान रहे, ये शरीरादि तेरे आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में भी नहीं व्यापते। ये पुण्य-पाप आदि विकार भी आत्मा के द्रव्य-गुण में नहीं व्यापते, मात्र एक समय की पर्याय में व्यापते हैं। सर्व पर्यायों में वे नहीं व्यापते।

दृष्टिवंत के यह जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। जो ऐसा जीवन जीता है वही उज्ज्वल जीवन है। इसप्रकार क्रमवर्ती पर्यायें और अक्रमवर्ती गुणों का पिण्ड मैं आत्मा हूँ ऐसा सिद्ध हुआ। यही अनेकान्त है।

आ हा हा..........! भगवान कहते हैं – अंतरर्दृष्टि करते ही तेरा चैतन्य-समुद्र अनंतगुणरत्नों से पर्याय में उछला है, प्रगट हुआ है; इसलिए ज्ञानमात्र कहने से एकांत नहीं होता।

ज्ञानमात्र आत्मा कहने से दृष्टि पूर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप आत्मद्रव्य के ऊपर चली जाती है। इससे पर्याय में निराकुल आनंद तथा शुद्ध पवित्र जीवन प्रगट होता है, इसी का नाम धर्म है, इसी का नाम जीवन है। ज्ञानमात्र आत्मा को छोड़कर जो दृष्टि पर और विकार को देखती है, वह विपरीत दृष्टि है।

अहा! अज्ञानी जीव को अनादि से ऐसी मिथ्या मान्यता है कि पर में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुख है, इसकारण उसकी दृष्टि स्व-घर में न जाकर पर में लगी है; परन्तु भाई ! यह तो महा विपरीतता है। इसका फल बहुत भंयकर है। बापू ! स्वयं को जाने-देखे वही सच्चा ज्ञान है, वही सच्चा जीवन है, वही सुख है।

देखो, यह शक्तियों का अधिकार है। इन शक्तियों का विशेष वर्णन श्री दीपचंदजी कृत अध्यात्मसंग्रह ग्रन्थ के 'ज्ञानदर्पण' तथा 'चिद्‌विलास' ग्रन्थ में बहुत सुन्दर तरीके से किया है। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि – सभी आत्मायें साधर्मी हैं। भगवान को संबोधते हुए वे कहते हैं – भगवान! मैं तुम्हारा साधर्मी हूँ। मेरी पर्याय में जरा सी भूल है उसे एक ओर रख कर देखें तो जैसे आप द्रव्यस्वरूप से परिपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप भगवान हैं; वैसे ही मैं भी द्रव्यरूप से परिपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप भगवान हूँ; इसलिए आप मेरे साधर्मी हैं। अरे ! शुद्ध जीवत्वशक्ति की अपेक्षा से सभी आत्मायें मेरे साधर्मी हैं। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि – यह जीवत्वशक्ति महा सुखदायी है। अहा ! जिसकी पर्याय में यह जीवत्वशक्ति प्रगट हुई, उसके सुख का क्या कहना ? लोक में वही परम सुखी है।

ये तो अध्यात्म की अलौकिक बातें हैं बापू ! यह कोई लौकिक कथा-वार्ता नहीं है। आ हा हा.......! अतीन्द्रिय आनंद में झूलते पवित्र जीवन के धारक वीतरागी दिगंबर संतों को (अकारण) करुणा का विकल्प उठा और यह शास्त्र रचा गया। वस्तुतः वे तो उस ग्रन्थ बनाने के विकल्प के भी स्वामी नहीं। वे कहते हैं कि – भगवान तू ज्ञान, आनंद, इत्यादि अनंत गुण लक्ष्मी का धरनेवाला आत्मा है और यह चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति एक ज्ञानमात्र वस्तु का आश्रय लेते ही पर्याय में प्रगट होती है। तभी पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद की बाढ़ आती है। इसप्रकार जीवत्वशक्ति में ध्रुव उपादान तथा क्षणिक उपादान दोनों आ जाते हैं। त्रिकाली जीवत्वशक्ति ध्रुव उपादान है तथा पर्याय में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र का निर्मल परिणमन हुआ, वह क्षणिक उपादान है। द्रव्य की दृष्टि करते ही जीवत्वशक्ति के साथ जो अनंतगुणों की निर्मल प्रभुता प्रगट हुई, उसका नाम ही धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग है। यही क्षणिक उपादान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस क्षणिक उपादान में व्यवहार का अभाव है। यही अनेकान्त है। व्यवहार का सर्वथा अभाव है, ऐसा नहीं है, व्यवहार में व्यवहार भले हो; परन्तु शक्ति के परिणमन में व्यवहार अर्थात् अशुद्धता-राग समाता नहीं है, अभावरूप है; क्योंकि शक्ति शुद्ध है और उसका परिणमन भी शुद्ध है, अशुद्धता किसी शक्ति का कार्य नहीं है। अशुद्धता तो पर और पर्याय के लक्ष से होती है, परन्तु धर्मी की पर और पर्याय की दृष्टि ही छूट गई है।

देखो! द्रव्य में अनंत शक्तियाँ हैं, किन्तु उन शक्तियों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न नहीं है। एक जीवत्वशक्ति अन्य अनंत शक्तियों में व्यापक है। प्रत्येक शक्ति अन्य अनंत शक्तियों में व्यापक है तथा एक-एक शक्ति अन्य अनंत शक्तियों को निमित्त है अर्थात् एक गुण कारण तथा दूसरा गुण कार्य – ऐसा कहने में आता है; यह व्यवहार है। निश्चय से तो गुण स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य है। एक गुण के परिणमन के समय दूसरा गुण अनुकूलरूप से निमित्त के रूप में परिणमन करता है। दोनों गुणों का समकाल तथा समव्याप्ति है। बस; यही कार्य के उपादान और निमित्त कारण की संधि है। कोई किसी का परिणमन कर दे – ऐसा नहीं।

प्रश्न – फिर प्रवचनसार में राग का कर्ता ज्ञानी है ऐसा क्यों कहा?

समाधान – प्रवचनसार में ४७ नयों का वर्णन ज्ञानप्रधान शैली से किया है। वहाँ आत्मानुभव होते ही जीवत्वशक्ति का निर्मल परिणमन हुआ तथा साथ में सम्यग्दर्शन्न-ज्ञान-चारित्र आदि का परिणमन हुआ, उतनी तो शुद्धता है तथा जितना बाकी राग रहा है, उतनी अशुद्धता है। परिणमन की अपेक्षा जितना रागरूप परिणमन है, उसका कर्ता ज्ञानी आत्मा है – ऐसा वहाँ ज्ञानप्रधान शैली से कहा है। करने लायक है – इस अपेक्षा (दृष्टि की अपेक्षा) ज्ञानी राग का कर्ता है ऐसा नहीं; परन्तु अपनी पर्याय में राग का परिणमन है उसे ज्ञानी जानते हैं कि यह राग मेरा परिणमन है तथा यह मेरे में हुआ है पर यह मेरा स्वभाव नहीं, बल्कि अपराध है।

जबकि यहाँ शक्ति के अधिकार में दृष्टि की प्रधानता से बात है। आ हा हा......! आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु है, ऐसे आत्मद्रव्य की दृष्टि होते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही पर्याय में आनंद उत्पन्न न हो, ऐसा है ही नहीं। दृष्टिप्रधान शैली में तो जिसे स्वभाव के आश्रय से निर्मलता प्रगट हुई हो, वह आत्मा है। राग को आत्मा की पर्याय गिनी ही नहीं, दृष्टि अशुद्धता को आत्मापने स्वीकारती ही नहीं। दृष्टि का विषय अभेद, एक निर्विकल्प चैतन्यमात्र आत्मा है तथा दृष्टि भी निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप है। उसमें राग का स्वीकार ही नहीं, इसलिये शक्ति के अधिकार में राग क्षणिक उपादान है – ऐसी भी बात नहीं की है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, इसलिए ज्ञान स्व को जानता है, जितनी शुद्धता प्रगट हुई और जितनी अशुद्धतारूप राग का परिणमन है उसे भी वह मेरा अपराध है – ऐसा जानता है।

अरे भाई ! राग से भिन्न होकर निज स्वरूप की दृष्टि तथा अनुभव करते ही सुख प्रगट होता है – श्री सद्‌गुरु भगवंतों ने ऐसा स्वरूप बताया है। अहो ! यह तो इस पंचमकाल में अमृत की वर्षा बरसी है भाई !

जीवनशक्ति को धरनेवाला ध्रुवधाम-चैतन्यधाम, प्रभु आत्मा की दृष्टि होते ही जो क्रमवर्ती जीवनशक्ति का निर्मल परिणमन हुआ, उसमें मलिन भाव का अभाव है, यह अनेकान्त है। लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहार कारण और निश्चय कार्य। उसका यहाँ निषेध करते हैं। व्यवहार से, राग से निश्चय वीतरागता प्रगट हो – ऐसा कभी नहीं बनता।

द्रव्यसंग्रह की ४७ वीं गाथा में श्री नेमीचन्द्र सिद्धांतदेव कहते हैं कि – पूर्णानन्द का नाथ एक ज्ञायकस्वरूप प्रभु का ध्यान करने से अन्दर में निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है तथा उसी के साथ व्यवहार मोक्षमार्ग भी प्रगट होता है। इसका अर्थ यह है कि ध्यानदशा में ध्यान के समय जितनी निर्मलता प्रगट हुई, उतना तो निर्मल रत्नत्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा जो अल्प रागांश बाकी है उस पर मोक्षमार्ग का आरोप देकर व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इसका नाम निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग ध्यान में एक साथ प्रगट होता है। व्यवहार मोक्षमार्ग कोई सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं वह तो राग है, बंध का कारण है। जब दोनों साथ में हैं तो व्यवहार निश्चय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का कारण हो – ऐसा कहाँ रहा ? अपनी निर्मल परिणति अपने से हुई है, स्व-आश्रय से हुई है, राग से या व्यवहार से नहीं। इसका नाम अनेकान्त और स्याद्वाद है। व्यवहार से भी हो और निश्चय से भी हो। ये स्याद्वाद नहीं।

अरे ! ऐसे तत्त्व की समझ बिना बाह्य वैभववाले जीव भी दु:खी हैं। इन्हें अपनी अनंत चैतन्य संपदा की खबर नहीं और बाहर भिखारी की तरह लाओ !लाओ ! कहते हैं। शास्त्र में उन्हें 'वराका' अर्थात् विचारा कहा है। अहा ! मैं आनंद का नाथ हूँ, मेरी चैतन्य खदान मैं आनंद और शांति की सम्पदा पड़ी है। जिसे ऐसी अंतरंग लक्ष्मी की खबर नहीं और विषयों में झपट्टे मारते हैं, वे सभी भिखारी हैं।

आ हा हा......! सच्चिादानंद भगवान आत्मा अनंत ज्ञान आनंद का खजाना है। अनंतशक्तियों का महानिधान हैं। ऐसा शक्तिवान प्रभु और उसकी जीवत्व आदि अनंत शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं। पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और औदयिक भाव – ऐसे पाँच भाव हैं। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से जो निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव रूप हैं और मोह के निमित्त से जो विकारी पर्यायें होती हैं वे औदयिक भाव हैं। भाई ! व्रत, दया, उपवास, दान आदि के शुभ परिणाम भी विकारी और औदयिक भाव हैं। भले ही वे जीव की पर्यायें हैं; परन्तु उनमें जीवत्व नहीं है, वे तो जीवत्व रहित अचेतन हैं। ऐसी दशा में उनमें से चैतन्य के निर्मल उपशमादि भाव प्रगट होंगे ? ऐसा कभी भी नहीं हो सकता।

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति में जैसे जीवत्वशक्ति है, वैसे ही षट्कारकों के रूप में भी छह शक्तियाँ हैं। इसकी एक-एक शक्ति में षट्कारकों का रूप है। देखो, ज्ञान गुण है, वह कहीं कर्त्ता गुण के आश्रित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि – एक गुण के आश्रित दूसरा गुण नहीं है, सब गुण द्रव्य के आश्रित हैं। इसप्रकार एक गुण दूसरे गुण से भिन्न-भिन्न–अन्य है; परन्तु एक गुण में दूसरे गुण का रूप है। जैसे ज्ञान स्वयं ही अपना कर्ता है ज्ञान स्वयं ही अपना कर्म है। अहा ! यह तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है। प्रतिदिन 'णमो अरहंताणं' बोले परन्तु अरहंत परमेश्वर कौन हैं ? उनकी लोगों को कुछ खबर ही नहीं। अरे भाई! अरहंत का स्वरूप जानकर उन्हें नमस्कार करना यह कोई अलौकिक चीज है। आ हा हा.....! भगवान अरहंत जैसा ही मेरा द्रव्यस्वभाव है ऐसा जानकर जो निज द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करता है, उसे शुद्ध जीवत्व सहित अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है। उस अतीन्द्रिय आनंद की एक समय की पर्याय में षट्कारकरूप परिणमन है। आनंद पर्याय स्वयं कर्ता, स्वयं ही कर्म, स्वयं ही करण (साधन), स्वयं ही अपादान और स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार स्वयं षट्कारक रूप होकर परिणमन करती है। इसमें व्यवहार से कार्य होता है; ये कहाँ रहा ?

यह तो द्रव्यसंग्रह की ४७वीं गाथा में आ ही गया कि निश्चय और व्यवहार-मोक्षमार्ग ज्ञानी को ध्यान में एक-एक समय में एक ही साथ होते हैं।

निश्चय और व्यवहार दोनों साथ होते हैं, फिर भी निश्चय व्यवहार नहीं और व्यवहार निश्चय नहीं। दोनों के षट्कारक भिन्न-भिन्न हैं, एक दूसरे से निरपेक्ष हैं; इसलिए राग कर्ता और निर्मल पर्याय उसका कार्य – ऐसा कभी नहीं होता। यह दिव्यध्वनि में आई बात है।

अहा ! दिव्यध्वनि की गंभीरता की क्या बात करना। देखो, प्रथम स्वर्ग का इन्द्र समकिती, ३२ लाख विमानों का स्वामी है, उन विमानों में असंख्यात देव हैं। उसकी पटरानी-शची भी सम्यग्दृष्टि है। दोनों एक भवतारी हैं, एक मनुष्य का भव धारण करके दोनों मोक्ष जायेगें। ऐसे इन्द्र और इन्द्राणी भी जिस भगवान की वाणी (ओम ध्वनि) सुनने आयें वह वाणी कैसी होगी ? अहा! वह वाणी भव्य जीवों को हितकारी-सुखकारी होती है।

सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि भाई ! तू एक जीवित वस्तु है या नहीं?

यदि है तो उसका कारण शुद्ध चैतन्य भावप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति ही है, उससे ही तू टिक रहा है; शरीर, इन्द्रियाँ, श्वांस, आहार-पानी तथा पैसा आदि से नहीं। ये संयोगी चीजें भले हों; परन्तु

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनसे तेरा जीवन टिकता नहीं; क्योंकि वे भिन्न वस्तुयें हैं। आ हा हा ! यह जीवनशक्ति तो जीव के जीवन की जड़ी-बूटी है। भाई ! जिसने इसे हस्तगत कर लिया, मानो वह अमर हो गया, उसे मरण का भय नहीं रहता।

भगवान ! तू देहादि और रागादि से शून्य है। तेरी नजर में देहादि दिखते हैं, वहाँ से नजर उठाकर अपनी पर्याय को (नजर को) सुख-निधान में जोड़ दे। 'दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के विकल्प करने से तेरा सच्चा जीवन प्रगट होगा' – यह तेरी मान्यता मोहजन्य है, विभ्रम है बापू! ये सभी भाव तो दुःखरूप हैं। एक आत्मा और निर्मल आत्मपरिणति ही निराकुल है, सुखमय है।

जैसे समुद्र में पूर आता है, वैसे ही भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने से वर्तमान प्रगट पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद का पूर आता है। द्रव्यदृष्टिवंत को जीवत्वशक्ति के समान ही अकार्यकारणशक्ति भी उछलती है। जिसके द्वारा आत्मा व्यवहाररत्नत्रय का तथा राग का कार्य भी नहीं और कारण भी नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के राग को आत्मा उत्पन्न करे – ऐसा भी नहीं है। आत्मा की निर्मलपर्याय का व्यवहार रत्नत्रय कारण बने – ऐसा भी नहीं। भगवान आत्मा पुण्य-पाप से शून्य है और अनंत शक्तियों से पूर्ण है।

आत्मा अविशेषभाव स्वरूप है, विशेष-गुणभेद का स्वरूप आत्मा नहीं है (दृष्टि के विषय में भेद समाता ही नहीं।)

जैसे यह लोक अकृत्रिम है, वैसे ही लोक के द्रव्य भी किसी के द्वारा नहीं बनाये गये हैं, उनके गुण-पर्यायों का भी कोई नहीं। द्रव्य-गुण को पर्याय का कर्ता कहना भी व्यवहार है। निश्चय से पर्याय का कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण पर्याय है। पर्याय का कारण द्रव्य-गुण तो नहीं और पर भी नहीं, ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर पर से हटकर, निजस्वरूप जो अनंतशक्तियुक्त ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होता है, उसे जीवत्वशक्ति निमित्तरूप से उछलती है। उसका जीवन पवित्र और उज्ज्वल बनता है।

इस तरह यह जीवत्वशक्ति पूर्ण हुई।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२. चितिशक्ति

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति। अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है – ऐसी चितिशक्ति।

पहले जीवत्वशक्ति द्वारा जीव का त्रिकाल जीवित रहना सिद्ध किया था और अब चितिशक्ति द्वारा जीव का यह जीवन त्रिकाल अजड़त्वस्वरूप अर्थात् चैतन्यमय है – ऐसा कहते हैं। चितिशक्ति जीवत्वशक्ति का लक्षण है।

प्रश्न – यह तो पहले जीवत्वशक्ति में ही बताया जा चुका है तो भी यहाँ पृथक् से चितिशक्ति क्यों कही गई है?

उत्तर – चितिशक्ति यह बताने के लिए कही गई है कि जीववस्तु त्रिकाल अजड़त्वस्वरूप चैतन्यमय है।

चितिशक्ति अजड़त्वस्वरूप/चैतन्यमय है और उसे धारण करनेवाली अनन्त गुणधाम जीववस्तु भी अजड़त्वस्वरूप चैतन्यमय है। आ हा हा..! दृष्टिवंत समकिती जीव के अन्तरंग में जीवत्वशक्ति के साथ चितिशक्ति भी उछलती है/प्रगट होती है। यह राग-द्वेष-मोह एवं पुण्य-पाप के भाव आत्मा की चीज नहीं हैं; क्योंकि ये तो सभी जड़ हैं और भगवान आत्मा अजड़/चैतन्यमय है।

पहले जीवत्वशक्ति में तो 'जीव का त्रिकाल जीनेरूप/टिकनेरूप परिणमन है' – यह बताया था तथा यहाँ यह बताया है कि उसका त्रिकाल जीनेरूप/टिकनेरूप जीवन चैतन्यमय है। जीवत्वशक्ति में चितिशक्ति का रूप है न! इसलिए जीव के जीवत्व को अजड़त्व/चेतनपना है।

ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा में अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति है। इसमें थोड़े शब्दों में बहुत ही गंभीर बात कह दी है। कहते हैं कि इस

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चितिशक्ति में जड़पना नहीं है और ये शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियाँ तथा कर्म आदि तो सभी जड़ हैं। इसलिए ये शरीरादि पदार्थ आत्मवस्तु नहीं है। आत्मा से भिन्न वस्तु है/बाह्य वस्तु है – ऐसी सूक्ष्म बात है। यह सूक्ष्म बात लोगों को अभ्यास के बिना जंचती/जमती नहीं है; समझ में नहीं आती; परन्तु ऐसा कहते रहने से क्या होगा ? प्रयास तो करना ही होगा न !

आहाहा.......! आत्मा में जिसप्रकार एक जीवत्वशक्ति है; उसीप्रकार चितिशक्ति है। अरे! संख्या-अपेक्षा ऐसी-ऐसी अनन्तशक्तियाँ एक आत्मद्रव्य में हैं। यह लोक असंख्य योजन विस्तारवाला है और लोक के बाहर सम्पूर्ण अलोक अनन्त योजन विस्तारवाला है।

कोई कहे कि उसके बाद क्या है ? तो कहते हैं कि भाई! उसका अन्त नहीं आता – ऐसा का ऐसा अनन्त-अनन्त योजन में आकाश ही आकाश है, कहीं भी इसके क्षेत्र का अन्त नहीं है। अहा ! आकाश के क्षेत्र के विस्तार का जिसप्रकार कहीं अन्त नहीं है; उसीप्रकार आकाश के अनन्त क्षेत्र को जाननेवाले भगवान आत्मा के ज्ञान का भी अन्त नहीं है। ज्ञान अपरिमित/ अनन्त है तथा इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में आकाश के अनन्तप्रदेशों से अनन्तगुणी शक्तियाँ हैं।

उन अनन्तशक्तियों में से एक अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति है। चिति नाम चेतना; इस चेतना में दर्शन-ज्ञान दोनों को समझना चाहिए।

अहाहा......! यहाँ कहते हैं कि भगवान! तेरे ज्ञानमात्र स्वरूप में एक चितिशक्ति है। वह अजड़त्वस्वरूप अर्थात् पूर्ण चैतन्यस्वरूप है। अहा ! यह शक्ति त्रिकाली द्रव्य-गुण में तो व्यापक है ही तथा त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि होते ही पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है। इसप्रकार चितिशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त रहती है। द्रव्य शुद्ध चैतन्यमय है, गुण शुद्ध-चैतन्यमय हैं और क्रम से प्रगट होनेवाली पर्यायें भी शुद्ध चैतन्यमय हैं। तात्पर्य यह है कि चितिशक्ति निर्मल चैतन्यमय परिणमती है।

प्रश्न – उसमें जड़पना नहीं है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – इसका अर्थ है कि उसमें देह, कर्म आदि जड़भावों का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभाव है और इन जड़भावों के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप आदि भावों का भी उसमें अभाव है। जिसप्रकार पत्थर के जोड़ में लोहे की छैनी डालने से पत्थर के दो टुकड़े हो जाते हैं, उसीप्रकार अन्तरंग में प्रज्ञाछैनी के पटकने से ज्ञान से राग अलग हो जाता है। इसी का नाम धर्म है।

ये पुण्य-पाप आदि जो रागादिभाव हैं – इनमें चैतन्य का अभाव है। दया-दान, व्रत, आदि के जो भाव हैं, वे सभी चैतन्य से रहित जड़ हैं। अभी लोगों को यह बात कठोर लगती है; क्योंकि उन्हें तो अभीतक यही उपदेश सुनने को मिला है कि – दया करो, दान करो, व्रत करो, भक्ति करो, पाँच-पच्चीस हजार रुपये इन कार्यों में खर्च करो तो धर्म हो जायेगा; परन्तु भाई ! करोड़ों रुपया भी दान में खर्च कर देवे और राग मंद न हो तो धर्म तो दूर, पुण्यबंध भी नहीं होता और यदि राग मंद हुआ तो मात्र पुण्यबंध होगा, धर्म नहीं। बापू ! यह तो मार्ग ही जुदा है। पुण्यभाव में भी चैतन्य शक्ति का अभाव है। अर्थात् जहाँ तुम हो वहाँ पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं। आहाहा......! तुम तो अपरिमित चैतन्य के भण्डार हो।

अरे, फिर हमें तीर्थसुरक्षा आदि में दान देने से क्या फायदा ? फिर हम दान क्यों दे ?

अरे बापू ! दान देनेवाला तू होता कौन है ? रुपया तो अपने आने के समय में आता है और जाने के समय चला जाता है। अरे ! इसका कर्ता-हर्ता तू नहीं है। धर्मात्मा को तो अस्थिरतावश दान देने का विकल्प आता है, धर्मी को ऐसा विकल्प आये बिना रहता नहीं है; परन्तु यह विकल्प मेरा कर्तव्य है, वह ऐसे दान देने के विकल्प का स्वामी नहीं है। भाई ! जिसे विषय-कषाय के कार्यों में तो उत्साह आता है और दानादि में उत्साह नहीं आता – वह तो महापापी है। आचार्य यह कहते हैं कि – यदि तुझे मात्र दानादि में उत्साह है और आत्मा के अनुभव में उत्साह नहीं है, तब भी तू मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

अहो ! सैंतालीस शक्तियाँ बताकर आचार्यदेव ने गजब का काम किया है। सत् को उजागर कर दिया है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि – यद्यपि सत् सरल है, सत् सर्वत्र है; परन्तु सत् मिलना दुर्लभ है।

इस अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति में अकार्यकारणत्व शक्ति का रूप है। इस ज्ञानमात्रभाव में चितिशक्ति उछलती है, तब उसके परिणमनरूप निर्मल ज्ञान-दर्शन की एकरूप पर्याय प्रगट होती है। चितिशक्ति का परिणाम राग का कारण भी नहीं है और राग का कार्य भी नहीं है।

अहा ! त्रिकाली एक ज्ञानमात्रभाव में चितिशक्ति भरी हुई है – इसप्रकार शक्ति और शक्तिवान की भी भेददृष्टि छोड़कर अखण्ड एक ज्ञानमात्रस्वरूप की दृष्टि करते ही चितिशक्ति पर्याय में प्रगट हो जाती है। भेद, व्यवहार या राग से चितिशक्ति में निर्मलता प्रगट नहीं होती; क्योंकि राग तो अंधा है, इससे चेतनता कहाँ से प्रगट होगी ?

ज्ञान-दर्शन की निर्मलदशा की उत्पत्ति में द्रव्य-गुण को कारण कहना व्यवहार है। वास्तव में जो परिणमन हुआ है, उसका कारण-कार्य उस परिणमन में ही है। द्रव्य-गुण भी उसके कारण नहीं हैं।

कलश टीका में कहा है कि जो पर्यायरूप परिणाम-कार्य होता है, उसमें द्रव्य-गुण उपचारमात्र कारण है; जो निर्मलपर्याय का अनुभव प्रगट हुआ, वह कार्य है और द्रव्य-गुण उसका कारण है – यह उपचार कथन है। परवस्तु तथा परभाव में तो व्यवहार में भी कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है।

चितिशक्ति का कार्य शुद्धज्ञानचेतनारूप परिणमना है, विकाररूप/ कर्मचेतनारूप परिणमना नहीं। 'ये गुण हैं तथा यह गुणी है' – इसप्रकार की भेदबुद्धि को छोड़कर अभेद एक चिन्मात्र आत्मा की दृष्टि करने से जो ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम प्रगट होता है, वही चितिशक्ति का कार्य है। इस परिणाम का कारण कोई परद्रव्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'भगवान की वाणी सुनी' इसलिए सम्यग्ज्ञान पर्याय प्रगट हुई – ऐसा नहीं है।

प्रश्न – पहले तो ज्ञान नहीं था, फिर भगवान की वाणी सुनी तो ज्ञान हुआ। तब फिर सुनने से ही ज्ञान प्रगट हुआ कहलाया न ?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है। ज्ञान की पर्याय स्वयं से प्रगट होती है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वाणी से नहीं। वाणी का सुनना निमित्त अवश्य है; परन्तु निमित्त के कारण ज्ञान प्रगट नहीं हुआ। ज्ञान निमित्त का कार्य नहीं है। जो ज्ञान निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, वह परलक्षी होता है, वह यथार्थज्ञान/सम्यग्ज्ञान नहीं है। द्रव्यस्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक जो ज्ञान होता है, वही वास्तविक/सत्यार्थ ज्ञान है। अरे भाई! जो चेतना अपने में नही चेते, अपने को नहीं जाने, उसे चेतना कौन कहे ? यह तो जड़पना हुआ। जो अपने में चेते, अपने को जाने वही पर को यथार्थ जान सकता है। यही चितिशक्ति का कार्य है।

सबसे पहले जब मैंने स्थानकवासी सम्प्रदाय में अपने गुरु की उपस्थिति में एक विशाल सभा में यह बात कही थी कि 'जीव की पर्याय में विकार कर्म के कारण होता है' – यह बात बिल्कुल गलत है तथा इसीप्रकार 'कर्म के नाश होने पर विकार का नाश होता है' यह बात भी बिल्कुल गलत है तो यह सुनकर उस समय स्थानकवासी सम्प्रदाय में खलबली मच गई। जामनगर का एक सेठ बोला कि भाई! यह क्या कहा? यह तो डोरा के बिना ही पतंग उड़ाने जैसी बात है। तब मैंने कहा – इसमें कोई क्या करे, भाई! वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है।

जो जड़कार्य की पर्याय होती है, वह जड़ परमाणु के षट्कारक से होती है और आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने षट्कारक से होता है। वह विकार स्वयं के द्रव्य-गुण से भी नहीं होता और पर से भी नहीं होता। विकार के होने में कर्म निमित्त अवश्य होता है; परन्तु कर्म के कारण विकार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि विकार का वास्तविक कर्ता कर्म नहीं है।

जीवत्वशक्ति के बाद आचार्यदेव ने इस चितिशक्ति का वर्णन किया है। आत्मा में जो शाश्वत दर्शन-ज्ञानमय चेतनाशक्ति है, वह भी अजड़त्व-स्वरूप है। इसलिए परद्रव्य और परभाव के साथ उसका कोई भी कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। अहो ! यह आलौकिक बात है। ज्ञान की निर्मलदशा का कोई अन्य परद्रव्य या परभाव कारण नहीं है और कार्य भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है। अहा ! इससे पहले जीव ने कभी भी यह अपूर्व मार्ग प्रगट नहीं किया; अतः अनादि से लेकर आजतक जीव का अनन्तकाल चर्तुगति परिभ्रमण में ही गया।

आत्मा अनन्तधर्मात्मक एक शाश्वत ध्रुवधर्मी है। यहाँ धर्म का क्या अर्थ है ? धर्म अर्थात् शक्ति/स्वभाव। अहाहा! धर्मी एक शाश्वत आत्मद्रव्य है और उसके चिति-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि धर्म भी त्रिकाल शाश्वत हैं तथा जो उनकी पर्याय होती है, वह एक समय की है। पर्याय शाश्वत नहीं है, क्षणिक है; परन्तु मैं शाश्वत चैतन्यचमत्कार वस्तु आत्मा हूँ – ऐसा ज्ञान-श्रद्धान करनेवाली पर्याय त्रिकाली ध्रुव के आश्रय से प्रगट होती है। इसप्रकार अनित्य से नित्य जानने में आता है। नित्य स्वयं नहीं जानता; क्योंकि नित्य कूटस्थ है। 'नित्य ध्रुवद्रव्य और अनित्य क्षणिकपर्याय – इसप्रकार अनेकान्तमय एक सम्पूर्ण वस्तु आत्मा है और इसे ही ज्ञानमात्र आत्मा कहा जाता है।

प्रश्न – ज्ञानमात्र कहने में तो एकान्त हो जायेगा; क्योंकि 'जीव का स्वरूप ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहने से उसमें अनन्तगुण नहीं आते। अतः अनन्तगुणात्मक आत्मा को अकेला ज्ञानमात्र क्यों कहते हो ?

उत्तर – ज्ञानमात्र कहकर उसमें शरीर, कर्म, वाणी और पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं – इसप्रकार जड़पने का निषेध किया है। ज्ञानमात्र आत्मा में आत्मा के अनन्तगुण तो शामिल ही हैं। ऐसी ज्ञानमात्र वस्तु के अन्तःसन्मुख होकर स्वीकार करते ही जब जीव में ज्ञानचेतना प्रगट होती है, तभी श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य इत्यादि सर्व अनन्तगुणों की निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं। अहाहा ! जिसप्रकार समुद्र में ज्वार आता है, उसीप्रकार चैतन्यरत्नाकार प्रभु आत्मा में ज्ञानमात्र भाव का परिणमन होने पर सर्वशक्तियों से निर्मल परिणमनरूप तरंगें उछलती हैं, आनन्द का ज्वार आता है। आत्मा का ऐसा अनेकान्तस्वरूप है।

प्रश्न – शक्तियाँ उछलती हैं – इसमें धर्म क्या हुआ? कोई तप आदि करें तो धर्म हो न !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – अरे भाई ! तू आत्मवस्तु है या नहीं ? है तो इस आत्मवस्तु का स्वभाव क्या है ? चैतन्य......चैतन्य.........चैतन्य इसका स्वभाव है न! आचार्य भगवान कहते हैं कि तेरी चैतन्यस्वभावमय वस्तु में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द, प्रभुता आदि अनन्तशक्तियों की/गुणों की ऋद्धि भरी है। चैतन्यस्वभावमय अनन्तगुणनिधि प्रभु आत्मद्रव्य के आश्रय में ही अनन्तगुण निर्मल-निर्मल उछलते हैं। निर्मल ज्ञान-श्रद्धान-चारित्र प्रगट होते हैं। भाई! यह निर्मल ज्ञान-श्रद्धान-आचरण का प्रगट होना धर्म नहीं तो और क्या है ? भाई! इसका नाम ही तो धर्म है।

आत्मा की ज्ञान-श्रद्धान-चारित्र पर्याय आदि शक्तियाँ जब त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से निर्मलपने परिणमती हैं, तभी यथार्थ धर्म होता है। इसके सिवाय व्रत-तप आदि कुछ भी करने से यह धर्म प्रगट नहीं होता। धर्म के दश भेद और तप के बारह भेद हैं – ये सब तो व्यवहार से धर्म कहे गये हैं। यथार्थतः तो एक वीतरागभाव होना ही धर्म है और चैतन्य का स्वरूप- विश्रान्त होकर अन्तरंग में प्रतपना ही तप है। सम्यग्ज्ञानदीपिका में क्षुल्लक श्री धर्मदासजी ने लिखा है कि –

"जब आत्मा एक है तब फिर परीषह बाईस कहाँ से आये? जब आत्मा एक है, तब धर्म दश प्रकार का कहाँ से आया ?

उत्तर – यह तो भेद-अपेक्षा किया गया कथन है, वास्तव में धर्म दश नहीं हैं, धर्म तो एक वीतरागभाव ही है। वीतराग परमेश्वर का ही ऐसा अपूर्व मार्ग है।"

अहा! ज्ञानमात्र आत्मा में 'ज्ञान है' – ऐसा कहने से ज्ञान में अस्तित्व-गुण का रूप आया। इसप्रकार अस्तित्व भिन्न सिद्ध हुआ, ज्ञान 'आनन्द-स्वरूप है' ऐसा कहने से ज्ञान में आनन्दगुण का रूप आया तो आनन्दगुण भिन्न सिद्ध हुआ। ज्ञान में 'अनन्तगुणों का रूप है' ऐसा कहने से आत्मा में अनन्तगुण सिद्ध होते हैं। इस तरह भगवान आत्मा में अनन्तगुण हैं। भगवान आत्मा विकार का गोदाम नहीं गुणों का गोदाम है; जिसमें अनन्तगुण निर्मलरूप से उछलते हैं। पुण्य-पाप के भाव तो औपाधिकभाव हैं, वे तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायदृष्टि से कृत्रिम नये उत्पन्न हुए हैं। पर्यायदृष्टिवंत का लक्ष जब पर्याय पर जाता है, तो विकृतदशा उत्पन्न होती है। वस्तु में ऐसी एक भी शक्ति नहीं है कि जिसमें से विकार उत्पन्न हो। परवस्तु, निमित्त, राग, विकार – इनका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव चैतन्य पिण्ड ज्ञानघन आत्मा का लक्ष्य करते ही पर्याय में निर्मलता उत्पन्न होती है – इसका नाम धर्म है।

यह तो सत्यनारायण की कथा है। सत् आत्मा के नारायण अर्थात् परमात्मा बनने की कथा है। अहाहा! नर से नारायण बनने की/परमात्मा बनने की भागवत कथा है। यह वीतराग का मार्ग है बापू! यह कोई साधारण चीज नहीं है; अन्दर अनुभव में महान पुरुषार्थ से प्राप्त हो – ऐसी चीज है; परन्तु इस जीव ने एक समय की पर्याय के पर्दे के पीछे विराजमान अपने त्रिकाली स्वरूप पूर्ण परमात्मतत्त्व को भूलकर अनादि से पर्याय का ही लक्ष्य किया है; अपने स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया। अतः स्वभावदृष्टि के अभाव में इसके भव का अन्त नहीं आया। पंचमहाव्रतादि क्रियाकाण्ड में यदि मंदराग हो तो स्वर्ग मिल जाता है; परन्तु भव का अन्त नहीं आता। अरे भाई! ये सब तो तूने अनन्तभव में अनन्तबार किया। अन्दर भगवान आत्मा अनन्तशक्ति का सागर चैतन्य निधान प्रभु है। जब उसकी अन्तर्दृष्टि द्वारा आनन्द का अनुभव करे तो निराकुल शान्ति का स्वाद आवे। आहाहा! अन्तःपुरुषार्थ जाग्रत करके स्वरूप स्फुरायमान वीर्य द्वारा अनन्तगुणों की निर्मलपर्याय प्रगट होती है।

आत्मा में एक वीर्यगुण है, जो चेतनागुण के परिणमन के साथ अनन्त गुणों की निर्मलपर्याय की रचना करता है।

लोग कहते हैं 'जीओ और जीने दो' – यह भगवान महावीर का सन्देश है; परन्तु भगवान महावीर का सन्देश तो ऐसा नहीं है; क्योंकि दूसरे जीवों का जीवन इसके हाथ में कहाँ है – यह दूसरे को जिलाये और दूसरा इसके जिलाने से जीवे – ये भगवान महावीर की वाणी ही नहीं है। कोई किसी को जिलाये या मारे यह वस्तुस्थिति ही नहीं है। जीव में त्रिकाल जीवत्वशक्ति है तथा त्रिकाल चैतन्यभावप्राण द्वारा अनादि-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्त जीव का जीवन है। ऐसी निज जीवनशक्ति की पहिचानपूर्वक अन्तर्मुख होकर निराकुल जीवन जीना ही यथार्थजीवन है। ऐसा जीवन स्वयं एवं अन्य जीव जियें – यह महावीर का सन्देश है, उपदेश है।

ये जीवत्वादि शक्तियाँ तो त्रिकाल जीते-जागते जीव की घोषणा करती हैं। भाई ! ये शक्तियाँ तो अन्दर भगवान के दरबार का अनुपम-अनमोल खजाना है। तू अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा उस खजाने को खोल दे। आहाहा.....! चैतन्यनिधान ध्रुवधाम प्रभु आत्मा है। ऐसे अपने ध्रुवधाम को ध्येय बनाकर, धीरज से ध्यान की धूनी रमानेवाले धर्मी जीव ही वास्तविक जीवन जीते हैं, वे धन्य हैं। सभी ऐसा जीवन जीवें – ऐसा भगवान महावीर का सन्देश है।

❖ ❖ ❖

सुखी होने का उपाय है

अरे भाई ! तू आत्मा स्वतंत्र वस्तु है, तेरे भाव से तुझे हानि-लाभ है, कोई परवस्तु तुझे हानि-लाभ नहीं करती। जीव यदि इसप्रकार की यथार्थ प्रतीति करे तो वह स्वलक्ष्य से मुक्ति को प्राप्त करे; परन्तु यदि जीव अपने भाव को न पहचाने और यही मानता रहे कि पर निमित्त से निज को हानि-लाभ होता है तो उसका पर लक्ष्य कदापि नहीं छूट सकता और स्व की पहचान भी कभी नहीं हो सकती, इसलिए वह संसार में चक्कर लगाया करता है। अतः उपादान और निमित्त इन दोनों के स्वरूप को पहचानकर यह निश्चय करना चाहिए कि उपादान और निमित्त दोनों प्रथक्-प्रथक् पदार्थ हैं, कभी कोई एक-दूसरे का कार्य नहीं करते; इसप्रकार निश्चय करके निमित्त के लक्ष्य को छोड़कर अपने उपादान स्वरूप को लक्ष्य में लेकर स्थिर होना ही सुखी होने-मोक्ष का उपाय है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – ६०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३. दृशिशक्ति

अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः।

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है।

आत्मा में तो सभी शक्तियाँ अक्रमपने – एक साथ वर्तती हैं, किन्तु वर्णन करने में क्रम पड़ता ही है। समयसार में वर्णित ४७ शक्तियों में क्रमानुसार अब यहाँ तीसरी दृशिशक्ति का वर्णन करते हैं।

यह शक्ति देखनेरूप कार्य करनेवाली है। यह दृशिशक्ति स्व-पर, चेतन-अचेतन, गुण-पर्याय आदि सभी का भेद किये बिना वस्तु की सामान्य सत्तामात्र को देखती है। ऐसा भेद नहीं करती कि यह स्वद्रव्य है, यह परद्रव्य है, यह चेतन है, यह अचेतन है आदि। तात्पर्य यह है कि दृशिशक्ति सामान्य सत्तामात्र वस्तु को देखती है।

प्रश्न – तब क्या दर्शनोपयोगरूप दृशिशक्ति चेतन-अचेतन सभी को एकमेक करके देखती है?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है। वह तो सत्तामात्र ही देखती है। 'यह है' बस! इतना मात्र देखती है। यह स्व है, यह पर है – ऐसा भेद करना उसका काम नहीं है। यह काम तो ज्ञानोपयोग करता है।

देखो, मूल में लिखा है कि 'अनाकार-उपयोगमयी दृशिशक्ति।' अनाकार अर्थात् आकार नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि दृशिशक्ति का कोई आकार ही नहीं है तो क्या वास्तव में उसका कोई क्षेत्र नहीं है?

नहीं, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा का जो असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है, वही क्षेत्र दृशिशक्ति का है। अरे! अनंतगुणों का क्षेत्र तो एक ही है। यदि क्षेत्र न हो तो शक्ति ही न रहे और जब शक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा, तब फिर वस्तु ही नहीं होगी। यहाँ दर्शन को अनाकार कहने का तात्पर्य तो मात्र इतना है कि उसका विषय सामान्य सत्तामात्र ही है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहो! इसकी सामर्थ्य तो देखो ! पूरे लोकालोक को एकसाथ युगपत् देखे – ऐसी अपरमित सामर्थ्यसम्पन्न दृशिशक्ति का क्षेत्र भी असंख्यात प्रदेशी है।

भाई ! तू स्वयं अनंतशक्ति सम्पन्न प्रभु है, परन्तु तूने अपने चैतन्य-निधान की ओर कभी नजर नहीं की। मात्र दया, दान, व्रत, तप रूप शुभ-अनुष्ठान करके अपने को धर्मात्मा मान लिया; परन्तु धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं है। जरा विचार तो कर !

अपने अन्दर में विराजमान चैतन्य महाप्रभु का तूने कभी आदर नहीं किया। अरे ! देखनेवाले को देखने की दरकार नहीं की, देखनेवाला स्वयं द्रष्टा है, उसकी दृष्टि/प्रतीति किये बिना धर्म नहीं होता।

त्रिकालीध्रुव चिन्मात्र निजात्मद्रव्य को कारणपरमात्मा कहते हैं और केवलदर्शन केवलज्ञानपर्याय युक्त द्रव्य को कार्यपरमात्मा कहते हैं।

जो जीव कारणपरमात्मस्वरूप ध्रुवद्रव्य की दृष्टि करता है, उसमें रमणता और लीनता करता है, उसे पर्याय में कार्यपरमात्मा प्रगट होता है; परन्तु जिसे ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मैं ही हूँ' उसके लिए कारणपरमात्मा होने का लाभ नहीं मिलता।

देखने की शक्ति को धरनेवाला अनंतशक्तिसम्पन्न प्रभु कारणपने शाश्वत विद्यमान रहता है, परन्तु उसकी दृष्टि हुए बिना पर्याय में कार्य प्रगट नहीं होता। जैसे – हीरे की पहिचान बिना हीरे होते हुए भी दरिद्रता बनी ही रहती है न !

आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। शक्ति और शक्तिमान का भी जिसमें भेद नहीं है – ऐसे अभेद एकरूप सामान्य को अपनी दृष्टि का विषय बनाकर उसकी प्रतीति और अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

'त्रिकालीध्रुव निज-चैतन्य वस्तु ही मैं हूँ' – श्रद्धा में ऐसी स्वीकृति होना ही कारणपरमात्मा का यथार्थ निर्णय करना है। त्रिकाली वस्तु पर्याय में नहीं समाती; बल्कि जब त्रिकाली द्रव्य का ज्ञान और श्रद्धान पर्याय में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

प्रगट होता है, तब 'मैं कारणपरमात्मा हूँ' – ऐसा श्रद्धान होता है।

अरे भाई ! द्रष्टास्वभावी आत्मा को देखे बिना उसकी प्रतीति कैसे आवे ? तथा प्रतीति बिना 'मैं कारणपरमात्मा हूँ' – इस कथन का महत्त्व क्या ?

"यह आत्मा, यह ज्ञान, यह दर्शन, यह पर्याय, यह हेय, यह उपादेय" – ऐसा किसी भी प्रकार का भेद किए बिना जो सामान्य प्रतिभास होता है वह सब दृशिशक्ति का कार्य है। तात्पर्य यह है कि दृशिशक्ति द्वारा यह आत्मा सामान्य प्रतिभासमात्र अवलोकन करता है।

अहाहा.......! भेद जिसका विषय नहीं है – ऐसी अनाकार-उपयोगमयी दृशिशक्ति है। अनाकार अर्थात् विशेष बिना सामान्य। अरे! जिसमें ज्ञेयरूप आकार नहीं है, विशेष नहीं है; मात्र सामान्य पदार्थ का प्रतिभास है – ऐसी सामान्य अवलोकनमात्र दृशिशक्ति है। भेदपूर्वक विशेषपने जानना तो ज्ञान का कार्य है। 'यह आत्मा है' ऐसा निर्णय होना तो ज्ञान है, इस ज्ञान के होने के पहले छद्मस्थ को दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग क्रमशः वर्तता है और केवली भगवान के दोनों एक साथ वर्तते हैं।

दृशिशक्ति एक गुण है और उसे धारण करनेवाला आत्मा गुणी है। ऐसे गुणी आत्मद्रव्य का अंतर में स्वीकार होने पर ही दृशिशक्ति पर्याय में प्रगट होती है/उछलती है। उसका पर्याय में परिणमन होता है, देखने रूप पर्याय प्रगट होती है। जो देखने रूप स्वभाव ध्रुवपने अंतर में विद्यमान है, उसी का पर्याय में परिणमन होकर देखने रूप कार्य प्रगट होता है। अभी तो इस वस्तुस्वरूप की बहुत से दिगम्बर धर्म में जन्मे जीवों को भी खबर नहीं है। अरे! दिगम्बर कुल में जन्म लेने से कोई धर्म नहीं हो जाता। दिगम्बर धर्म तो वस्तुस्वरूप है। अहाहा.....! आत्मा अन्दर में अनंत शक्तियों का पिण्ड है, जब ऐसी आत्मा के भान सहित – अन्तरंग पर्याय में मुनिपना प्रगट होता है, तब बाहर में पंचमहाव्रत और नग्नपना निमित्तरूप में होता ही है, उसका नाम दिगम्बर धर्म है। यह कोई पक्ष की बात नहीं है; बल्कि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसमें ज्ञेयरूप आकार नहीं है, विशेषपना नहीं है, मात्र सामान्य सत्तामात्र देखने में आती है, उसका नाम दृशिशक्ति है। भेद करके देखना दृशिशक्ति का कार्य नहीं है, परन्तु अपने आत्मा सहित समस्त पदार्थों का सत्तामात्र अवलोकन करना ही दृशिशक्ति का वास्तविक कार्य है। अपने द्रव्य और गुण में व्यापक यह दृशिशक्ति का यथार्थ परिणमन तभी होता है, जब यह जीव अपने उपयोग को अन्दर में अभेद करके स्वयं को ग्रहण करता है/जानता है।

मात्र पर को जानने के पहले जो पर का सत्तावलोकन होता है, उस दृशिशक्ति के निर्मल परिणमन के साथ अन्य अनंतगुणों की निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं। यहाँ मात्र विकार की बात नहीं की है; क्योंकि यथार्थतः विकार जीव के त्रिकालीस्वरूप में है ही नहीं। इसीप्रकार अनंतगुणों की जो निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं, उनमें भी विकार का अभाव है। इसप्रकार गुणों में स्वभावपने निर्मलपर्याय का सद्भाव व विकारीपर्याय का अभाव – ऐसा अनेकान्त समझना चाहिए।

त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से ज्ञानमात्र भाव का परिणमन होते ही अन्दर में दृशिशक्ति उछलती है, प्रगट होती है – ये सब क्रमबद्ध प्रगट होती है। अर्थात् जिस पर्याय का जो जन्मक्षण होता है, वह पर्याय उसी-समय प्रगट होती है। जन्मक्षण की चर्चा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन की १०२वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने की है। आचार्य जयसेनस्वामी तो उस अधिकार को सम्यग्दर्शन अधिकार कहते हैं। वहाँ ज्ञेय के स्वभाव की अर्थात् छहों द्रव्यों के स्वभाव की बात की है। जन्मक्षण अर्थात् स्वकाल द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में होती है। इसलिए कहा है कि क्रमवर्ती पर्याय और अक्रमवर्ती गुणों का समुदाय आत्मा है।

प्रत्येक शक्ति अपने स्वभाव से ही परिणमन करती है, उसमें व्यवहार, पर और राग का सर्वथा अभाव होता है। यह वस्तुस्वरूप है। 'निश्चय से भी शक्ति प्रगट होती है और व्यवहार से भी शक्ति प्रगट होती है'– ऐसा नहीं है। परन्तु लोगों को सत्यार्थ की खबर नहीं है, अतः इस बात का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विरोध करते हैं।

चैतन्य वस्तु आत्मा द्रव्य है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, उन शक्तियों का परिणमन पर्याय है। तथा जो वेदन होता है, वह भी पर्याय में होता है। शक्ति तो नित्य ध्रुवस्वरूप है, वह कार्य में नहीं है, कार्य तो पर्याय में होता है। वेदन/अनुभव तो पर्याय में ही होता है, द्रव्य में नहीं। कितने ही लोग ऐसा कहते तो हैं कि अनुभव करो, अनुभव करो; परन्तु उन्हें अनुभव के वास्तविक स्वरूप की तो खबर भी नहीं है।

निराकुल आनन्द के वेदन का नाम अनुभव है और वह पर्याय में होता है। देखो! पर्याय में दुःख है, द्रव्य और गुण में नहीं। स्वानुभव करते ही दुःखपर्याय का अभाव होकर आनन्दमय नई पर्याय प्रगट होती है। भाई! अपने उपयोग को अन्तर्मुख किये बिना स्वानुभवदशा प्रगट नहीं होती। अतः वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी में आयी वस्तुव्यवस्था को यथार्थ जानना चाहिए।

आत्मा की शक्तियाँ पारिणामिकभावस्वरूप हैं। दृशिशक्ति भाव है और आत्मद्रव्य भाववान है तथा ये दोनों पारिणामिकभाव हैं। पर्यायरूप से प्रगट होनेवाला भाव पारिणामिकभाव से भिन्न है। ये शक्ति और शक्तिवान तो सहज अकृत्रिम स्वभावरूप हैं; अतः पारिणामिकभावरूप हैं। ये नवीन उत्पन्न नहीं होते और इनका अभाव भी नहीं होता। ज्ञान-दर्शन आदि गुण भी पारिणामिकभावरूप हैं, वे भी कभी उत्पन्न या नष्ट नहीं होते, त्रिकाल शाश्वत रहते हैं और पर्यायें नई-नई उत्पन्न होती हैं; अतः वे पारिणामिकभाव-रूप नहीं हैं।

अहो ! यह जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म और अलौकिक है, जिसे इसके मर्म का पता चल जाता है, उसके भव का अन्त आ जाता है। तथा इसका मर्म दृष्टि में आये बिना सर्वक्रियाकाण्ड व्यर्थ है, वह संसारबन्ध का ही कारण बनता है।

समयसार गाथा ३२० में मोक्ष के कारणरूपभाव का खुलासा किया है। वहाँ औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायरूप बताया है और द्रव्य-गुण को पारिणामिकभाव कहा है।

इनमें से मोक्ष के कारण कौन हैं ? इसका खुलासा इसप्रकार है –

पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि वह अक्रिय है और उसमें कार्य नहीं होता।

औदयिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि रागादिभाव/ औदयिक -भाव बन्धरूप हैं तथा बन्ध के कारण हैं।

शेष उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक – ये तीनों भाव मोक्ष के कारण हैं; क्योंकि ये शक्ति के निर्मल कार्यरूप हैं।

यहाँ दृशिशक्ति की बात चलती है, अहा ! उसका आंशिक निर्मल परिणमन तो क्षयोपशमभाव है, पूर्ण निर्मल परिणमन केवलदर्शन क्षायिक भाव है तथा दर्शन में उपशमभाव होता नहीं है और शक्ति के परिणमन में औदयिकभाव का तो अभाव ही है।

श्रद्धा-अपेक्षा क्षायिकभाव चौथे गुणस्थान में होता है। श्रेणिक राजा पहले बौद्ध धर्मवलम्बी थे; परन्तु बाद में उन्होंने मुनिराज का समागम पाकर जैनधर्म अंगीकार करके सम्यक्त्व प्राप्त किया और भगवान महावीर के समाशरण में गये और वहाँ भी उन्होंने अपने अन्तःपुरुषार्थ से कभी क्षय को प्राप्त न होनेवाला क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि वहाँ जो क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया,वह भगवान के कारण नहीं; भगवान तो उसमें निमित्तमात्र थे। क्षायिकसम्यक्त्व पर्याय पलटती तो है, पर उलटती नहीं है अर्थात् क्षायिकसम्यक्त्व का अभाव होकर मिथ्यात्व हो जाय – ऐसा कभी नहीं होता। राजा श्रेणिक को सम्यग्दर्शन होने के पहले नरकगति की आयु बंध गई थी, अतः अभी वे प्रथम नरक में हैं; परन्तु नरक में भी उन्हें शान्ति है, शील है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्ररूप शील तो राजा श्रेणिक के नरक में भी है। तथा उस शील के प्रताप से वे वहाँ से निकलकर भरतक्षेत्र की आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। पांचवें, छटवें गुणस्थान में शील की विशेषता होती है और चौथे गुणस्थान में शील तो होता है, पर उसमें अधिक शुद्धिरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

विशेषता नहीं होती। अनन्तानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक शील तो चौथे गुणस्थानवर्ती नारकी के भी होता है। यहाँ 'शील' शब्द का अर्थ बाह्य ब्रह्मचर्य नहीं है। यहाँ तो शील का अर्थ स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-लीनता से है। अरे! बाह्यशील का पालन तो मुनिव्रत धारणकर अनन्तबार किया और उसके फल में नवमें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु आत्मा के भान बिना अन्तर में शील प्रगट नहीं हुआ।

यह जीव चतुर्गति भ्रमण का अभ्यास तो अनादि से कर ही रहा है; अच्छी नौकरी मिले, बाग-बगीचा, मोटर-गाड़ी, धन-दौलत, रुपया-पैसा मिल जाये – इसका उपाय/अभ्यास तो सब करते हैं; परन्तु यह सब खोटा धन्धा है, संसार को बढ़ानेवाला है। उसके फल में तो दु:ख के निमित्त ही मिलेंगे और इस अध्यात्मविद्या का अभ्यास करेगा तो इसके फल में स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द मिलेगा। अत: इसका खूब गहराई से अभ्यास कर और संयोगी दृष्टि छोड़; संयोग तो जो आने होंगे, वे ही आयेंगे। 'दाने- दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम' इस कहावत का भी यही तात्पर्य है कि जो संयोग आने योग्य होंगे, वही आयेंगे और जो आने योग्य नहीं हैं, वे लाख उपाय करने पर भी नहीं आयेंगे। संयोगों को मिलाने का उद्यम करने से संयोग मिलते हैं – ऐसा नहीं है, परन्तु तत्त्वाभ्यास के बिना यह बात समझ में कैसे आवे ? अत: सदा तत्त्वाभ्यास करना चाहिये।

भाई ! यह शक्ति का अधिकार अतिसूक्ष्म है; अत: शान्तिपूर्वक ध्यान से सुनो। यह आत्महित की बात है। दर्शनशक्ति अनाकार उपयोगमयी है। दर्शन अर्थात् श्रद्धा नहीं। यहाँ आत्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शन जिसका कार्य है, उस दर्शन/श्रद्धा की बात नहीं है। यह तो निर्मल सत्तावलोकन -रूप दर्शनोपयोगवाली दर्शनशक्ति की बात है।

'जब दृशिशक्ति द्वारा अन्दर में द्रव्यस्वभाव को देखा जाता है, तब तो वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है और पर को देखते समय दर्शनोपयोग साकार हो जाता है।' – ऐसा नहीं है। दर्शनोपयोग

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्व-पर का भेद किये बिना सामान्यरूप से सभी को देखता है। दर्शनोपयोग सूक्ष्म एवं अनाकार है न! इसलिए वह छद्मस्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष पकड़ में नहीं आ सकता; परन्तु आगम, अनुमान और अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा प्रतीति में आता है। बापू! यह तो अन्दर में अपनी चीज तक पहुँचने की बात है। बाकी तो ग्यारह अंग का ज्ञान हो जाय, तब भी आत्मा पकड़ में नहीं आवे – ऐसा है।

अनाकार उपयोग शक्तिपने तो त्रिकाल है; परन्तु अज्ञानी का अनादिकाल से वर्तमान वर्तता उपयोग केवल परसन्मुख वर्तता होने से अज्ञानी के शक्ति का वास्तविक परिणमन नहीं हो रहा है। अतः उसे शक्ति का यथार्थ फल नहीं मिलता; परन्तु जब वही जीव स्वसन्मुख होकर स्वाश्रित परिणमता है, तब उसके निर्मल-उपयोग प्रगट होता है और तभी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है तथा उसके साथ अनन्त गुणों का भी निर्मल परिणमन प्रगट हो जाता है।

भाई! यह तेरे आत्मगुणों का खजाना खोला जा रहा है; इसलिए सावधान होकर देख! यह दृशिशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त रहती है। द्रव्यद्रष्टा, गुणद्रष्टा के साथ पर्याय भी एक द्रष्टाभावरूप प्रगट होती है। यह दृशिशक्ति क्रम-क्रम से निर्मल-निर्मल परिणमती हुई सम्पूर्ण लोका- लोक को देखनेवाले केवलदर्शनरूप परिणम जाती है; यह लोकालोक के समस्त पदार्थों को उत्पन्न नहीं करती, मात्र सामान्य सत्तारूप देखती है और यही यथार्थ देखना है; क्योंकि उसमें परावलम्बन नहीं है। बाकी तो इन्द्रियों या विकल्प के अवलम्बन से जो उपयोग प्रगट होता है, वह आत्मा का उपयोग ही नहीं है, शक्ति का कार्य ही नहीं है। जो शक्ति के साथ एकता करके परिणमन होता है, वही शक्ति का कार्य है।

प्रश्न – यह शक्ति त्रिकाल ध्रुव है – यह ध्रुव-उपादान है और द्रव्यदृष्टि होते ही जो वर्तमान पर्याय में व्याप्त हो जाती है, वह क्षणिक-उपादान है। इसमें कोई निमित्त है या नहीं ?

उत्तर – यद्यपि इन्द्रियादि बाह्यपदार्थ निमित्तादिरूप होते हैं; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्ति को उनका अवलम्बन नहीं है। निर्मल-दर्शनोपयोग प्रगट होता है। वह स्वावलम्बी है, इन्द्रियादि बाह्य साधनों से निरपेक्ष प्रगट होता है। अहाहा ! दर्शनशक्ति तो ध्रुव है, पर उसका अनाकार उपयोग के रूप में परिणमन होता है। शक्ति के परिणमन के छहों कारक स्वाधीन हैं।

अहो ! आत्मद्रव्य की ही ऐसी अद्भुत महिमा है। भाई ! यह सब अपने आपको समझने/जानने के लिए है। दूसरे को आश्चर्य उत्पन्न करने के लिए नहीं है। भाई ! अद्भुत अनन्त-आश्चर्यों के निधान चैतन्य चमत्कार निज आत्मद्रव्य तुम स्वयं हो। अतः अब उसकी महिमा प्रगट करके एकबार अन्तर्दृष्टिपूर्वक अन्तर में परिणम जाओ। इससे तुम्हें सुख का निधान परमधर्म प्रगट होगा और अनादिकालीन संसारपरिभ्रमण समाप्त हो जायेगा।

इसप्रकार यहाँ तीसरी दृशिशक्ति का व्याख्यान पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

निमित्त तो परवस्तु की उपस्थिति मात्र है

जब आत्मा अपनी उपादान शक्ति से ओंधा गिरता है, तब कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र इत्यादि निमित्तरूप होते हैं और जब अपनी उपादान शक्ति से सीधा होता है तब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु निमित्तरूप होते हैं निमित्त तो परवस्तु की उपस्थिति मात्र है वह कहीं कुछ करवाता नहीं है अपनी शक्ति से उपादान स्वयं कार्य करता है, उपादान और निमित्त दोनों अनादि हैं; किन्तु निमित्त-उपादान को कुछ लेता-देता नहीं है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – १०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४. ज्ञानशक्ति

साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

साकार-उपयोगमयी अर्थात् जो शक्ति ज्ञेयप्रदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है – ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

इसके पहले निरंजन, निराकार दृशिशक्ति में कहा था कि वह सभी ज्ञेयपदार्थों को सत्तामात्र देखनेरूप है। अब यहाँ कहते हैं कि जिससमय दृशिशक्ति है,उसीसमय आत्मा में साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति भी है। यहाँ साकार से तात्पर्य यह है कि ज्ञेयपदार्थों अर्थात् स्व और पर, जीव और अजीव-सर्व पदार्थों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न करके जानना। ज्ञान भेद-अभेद, द्रव्य-गुण-पर्याय सर्व को जानता है। अहा ! ज्ञान की कोई अलौकिक सामर्थ्य है, ज्ञान का ऐसा विशिष्ट स्वभाव है कि सर्व पदार्थों को एवं उनके सर्वभावों को विशेषरूप से जानता है।

अहो! एक समय की पर्याय में दृशिशक्ति का उपयोग कुछ भी भेद किये बिना सबको देखे और उसीसमय ज्ञानशक्ति का परिणमन एक-एक द्रव्य को, एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को भिन्न-भिन्न जाने; एक-एक पर्याय में अनन्त-अविभाग प्रतिच्छेदों को भी भिन्न-भिन्न जाने। ऐसी ज्ञान-दर्शनोपयोगशक्ति की कोई अद्भुत लीला है।

'इन्द्रियों से, निमित्तों से और विकल्पों से आत्मा जाना जाता है' – यह बात तो कहीं दूर ही रह गई। ज्ञानशक्ति की एक समय की पर्याय में स्व-पर सहित सर्व जीव-अजीव पदार्थ, अनंत सिद्ध तथा केवली ज्ञेयरूप से जाने जाते हैं – ज्ञानशक्ति की ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य है।

प्रदेश-अपेक्षा आत्मा का असंख्यातप्रदेशी अरूपी आकार (क्षेत्र) है, इसलिये 'ज्ञान साकार है' – ऐसी बात नहीं है। जैसा स्पर्शादि सहित मूर्तिक आकार जड़-पुद्गल को होता है, वैसा मूर्त-आकार भी नहीं है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि आत्मा तो त्रिकाल अरूपी-अमूर्त ही है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल के समान मूर्तपना नहीं होने से ज्ञान अरूपी, अनाकार/निराकार है तो फिर साकारपना किसतरह रहा ?

ज्ञान में स्व-पर सहित चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को विशेषरूप–आकारों सहित जानने की विशेष असाधारण सामर्थ्य है, इसलिए तो वह साकार है। यद्यपि पुद्गल के समान मूर्तिक नहीं होने से ज्ञान निरंजन/निराकार/अनाकार कहा जाता है। अरूपी आकार/क्षेत्र सहित होने से साकार भी है – परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि समस्त पदार्थों को, स्वपर को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित विशेषरूप से भिन्न-भिन्न जानने की असाधारण सामर्थ्यवाला होने से ज्ञान साकार है।

किंचित् भी भेद किये बिना देखना अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्ति है और भेद-अभेद सबको जान लेना साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

स्वाभिमुख ज्ञानोपयोग स्वयं के त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को, गुणों को, अनंत पर्यायों को और अन्तरंग में प्रगट होनेवाली आनंद की लहरों/पर्यायों को जानता है। भले ही श्रुतज्ञान हो, मगर श्रुतज्ञानपर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि वह अनंत द्रव्य-गुण-पर्यायों को – सभी को जानती है। जानना ही जिसका अक्षय-अपरिमित स्वभाव है, वह किसे न जाने ? ज्ञान स्वयं में रहकर सबको जान लेता है, जीव में यह शक्ति त्रिकाल विद्यमान है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा की महिमा लाकर अंतर में इसकी रुचि करनेवाले को केवलज्ञान की शंका नहीं रहती।

भाई ! तेरा आत्मा अक्षय-अपरिमित ज्ञानस्वभाव का समुद्र है। उसमें से सादि-अनंतकाल तक केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होती रहे, तो भी ज्ञानस्वभाव में कुछ कमी नहीं होती। तेरे केवलज्ञानस्वभाव की ऐसी महान सामर्थ्य है। अरे! भाई! अन्दर में देख तो सही, उसे देखते ही तुझे तत्काल उसकी रुचि/प्रतीति होगी।

अहाहा........! दर्शनशक्ति की पर्याय में द्रव्य-गुण-पर्याय सहित स्व और पर – सभी को देखने का कार्य होता है; परन्तु दर्शनशक्ति का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपयोग साकार नहीं है। त्रिकाली ज्ञान दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनंतगुण और अपनी अनंत पर्यायों के साथ-साथ अनन्त परद्रव्यों, उनके गुण-पर्यायों को एक समय में साकार अर्थात् विशेषपने जाननेरूप परिणमन करना ज्ञानशक्ति का कार्य है।

प्रश्न – परन्तु यह ज्ञान प्रगट कैसे हो ? बहुत शास्त्र पढ़ने पर होगा न?

उत्तर – अरे भाई! ज्ञान तो आत्मा की निजशक्ति है। जब यह जीव निजशक्ति को जानकर शक्तिवान त्रिकाली ध्रुव में दृष्टि स्थापित करता है, तब शक्ति स्वयं परिणम जाती है, पर्याय में व्याप जाती है। ज्ञानशक्ति का परिणमन कहीं बाहर से, देव-शास्त्र-गुरु आदि में से नहीं होता। अहा! ज्ञानस्वभावी आत्मा की दृष्टि बिना मात्र परलक्ष से शास्त्र पढ़ ले, उससे कहीं शक्ति का कार्य, सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता। शास्त्र तो निमित्तमात्र हैं, वह भी किसे ? जो अन्तर का अवलम्बन लेकर परिणमे, उसे। जो निजस्वरूप का अवलम्बन नहीं लेता, उसे शास्त्र क्या करें ?

देखो! अभव्य अनेक शास्त्र पढ़ता है; फिर भी ज्ञान की शुद्ध परिणति नहीं होती; उसे ग्यारह अंग तक का शास्त्राभ्यास तो होता है, पर ज्ञान की शुद्ध परिणति नहीं होती। अभव्य को ज्ञान का क्षयोपशम है, परन्तु अभव्यत्वरूप योग्यता होने से ज्ञान की शुद्ध परिणति नहीं है। उसे शुद्ध-ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान उदित नहीं होता, ज्ञान की शुद्ध परिणति तो सम्यग्दृष्टि को ही होती है। वैसे तो ज्ञान की पर्याय में अज्ञानी को भी आत्मद्रव्य जानने में आता है – ऐसा समयसार की १७-१८वीं गाथा की टीका में स्पष्ट कहा है। ज्ञानगुण तो त्रिकाल ध्रुव है, ध्रुव में जानने का कार्य नहीं होता, जानने का कार्य तो पर्याय में होता है। जाननपर्याय में अज्ञानी को भी स्वद्रव्य जानने में आता है; परन्तु उसकी दृष्टि स्वद्रव्य पर नहीं होती, उसकी दृष्टि तो पर्याय और राग पर ही रहती है। इसकारण शास्त्र पढ़ने पर भी अज्ञानी को ज्ञानलाभ नहीं होता।

आहाहा......! साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति है; 'उपयोगवाली' ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

न कहकर 'उपयोगमयी' ऐसा कहा – इससे उपयोग का ज्ञानगुण के साथ अभेद सिद्ध किया है। जो उपयोग ज्ञानस्वभावी स्वद्रव्य में एकाकार अभेद होकर प्रवर्तता है, उसे ही हम अपना उपयोग कहते हैं और जो उपयोग बाहर में/परद्रव्य में/रागादि में तन्मय होकर प्रवर्तता है, उसे आत्मा का/अपना उपयोग नहीं कहते। बाहर के उपयोग में आत्मा जानने में नहीं आता, वह तो अहितरूप दुःख की दशा है। भाई! जो उपयोग निज-स्वरूप में एकाकार-अभेद होकर प्रवर्तता है, वही हितरूप दशा है, वही मोक्षमार्ग है।

ज्ञानशक्ति त्रिकाल पारिणामिकभावरूप है, यह तब जाना कहलायेगा, जब अन्तर्मुख ज्ञान में उसका प्रतिभास होगा। अरे भाई! अन्तर-एकाग्रता से निश्चय किये बिना 'यह है' ऐसी बात ही कहाँ रही? भाई! ऐसा अतिसूक्ष्म वस्तु का स्वरूप अभी नहीं समझेगा तो कब समझेगा?

अहा! जानना ज्ञान का स्वभाव है। जिसप्रकार ज्ञान स्वद्रव्य को जानता है, उसीप्रकार पुद्‌गलादि परद्रव्यों को भी जानता है। एकसमय की पर्याय में विकार है, उसे भी ज्ञान जानता है; जानने मात्र से ज्ञान पुद्‌गलादि परद्रव्यरूप या रागरूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान उन परद्रव्यों का या राग का कर्ता नहीं होता। – यह वस्तुस्थिति है। अनादि से यह जीव इस वस्तुस्थिति को नहीं मानने के कारण ही अज्ञानी है।

ज्ञान स्वद्रव्य को और उसके अनंतगुणों को भिन्न-भिन्न जानता तो है; पर अनंतगुणों रूप नहीं होता। यदि हो जाये तो ज्ञान ही नहीं रहे और ज्ञान का अभाव होने पर तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा; परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है। द्रव्य में रहनेवाला एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता; क्योंकि ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। फिर भी अनन्तगुण द्रव्य में अभेदरूप से रहते हैं, व्यापक हैं। ऐसे अभेद की दृष्टि में आनंद का स्वाद आता है। इसका नाम धर्म है। इसकी लोगों को खबर नहीं है, इसलिए उन्हें यह एकान्त जैसा लगता है; परन्तु यह एकान्त नहीं, सम्यक्-अनेकान्त है। तू सुन तो सही, अरे! यह अलौकिक बात महाभाग्य से सुनने को मिलती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहाहा........! यह ज्ञानशक्ति द्रव्य की अनंतशक्तियों में व्याप्त है। शक्ति कहो या गुण कहो – दोनों का एक ही अर्थ है। प्रत्येक गुण समस्त – अनंतगुणों में और अनंतगुणमय द्रव्य में व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि यह ज्ञानशक्ति द्रव्य में व्याप्त है, गुणों में व्याप्त है और एक-अभेद त्रिकाली-द्रव्य की दृष्टि होने पर पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है तथा राग से भिन्न हो जाती है; क्योंकि अभेद की दृष्टि में राग व्याप्त नहीं होता। पहले पर्याय में राग तथा मिथ्यात्वादि थे, तब संसार उछलता था और अब 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ' – ऐसी द्रव्यदृष्टि हुई तो पर्याय में आनंद उछलता है, अनंतगुणों की निर्मलपर्याय प्रगट होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद प्रगट होने पर परद्रव्य में से मेरा ज्ञान-आनंद आता है – ऐसे मिथ्या-अभिप्राय का तो नाश हो जाता है और ज्ञान की निर्मलधारा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी द्रव्यदृष्टि कोई अलौकिक चीज है।

यह ज्ञानशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में व्याप्त है। इसमें त्रिकाली ध्रुव ज्ञानशक्ति ध्रुव-उपादान है और उसका पर्याय में जो ज्ञानो- पयोग-रूप परिणमन है, वह क्षणिक उपादान है।

जहाँ ज्ञानशक्ति का स्वाश्रित परिणमन होता है, वहाँ यह अपने निजद्रव्य को जानता है, अपने अनंतगुणों को जानता है और अपनी निर्मल परिणति को भी जानता है। उस समय जो अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन होता है, उसे भी जानता है – ऐसा अनेकान्त है। व्यवहार/राग से भी धर्म होता है और निश्चय से भी धर्म होता है – ऐसा अनेकान्त नहीं है।

यह शक्ति का प्रकरण चलता है। इसमें त्रिकाली गुण हैं और उसको धारण करनेवाला त्रिकालीद्रव्य गुणी है। उस त्रिकालीद्रव्य के सम्मुख दृष्टि होने पर क्रमशः निर्मल परिणमन होता है और विकारी परिणमन बंद हो जाता है।

अरे भाई ! शक्ति और शक्ति के परिणमन में विकार का सदा ही अभाव है; क्योंकि आत्मद्रव्य में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो विकार को कर सके। व्यवहाररत्नत्रय का राग होना आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; क्योंकि निर्मल ज्ञानानंदमय परिणमन में व्यवहाररत्नत्रय का अभाव ही है। – यह अनेकान्त है। ऐसा मार्ग दिगम्बर संतों ने खोल दिया है। अतः 'मुझे समझ में नहीं आता' यह मत सोच ! 'तुझे समझ में आयेगी' – संतों ने ऐसा जानकर ही यह बात की है। भाई ! जिज्ञासापूर्वक ध्यान देकर इसे समझे तो आत्मज्ञान हो जाय – यह ऐसी बात है। अहा ! प्यास लगी हो तो घर में बंधे बड़े-बड़े हाथी, घोड़ों को नहीं कहते कि 'पानी लाओ'; परन्तु जिसमें समझ-शक्ति है – ऐसे आठ वर्ष के छोटे बालक को कहते हैं। वैसे ही आचार्यदेव ने जिसमें समझ-शक्ति है; जो जानने के स्वभाववाला है, उससे ही कहा है कि – तू जान। आचार्यदेव कहीं जड़-शरीर या राग से नहीं कहते कि तू आत्मा को जान !

अहो ! साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति में आचार्यदेव ने कितना तत्त्व भर दिया है ? शक्ति में तन्मय/व्यापक होकर प्रगट हुई क्रमवर्ती ज्ञानपर्याय के कर्ता, कर्म आदि षट्कारक स्वाधीन हैं। पर या राग में नहीं हैं, ज्ञान के कारक ज्ञान में ही हैं। ज्ञान में षट्कारकरूप शक्तियाँ नहीं हैं, परन्तु उनका रूप है। इसलिये ज्ञान स्वयं ही कर्ता होकर, साधन होकर अपने में स्वतंत्र ज्ञान का कर्म करता है, उसे पर या राग की अपेक्षा नहीं है। जो पैसा और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में रुक गया हो, विषयों में रुक गया हो, उसे ऐसी बात कैसे समझ में आवे ? परन्तु भाई! ये सब तो मिट्टी-धूल हैं, इनमें सुखगुण कहाँ है, जो इनमें से सुख मिले ? उनमें से सुख मिलेगा – ऐसा तीन काल में भी संभव नहीं है। सुख तो तेरे आत्मा का स्वभाव है, उसमें ही ठहर जा तो तुझे अवश्य ही सुख प्राप्त होगा।

अहा ! स्व-स्वरूप में तन्मय ज्ञानपर्याय स्वयं को जानती हुई जब प्रगट हुई तो वह उसका जन्मक्षण है। उस ज्ञानपर्याय के उत्पन्न होने का समय था, सो ज्ञान का उत्पाद हुआ, उस उत्पाद को पूर्वपर्याय और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। जरा सूक्ष्म बात है भाई ! ज्ञानपर्याय ध्रुव के सन्मुख होकर ध्रुव को जानती है; परन्तु उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। वह पर्याय स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य है। जब ऐसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तुस्थिति है तब पर, व्यवहार अथवा देव-शास्त्र-गुरु से कल्याण हो जायेगा – यह बात ही कहाँ रही ?

अहा ! ऐसी साकार-उपयोगमयी आत्मा की एक असाधारण ज्ञानशक्ति है, जो ज्ञानमात्र भाव में उछलती है और उसीसमय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनंद आदि अनंतशक्तियाँ साथ ही उछलती हैं, जो आत्मा को आनंद-दायक होती हैं।

अहा ! ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर अन्दर में प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

इस तरह चौथी साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति पूर्ण हुई। ❖ ❖ ❖

ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्ष के उपाय हैं

आत्मा देहादि पर संयोगों से भिन्न है, दया इत्यादि की शुभ भावना और हिंसा इत्यादि की अशुभ भावना दोनों विकार हैं, आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। इसप्रकार पर से और विकार से भिन्न आत्मा के शुद्ध स्वरूप की श्रद्धापूर्वक ज्ञान आत्मा की आँख है और पुण्य-पाप के विकार से रहित स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है; इसप्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्ष के उपाय हैं। पहले ज्ञानरूपी आँखों से मोक्ष के मार्ग को जाने बिना वह मोक्षमार्ग में कैसे चलेगा ? आत्मा के स्वभाव को जाने बिना पुण्य में मोक्षमार्ग मानकर अज्ञान भाव से संसार में ही चक्कर लगायेगा। पहले शुद्धात्मा के ज्ञानपूर्वक मोक्षमार्ग को जाने और फिर उसमें स्थिर हो तो मोक्ष प्राप्त होता है। जीव अपने उपादान से जब ऐसे मोक्षमार्ग को प्रगट करता है तब सदगुरु निमित्तरूप होते हैं – यह व्यवहार है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामीकृत, मूल में भूल, पृष्ठ – ११६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५. सुखशक्ति

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः

"अनाकुलता जिसका लक्षण है – ऐसी सुखशक्ति" जैसे आत्मा में जीव के जीवनरूप जीवत्वशक्ति है; उसीप्रकार एक अतीन्द्रिय-आनन्द-शक्ति है। आनन्दशक्ति आत्मा के अनाकुल आनन्दस्वभावमय है। आत्मा त्रिकाल सच्चिदानन्द प्रभु है। तात्पर्य यह है कि – उसमें चिदानन्दशक्ति त्रिकाल शाश्वत पड़ी है। त्रिकाली ध्रुव आत्मद्रव्य अन्दर में पूर्ण आनन्द-स्वभाव से भरा हुआ है, उसके सन्मुख दृष्टि करके अन्तर्मुख परिणमने पर आनन्दशक्ति उछलती है। अतीन्द्रिय–आनन्द का वेदन करनेवाली अनाकुलदशा प्रगट होती है। इसी ग्रन्थ की गाथा नं. 5 में आचार्यदेव ने इस आनन्दशक्ति का कार्य इसप्रकार कहा है कि "निरन्तर झरता हुआ – स्वाद में आता हुआ, जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुर स्व-संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से निजवैभव का जन्म हुआ है।" अहो ! आत्मा आनन्दशक्ति से पूर्ण भरा हुआ है तथा आचार्य को उसकी व्यक्त दशा भी प्रगट हुई है।

सुखशक्ति त्रिकाल अनाकुलता लक्षणस्वरूप है। एक समय की वर्तमान दशा में जो आकुलता है/दुःख है, वह गौण है। त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्दस्वरूप आत्मा अनाकुलता लक्षणस्वरूप है। 'मैं कुछ करूँ' – ऐसी वृत्ति ही आकुलता है, जो शुभाशुभ कर्तृत्व आदि के विकल्प उठते हैं, वे सभी आकुलतारूप हैं; परन्तु मुझे तो कुछ करना ही नहीं, ज्ञान भी नहीं करना; क्योंकि जो होता है, उसे करना क्या ? आहाहा.......! सर्व विकल्पों से रहित, कुछ भी करने के भार से रहित निर्भारता/अनाकुलता ही सुखशक्ति का लक्षण है। उसका कार्य भी अनाकुल आनन्दमय है। उसका स्वाद भगवान सिद्ध के सुख जैसा होता है।

४७ शक्तियों के अधिकार में श्रद्धा और चारित्र – इन दोनों शक्तियों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का अलग से वर्णन नहीं किया, उन दोनों को इस सुखशक्ति में ही समाहित जानना चाहिये। सुखशक्ति के समान आत्मा में श्रद्धाशक्ति भी त्रिकाल है। 'मैं ज्ञानानन्दमय त्रिकाली ध्रुवद्रव्य हूँ' – ऐसी प्रतीति/श्रद्धा होना ही श्रद्धाशक्ति का कार्य है, सम्यग्दर्शनरूप होना यह श्रद्धाशक्ति का कार्य है। इस श्रद्धाशक्ति के प्रगट होते ही तत्काल नियम से अनाकुल आनन्द के संवेदनरूप सुखशक्ति के द्वारा श्रद्धाशक्ति तथा उसका कार्य प्रगट हुआ समझा जा सकता है। इसप्रकार आचार्यदेव ने सुखशक्ति में श्रद्धाशक्ति को गर्भित कर दिया है।

श्रद्धा और चारित्र तो मूल चीज है, सैंतालीस शक्तियों में इन दोनों का वर्णन नहीं है, इससे वे हैं ही नहीं – ऐसा नहीं समझना; यहाँ उन दोनों शक्तियों को सुखशक्ति में समाहित जानना चाहिए। श्रद्धाशक्ति के समान चारित्रशक्ति भी त्रिकाल है। वह चारित्रशक्ति ध्रुवद्रव्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होती है। ऐसी क्रमवर्ती चारित्र की जो वीतरागी दशा प्रगट होती है, उसके साथ नियम से अनाकुल-आनन्द की भी प्रचुरतर दशा अनुभव में आती है। इसतरह अनाकुल शक्ति के कार्य द्वारा चारित्रगुण की दशा समझ सकते हैं।

आहाहा...! स्व-स्वरूप के आश्रय से स्वरूपरमणता/आत्मानुभव होने पर महावैराग्य/वीतरागता सहित अनुपम-अनाकुल-आल्हादजनक सुख की दशा प्रगट होती है। परन्तु अरे! अज्ञानी जीव ऐसी चारित्रदशा को कष्टदायक मानता है; इसीलिए तो कविवर दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है –

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान

भाई! एकबार सुन तो सही! अन्दर त्रिलोकीनाथ भगवान सच्चिदानन्द प्रभु अनन्तशक्तियों का सागर लहरा रहा है। उसकी प्रत्येक शक्ति में अनन्त शक्तियों का रूप है। प्रत्येक शक्ति में अनन्त शक्तियाँ व्यापक हैं। अहा! ऐसे अनन्त शक्तिमय भगवान आत्मा को जब पर्याय अन्दर में झुककर देखती है, श्रद्धा करती है, उसमें रमती है; तब प्रचुर-आनन्द की,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

महाआनन्द की पर्याय प्रगट होती है। इसतरह यहाँ सुखशक्ति में श्रद्धा और चारित्र दोनों को समाहित कर लिया है।

भाई ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट हों और आनन्द न आवे – ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ एकसाथ उछलती हैं। इसलिए तो "सर्वगुणांश समकित" – ऐसा कहा है। कोई कहता है कि हमें सम्यक्त्व तो हुआ है, मगर अनाकुल-आनन्द/आल्हाद प्रगट नहीं हुआ है, उसकी यह बात झूठ है अर्थात् उसे समकित ही नहीं हुआ वह तो अज्ञानी ही है। बहुत से जैनाभासी ऐसा मानते हैं कि हमें समकित तो है, अब व्रत ले लें, तो चारित्र भी हो जायेगा; परन्तु उनकी यह मान्यता ही एकदम झूठी है; क्योंकि अनाकुल-आनन्द की दशा प्रगट होने पर ही समकित होता है, कुलपद्धति से समकित नहीं होता।

संप्रदाय में हमारा गुरुभाई कहता था कि अपन जैनकुल में जन्मे हैं, इसलिए समकित तो गणधरदेव जैसा ही हुआ है। अरे भगवान! समकित क्या वस्तु है ? इसकी अभी तुझे खबर नहीं है। अन्दर पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल विराज रहा है, उसकी रुचि/प्रतीति/श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है और वह स्वानुभूति की दशा में ही प्रगट होता है। यही समकित धर्म का मूल है। समकित क्या चीज है, अभी जो यह भी नहीं जानता, वह उसका पुरुषार्थ कैसे करेगा ? और समकित बिना चारित्रदशा प्रगट कैसे होगी ? धार्मिक वर्ग में आनेवाले सब अच्छी तरह से जानते हैं कि समकित और चारित्र क्या चीज है; क्योंकि लोक में एकमात्र यही सारभूत और हितकारी है, इसके बिना अन्य कुछ भी हितकारी नहीं है; कहा भी है–

तीन लोक तिहुँ काल मांहि नहिं दर्शन सो सुखकारी।
सकल धर्म को मूल यही इस बिन करनी दुःखकारी।।

भाई ! सम्यग्दर्शन की पर्याय में पूरा त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं आता, परन्तु पूर्णानन्दस्वभावी द्रव्य की पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति होते ही निर्मल रत्नत्रय का मार्ग खुल जाता है।

अहा.......! सम्यग्दर्शन सहित चौथे, पाँचवे, छट्ठे गुणस्थानवर्ती सभी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मायें शिवमगचारी हैं। छहढाला में भी कहा है –

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमगचारी।।

चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को मुक्तिमार्ग में गमन शुरू करने की अपेक्षा शिवमगचारी कहा है। चारित्र की पूर्णता तो चौदहमें गुणस्थान के अन्तसमय में होगी, फिर भी जब छट्ठे-सातवें गुणस्थान में स्व-स्वरूप की दृष्टि सहित स्वरूपरमणता की विशेषदशा प्रगट होती है, तभी प्रचुर- आनन्द की दशा भी प्रगट होती है। अतः मुख्यरूप से तो चारित्र छट्ठे-सातवें गुणस्थान से ही गिनने में आता है और वहीं से मोक्षमार्ग कहा जाता है। चौथे गुणस्थान से मोक्षमार्ग खुल तो गया है; परन्तु चौथे में साक्षात् चारित्रदशा नहीं है, साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है, साक्षात् चारित्रदशा तो स्वरूप की उग्र रमणता से ही प्रगट होती है।

देखो! श्रेणिक राजा समकिती थे, उन्हें अन्दर में पूर्णानन्दस्वरूप निज आत्मद्रव्य की प्रतीति हुई थी, फिर भी वे चारित्र नहीं ले सके। स्व-स्वरूप की उग्र रमणतारूप चारित्रदशा उन्हें प्रगट नहीं हुई थी।

इसीतरह भगवान ऋषभदेव वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर, जिनकी ८४ लाख पूर्व की तो आयु थी, क्षायिक सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञान लेकर तो जन्मे थे, फिर भी ८३ लाख पूर्व तक वे गृहस्थाश्रम में रहे, चारित्र धारण नहीं कर सके। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। – ऐसे ८३ लाख पूर्व तक वे चारित्र नहीं ले सके। उत्तरपुराण में ऐसा आता है कि सभी तीर्थंकरों ने आठ वर्ष की उम्र में बारह व्रत ग्रहण करे, इसप्रकार अरबों वर्षों तक उनको पंचम गुणस्थान रहा और तबतक आगे नहीं बढ़ सके। पाँचवें गुणस्थान में आंशिक चारित्र होता है, वहाँ मुनिदशा के योग्य साक्षात्चारित्र नहीं होता। अहो! ऐसी चारित्रदशा कोई अलौकिक चीज है तथा वह चारित्रदशा महापुरुषार्थी महाभाग्यवान को होती है।

करणानुयोग में ऐसा भी आता है कि महापुरुष सीधे ही महाव्रत अंगीकार करते हैं, अणुव्रत नहीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भी जब अन्तर्मुखदृष्टि का अपूर्व पुरुषार्थ चाहिए तो चारित्रदशा की प्राप्ति अन्तर्मुख स्वरूपरमणता के महान पुरुषार्थ बिना कैसे संभव है ? भाई! मात्र नग्न हो जाना या २८ मूलगुण पाल लेने का नाम चारित्र नहीं है। चारित्र तो अन्तरंग आनन्द-स्वरूप आत्मा में उग्र लीनतारूप आनन्दस्वरूप की अस्ति की मस्ती में मशगूल होने में है।

चारित्रवन्त महामुनिराजों के पंचमहाव्रत होते अवश्य हैं; फिर भी वे उसे चारित्र नहीं मानते। वे तो उसे जगपंथ ही मानते हैं।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के मोक्षद्वार में कहा भी है –

ता कारन जगपंथ इत, उत शिव मारग जोर।
परमादी जग कौ धुकै, अपरमादि शिव ओर।।४०।।

भाई! जितना राग है, उतना संसार है – ऐसा पंचसंग्रह में भी कहा है। अरे! सम्यग्दर्शन के स्वरूप की और सम्यग्दर्शन के प्रगट करने की रीति की खबर बिना अज्ञानी जीव अपनी मति-कल्पना से व्रत-तप धारण करके धर्म मान लेता है; परन्तु उसके मानने से धर्म नहीं होता। जिसे स्वरूप का श्रद्धान; ज्ञान तथा उग्र रमणता होती है, उसके ही चारित्र और धर्म होता है और उसे ही अन्दर में अनाकुल-आनन्द का प्रचुर आस्वाद आता है। ऐसे अंतरंग चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती। भाई ! जिसमें आस्वाद में आनेवाली अतीन्द्रिय आनन्दरस की प्रबलधारा प्रकट हो, उसका नाम चारित्र है और वह सम्यग्दर्शन के अभाव में कभी नहीं होता।

अनाकुल आनन्द की भूमिका में मुनिराज को किंचित् व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है; परन्तु उन्हें उसका स्वामित्व नहीं है। व्यवहार का राग और उसके फल में प्राप्त इन्द्रपद के वैभव और अनेकों अप्सराओं के संयोग को वे जहर समान मानते हैं। इन्दौर के कांच मंदिर में लिखा है –

चक्रवर्ती की संपदा अरु इन्द्र सरीखा भोग।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किसी को ऐसा लगे कि पुण्य के फल को कागवीट अर्थात् कौवे का विष्टा क्यों कहा ?

अरे भाई ! भगवान तो पुण्य के फल को जहर कहते हैं, फिर भी तुझे पुण्य का इतना हठ क्यों है ? इतना प्रेम क्यों है ? यदि तुझे धर्म चाहिए तो सर्वप्रथम पुण्य का प्रेम छोड़; क्योंकि जिसने पुण्य को उपादेय माना, उसे आनन्दस्वरूप आत्मा हेय ही हो गया और जिसे आत्मा उपादेय हो गया, उसे पुण्य हेयरूप ही होता है। ऐसी बात है प्रभु !

जैसे जानना-जानना यह ज्ञान का लक्षण है, वैसे ही अनाकुलता सुखशक्ति का लक्षण है और ऐसे सुख से भरा हुआ तू है, तुझमें आकुलता का नाम-निशान भी नहीं है। सुखशक्ति में आकुलता नहीं और उसके क्रमवर्ती परिणमन में भी आकुलता नहीं। भाई! तुझे सुख चाहिए तो अनाकुल सुख जिसका लक्षण है – ऐसे निजात्मा की दृष्टि कर! उसमें लीन हो। रागादिभाव, पुण्यभाव आकुलतामय हैं, दुःखरूप हैं।

'मुझे सुख चाहिए' – इसप्रकार सुख की अभिलाषा करने से सुख नहीं मिलता; क्योंकि इच्छा तो स्वयं दुःखरूप है। कहा है कि –

यों इच्छत खोवत सवै, है इच्छा दुखमूल।

इसलिये इच्छामात्र से विराम लेकर सुख के भण्डार ऐसे आत्मस्वरूप में गुप्त हो जा। देखो, हिरण की नाभि में कस्तूरी होती है, मगर उसकी उसे खबर नहीं है। वह अपनी ही सुगन्ध को खोजने के लिए बाहर में दौड़ता है, परन्तु बाहर में हो तो मिले न ? अतः बेचारा व्यर्थ में थक-थक कर खेद-खिन्न होता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा में सुखशक्ति त्रिकाल है और अज्ञानी जीवों को इसकी खबर नहीं। इसलिए वह सुख को बाहर में, इन्द्रियों के विषयों में, खाने-पीने में, स्त्री-पुत्रादि में, बाग-बगीचा, कोठी-बंगले में, रंग-राग आदि में खोजता है; परन्तु उसे सुख नहीं मिलता है; क्योंकि बाहर के जड़पदार्थों में सुख है ही कहाँ; अतः अज्ञानी व्यर्थ ही विषयों में झपट्टा मार-मार कर खेद-खिन्न होता है।

अरे भाई ! बाहर के जड़-विषयों में सुख नहीं है, विषयों की ममता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और अनुराग में सुख नहीं है और केवल विषयों को ही जाननेवाले बहिर्लक्षी ज्ञान में भी सुख नहीं है। अहा ! एक स्वानुभूति में ही सुख है। इसलिए सुख चाहिए तो इच्छा से विराम लेकर स्वानुभूति प्रगट कर !

शक्तिरूप से तो भगवान आत्मा में सुख त्रिकाल भरा है और सिद्ध भगवान को वह पूर्ण व्यक्त अर्थात् प्रगट हो गया है। सिद्ध भगवान को अनंतसुख होता है। उनके प्रगट आठ गुणों के वर्णन में सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और वीर्य – ये चार गुण चार घातिया कर्मों के क्षय से एवं अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और सूक्ष्मत्व – ये चार गुण अघातिया कर्मों के क्षय से प्रगट हुये हैं। अहा ! ऐसी अनंतमहिमायुक्त सर्वोत्कृष्ट दशा अनन्तशक्तिमय निज आत्मद्रव्य के श्रद्धान, ज्ञान और रमणता करने से प्रगट होती है।

वस्तुतः आत्मा स्वरूप से ही सच्चिदानन्दमय है, अनाकुल सुखमय है, उस आत्मस्वभाव के आश्रय से ही अनंतसुख प्रगट होता है। बस! यही मार्ग है।

पन्द्रह अगस्त को लोग देश के स्वतंत्र होने की खुशी में स्वतंत्रता दिवस मनाते हैं; परन्तु भाई! यह तेरा देश नहीं है, तू इसका स्वामी नहीं है। अरे, यह तो प्रत्यक्ष भिन्न चीज है बापू! आहाहा......! असंख्यातप्रदेशों में आत्मा के अनन्तगुण सर्वत्र त्रिकाल व्याप्त रहते हैं, वही तेरा स्व-देश है। उसी का तू स्वामी है, इस स्व-देश की सेवा (एकत्व) करने से अन्दर में स्वतंत्र स्व-राज प्रगट होता है अर्थात् जहाँ सहज ही अनंतगुणों का निर्मल परिणमन होता है, वहीं हमारा स्व-राज है।

समयसार की १७-१८वीं गाथा में आत्मा को 'जीवराजा' कहा है। 'राजते शोभते इति राजा' जो अनेकप्रकार के वैभव व समृद्धि से शोभित होता है, वह राजा है। जैसे – बाहर में राजा छत्र, चमरादि विभूति तथा शरीर की सुन्दरता और बाह्य समृद्धि आदि से शोभित होता है, वैसे ही आत्मराजा अपनी अनंतसुखादि गुणों की समृद्धि से शोभित होता है, विकारभाव और संयोगों से नहीं। चक्रवर्ती और इन्द्र के वैभव से भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मराजा शोभित नहीं होता। जिसमें आनंदरस का आस्वाद आये – ऐसे अनन्तगुणात्मक वैभव के प्रगट होने से आत्मराजा शोभायमान होता है।

आहाहा.......! देखो तो सही मुनिवरों की अन्तरदशा ! आत्मज्ञानी-ध्यानादि निजानंदरस के अनुभव में लीन मुनिवर अपने शरीर की स्थिति पूरी होने के विषय में क्या सोचते हैं ? उनकी उस सोच के बारे में किसी ने लिखा है –

चलो सखी वहाँ जाइए, जहाँ न अपना कोई।
कलेवर भखे जानवर, मरे न रोवे कोई।।

उक्त पद्य में मुनिराज अपनी शुद्ध परिणति कहते हैं कि जहाँ आनंद का सागर, आनंद-सुधा-सिन्धु भगवान है, वहाँ चलो ! अर्थात् अन्दर में ऐसे मग्न हो जायें कि इस मृतक कलेवर को सियार आदि भी खायें तो भी खबर न पड़े तथा देह छूट जाये तो पीछे से कोई रोनेवाला न हो! आहाहा! कैसी आत्मलीनता और कैसा निर्ममत्वपना! आनंदसागर आत्मा में तल्लीन होने के लिए महामुनिराज गिरिगुफा में चले जाते हैं। निश्चय से तो चिदानन्द प्रभु ही उनकी गिरिगुफा है।

प्रवचनसार चरणानुयोगचूलिका में दीक्षार्थी का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। दीक्षार्थी आत्मा के आनंद में लीन होने के लिए दीक्षित होते हैं, तब अपनी स्त्री से कहते हैं कि 'इस देह को रमानेवाली हे रमणी ! मेरी अनुभूतिस्वरूप रमणी तो अनादि-अनन्त अन्दर में शाश्वत पड़ी है; अतः अब मैं उसके साथ रमने अर्थात् अपने स्वरूप में लीन होने के लिए जाता हूँ। 'समयसार गाथा ७३ में भी इसी त्रिकालीध्रुव के अनुभव की बात आई है। वहाँ कहते हैं कि 'सर्वकारकों के समूह की प्रक्रिया से पार जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने के कारण मैं शुद्ध हूँ।'

देखो! आत्मा की पर्याय में जो राग होता है, वह तो मेरा स्वरूप है ही नहीं; परन्तु जो रागरहित निर्विकार परिणति पर्याय के षट्कारक से होती है, वह भी मेरे त्रिकाली अनुभूतिरूप आत्मा में नहीं है। मैं पर और राग से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भिन्न तो हूँ ही, निर्मलषट्कारक की पर्याय से भी भिन्न हूँ; क्योंकि यह अनुभूति रूप पर्याय की बात नहीं है। यह तो त्रिकाली अनुभूतिस्वरूप/एकरूप स्वभाव की बात है।

आहाहा.......! दीक्षार्थी कहते हैं कि जहाँ मेरा त्रिकाली अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा है, मैं वहाँ जाता हूँ और अब मैं वहीं आनदपूर्वक रमण करूँगा; इसलिए इस शरीर को रमानेवाली रमणी! मुझे अनुमति दे। स्त्री अनुमति दे या न दे; परन्तु वे तो अपने आनंदस्वरूप में मग्न होने के लिए सीधे एकान्त वन में चले जाते हैं।

इसीप्रकार दीक्षा के प्रसंग पर माता को संबोधते हैं कि हे जननी ! आप तो इस शरीर की जन्मदाता हो; परन्तु मैं शरीर नहीं हूँ, मैं तो अनाकुल आनंदस्वभावी आत्मा हूँ और आप इस आत्मा की जननी नहीं हो। मेरे आनंदस्वरूप आत्मा में से जो मेरी आनंददशा का जन्म होता है, निश्चय से वही मेरी जननी है। अतः हे माता! मुझे अनुमति दे, मैं अपनी त्रिकाल आनंदस्वरूप माता की गोद में जाता हूँ। फिर मैं पुनः जन्म धारण नहीं करूँगा। वियोग में माता रोती है तो कहते हैं कि – हे माता! इस बार रोना हो तो भले रो ले; परन्तु अब मैं दूसरी माता नहीं बनाऊँगा। ऐसा मेरा संकल्प है। आहाहा.....! इसप्रकार अन्दर में दृढ़वैराग्य धारण करके युवावस्था में ही राजकुमार प्रचुर आनंद के स्वाद की प्राप्ति के लिए वन में चले जाते हैं।

अरे ! ज्ञानी जहाँ से, जिन भोग-सामग्री आदि से विरक्त होते हैं, अज्ञानी वहीं, उसी में सुख-चैन के लिए झपट्टा मारता है। अज्ञानी स्त्री, परिजन, धन, मकान इत्यादि में सुख मानकर उसी में रम जाता है; जबकि सुख उनमें है ही नहीं, सुख तो अपने में ही भरा है; परन्तु इस बात की तो उसे खबर नहीं है; इसलिए बाहर में भटकता है और सदा दुःखी ही बना रहता है।

प्रश्न – कभी-कभी तो संयोगों में सुख दिखाई देता है ?

उत्तर – नहीं, कोई भी, कभी भी संयोगों में सुखी नहीं होता; क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संयोगों में सुख तो दूर, सुख की गंध भी नहीं है। उल्टा संयोगों की ओर झुकाव होने से महापाप और दुःख ही होता है। भाई! सुख तो उसे कहते हैं जिसमें आकुलता का अंश भी न हो, वह कभी नष्ट भी न हो और कभी बदले भी नहीं।

गजकुमार मुनि की बात शास्त्र में आती है कि जब श्रीकृष्ण श्रीनेमिनाथ भगवान के दर्शन करने हाथी पर बैठकर समवशरण जा रहे थे, तब उनके साथ उनके छोटे भाई गजकुमार भी जाते हैं। मार्ग में एक सुनार की अतिसुन्दर कन्या सुवर्ण के गिल्ली-दंडों से खेलती हुई दिखाई दी, उसे देखकर श्रीकृष्ण ने सेवकों को आज्ञा दी कि 'इस कन्या को अन्तःपुर में ले जाओ, इसका विवाह गजकुमार के साथ करना है 'सेवक कन्या को अन्तःपुर में ले गये और यहाँ श्रीकृष्ण गजकुमार के साथ भगवान के दर्शनार्थ समवशरण में गये। भगवान की 'ॐ ध्वनि' सुनते ही गजकुमार का चित्त अति दृढ़वैराग्य से भर गया। वे बोले – 'हे नाथ! मैं तो मुनिपना अंगीकार करना चाहता हूँ।' तथा बाद में माता देवकी के पास जाकर कहने लगे कि हे माता! जो अन्दर आनंद का नाथ विराजता है, मैं उसकी साज-संभाल के लिए भगवती दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। अब मैं स्वरूप की सम्हाल (रमणता) के लिए वन में जाता हूँ। हे माता ! इस शरीर का ममत्व छोड़ो। मेरी पर्याय में अभी थोड़े दुःख हैं, परन्तु मेरी आनंदपरिणति में तो उस दुःख का भी अभाव है।

गजकुमार दीक्षित होकर द्वारिका के श्मशान में ध्यान करने चले गये। उनका शरीर हाथी के तालू जैसा कोमल था। इसलिए उनका नाम गजकुमार था। अहा! मुनिराज तो निजानंदस्वरूप आत्मा के ध्यान में तल्लीन थे, तभी क्रोधाग्नि से जलते हुए उस सुनारकन्या का पिता वहाँ आया और उसने श्मशान की राख, मिट्टी, पानी से सिगड़ी बनाकर रख दी तथा गजकुमार मुनिराज के सिर पर उसने श्मशान के धधकते अंगारे भर दिये, जिससे मुनिराज गजकुमार का सिर बुरी तरह जलने लगा; परन्तु मुनिराज ध्यान में अचल रहे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अहा! एक ओर धधकती अग्नि से सिर जल रहा था और दूसरी ओर मुनिराज को प्रगट हुई ध्यानाग्नि में कर्म जल रहे थे। सिर के जलने की ओर तो मुनिराज का उपयोग ही नहीं गया। वे तो ध्यानाग्नि प्रज्वलित कर रहे थे बस, फिर क्या था कुछ ही क्षणों में अन्तर में ध्यानाग्नि में सर्वकर्म जलकर भस्मीभूत हुए और मुनिराज को तत्काल केवलज्ञान प्रगट हो गया। उन्होंने परमसुखस्वरूप मोक्षपद को पा लिया। अहा! स्वरूपध्यान की/स्वानुभूति की कोई अचिन्त्य महिमा है और इसका फल भी परमसुख- धाम है, मोक्ष है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के मंगलाचरण में प्रथम ही आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी कहते हैं –

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।

आहाहा......! कहते हैं कि 'नमः समयसाराय' अर्थात् रागरहित ज्ञान और आनंद से भरा जो मेरा स्वरूप है, मैं उसे नमन करता हूँ। अहा! मेरा नाथ समयसार आनंद का सागर है, उसमें मैं मेरी परिणति को झुकाकर नमन करता हूँ।

कैसा है समयसार ? 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् वह आनंद का नाथ स्वानुभवप्रत्यक्ष है, निज स्वानुभूति से प्रगट है। वह दया-दान आदि व्यावहारिक भावों से प्रगट नहीं होता।

और कैसा है ? कि 'चित्स्वभावाय भावाय' अर्थात् ज्ञान-दर्शन चैतन्य-स्वभावमय है, सत्तास्वरूप है। ज्ञानादिस्वरूप उसका स्वभाव स्वानुभूति में प्रसिद्ध होता है। 'सर्वभावान्तरच्छिदे' अर्थात् तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों को एक समय में पूर्ण प्रत्यक्ष जाने, ऐसा इसका सर्वज्ञ-स्वभाव है। अहा! यह सर्वज्ञत्वशक्ति ज्ञानशक्ति में गर्भित है। ऐसा सर्वज्ञस्वभाव स्वानुभूतिपूर्वक जाना जाता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि यह तो बहुत सूक्ष्म है; परन्तु क्या करें भाई! तेरा स्वरूप ही सूक्ष्म है। सूक्ष्मत्वगुण द्रव्य में व्यापक होने से ज्ञान,

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दर्शन, आनंद, कर्ता-कर्म आदि सभी गुण सूक्ष्म हैं। ऐसे सूक्ष्मत्व को प्राप्त करने का मार्ग भी सूक्ष्म है।

भाई! पुण्य-पाप के स्थूलभावों से यह सूक्ष्म आत्मा नहीं जाना जाता। ऐसा कहकर व्यवहार का निषेध किया। श्लोक के चारों चरणों में अस्ति से बात कही है। अतः पुण्य-पाप एवं अजीवादि आत्मा में नहीं हैं – ऐसी नास्ति अपने-आप ही सिद्ध हो जाती है।

देखो! शत्रुंजय पहाड़ पर पाँचों पाण्डव मुनिदशा में विचरते थे। भगवान के दर्शन के भाव हुए कि इतने में खबर पड़ी कि भगवान नेमिनाथ तो मोक्ष पधार गये, भरतक्षेत्र में भगवान का विरह हो गया। तब पाँचों ही मुनिवर एक-एक माह का उपवास कर ध्यान में खड़े हो गये।

मुनिवरों को पहाड़ के शिखर पर ध्यानमग्न खड़े देखकर दुर्योधन के भानजे ने आकर उपसर्ग किया। जलते हुए लोहे के गहने उन्हें पहना दिये। सिर में धधकते मुकुट, गले में धधकती माला और हाथ-पैरों में धधकते कड़े पहनाकर उसने महामुनिवरों पर भयंकर उपसर्ग किया। युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम इन तीनों मुनिवरों ने तो वहीं शुक्लध्यान की श्रेणी माड़कर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद प्राप्त किया तथा नकुल और सहदेव को यह विकल्प आ गया कि अरे! एक धर्मात्माओं के ऊपर कैसा उपसर्ग किया? इतने से विकल्प के फल में वे ३३ सागरोपम की आयुवाली सर्वार्थसिद्धि में गये। देखो! शुभविकल्प के फल में संसार है। अज्ञानी जीव शुभभाव से लाभ/धर्म मानते हैं; परन्तु यह तो उनका भ्रम है; क्योंकि शुभभाव भी बंध का ही कारण है, अबंध का नहीं।

अरे भाई! तेरे स्वभाव में तो अकेला सुख सुख बस सुख ही भरा है। आहाहा.........! वीणा के तार छूते ही जैसे वीणा झनझनाहट कर बज उठती है, वैसे ही सुखशक्ति से भरे आत्मा में एकाग्र होते ही झनझनाहट करती सुखशक्ति की संवेदनदशा प्रगट होती है। परन्तु अरे! इस अज्ञानी को निजस्वभाव की महिमा नहीं है। अतः अनंतगुण से भरे निजस्वभाव की संभाल करे बिना ये परपद में ही निजपद मानकर भवसागर में गोते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खा रहा है। इसकी दुर्दशा की क्या बात। दारुण दुःख से भरी इसकी कथनी कौन कर सकता है ? अरे भाई ! यहाँ आचार्यदेव तेरे सुख का निधान बताते हैं, तो अब एकबार निज निधान पर नजर तो कर। अहा ! नजर करते ही निहाल हो जाये – ऐसा तेरा निजनिधान है।

जो दुःख को हरे और सुख को करे वही हरि है। पंचाध्यायी में आता है कि 'हरति इति हरिः' दुःख के बीजभूत जो मिथ्यात्वादि को हरे उसका नाम हरि है, वह सुखनिधान आनंदस्वरूप भगवान आत्मा है। प्रमाद छोड़कर, विषयों की प्रीति का झुकाव छोड़कर अपने हरि अर्थात् भगवान आत्मा में एकाग्र होकर निरखना, भजना यही सुखप्राप्ति का उपाय है।

इसप्रकार यह पाँचवी सुखशक्ति पूर्ण हुई। ❖ ❖ ❖

मैं ही अपना कल्याण करता हूँ

मैं आत्मा स्वतंत्र भगवान हूँ, कोई पर वस्तु मेरा कल्याण नहीं कर सकती। अपनी पहिचान के द्वारा मैं ही अपना कल्याण करता हूँ। इसे समझे बिना अनेक बार मुनि हुआ क्षमा धारण की, भगवान के पास गया, शास्त्रों को पढ़ा तथा आत्मा की रुचि और प्रतीति किये बिना अनन्त दुखी होकर संसार में परिभ्रमण किया। यदि उपादान स्वरूप आत्मा की प्रतीति स्वयं न करे तो निमित्त क्या कर सकते हैं ? वास्तव में क्षमा का शुभराग तथा शास्त्र का ज्ञान भी निमित्त है। यह सब निमित्त होने पर भी अपनी भूल के कारण ही जीव को सुख नहीं होता। एक मात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव को सुखी करने में कोई समर्थ नहीं है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ-८५-८६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

६. वीर्यशक्ति

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।

स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है।

जिसप्रकार आत्मा में ज्ञानगुण है, उसीप्रकार आत्मा में एक वीर्यगुण भी है। यहाँ वीर्य का अर्थ बल है। संतान उत्पन्न होने के निमित्तरूप शरीर का जो वीर्य (धातु विशेष) होता है, यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो वीर्य अर्थात् बल नाम की आत्मा की शक्ति है, जिस शक्ति के द्वारा आत्मा बलवान है, उस वीर्य की बात है। जो अपने स्वरूप की रचना करता है, स्वरूप को धारण करता है – ऐसे आत्मा के स्वभावरूप वीर्यशक्ति की बात है।

वीर्यशक्ति का स्वभाव आत्मा की रचना करना है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, आनन्द, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्तगुणमय आत्मा का स्वरूप है। अनन्तगुणों का स्वामी होने से आत्मा ही सचमुच अनन्तनाथ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अनाकुल, अतीन्द्रिय आनन्द, सम्यक्वीर्य आदि निर्मलपर्यायों की रचना करना वीर्यशक्ति का कार्य है। राग की रचना करना, जड़शरीर, मकान, समाज अथवा देश की रचना करना आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं है। भाई ! आत्मा में जो वीर्यशक्ति है/बल है, वह निर्मलस्वरूप की रचना करने की सामर्थ्यरूप है और जड़ की रचना करना जड़शक्ति का कार्य है।

द्रव्य में वीर्य, गुण में वीर्य और पर्याय में वीर्य – इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में वीर्यशक्ति व्यापक है और वह वीर्यशक्ति निर्मल ज्ञान, आनन्द, प्रभुता, जीवत्व, स्वच्छत्व आदि की पर्यायों की रचना करती है।

अहो ! केवली परमात्मा द्वारा बताया हुआ परमात्मा बनने का मार्ग संतों ने यहाँ प्रसाद के रूप में प्रसारित किया है। जिसप्रकार माता बालक को

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुलाने के लिए उसकी प्रशंसा के मधुर गीत गाती है कि "बेटा मेरा राजा है, नन्हा राजदुलारा है।" इसीप्रकार संत भगवंत, केवली भगवान अज्ञानी-जनों को जगाने के लिए उनकी प्रशंसा के गीत में वीरता सुनाते हैं कि जिसके स्फुरण होने पर तुम तीनलोक के नाथ होते हो – ऐसी वीर्यशक्ति के स्वामी तुम स्वयं हो। अतः हे भाई! अब तो जागो, अब जागने का अवसर आया है। अरे भगवान! अब तेरे भगवान होने का अवसर आया है।

लोक में प्रत्येक आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण भगवान है। अपने इस स्वरूप को लक्ष्य/श्रद्धा में लेकर एकाग्र होने पर स्वरूप की रचना करने की शक्ति और सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति को पर्याय में प्रगट करना कर्तव्य है और यही धर्म है।

भाई! जिन्हें सुखी होना है/संसार के दुःखों से मुक्त होना है, उन्हें स्वयं को जानना चाहिए। भगवान कहते हैं कि भगवान! तुम अनन्तशक्तियों के पिण्ड प्रभु आत्मा हो। तुम्हारी एक-एक शक्ति में अन्य अनन्तशक्तियों का रूप है। अनन्तसामर्थ्य से युक्त एक-एक शक्ति और ऐसी-ऐसी अनन्त-शक्तियों से परिपूर्ण भगवान तुम चैतन्यप्रकाश के नूर के पूर हो; परन्तु अभीतक तुमने ऐसे निज अंतरंगस्वरूप को देखा नहीं है। अतः चैतन्य-प्रकाश के पुंज प्रभु होकर भी स्वयं अपने को भूलकर मिथ्या-अंधकार में अटके हो। ये पुण्य-पाप के भाव अंधकारमय हैं, जड़ पुण्य-पाप कर्म भी अंधकारमय है और पुण्य-पाप कर्म का फल जो स्वर्ग-नरकादि है, वह भी अंधकारमय है; क्योंकि इन सब में चैतन्यप्रकाश का अभाव है। ऐसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध-बुद्ध तुम स्वयं चैतन्यप्रकाश के पुंज आत्मा हो।

यह वीर्यशक्ति अपने स्वदेश में सर्वत्र फैली है। अपने आत्मा के असंख्यातप्रदेश ही अपने आत्मा का स्वदेश है। रागादि पुण्य-पाप के भाव आत्मा के लिए परदेश हैं।

अहा! जिसप्रकार नरक का क्षेत्र स्वभाव से दुःखमय है, स्वर्ग का क्षेत्र स्वभाव से लौकिकसुखमय है; इसीप्रकार भगवान आत्मा का स्व-क्षेत्र स्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से वीर्यशक्ति से भरपूर अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय है। उसमें ज्ञान और आनन्द की फसल पकती है। जिसप्रकार साधारण जमीन में लाल चावल उत्पन्न होता है और अच्छी उपजाऊ जमीन में सुगंधित, सफेद वासमती चावल उत्पन्न होता है; उसीप्रकार आत्मा के असंख्यात-प्रदेशी क्षेत्र में निर्मल ज्ञान और आनन्द की पर्याय प्रगट होती है; परन्तु जो अपने स्वरूप को अंतरंग में अन्तर्मुख होकर स्वीकार करता है, उसी के स्व-स्वरूप की रचना करनेवाला वीर्य सहज स्फुरायमान होता है और साथ में निज ज्ञानानन्दस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान का उदय होता है। अहो ! उस समय प्रगट होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द का क्या कहना ? वह तो वचनातीत और उपमारहित होता है। ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द जहाँ प्रगट होता है, वही आत्मा का स्व-क्षेत्र है।

प्रश्न – परन्तु फिर ये रागादि विकार कहाँ से/कैसे होते हैं ?

उत्तर – अरे भाई ! आत्मा में असंख्यप्रदेश हैं, उनमें विकार उत्पन्न करनेवाला कोई गुण नहीं है। जिसप्रकार सोने की चेन में सम्पूर्ण चेन तो द्रव्य है और चेन का सम्पूर्ण कड़ियोंवाला आकार उसका क्षेत्र है तथा उसका पीलापन, चिकनापन, वजन आदि शक्तियाँ हैं। इसीप्रकार आत्मा द्रव्य है, उसके असंख्यातप्रदेश उसका क्षेत्र है तथा असंख्यप्रदेशों में व्याप्त रहनेवाला अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्त-प्रभुता, अनन्तस्वच्छता आदि आत्मा की अनन्त निर्मल शक्तियाँ हैं। उनमें विकार को करनेवाली कोई भी शक्ति नहीं है; परन्तु अनन्तकाल में इस जीव ने कभी भी अपने स्वरूप की दृष्टि नहीं की। अपने को भूलकर यह पर में ही अटका रहा, रुका रहा; इसलिए अनादि से ही वीर्यशक्ति स्फुरायमान नहीं हुई और यह पुण्य-पाप रूप भावों की रचना होती रही; परन्तु यह पुण्य-पाप किसी आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है। भाई! दया-दान-तप, भक्ति-पूजा आदि शुभभावों की रचना करनेवाला वीर्य आत्मा का नहीं है।

आत्मा का वीर्य तो उसे कहते हैं जो अपने-अपने अनन्तगुण स्वभावों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के स्वरूप की रचना अपनी-अपनी पर्याय में करता है। अनन्तगुणों की निर्मलपर्यायों को प्रगट करनेवाला आत्मा का वीर्य है। विकारी परिणामों की रचना करना आत्मा के वीर्य का काम नहीं है। आहाहा.....! अपने स्वरूप की रचना करनेवाले वीर्यशक्ति के धारक आत्मा को जो नहीं देखता और पुण्य-पाप की रचना करनेवाले को ही आत्मा मानता है; वह मिथ्यादृष्टि है/अज्ञानी है और उसे निरन्तर पुण्य-पाप के भावों की ही रचना हुआ करती है।

भाई ! ये बारह व्रतों और पंच महाव्रतों का जो राग होता है, वह सब अचेतन है – आत्मा नहीं है। अरे! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म नाम का बंध होता है, वह भी अचेतन है/जड़ है, आत्मा नहीं, आत्मा की वीर्यशक्ति का कार्य भी नहीं। रागभाव चाहे जितना मंद हो तो भी वह बंधभाव ही है, शुद्धचैतन्यस्वरूप से विरुद्ध जाति का ही है। उसमें चैतन्यप्रकाश का अंश नहीं है। वह अपने को भी नहीं जानता और चैतन्यस्वरूप आत्मा को भी नहीं जानता, इसलिए वह अचेतन है। अहो! ऐसा अपूर्व मार्ग हमारे लिए दिगम्बर संतों ने सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट खोलकर रख दिया है।

यह स्त्री-पुरुष का शरीर तो हाड़-मांस और चमड़ी से बना हुआ है, वह आत्मा नहीं है और जो इसे करता है अर्थात् जिससे इसकी रचना हुई है, वह भी आत्मा नहीं है। अन्दर में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे भी आत्मा नहीं हैं और उनके होने में जो कारण बनते हैं, वे भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे सभी तो अचेतन जड़तत्त्व हैं और भगवान आत्मा अकेला चेतन-प्रकाश का पुंज है।

जिसके अनुभव द्वारा पर्याय में निर्मल रत्नत्रय की रचना होती है, उसे आत्मा का वीर्य अर्थात् आत्मा कहते हैं। शेष समस्त राग और विकार-की रचना करनेवाले कारणों को आत्मा का वीर्य नहीं कहते। उसे तो नपुंसकता कहते हैं, क्योंकि उससे धर्मरूप संतान की उत्पत्ति नहीं होती। समयसार गाथा १५४ की टीका में आचार्यदेव ने ऐसे जीवों को क्लीव (नपुंसक) कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अरे प्रभु ! तू स्वभाव से भगवान होकर भी भिखारी की भांति पामर बनकर संसार में रखड़ रहा है। तू तो तीनलोक का नाथ चैतन्यस्वरूप प्रभु है। तेरे गर्भ में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व आदि अनन्त निर्मल पर्यायें भरी पड़ी हैं। तू पर्याय में उन्हें उत्पन्न न करे और पुण्य-पाप/मलिनता को उत्पन्न करे तो इसमें तेरी शोभा नहीं है। अतः अब तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का लक्ष करके स्वरूपसन्मुख होकर इसी पर्याय में ज्ञान और आनन्द का प्रसव कर! – ऐसी वीतरागी सर्वज्ञ परमेश्वर की आज्ञा है।

भाई ! आज जगत में सत् सुनने को भी नहीं मिलता, इसीलिए बिचारे क्या करें ? अतः वे तो दया-दान-व्रत-तप आदि क्रियायें और शरीर की क्रियायें करने को ही अपना कर्तव्य मानकर मिथ्या मान्यता के सेवन से चार गति में रखड़-रखड़ कर मरते हैं। पर इसमें अन्य कोई क्या करे ? मिथ्या मान्यता के सेवन का तो यही फल है।

भाई ! तेरी चैतन्यवस्तु में अनन्तगुण लक्ष्मी का भण्डार भरा है, उसको देखने के बदले बाहर की धन-संपत्ति को देखकर तू हर्षित होता है, परन्तु उसमें तेरा क्या है ? वह तो पुद्गल है।

आहाहा...! अति-तृष्णावंत बड़े-बड़े करोड़पति/अरबपति मरकर क्षण-भर में नरकादि खोटी गति में चले जाते हैं। भाई ! तुझे सुखी होना हो तो अन्दर स्वरूप में नजर कर, स्वरूप का अनुभव कर! आज तो धर्म के नाम पर व्रत करो, प्रतिमा ले लो, उपवास करो, इसप्रकार प्ररूपणा चलती है, परन्तु इसमें तो धर्म का अंश भी नहीं है। यह तो समस्त राग की क्रियायें हैं। अरे भगवान! जैसी तेरी चैतन्यवस्तु है, तुझे उसका वैसा अनुभव ही नहीं हुआ तो धर्म कहाँ से होगा और स्थिरता कहाँ से आवेगी ? बाहर के क्रियाकर्म द्वारा तू धर्म होना मानता है; परन्तु बाहर का कार्य तेरे हाथ में है कहाँ ? न तू उसे कर सकता है और न छोड़ सकता है, वह तो जड़ परमाणु की दशा है। पुण्य-पापरूप भावकर्म/विकारी दशा है। वह तेरी शक्ति का कार्य नहीं है। तेरी शक्ति का कार्य तो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चारित्ररूप वीतरागी धर्म तथा केवलज्ञान और सिद्धपद है। आत्मा स्वयं स्वतंत्रपने अपने वीर्य द्वारा अपनी निर्मल पर्यायों की रचना करता है। उन निर्मल पर्यायों की रचना कोई ईश्वर करता हो – ऐसा नहीं है, कोई परद्रव्य करता हो – ऐसा भी नहीं है। आहाहा.....! आत्मा स्वयं ही स्वयं के स्व-वीर्य से कर्ता आदि षट्कारकरूप होकर अपनी सम्यग्दर्शन आदि निर्मल पर्यायों को करनेवाला ईश्वर है – अन्य कोई दूसरा नहीं।

भाई ! तेरे सर्वज्ञस्वभाव में विद्यमान वीर्यशक्ति के रूप की क्या बात करें ? वह तो एक समय में समस्त लोकालोक की भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों को एकसाथ जानता है, ऐसी ताकत उसमें है, ज्ञान में वीर्य का रूप है न! ऐसी सर्वज्ञशक्ति आत्मद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है। यहाँ कोई कहे कि वर्तमान प्रगट वर्तती पर्याय को तो सर्वज्ञ भगवान जानते हैं; परन्तु भूत और भविष्य की पर्यायों को नहीं जानते; लेकिन ऐसा कहनेवाले की यह बात सही नहीं है, मिथ्या है। उसे अपने सर्वज्ञ-स्वभाव के स्वरूप और सर्वज्ञ भगवान के दिव्यज्ञान की खबर नहीं है। अरे ! जो सर्वज्ञ का स्वरूप भी सही नहीं जानते, विपरीत मानते हैं; उन्हें आत्मा की प्रतीति कहाँ से हो ? अरे भाई ! जिसप्रकार 'परमाणु एक समय में चौदह राजू लोकाग्र तक गमन करता है 'यह कथन परमाणु की गति के वीर्य का सूचक है; इसीप्रकार भगवान सर्वज्ञदेव एक समय में त्रिकालवर्ती सर्व लोकालोक को साक्षात् जानते हैं, यह उनकी सर्वज्ञत्वशक्ति के वीर्य का सूचक है। आहाहा......! ऐसा दिव्यज्ञान भगवान केवली के होता है।

आत्मा में ऐसी अचिन्त्य दिव्य सर्वज्ञत्वशक्ति के साथ वीर्यशक्ति का रूप है। आत्मा की प्रत्येक शक्ति में अन्य समस्त शक्तियों का रूप होता है। इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख, प्रभुता, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व आदि अनन्त-गुणों में वीर्यशक्ति का रूप होता है। जैसे ज्ञानवीर्य, दर्शनवीर्य, सुखवीर्य इत्यादि। अहो ! ऐसी अनन्तशक्तियों का सागर प्रभु आत्मा है। उसके सम्मुख दृष्टि करने से वीर्यशक्ति स्फुरायमान होकर अनन्तगुणों की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मलपर्यायों की रचना करती है। इसी का नाम आत्मवीर्य है। जगत के लोगों को इस विषय का अभ्यास नहीं है; इसलिए मात्र क्रियाकाण्ड में ही लग रहे हैं, परन्तु इस सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड में तो अकेले राग की और क्लेश की क्रिया है। छहढाला में कहा है कि –

मुनिव्रत धारि अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

पंचमहाव्रत का अनन्तबार पालन करने पर भी आत्मज्ञान बिना लेश भी सुख नहीं हुआ अर्थात् दुःख ही हुआ। तात्पर्य यह है कि पंचमहाव्रत के परिणाम भी अतीन्द्रियसुखरूप नहीं हैं। अतः वह आत्मा का वीर्य नहीं है। स्वरूपलीनता और स्वरूप एकाग्रता द्वारा निर्मलरत्नत्रय को प्रगट करने का नाम ही आत्मा का वीर्य है और यही पुरुषार्थ है।

वीर्यशक्ति स्वरूपरचना की सामर्थ्य है। वहाँ द्रव्य-गुण तो त्रिकाल ध्रुव एकरूप हैं. अतः उनमें तो रचना करने का कोई काम ही नहीं है। जो कोई भी रचना होती है, वह पर्याय में होती है; ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुणों की निर्मलपर्याय की रचना करना वीर्यशक्ति का कार्य है। व्यवहार की रचना करना वीर्यशक्ति का कार्य नहीं है; क्योंकि निर्मलपरिणति में व्यवहार का/राग का अभाव है।

व्यवहार है अवश्य, परन्तु ज्ञान तो उसे मात्र जानता ही है। भाई ! सूक्ष्म बात है। जहाँ स्व के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध परिणति प्रगट हुई, उस समय जो रागांश है, उसे भी ज्ञान मात्र जानता है। उस समय भी प्रगट हुई ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय सहज ही अपने से भिन्न रहकर अपने से ही अपने को जानती है, राग के कारण नहीं। अपने ज्ञान की पर्याय ही ऐसी सामर्थ्यवाली है कि वह स्व और पर को अपने से ही जानती है।

यहाँ कोई कहे कि व्यवहार अर्थात् शुभराग करते-करते निश्चय/सिद्धदशा प्रगट हो जायेगी; परन्तु उसकी यह बात मिथ्या है, उसे आत्मा की निर्मल वीतराग परिणति कैसे प्रगट होती है ? – इसकी खबर नहीं है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् उसके निर्मलपरिणति की रचना करनेवाला वीर्य ही प्रगट नहीं होता।

अरे, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर का अभी इस भरतक्षेत्र में विरह है; परन्तु विदेहक्षेत्र में तो आज भी साक्षात् परमात्मा सर्वज्ञपद में विराजमान हैं। एक करोड़ पूर्व की उनकी आयु है। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं।

स्वरूप की रचना करने की सामर्थ्य वीर्यशक्ति में है, स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप जो शुद्ध चैतन्य परिणति की रचना होती है, वह वीर्यशक्ति का कार्य है। आत्मा स्वयं की वीर्यशक्ति द्वारा वीतराग-परिणति की रचना करता है। यह शुद्ध परिणति प्रशस्तराग का कार्य नहीं है। जिसप्रकार आत्मा में वीर्यगुण है, उसीप्रकार एक अकार्यकारणत्व नाम का गुण भी है। वीर्यगुण में इस अकार्यकारणत्वगुण का रूप है, इसमें, स्वरूप की रचना होनेरूप कार्य में व्यवहार रत्नत्रय का राग कारण होवे – ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा राग का कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है। चैतन्यभाव कारण और राग उसका कार्य – ऐसा कदापि नहीं होता। देखो, इतना स्पष्ट वस्तुस्वरूप होने पर भी व्यवहार से निश्चय होता है, अभी ऐसी विपरीत मान्यता चलती है; परन्तु भाई! रागभाव तो विकार है/पामरता है, उससे प्रभुता कैसे प्रगट हो सकती है ? और निर्मलानन्द का नाथ आत्मा चिदानन्दप्रभु रागभावरूप क्लेश की रचना कैसे कर सकता है ?

पहले जमाने में जो सर्राफ के यहाँ खोटा सिक्का लेकर आता था तो सर्राफ उसे वापिस नहीं जाने देता था, बल्कि दुकान की देहरी पर उस सिक्के को कील से जड़ देता था। तात्पर्य यह है कि वह उस खोटे सिक्के को बाजार में चलने नहीं देता था। इसीप्रकार यह भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव की पेढ़ी है, इसमें खोटी बात चलने नहीं दी जाती। परमात्मा की सत्यार्थ बात संतों की आढ़त में, जगत में जाहिर की जाती है। कहते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं कि भगवान ! तेरे में वीर्य नाम का जो गुण है, उसका रूप आत्मा के अनन्तगुणों में है; इसलिए वे अनन्तगुण अपने वीर्य से अपने स्वरूप की/सम्यग्दर्शन आदि की रचना करते हैं और विकार की रचना नहीं करते। भाई ! तेरा वीर्यगुण स्वभाव से ही ऐसा है कि वह किसी पर या विकार की रचना कर ही नहीं सकता। यदि वीर्यगुण स्वभाव से ही ऐसा है कि वह किसी पर या विकार की रचना करता हो तो सदा ही उसकी रचना करता रहे। तब फिर आत्मा की रागरहित वीतरागी मुक्तदशा किसप्रकार हो ? इसलिए परवस्तु में कुछ फेरबदल करे अथवा विकार की रचना करे – वास्तव में आत्मा में ऐसा बल/वीर्य ही नहीं है। अतः स्वरूप की/सम्यग्दर्शनादि की रचना में पर अथवा रागादिभाव कारण नहीं हैं।

प्रश्न – यदि आत्मा परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता तो फिर इस जगत की रचना कौन करता है ?

उत्तर – अरे भाई ! यह छह द्रव्यमय लोक अकृत्रिम स्वयंसिद्ध है। इसकी रचना करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। 'आत्मा पर की रचना करता है' – ऐसा मानना तो महामूढ़ता है। कोई अज्ञानी पर को/ईश्वर को जगत की रचना करनेवाला मानता है; परन्तु अनन्त आत्मबल, अनन्तवीर्य के धनी अरहंत और सिद्ध भगवान भी पर की रचना करने में असमर्थ हैं। यद्यपि उनमें अपने स्वरूप की रचना करने की पूर्ण – अनन्त सामर्थ्य है; परन्तु पर का कुछ भी करने के लिए वे पंगु हैं/असमर्थ हैं।

आत्मा स्वयं ही अपनी पर्याय की रचना अपनी वीर्यशक्ति के द्वारा करता है। कोई ईश्वर अथवा परनिमित्त आत्मा की पर्याय की रचना करता हो – ऐसा तीनकाल में भी नहीं है। अहा........! ऐसी वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसी अपनी वीर्यशक्ति को जानकर अभेद चिन्मात्र नित्यानन्द-स्वरूप आत्मवस्तु में तन्मय होकर प्रवर्तन करना ही मोक्षमार्ग है, धर्म है।

प्रश्न – वीर्यगुण के कारण विकार नहीं होता, तब फिर किसके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कारण होता है ?

उत्तर – अनादि से जीव को पर्यायदृष्टि है। उसकी इस पर्यायदृष्टि के कारण ही विकार उत्पन्न होता है अर्थात् पर्यायबुद्धि में ही विकार की रचना होती है। जबतक जीव पर और पर्याय में अटका हुआ है, तबतक ही विकार की रचना होती है, विकार उत्पन्न होता है अन्यथा स्वभाव में तो विकार है ही नहीं। वीर्यशक्ति तो स्वभावदृष्टि होने पर स्वरूप की निर्मलपर्यायों की ही रचना करती है, इसलिए हे जीव ! पर्यायबुद्धि को त्यागकर स्वभाव की दृष्टि कर ! अरे भाई ! तेरे स्वभाव में चैतन्य की जितनी शक्तियाँ हैं, उन सभी में वीर्यशक्ति का रूप है। दृष्टि में जब शुद्ध अंतस्तत्त्व का स्वीकार होता है, तब पर्याय में अनन्तगुणों की निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं और यह निर्मलपर्याय ही मोक्षमार्ग है।

पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल ने चिद्विलास ग्रन्थ में वीर्यशक्ति का बहुत वर्णन किया है। द्रव्यवीर्य, गुणवीर्य, पर्यायवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, तपवीर्य, भाववीर्य इत्यादि अनेक प्रकार की वीर्यशक्ति का वर्णन चिद्विलास में किया है। वहाँ विशेष बात यह है कि द्रव्य द्रव्य से शक्तिवान है, पर्याय पर्याय से शक्तिवान है इत्यादि। द्रव्य का असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र क्षेत्रवीर्य है, यह क्षेत्र भी स्वयं से रहता है, पर के कारण नहीं; नरक दुःख का क्षेत्र है, स्वर्ग संसारसुख का क्षेत्र है, यह तो संयोग-अपेक्षा क्षेत्र की बात है। भगवान आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं और वही आत्मा का क्षेत्रवीर्य है। असंख्यात प्रदेशों में जिसका निवास है, उसे ही अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है और पुण्य-पापरूप रागादि विकार में जिसका निवास है, उसे दुःख का वेदन होता है – ऐसा भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आत्मा स्वयं सूक्ष्म है। आत्मा में सूक्ष्मत्व नाम का एक गुण है, इसलिए आत्मा की प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म है। ज्ञान सूक्ष्म है, दर्शन सूक्ष्म है, आनंद सूक्ष्म है, वीर्य सूक्ष्म है इत्यादि सब कुछ सूक्ष्म है। इसप्रकार वीर्य का रूप ही द्रव्यवीर्य , क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य और भाववीर्य इत्यादि रूप है। इसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पण्डित दीपचन्दजी साहब ने वीर्यशक्ति की खूब विस्तार से बात की है।

पण्डित दीपचंदजी साहब साधर्मी गृहस्थ थे। जो चैतन्यघर में स्थित है, वही सच्चा गृहस्थ है। अपने चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होकर उसमें स्थित रहना ही आत्मवीर्य है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अपना काम करना ही अपना वीर्य है। पुण्य-पाप में स्थित होना आत्मवीर्य नहीं है।

द्रव्य के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग की निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय का क्षेत्र भिन्न है और द्रव्य तथा गुण का क्षेत्र भिन्न वस्तु है। और उस पर्याय का क्षेत्र भी द्रव्यस्वभाव से भिन्न है, पर्याय का क्षेत्र पर्याय, पर्याय की शक्ति पर्याय, पर्याय के कारण पर्याय; द्रव्य और गुण पर्याय के वास्तविक कारण नहीं हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।

हे परमात्मा! आप त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त कार्यों को जानते हो। उसमें आत्मा स्व-सत्ता से शुद्ध पवित्रता का धाम प्रभु है, अनादि- अनन्त अकारण शुद्ध चैतन्य सत्तास्वरूप जीववस्तु है – ऐसा आपने केवल- ज्ञान में देखा है।

सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा देखे हुए इस आत्मा को निज शुंद्ध अंतस्तत्त्व से अंतर्मुख होकर देखनेवाले के सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होते हैं। इसी का नाम आत्मवीर्य का स्फुरायमान होना है, शेष जो पुण्यभाव में स्थित होते हैं, उनका आत्मवीर्य स्वरूप की रचना के प्रति जाग्रत नहीं होता। अतः उनके लिए तो दुःख ही मिलता है; क्योंकि पुण्यभाव वर्तमान में ही आकुलताजनित दुःखरूप होने से उसका फल भी दुःखरूप ही है। समयसार गाथा ७४ में भी आता है कि आस्रव दुःखरूप और दुःख के कारण हैं। इसलिए विवेकी पुरुष पुण्यभाव से भी विरक्त होकर निज आत्मवीर्य से स्वरूप की रचना के प्रति जाग्रत होते हैं। इसी का नाम पुरुषार्थ और मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार यह छठवीं वीर्यशक्ति पूर्ण हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

७. प्रभुत्वशक्ति

अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः।

जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित नहीं की जा सकती – ऐसे स्वातंत्र्य से शोभायमानपना जिसका लक्षण है – ऐसी प्रभुत्वशक्ति है।

भगवान आत्मा चैतन्यशाली है। चैतन्यशाली के दो अर्थ होते हैं, चैतन्यवंत और चैतन्य द्वारा शोभायमान।

जिस भाव से भव का अभाव हो, वह शुद्धभाव ही उपादेय और शोभनीय है। धर्मी जीव को भले शुभभाव होता हो; परन्तु उन्हें भावना तो एक शुद्धोपयोग की ही होती है।

केवली भगवान कहते हैं कि भाई ! तेरी आत्मवस्तु में एक प्रभुत्व नाम की शक्ति है। इस शक्ति के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एक त्रिकाली शुद्ध चिन्मात्र वस्तु का लक्ष्य लेते ही तेरी प्रभुत्वशक्ति अखंडित प्रतापसहित तत्काल प्रगट होती है। – इसप्रकार वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है। द्रव्य में प्रभुत्व, गुण में प्रभुत्व और पर्याय में प्रभुत्व होता है। तेरी प्रभुत्वशक्ति क्रम से निर्मल-निर्मल ऐसी परिणमती है कि उसका प्रताप किसी से निवारा नहीं जा सकता।

देखो, देव-गुरु आदि पंचपरमेष्ठी भगवंत भी परद्रव्य होने से तेरे द्रव्य, गुण और पर्याय – तीनों में से एक में भी व्याप्त नहीं होते। तथा देव-गुरु के प्रति जो विनय-भक्ति आदि का शुभराग होता है, वह भी आत्मा के द्रव्य-गुण में व्याप्त नहीं होता, मात्र एक समय की पर्याय में व्याप्त होता है, सभी पर्यायों में भी व्याप्त नहीं होता।

धर्मी जीव के यह प्रभुत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में व्यापती है। अज्ञानी अपने को दीन अनुभव करते हैं। उससे कहते हैं कि तेरे एक-एक गुण में प्रभुत्वशक्ति भरी है। मैं तो अनन्त-अनन्त प्रभुता से भरा

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्य महाप्रभु हूँ – ऐसा भान करके अन्तर में लक्ष्य करते ही पर्याय में प्रभुता उछलती है। साथ में ज्ञानादि अनंतशक्तियाँ भी निर्मलपने उछलती हैं। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

प्रश्न – ज्ञानी भी तो अपने को अल्पज्ञ और पामर जानते हैं ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि के द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में प्रभुता व्याप्त होने पर भी, जबतक पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान नहीं हुआ, तबतक जितनी अपूर्णदशा है, उतनी पामरता और अल्पज्ञता है। ज्ञानी ऐसा यथार्थ जानता है – यह स्याद्वाद है। अभी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई – इस अपेक्षा साधक अपनी पर्याय को पामर जानता है। अर्थात् ज्ञानी को अपनी पामर पर्याय का विवेक होता है, परन्तु दीनता नहीं होती।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को तृणसमान समझता है। सो यह तो अंतरंग में प्रभुता की प्रतीति सहित पर्याय के विवेक की बात है; क्योंकि वे जानते हैं कि अहो! कहाँ दिव्य केवलज्ञानदशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञदशा ? इसप्रकार विवेक करके धर्मीजीव द्रव्यस्वभाव के आश्रय से पूर्णदशा प्रगट करने की भावना भाते हैं। भाई! यदि अकेली पामरता को ही माने और अंतरंग की प्रभुता को न पहिचाने तो पामरता दूर करके प्रभुता कहाँ से लायेगा ?

सम्यग्दृष्टि के अपने स्वरूप का अनुभव होते ही निज पूर्णानन्द प्रभु की अन्तर में प्रतीति होती है और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है; परन्तु जबतक पूर्ण चारित्रदशा/वीतरागदशा प्रगट नहीं होती, तबतक जो भी राग आता है, उस राग को वे पामरता समझते हैं। आहाहा......! कहाँ चारित्रवंत महा मुनिराज की आनंदशा और कहाँ चौथे गुणस्थानवर्ती की दशा ?

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं तथा आगे चलकर वे केवलज्ञान प्रगट करेंगे। वे भी अभी यह जानते हैं कि मेरी पर्याय में इतनी पामरता है। उन्हें केवली, मुनिराज और चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की दशा का बराबर विवेक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धवल में ऐसा आता है कि, स्वभाव के आश्रय से मति-श्रुतज्ञान की जो वर्तमानदशा प्रगट हुई है, वह केवलज्ञान को बुलाती है अर्थात् वह वर्तमान सम्यग्ज्ञान की दशा केवलज्ञान के स्वरूप को जानती है, पहिचानती है और वही बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप हो जायेगी। अहो! संतों ने क्या कमाल का कार्य किया है ? एकबार सुन तो नाथ ! तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय का संरक्षण और संवर्धन करनेवाला तू स्वयं ही है।

जिसप्रकार पति-पत्नी का नाथ होने के नाते वह उनकी रक्षा करता है और उसका भरण-पोषण करता है; उसीप्रकार आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-आनंद की दशारूप निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, उसकी रक्षा करनेवाला स्वयं आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है।

आहाहा.......! मतिज्ञान केवलज्ञान का आह्वान करता है कि आओ! केवलज्ञान आओ ! सम्यग्दृष्टि-धर्मी विचारता है कि अहो ! धन्य है वह अवतार! जिसमें मेरी ऋद्धि का प्रभुत्व मेरी पर्याय में प्रगट हुआ है, परन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट होना बाकी है। द्रव्य-गुण के समान पर्याय में भी पूर्ण अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत-आनंद, अनंतवीर्य, अनंतप्रभुता आदि पूर्ण वैभव शीघ्र प्रगट हो – ऐसी उनकी निरन्तर भावना वर्तती है। उन्हें अपूर्णता किंचित् नहीं पुसाती।

आत्मा में कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण – ये सभी षट्कारकरूप छह शक्तियाँ स्वाधीनपने शोभायमान हैं; क्योंकि ये सभी अपने प्रभुत्वमय हैं। इनमें प्रभुत्वगुण व्यापक है, ये अपना काम करने में पराधीन नहीं हैं, ये तो पर की अपेक्षारहित स्वाधीन हैं। सम्यग्दर्शनादि-रूप कर्म जीव स्वयं अपने षट्कारकपने परिणम कर स्वाधीनपने प्राप्त करता है। इसमें राग या पर की अपेक्षा नहीं होती। नियमसार गाथा २ में आया है कि निश्चय रत्नत्रय परनिरपेक्ष है, उसे व्यवहाररत्नत्रय, पर और भेद के विकल्पों की अपेक्षा नहीं है – ऐसी प्रभुता से भरा निज वस्तुत्व है। जैसे लोक में राजा स्वाधीनता से शोभायमान होता है, वैसे ही निज वस्तुत्व भी स्वाधीनता से शोभायमान है। समयसार गाथा १७-१८ में आत्मा को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्यराजा कहा है। राजा का अर्थ है – ''राजते शोभते इति राजा'' – जो अखंडितप्रताप से स्वाधीनपने शोभित होता है, वही राजा है। यह चैतन्यराजा अपने अनंतगुण-पर्यायों से अनिवारित जिसका तेज है – ऐसे प्रताप से स्वाधीनपने शोभायमान है।

देखो, पण्डित दीपचंदजी ने अपने पंचसंसग्रह में श्रृंगार आदि आठ रसों का तात्त्विक रीति से अनोखा वर्णन किया है; वे लिखते हैं कि 'जिसमें आनंदरसकंद प्रभु आत्मा की अनंतशक्तियों का परिणमन हो, वह आत्मा के काव्य का श्रृंगाररस है। व्यवहार-रत्नत्रय आत्मा का श्रृंगार नहीं है, यह तो राग अर्थात् दुःख है।

एक समय की दर्शन की पर्याय लोकालोक को भेद पाड़े बिना सामान्य देखती है। उसीसमय ज्ञान की पर्याय यह जीव है, यह गुण है, यह पर्याय है, ये अविभागप्रतिच्छेद हैं – ऐसा भिन्न-भिन्न भेद पाड़कर सबको जानती है। ऐसा चमत्कारी अद्‌भुत रस आत्मा में है और वही आत्मा का प्रभुत्व है। आत्मा द्रव्य है और उसमें शक्तियाँ अनंत हैं। प्रभुत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है, परन्तु अन्य किसी भी पर्याय को आगे-पीछे करने में उसकी प्रभुता नहीं चलती। वह अपने में अपने से अपने लिए ही है अन्य में फेर-बदल कर सके – ऐसी प्रभुता किसी भी द्रव्य-गुण में नहीं है।

प्रश्न – जो पर्याय जब होनी होती है, वही अपने नियतक्रम में क्रमबद्ध होती है, तब फिर पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ?

उत्तर – 'द्रव्य में जिस समय जो पर्याय होनी है, उस समय वही प्रगट होती है' – ऐसा यथार्थ निर्णय करनेवाले की दृष्टि अपने शुद्ध चैतन्य- द्रव्य पर ही जाती है अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर दृष्टि जाने पर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है और इस निर्णय में द्रव्यदृष्टि का अनंत पुरुषार्थ होता है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि ही सम्यक्‌दृष्टि है। प्रतिसमय द्रव्य में जो पर्याय होती है, वही उसका जन्मक्षण है – ऐसा प्रवचनसार गाथा १०२ में कहा है। उसका अर्थ है कि उसे कोई परवस्तु या निमित्तादि की अपेक्षा नहीं है। 'निमित्त आए तो काम हो' – ऐसा माननेवाला तो एकांत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्तवादी है, अज्ञानी है। अरे, निमित्त की तो बात ही क्या, वर्तमान उत्पन्न हुई पर्याय को पूर्व व्यय हुई पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है। निमित्त है, पूर्वपर्याय का व्यय भी है, ये नहीं हैं – ऐसी बात नहीं है; परन्तु उत्पादरूप पर्याय को उसकी अपेक्षा नहीं है। अहो ! वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा के सिवाय यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की ३२१, ३२२ व ३२३वीं गाथा में कार्तिकेयस्वामी लिखते हैं कि सर्वज्ञदेव ने जिस जीव का जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से नियत जाना है, उस जीव का, उस देश में, उसी विधि से जो-जो होता है; उसे इन्द्र या जिनेन्द्र – कोई भी टालने या बदलने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार जो निश्चय से सर्व द्रव्यों, गुणों और सर्व पर्यायों को जानता है, वही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की जिससमय में जो पर्याय उत्पन्न होने योग्य है, उस काल में वही पर्याय उत्पन्न होती है। इसतरह यथार्थ जाननेवाले की दृष्टि पर्याय पर न रहकर त्रिकाली द्रव्य पर जाती है और यही स्वभावदृष्टि का सम्यक् पुरुषार्थ है।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय के निर्णय के साथ पुरुषार्थ आ ही जाता है। क्रमब्रद्ध को मानने से पुरुषार्थ उड़ जाता है – ऐसी शंका योग्य नहीं है। कालनय में काल की विवक्षा है, वैसे ही अकालनय में उसी कार्य के प्रति अन्य हेतुओं अर्थात् स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और निमित्त की विवक्षा है। वहाँ अकालनय का ऐसा अर्थ नहीं है कि वह पर्याय अपने नियतकाल में – स्व-काल में न होकर आगे-पीछे हो। अकालनय का अर्थ ऐसा है कि होनेवाली पर्याय के समय स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और निमित्त की मुख्य विवक्षा है। वास्तव में तो प्रत्येक पर्याय अपने नियतकाल में ही प्रगट होती है तथा उस समय बाह्य और अभ्यंतर पाँचों समवायरूप सामग्री का भी सहज ही योग होता है। अकालनय में काल नामक समवाय की मुख्यता न होकर उक्त शेष चार समवायों की मुख्यता होती है।

छट्ठे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकार का राग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है, जबकि सातवें गुणस्थान में मात्र अबुद्धिपूर्वक ही राग होता है। जो क्षयोपशमज्ञान से पकड़ में आ जावे – ऐसा राग बुद्धिपूर्वक कहलाता है और जो पकड़ में ना आवे – ऐसा राग अबुद्धिपूर्वक कहलाता है।

देखो ! समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने क्रमबद्ध संबंधी बहुत स्पष्ट वर्णन किया है। प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने ही परिणामों से उत्पन्न हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। मूल संस्कृत टीका में 'क्रमनियमित' शब्द आया है अर्थात् द्रव्य में प्रकट होनेवाले प्रत्येक परिणाम क्रम से अपने निश्चित क्रम में अपने ही स्वकाल में प्रकट होते हैं, आगे-पीछे नहीं।

भाई ! यह तो त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी में से झरा हुआ परमामृत है, इसके रसपान बिना सभी व्यर्थ है। परन्तु क्या करें ? अभी तो सभी की पढ़ाई ही निमित्ताधीन दृष्टिवाली है। अतः स्वानुभव कहाँ से हो?

अरे भाई ! कैसे भी करके इस जीवन में यह बात तो समझना ही है। 'यह मुझे समझ में नहीं आता' – ऐसी निराशा की बात मत कर। सब तरफ से शल्य छोड़कर 'मैं सर्वशक्ति सम्पन्न स्वाधीन तत्त्व हूँ' – ऐसा अभ्यास कर तो अवश्य ही तुझे स्वानुभव होगा। समयसार के ३४वें श्लोक में आता है कि तू चैतन्यमात्र वस्तु को ही निश्चल होकर देखने का छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से तेरे हृदयसरोवर में जिसका तेज/प्रताप/ प्रकाश पुद्गल से भिन्न है – ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? – ऐसा करने से तुझे तेरे निज भगवान आत्मा की अवश्य प्राप्ति होगी; क्योंकि यह ऐसी ही बात है अर्थात् जब स्वयं जाग्रत है और कमर कस कर समझने के लिए तैयार है तो फिर तब वह प्राप्त क्यों नहीं होगा।

देखो ! निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्ध – ये पाँच सिद्धांत खास समझने लायक हैं। कितने ही लोग इन्हें समझे बिना ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इनका विरोध करते हैं। एकबार यह बात सुनकर पण्डित देवकीनन्दनजी बोले कि ''अहो ! क्रमबद्ध की ऐसी बात हमने तो अबतक कहीं सुनी नहीं। हम सब पण्डितों की पढ़ाई निमित्ताधीन दृष्टिवाली है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वतंत्रपने अपने उपादान से प्रगट होती है – यह बात हमारे अभ्यास में कभी नहीं आई, अनुभव होने की बात तो बहुत दूर''

अरे भाई ! भगवान ने इस विश्व में छह द्रव्य देखे हैं, उनमें से एक जीवद्रव्य है और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। ये सभी जीव-अजीव द्रव्य प्रतिसमय अपने-अपने क्रमबद्ध परिणामों से निरन्तर उपजते हैं। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणामों को उपजावे – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। समयसार ३०८ से ३११ तक चार गाथाओं में आचार्यदेव ने ही बात प्रसिद्ध की है। ऐसी वस्तुव्यवस्था स्वीकार कर जो अन्तर्मुख दृष्टि करते हैं, उन्हें ही क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है, उनके क्रमबद्ध में निर्मल आनंद की धारा प्रारंभ होती है। अहा ! अनंत प्रभुतामय अपने प्रभु को पहिचाने बिना कोई क्या करे ? बिरले जीव ही अन्दर स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ करके अपनी प्रभुता को पहिचान कर अल्पकाल में केवलज्ञान लेकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अरे प्रभु ! ये मोह-राग-द्वेषादि का चक्र तेरे सिर पर घूम रहा है और तू अपने सहजानंद स्वरूप को भूलकर प्रमादी होकर सो रहा है। जाग रे नाथ! नियमसार में आता है कि ये सब कुटुम्ब-परिवार-पुत्र-मित्रादि लुटेरों की टोली है। ऐसी स्थिति में जो बिरले जीव मोहमुक्त होकर अपने त्रिकाली शुद्ध सहजानन्द स्वरूप की संभाल करते हैं। वे अपना कल्याण कर पाते हैं।

अहा ! अन्दर स्वयं चैतन्यमहाप्रभु विराजता है, उसकी प्रभुता को भूलकर तू बाहर में कहाँ भ्रमता है; अनंतगुणों की प्रभुता से लबालब तू ऐसे निजस्वरूप की महिमा लाकर अन्तर्मुख हो। इसके अलावा बाहर में कहीं से तेरी प्रभुता प्रगट नहीं हो सकती।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

८. विभुत्वशक्ति

सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।

सर्वभावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति है।

सर्वभावों में व्यापक ऐसे एकभावरूप विभुत्वशक्ति। जैसे ज्ञानरूपी एकभाव सर्वभावों में व्यापक है, उसीप्रकार एकभावरूप विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमय पदार्थ है, वह कर्म और शरीर से सदा ही भिन्न है। आत्मा के अन्दर जो पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, उनसे भी भगवान आत्मा वास्तव में भिन्न ही है; क्योंकि विकल्पों का त्रिकाली के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह तो अपनी अनन्तशक्तियों से ही अभिन्न रहता है, एकरूप रहता है; क्योंकि आत्मा की अनंतशक्तियों में से इस समयसार में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, जिनमें से यहाँ आठवीं विभुत्वशक्ति का वर्णन शुरू करते हैं –

विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक ऐसे एकभावरूप है। आत्मवस्तु में जो ज्ञान-दर्शन-चिति-जीवत्व-प्रभुत्व आदि अनन्त शक्तियाँ हैं, उनको यहाँ भाव कहा है।

द्रव्य, गुण, पर्याय और राग अर्थात् विकारी पर्याय – इसप्रकार भाव शब्द का प्रयोग चार अर्थों में किया जाता है।

इनमें से यहाँ त्रिकाली शक्ति को भाव कहा है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक है; फिर भी अन्य अनंतभावोंरूप नहीं होती, वह तो सदा एकभावरूप ही रहती है। एकभाव में रहकर भी अनंतगुणों में व्यापना आत्मा का विभुत्व है। यहाँ ज्ञान का दृष्टांत दिया है। जिसप्रकार ज्ञानरूपी एकभाव सर्वभावों में व्यापक है, उसीप्रकार एकभाव रूप विभुत्व भी सर्वभावों में, सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्यापक है। इसप्रकार विभुत्व स्वभाव द्वारा आत्मा सर्वव्यापक है तथा आत्मा का प्रत्येक

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुण भी विभु अर्थात् सर्वव्यापक है।

अन्यमती आत्मा को ब्रह्म के रूप में पूरे विश्व में व्यापक मानते हैं; उनका मानना है कि आकाश (लोकाकाश) में सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही है; परन्तु भाई! आत्मवस्तु ऐसी नहीं है। यहाँ तो जो अपने सर्व गुण-पर्यायों में व्यापे उस आत्मा को विभु कहा है। प्रत्येक आत्मवस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर बाहर कहीं भी (अन्यद्रव्यों में) व्याप्त नहीं होती। इसप्रकार बाह्य के समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपने अनन्त गुण-पर्यायों में व्याप्त आत्मा विभुस्वभावी है।

प्रश्न – स्तोत्रों में जगह-जगह भगवान अरहंत को विभु कहा गया है उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – भगवान भी विभुत्वस्वभाव के प्रगट होने पर आत्मा के सर्व अनंतगुण-पर्यायों में रहते हैं, इसलिए विभु हैं। आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके कारण आत्मा लोकालोक में व्याप्त हो। हाँ! ऐसी शक्ति अवश्य है कि आत्मा अपने में रहकर लोकालोक को सहज जानता है – ऐसा इसका विभुत्वपना है।

अहो ! यह विभुत्वशक्ति अजब-गजब की है। आत्मा तो विभु है ही, 'ज्ञान-दर्शन-चारित्र' आदि अनन्तगुण भी स्वतंत्रपने पृथक्-पृथक् विभु हैं। जैसे अस्ति गुण से सभी गुण अस्तिरूप हैं; वैसे ही विभुत्वगुण भी सभी गुणों में व्यापकर उनको विभुत्वशक्तियुक्त बना देता है।

ऐसी निज विभुत्वशक्ति को जानकर तथा शक्ति और शक्तिवान के भेद का लक्ष्य छोड़ अभेद-अखण्ड एक शक्तिवान द्रव्य पर दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। यह धर्म करने की रीति है।

शक्तियों का भेद मात्र जानने लायक है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए तो दृष्टि भेद पर से हटाकर अभेद पर ही ले जाना पड़ेगी।

देखो, द्रव्य में-आत्मवस्तु में सर्वशक्तियाँ अक्रम से अर्थात् एक साथ रहतीं हैं और पर्यायें क्रम से एक के बाद एक सुनिश्चित होती हैं। जैसे ज्ञानगुण की पर्याय एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं, वैसी ही सभी गुणों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की पर्यायें होती हैं।

इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि 'केवलज्ञान की अपेक्षा तो प्रत्येक पर्याय नियत/क्रमबद्ध है; परन्तु श्रुतज्ञान अल्पज्ञ है, इसलिये श्रुतज्ञान की अपेक्षा भी पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं – यह बात समझ में नहीं आती है।

अरे भाई ! शक्ति और शक्तिवान द्रव्य के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एक त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और सभी भावश्रुतज्ञान में भी सर्वपर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, ऐसा निर्णय होता है। अहा! केवलज्ञान में जो वस्तु व्यवस्था भासी है, उससे विपरीत वस्तुव्यवस्था श्रुतज्ञान में भासे तो वह सम्यक् श्रुतज्ञान ही कैसा ? वह तो कुश्रुतज्ञान है, मिथ्याज्ञान है।

भाई ! हम तो वर्षों से कहते आ रहे हैं कि प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय जो-जो पर्यायें होती हैं, वे पर्यायें क्रमबद्ध-क्रमनियमित ही प्रगट होती हैं, उनमें आगे-पीछे या उल्टी-सुल्टी होने का प्रश्न ही नहीं है। भाई ! यह तो केवली भगवान का फरमान है। जैसे मोती की माला में जहाँ-तहाँ, जो-जो मोती हैं, वह वहाँ-वहाँ (प्रकाशित) है। उसे आगे-पीछे करने जायें तो माला टूट जायेगी। वैसे ही प्रत्येक द्रव्य की तीन काल में जो-जो पर्यायें प्रगट होनी हैं, वे ही प्रगट होती हैं। उन्हें आगे-पीछे करने का विकल्प मिथ्या है। आगे-पीछे करने से पर्यायों का क्रम टूट जायेगा और अखण्ड द्रव्य सिद्ध नहीं होगा।

इस पर कोई प्रश्न करे कि – क्रमबद्ध का अर्थ एक के बाद एक होना तो ठीक है; परन्तु पर्याय भी निश्चित है यह समझ में नहीं आता।

अरे भाई ! द्रव्य की त्रिकालवर्ती प्रत्येक पर्याय का क्रम नियत-निश्चित ही है, कोई भी पर्याय कभी भी उल्टी-सुल्टी नही हो सकती। प्रत्येक पर्याय अपने क्षणिक उपादान की योग्यतानुसार जिस काल में, जो होने योग्य है, उसी काल में वही अपनी निश्चित योग्यता से प्रगट होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो, यह विभुत्वशक्ति द्रव्य-गुण में व्यापक है और द्रव्य की अनंत शक्तियाँ क्रमबद्ध पर्यायरूप परिणमती हैं। बहिर्दृष्टि होने के कारण उसका अन्दर में स्वीकार नहीं होता। परन्तु एक, अभेद, शुद्ध अंतःतत्त्व की दृष्टि करते ही पर्याय क्रमबद्ध होती है – इसका यथार्थ निर्णय होता है। यह बात प्रवचनों में हमने विस्तार से कही है।

प्रश्न – क्रमबद्धपर्याय मानने से नियतवाद हो जाता है ?

उत्तर – अरे भाई ! जैसे द्रव्य और उसकी शक्ति नियत और निश्चित है, वैसे ही अपनी क्षणिक उपादान की योग्यता से समय-समय में प्रगट हुई प्रत्येक पर्याय भी नियत ही है। 'जिस समय जो पर्याय होने योग्य है, वही होती है' ऐसे क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाने से होता है। अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि न होने से यह बात जमती नहीं है। वह कहता है कि श्रुतज्ञान की अपेक्षा नियत नहीं है, परन्तु भाई ! तेरा यह तर्क यथार्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतज्ञान की अपेक्षा भी प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही है – ऐसा निर्णय सम्यग्दृष्टि को होता है। भाई! जरा दृष्टि को सूक्ष्म करके यह समझने का प्रयत्न कर!

प्रश्न – पंचास्तिकाय की १५५वीं गाथा में ऐसा कहा है न कि – संसारी जीव को नियत और अनियत दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं ?

उत्तर – हाँ, वहाँ नियत और अनियत की बात है, वहाँ स्वभाव और स्वभाव में लीन निर्मलपर्याय को नियत कहा है और जो विभावरूप पर्याय प्रगट होती है उसे अनियत कहा है; परन्तु अनियत पर्याय का अर्थ पर्याय आगे-पीछे हो या उल्टी-सुल्टी हो ऐसा नहीं है। अनियत का अर्थ है – स्वभाव में अनवस्थित, अनेकरूप विकारी पर्याय; परन्तु ऐसी अनियत पर्याय भी जिस समय प्रगट होती है, वह नियत क्रमबद्ध ही प्रगट होती है। गाथा और टीका में गुण-स्वभाव और निर्मलपर्याय को नियत कहा है।

भाई ! अपनी कल्पनाबुद्धि से शास्त्रों का अर्थ करना कोई समझदारी नहीं है। पानी का शीतल स्वभाव है और उसकी स्वभावलीन शीतलदशा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नियत है तथा अग्नि के निमित्त से पानी की उष्णदशा अनियत है, ऐसी बात नहीं है।

जैनतत्त्व मीमांसा में पण्डित फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "जब से 'सर्व द्रव्यों की पर्यायें क्रमनियमित (क्रमबद्ध) होती हैं;' यह तथ्य सामने आया है, तब से ही विद्वानों द्वारा ऐसा कुतर्क उठाया जाता है। पहले तो इस ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं था; परन्तु ऐसा कुतर्क करते समय वे यह क्यों भूल जाते हैं कि जैनधर्म में तत्त्वप्ररूपणा का मूल आधार ही केवलज्ञान है?"

श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन को सम्यग्दर्शन अधिकार कहा है। ज्ञेय का स्वभाव ही ऐसा है कि जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी, वह उसका जन्मक्षण है – ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टि को होती है। सम्यग्दर्शन का विषय भले ही अभेद एक ज्ञायक हो, परन्तु ज्ञानप्रधान शैली से ज्ञान और ज्ञेय दोनों तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति सम्यग्दर्शन कहा है। अकेले द्रव्य की अभेद दृष्टि वह सम्यग्दृष्टि – यह श्रद्धाप्रधान कथन है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृ की यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है, वह ज्ञानपर्याय है। ज्ञेय और ज्ञाता की ज्ञातृतत्त्व में क्रियान्तर से निवृत्तिरूप परिणति जिसका लक्षण है, वह चारित्रपर्याय है। यह ज्ञान-प्रधान शैली में सम्यग्दर्शन की व्याख्या है।

श्रीमद्राजचन्द रचित आत्मसिद्धि में 'अनुभव, लक्ष, प्रतीति, – ये' शब्द आते हैं; वहाँ अनुभव को चारित्र की पर्याय, लक्ष को ज्ञान की पर्याय और प्रतीति को श्रद्धा की पर्याय कहा है। तथा प्रवचनसार में अनुभव को ज्ञान की पर्याय कहा है और शुभराग की क्रिया से निवृत्ति और अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में रमणता को चारित्रपर्याय कहा है।

जो जीव ऐसे अपने विभुरूप अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का विश्वास करके उसमें स्थिर होता है। वह अनंतगुणों की विभूति को प्राप्त होता है। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

९. सर्वदर्शित्वशक्ति

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः।

"समस्त विश्व को सामान्यपने देखनेरूप (अर्थात् सर्वपदार्थों के समूहरूप लोकालोक की सत्तामात्र-ग्रहणरूप) परिणमन करनेवाली ऐसी आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है।"

समस्त विश्व को सामान्यपने – भेद किये बिना देखे-ऐसी सर्वदर्शित्व शक्ति है। यह जीव है, यह जड़ है, यह गुण है, यह गुणी है, यह भव्य है, यह अभव्य है इत्यादि भेद किये बिना समस्त लोकालोक को सामान्य सत्तारूप से देखनेरूप परिणमन करनेवाली ऐसी आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति है। लोकालोक को सत्तामात्र सामान्यपने देखना अर्थात् 'पदार्थ है' बस इतना देखना सर्वदर्शित्वशक्ति है। दर्शन कोई भेद नहीं करता है।

यहाँ जो यह सर्वदर्शित्वशक्ति कही है वह आत्मदर्शनमयी है।

यहाँ कोई कहता है कि – 'सभी को देखे' ऐसा कहने पर तो अनन्त पदार्थ आ गये, अतः पर को देखता है, ऐसा भी आ गया तो फिर यह सर्व-दर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी किसप्रकार है? अर्थात् पूरे लोकालोक को देखे तो उसकी अपेक्षा आयी कि नहीं?

समाधान– अरे भाई! सर्वदर्शित्वशक्ति देखनेरूप परिणमन करती है, वह आत्मदर्शनमयी परिणाम है, जरा सूक्ष्म बात है, विश्व को देखने के लिए विश्व के प्रति उपयोग नहीं जोड़ना पड़ता। सहज ही समस्त विश्व को देख लेता है।

सर्व शब्द से स्वपर सहित पूरा लोकालोक आ गया। सर्व को देखती है – इसमें पर को देखती है ऐसा भी आ गया, परन्तु पर को देखती है – ऐसा कहना तो असद्भूतव्यवहारनय है।

सम्पूर्ण विश्व अर्थात् अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें – इसतरह सम्पूर्ण लोकालोक को सामान्यपने महासत्ता को ग्रहण

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करने रूप परिणमित आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। इस शक्ति और शक्तिवान का भेद न करके त्रिकाली अभेद आत्मद्रव्य की दृष्टि करते ही शक्ति का पर्याय में परिणमन होने से है उसे आत्मदर्शनमयी कहा है।

केवली परमात्मा कहते हैं कि जैसे आत्मा में जीवत्व आदि अन्य शक्तियाँ अनादि-अनन्त हैं, वैसे ही सर्वदर्शित्वशक्ति भी अनादि-अनन्त है। वैसे तो दृशिशक्ति में यह सर्वदर्शित्वशक्ति गर्भित है; परन्तु दृशिशक्ति में सर्वदर्शिपने की बात नहीं की, इसलिए सर्वदर्शित्वशक्ति अलग से दर्शाई है। इसका धरनेवाला द्रव्य जहाँ दृष्टि में आया तो पर्याय में स्व-पर को देखने रूप सर्वदर्शित्व का परिणमन अपने में, अपने से, अपने रूप सहज ही प्रगट हुआ है।

अरे भगवान ! तुझमें कितनी अपार ऋद्धि भरी है – उसकी तो तुझे खबर नहीं है, तू पर में सुख मानकर मूर्ख बना है। सर्वदर्शित्व का जो परिणमन हुआ है वह आत्मदर्शनमय है, परदर्शनमय नहीं है, पर के लक्ष से भी हुआ नहीं है इसमें कितनों को कोई फर्क ही नहीं लगता, परन्तु इसमें तो पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।

जैसे सहज स्वभाविक पारिणामिक भावमय आत्मा है, वैसे ही इसकी यह सर्वदर्शित्वशक्ति भी पारिणामिकभावरूप है। उसमें किसी पर निमित्त की अपेक्षा नहीं। सर्वदर्शित्वशक्ति का परिणमन होता है, वह क्षायोपशमिक या क्षायिकभावरूप होता है। शक्ति की पूर्ण पर्याय क्षायिकभावरूप है और अपूर्ण पर्याय क्षायोपशमिकभावरूप होती है। उनके साथ में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की पर्यायें प्रगट होती हैं। वे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप होती हैं; उसीसमय जो राग मौजूद है, वह औदयिक भाव है। देखो, साधक आत्मा की प्रतीति उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक-भावरूप होती है; चारित्र की दशा उपशम अथवा क्षयोपशमभावरूप होती है और ज्ञान-दर्शन क्षयोपशम भावरूप होते हैं।

समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखने रूप परिणत ऐसी आत्मदर्शन-मयी सर्वदर्शित्वशक्ति। इसमें जो 'परिणत' शब्द आया है, वह सूक्ष्म अर्थ को सूचित करता है। प्रारंभ में ही ऐसा कहा था कि क्रमरूप और अक्रमरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रवर्तता ज्ञान के साथ अविनाभावी संबंधवाले अनन्त धर्मसमूहरूप जो कुछ भी लक्षित होता है, वह सब ही वास्तव में एक आत्मा है। यहाँ क्रम में विकारी परिणाम की बात नहीं है। क्योंकि आत्मा की शक्तियाँ त्रिकाली शुद्ध हैं, उसकी क्रमरूप परिणति शुद्ध ही होती है और जो शक्तियाँ हैं, वे अक्रमरूप हैं। इसतरह क्रमरूप और अक्रमरूप धर्मों के समूह को आत्मा कहा है।

अरे भाई! आत्मा में यदि दर्शन गुण न हो तो आत्मवस्तु अदृश्य हो जाए और जब आत्मवस्तु अदृश्य हो जाए तो सभी वस्तुएँ अदृश्य हो जायेंगी; ऐसा होने पर सर्व ज्ञेय वस्तु का अभाव ठहरेगा, इसलिए दर्शनगुण अर्थात् सर्वदर्शित्व प्रधान है।

अध्यात्म पंचसंग्रह में ऐसा कहा है कि – अभव्य को ज्ञान है, परन्तु ज्ञान की परिणति नहीं। अभव्य जीव को ११ अंग व ६ पूर्व की लब्धि हो सकती है, यह ज्ञान है; मगर ज्ञान की परिणति नहीं है। अहा! एक आचारांग में अठारह हजार पद होते हैं और एक पद में ५१ करोड़ से भी ज्यादा श्लोक होते हैं, इसके दूना सूत्रकृतांग – इसप्रकार आगे दूने-दूने, ऐसे ग्यारह अंग और नवपूर्व का ज्ञान अभव्य को होता है। मगर उसे ज्ञान-स्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय नहीं है। भाई! स्व-आश्रय से ही जो ज्ञान प्रगट होता है उसे ज्ञान परिणति कहते हैं, वह उसे नहीं है।

अध्यात्म पंचसंग्रह में दृष्टांत दिया है – सीताजी को छुड़ाने के लिए लक्ष्मणजी ने रावण के साथ युद्ध किया, तब रावण ने लक्ष्मणजी को शक्ति मारी तो लक्ष्मण बेहोश हो गये। उस प्रसंग पर रामचन्द्रजी मूर्छित हुए लक्ष्मणजी को संबोधते हुए कहते हैं –

हे लक्ष्मण! सीताजी को रावण ले गया। तू ऐसा बेहोश हो गया। अब मैं माता को क्या जबाब दूँगा? इसलिए हे भाई! जाग! बन्धु! एक बार बोल! इस तरह शोकातुर होकर रामचन्द्रजी विलाप करते हैं। तब कोई निमित्त ज्ञानी ने उन्हें कहा – भरत के राज्य में एक राजा की एक कुँवारी कन्या विशल्या है, उसे लब्धि प्रगट है कि उसके स्नान का पानी लक्ष्मणजी पर छिड़का जावे तो लक्ष्मणजी मूर्छा तजकर तत्काल बैठ जायेंगे।

वह विशल्या कौन है? वह पूर्व भव में चक्रवर्ती की पुत्री थी, उसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई हरण करके ले गया और जंगल में छोड़ दिया, वहाँ एक बड़ा अजगर उसे निगल गया, थोड़ा-सा मुँह बाहर रहा था कि इतने में उसका पिता उसे खोजने जंगल में आ पहुँचा। उसने बाण से अजगर को मारने की तैयारी की तो कन्या ने पिता से कहा – पिताजी! अजगर को मारना नहीं, क्योंकि मैंने तो जीवनपर्यन्त अन्न-जल का त्याग कर दिया है। अब मैं किसी भी प्रकार बच तो सकती नहीं, इसलिए अजगर को व्यर्थ ही क्यों मारना? अहा! कैसी दृढ़ता! और कैसी करुणा! कन्या मरकर भरत के राज्य में एक राजकन्या के रूप में विशल्या हुई है।

सैनिको! उस कन्या को ले आओ। विशल्या ने ज्यों ही लश्कर के पड़ाव में प्रवेश किया कि घायल सैनिकों के घाव क्षणमात्र में ही अपने आप सूखने लगे तथा विशल्या के स्नान का पानी जहाँ लक्ष्मणजी पर छिड़का कि तुरन्त लक्ष्मणजी की मूर्छा टूट गई, होश में आकर एक क्षण में ही लक्ष्मण खड़े हो गये और बोले कहाँ गया रावण? बाद में उसी विशल्या के साथ लक्ष्मणजी की शादी हुई।

यहाँ सिद्धांत यह है कि – त्रिकाल ज्ञानानन्द-सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा जब निर्मल परिणतिरूपी रमणी के साथ जुड़ता है, तब अनन्त गुणरूप शक्ति पर्याय में खिल जाती है। यहाँ 'परिणत' कहा है। शक्ति पर्याय में न खिले, कार्यरूप न परिणमे तो भले अन्दर में पड़ी हो, उससे क्या लाभ? सर्वदर्शित्वशक्ति देखने रूप परिणत कही है, इसलिए प्रगट निर्मल पर्याय सहित शक्ति की बात है और वह प्रगटता आत्मदर्शनमय है, परदर्शनमय नहीं है।

यह अध्यात्म वाणी बहुत सूक्ष्म है भाई! जो शुभभाव में धर्म मानकर सन्तुष्ट है, उसके गले यह बात कैसे उतरे? परन्तु शुभभाव इस जीव ने अनन्तबार किया है। नवमें ग्रैवेयक के अहमिन्द्र पद को भी पाया – ऐसी शुक्ललेश्या के परिणाम भी इस जीव ने अनन्तबार किये हैं। छहढाला में कहा है न –

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो

अहा! शुक्ललेश्या भिन्न चीज है और शुक्लध्यान भिन्न चीज है। शुक्ल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्यान तो भावलिंगी मुनिवर को श्रेणी चढ़ते समय होता है, जबकि शुक्ल-लेश्या के परिणाम तो अभव्य को भी होते हैं। अति उज्ज्वल अति मंदकषाय-रूप परिणाम वह शुक्ललेश्या है। शुक्ललेश्यावाला जीव छटवें देवलोक तक जाता है और नवमें ग्रैवेयक जानेवाले जीव के तो बहुत ऊँचे शुक्ललेश्या के शुभभाव मंदकषायरूप होते हैं। छटवें स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि जाए तो उसे भी शुक्ललेश्या के भाव होते हैं। नवमें ग्रैवेयक को जानेवाले जीव के भाव तो बहुत ऊँचे हैं, फिर भी वह धर्म नहीं। वह तो कषाय का ही अंग है, आकुलतामय है; वह धर्मरूप नहीं और धर्म का कारण भी नहीं।

आचार्यदेव ने शक्तियों का सूक्ष्म और अलौकिक वर्णन किया है। क्रमरूप परिणत और अक्रमरूप प्रवर्तता अनन्तधर्मों के समुदाय को यहाँ आत्मा कहा है। अकेली शक्तियाँ पड़ी हैं ऐसा नहीं है।

श्रीमद्राजचन्द के एक पत्र में आता है कि – चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है, जबकि केवलज्ञान का परिणमन तो तेरहवें गुणस्थान में होगा, परन्तु चतुर्थ गुणस्थान वाले को अपने श्रद्धान में केवलज्ञान की प्रतीति हुई है – इसकारण ऐसा कहा है। शक्ति का शक्ति के अंशरूप और पूर्णस्वरूप की प्रगटता का सम्यग्दृष्टि को यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होता है। इसलिए श्रद्धापने समकिती को केवलज्ञान और मोक्ष हुआ है – ऐसा कहा जाता है।

अहा! जहाँ अपने निधान पर नजर जाती है कि तुरन्त निर्मल दशा प्रगट होती है। उसमें विकार की गंध भी नहीं। जो निर्मलपर्याय प्रगटी वह भावरूप है, उसमें विकार भाव का अभाव है, इसका नाम अनेकान्त है। शक्ति अन्दर पड़ी है, उसके सन्मुख होते ही खिल जाती है। अपनी परिणतिरूपी रमणी के साथ अन्दर में एकाग्र होकर रमणता करने से वह निराकुल आनन्द का भोग देती है। अहा! ऐसा है आनन्द का जन्म स्थान! इसका नाम धर्म और यही मोक्ष का मार्ग है। बाकी तो सब व्यर्थ है। इस शक्ति के वर्णन में दो बातें मुख्य हैं। शक्ति को परिणमती हुई कहा है और वह आत्मदर्शनमयी है, परदर्शनमयी नहीं।

इसप्रकार इस सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। ❖❖❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१०. सर्वज्ञत्वशक्ति

विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

"समस्त विश्व के विशेष भावों के ज्ञानरूप से परिणमित ऐसी आत्म-ज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति है।"

'सब हैं' – बस इतनी ही बात दर्शनशक्ति में थी। भेद किये बिना सामान्यपने पूरा लोकालोक अस्तिरूप है – ऐसा दर्शनशक्ति देखती है। यह आत्मा है, यह जड़ है, ये सिद्ध हैं, यह साधना है, यह गुण है, यह पर्याय है – ऐसा भेद दर्शनशक्ति का विषय नहीं है। विश्व के जो अनन्त विशेषभाव हैं, उन सभी को विशेषरूप जाने, भिन्न-भिन्न जाने – ऐसी आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति है। 'जाने' – बस इतना ही इसका काम है। उसमें ठीक अठीक करना – यह सर्वज्ञत्वशक्ति का काम नहीं।

अध्यात्मपंचसंग्रह में कहा है कि एकसमय में सभी को भेद किये बिना सामान्यपने अस्तित्वरूप से देखना सर्वदर्शित्व का कार्य है और उन्हीं द्रव्य-गुण-पर्यायों को भिन्न-भिन्न भेद करके जानना सर्वज्ञत्वशक्ति का कार्य है। ये दोनों पर्यायें एक समय में एक साथ हैं। एक पर्याय एक ही समय में सभी को भेद किए बिना देखे। उसी समय दूसरी पर्याय सर्व में भेद करके (कुछ भी बाकी रखे बिना) जाने। ऐसा आत्मा में कोई अद्‌भुतरस है। वहाँ नवरस का वर्णन किया है, उसमें अद्‌भुत रस का अलौकिक वर्णन किया है।

अहो! भगवान आत्मा दिव्य चिच्चमत्कार प्रभु है। इसके निर्णय में अनन्त केवली-सिद्ध भगवंत सहित सर्व लोकालोक के विशेष भावों का निर्णय समा जाता है। अहा! यह सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति तो महा आश्चर्यकारी है। सर्व लोकालोक के अनन्त भावों को उनके सन्मुख उपयोग जोड़े बिना, देखे-जाने – ऐसी है। चैतन्य स्वभावमय आत्मा का

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह अद्‌भुत रस है। अहा ! जिसमें वीतरागी वीरता का वीररस और आनन्दरूप शान्तररस समाया हुआ है – ऐसे आत्मा का यह अलौकिक अद्‌भुत रस है। विशेष भावों में त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, गुणस्वभाव, पर्यायभाव एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद, तीनों काल के अनन्त केवली भगवान सहित अनन्त द्रव्य जानने में आते हैं। जिनको ज्ञान में लोकालोक जानने में आवे – ऐसे अनन्त केवलीभगवान केवलज्ञान की एक पर्याय में जानने में आते हैं। उस केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की ताकत कितनी ? निगोदिया जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का विकास है, जब उसमें अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, तब केवलज्ञान की पर्याय का क्या कहना ? अहाहा....! केवलज्ञान की एक पर्याय में अनन्त-अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न करके भगवान केवली जानें – ऐसी केवलज्ञान की अपार अपरिमित अनन्त सामर्थ्य है। प्रत्येक जीव के अन्दर ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति पड़ी है, परन्तु अन्तर्मुख होकर प्रतीति करे तो खबर पड़े न ?

अहा ! निगोद के जीव भी सत्ता अपेक्षा से शुद्ध त्रिकाल एक ज्ञायकभाव स्वरूप हैं। हे भगवान! ऐसा आपने केवलज्ञान में देखा है। भाई ! ये जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे आत्मा नहीं हैं; गंभीर बात है प्रभु ! निगोद के जीव भी स्वभाव से अर्थात् शक्ति अपेक्षा शुद्ध हैं, पर्याय में एक समय की अशुद्धता है। भूल तो एक समय की है; परन्तु वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध है, ऐसी निज वस्तु में एकाग्र होकर प्रवर्ते तब निश्चय होता है; परन्तु जबतक अल्पज्ञता माने, तबतक सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति नहीं अर्थात् तबतक उसे सर्वज्ञंस्वभाव परिणत नहीं हुआ।

अहाहा.....! मैं तो एक शुद्ध ज्ञानानन्द-सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा हूँ। ऐसा निश्चय करके उसमें एकाग्र होते ही, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है, मेरा केवल- ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभाव है, ऐसी केवलज्ञान की जिसे प्रतीति होती है, उसे श्रद्धा से केवलज्ञान प्रगट हुआ है। ज्ञान की केवलज्ञानरूप पूर्णदशा तो तेरहवें गुणस्थान में प्रगट होगी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अरे भाई ! त्रिकाली ध्रुव अखण्ड एक ज्ञायकस्वभावी आत्मद्रव्य की दृष्टि-प्रतीति करते ही अज्ञानजन्य पर की महिमा उड़ जाती है। तब स्वरूप में विश्रान्त होते हैं, स्थिर होते हैं और आत्मा में दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, सुख, वीर्य, प्रभुत्व आदि अनन्त शक्तियों का निर्मल-निर्मल परिणमन उछलता है, प्रगट होता है; इसका ही नाम धर्म है और यही मोक्षमार्ग है। साध्य आत्मा की इसप्रकार सिद्धि होती है। इसके अलावा व्रत पालना, दया करना इत्यादि व्यवहाररूप ही हैं। अरे प्रभु ! राग की ममता की आड़ में तेरा परमनिधान तेरी नजर में आया नहीं।

इसमें अकेली शक्ति की बात नहीं है, परन्तु आत्मज्ञानमय परिणमित हुई शक्ति की बात है। आत्मा को जानने रूप परिणमित हो – ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति है। वह पर को जानती है या नहीं, यहाँ यह प्रश्न नहीं है, यहाँ तो पर को जानने के प्रति वह सावधान नहीं, पर में तन्मय नहीं, पर में तन्मय होकर पर को जानती नहीं – ऐसी बात है। इसलिए पर को जानना कहना – यह असद्भूत व्यवहारनय है। जिसमें पर लोकालोक झलके ऐसी अपनी पर्याय अपने में तन्मय होकर जानती है। नियमसार १६६ गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि निश्चय से केवली भगवान आत्म- स्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं – ऐसा यदि कोई कहे तो भले कहो, उसमें क्या दोष है ? यहाँ निश्चय-व्यवहार के संबंध में ऐसा समझना कि जिसमें स्व की अपेक्षा हो वह निश्चय कथन है। नियमसार १६६ गाथा में कहते हैं कि – 'व्यवहार से केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, आत्मा को नहीं' – ऐसा यदि कोई कहे तो भले कहे, इसमें भी कुछ भी दोष नहीं। नियमसार शुद्धोपयोग अधिकार के २८५वें श्लोक में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि – तीर्थंकर वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक अनघ (निर्दोष) निज सौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते – ऐसा कोई मुनिवर व्यवहार मार्ग से कहे तो उसमें कोई दोष नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष जिस विवक्षा से कहते हैं, उस विवक्षा को यथार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समझना चाहिए। निश्चय से केवली भगवान स्वात्मा को जानते हैं, लोकालोक को नहीं और व्यवहार से केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, स्वात्मा को नहीं। इस तरह इन दोनों कथन की यथार्थ विवक्षा है।

भगवान लोकालोक को जानते ही नहीं – ऐसा नहीं है, परन्तु भगवान का उपयोग वास्तव में अन्तर्मुख स्वरूपप्रत्यक्ष और स्वरूपनिष्ठ है; वे लोकालोक में तन्मय नहीं, लोकालोक में जुड़कर उपयुक्त नहीं हैं; परन्तु निजानंदरस लीन हैं। यदि लोकालोक में तन्मय होकर जानें तो नरकादि के क्षेत्र का दुःखरूप वेदन उन्हें होगा, परन्तु ऐसा नहीं है; इसलिए कहा है कि केवली भगवान लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं। अतः सर्वज्ञशक्तित्व के पूर्णभाव से परिणमित होने पर जो केवलज्ञान हुआ; वह आत्मज्ञानमय है, पर ज्ञानमय नहीं; गंभीर बात है भाई!

अहा! आत्मा के जीवत्व, प्रभुत्व आदि अनन्तगुणों में एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी साथ में परिणमती है। सर्वज्ञत्वशक्ति की पूर्णता केवलज्ञान है, वह केवलज्ञान स्वलक्ष्य से है अर्थात् स्वरूप की एकाग्रता से खिलता है। पर के अर्थात् जगत के लक्ष्य से खिला है – ऐसा नहीं है। यदि लोकालोक के कारण केवलज्ञान हुआ हो तो लोकालोक तो अनादि-अनन्त है तो केवल- ज्ञान भी अनादि से प्रत्येक जीव को होना चाहिए था, परन्तु ऐसा है नहीं। जब जीव स्व में एकाग्र होकर अर्थात् स्वद्रव्य को ही कारणपने से ग्रहण कर स्वरूप में स्थिर होता है, तब केवलज्ञान होता है। उसमें पूरा जगत ज्ञेयरूप से झलकता है। वहाँ शक्ति का परिणमन स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं; आत्मज्ञानमय है, पर ज्ञानमय नहीं। अहा! सर्वज्ञता तो शक्ति की स्वाश्रितरूप पूरण प्रसिद्धि है, परन्तु सर्वज्ञता सुनते ही अज्ञानियों का बाह्य भेदों के प्रति लक्ष्य जाता है, परन्तु जिसमें से सर्वज्ञदशा खिली है, उस सर्वज्ञत्वशक्ति के प्रति लक्ष्य जाता ही नहीं और अन्तर्लक्ष्य हुये बिना सर्वज्ञ की सच्ची प्रतीति नहीं होती।

जीव अपने स्वरूप के भान बिना अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है। सातवें नरक में भी यह अनेक बार गया है। देखो ! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मरकर सातवें नरक के महादुःख भोग रहा है। यहाँ ७०० वर्ष की आयु को भोगकर, यहाँ के काल्पनिक सुख के फल में तेतीस सागर की स्थिति बाँधकर घोर दुःखदायक क्षेत्र में गया है। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागर होता है और एक पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाणकाल में असंख्यात अरब वर्ष होते हैं। आत्मा अन्दर में पूर्ण आनन्द का निधान है; उसका अनादर करके भोगों में सुख मानकर, भोगों का आदर करके उन कल्पित सुखों के फल में ३३ सागरोपम की स्थिति में घोर दुःख भोग रहा है। भोगों में सुख नहीं, भोग तो रोग हैं, दुःख हैं; उनका फल भी दुःख है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की 'कुरुमति' नाम की एक रानी थी, जिनकी हजार देव सेवा करते थे। उसका शरीर अति सुन्दर और कोमल था। चक्रवर्ती पलंग पर सोते-सोते अंतिम समय में 'कुरुमति, कुरुमति', ऐसे आर्त परिणामों सहित पुकार करते-करते प्राण छोड़कर सातवे नरक में गया।

इससे कोई ऐसा कहे कि ककड़ी के चोर को फांसी की सजा तो अनुचित है तो उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं है। भोगों में (मिथ्यात्व सहित) अति तीव्र आसक्ति के महा अशुभभाव उसे थे, वह अपने सर्वज्ञस्वभाव का अनादर कर रहा था, इसलिए सातवें नरक में गया। अहा! अपने सर्वज्ञस्वभाव का आश्रय लेकर परिणमे तो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप निर्मल परिणति सहित आनन्दरूपी पुत्र का जन्म होता है और विषयों में सुखबुद्धि करके, विषय-भोगों को महातीव्र परिणामों से सेवन करे तो जीव नीच गति में जाकर उपजता है।

भगवान आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का एक अन्तर्मुहूर्त ध्यान करे तो केवलज्ञान की जगमगाती हुई ज्योति प्रगट होती है। प्रत्येक समय वह पर्याय भिन्न-भिन्न प्रगट होती है; वैसी की वैसी, मगर वही की वही नहीं। अहा ! ऐसे निज निधान को जाने बिना मिथ्यात्व के सेवन से दुःखमय संसार में जीव परिभ्रमण करता है। उसके दुःख को कौन कहे ? वह वचन अगोचर है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

देखो ! 'होला' नाम का एक पक्षी होता है वह 'सोऽहम्-सोऽहम्' ऐसी आवाज करता है; परन्तु सोऽहम् का उसे भान नहीं है ? 'सोऽहम्' अर्थात् मैं सिद्ध परमात्मा के समान हूँ। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आगम में ऐसा कथन आता है; परन्तु वह भी शुभ विकल्प है। उसमें से 'सो' (सिद्ध परमात्मा) निकाल कर 'अहम्' मैं हूँ – ऐसे स्वलक्ष्य से परिणमन करते ही सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति होती है – ऐसी शक्ति से भरे हुए पूर्ण परमात्म-स्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

पहले प्रश्न किया था कि आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से तो एकांत हो जायेगा ? श्रीगुरु उपदेश देते हैं – सुन भाई! एकांत नहीं होता; परन्तु अनेकान्त ही सिद्ध होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र के साथ अनन्तधर्म आ जाते हैं। जैसे कि ज्ञान अस्तिरूप है, वस्तुरूप है, प्रमेयरूप है, ज्ञायकपने है – इसप्रकार अनन्त-धर्म साथ में आ ही जाते हैं। इसलिए एकान्त नहीं होता। ज्ञान के साथ अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं, इस परिणमन में पर का या राग का कर्तापन तो दूर रहो, परन्तु मैं पर को या राग को जानता हूँ, ये मेरे ज्ञेय हैं – ऐसा भी नहीं है।

चौथे गुणस्थान में स्व-ज्ञेय त्रिकाली स्वद्रव्य में जानने में आता है, तभी सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति प्रगट होती है, तभी मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जायेगा। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा है कि जो जीव अर्हंत को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानता है; वह अपनी आत्मा को भी जानता है, उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

अर्हंत भगवान के द्रव्य, गुण और केवलज्ञान की पर्याय को सर्वप्रथम विकल्प द्वारा जानकर, बाद में अपनी आत्मा के साथ मिलान करता है कि वर्तमान में मुझे भले ही केवलज्ञान प्रगट नहीं, परन्तु द्रव्यस्वभाव से मेरा केवलज्ञानस्वभाव है – ऐसा विचारकर सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मद्रव्य को कारणपने ग्रहण करके जो उसके सन्मुख होकर परिणमता है, उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है अर्थात् प्रगट पर्याय में सम्यग्दर्शन हो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाता है तथा केवलज्ञान की यथार्थ प्रतीति भी तभी होती है और अल्पकाल में साक्षात् केवलज्ञान प्रगट होने की तैयारी हो जाती है। शुभभाव तेरे द्रव्यगुण में तो है नहीं, परन्तु जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उस पर्याय में भी शुभभाव नहीं रहा।

ज्ञानी को अल्पराग आता है, मगर वह उस समय जाना हुआ प्रयोजनवान है। 'तदात्वे' शब्द पड़ा है न! ज्ञानी की स्वपरप्रकाशक ज्ञानपर्याय सहज ही अपनी सामर्थ्य से जानती है। आत्मा राग को जानता है, यह कहना व्यवहार है। निश्चय से तो स्वयं अपने को, अपनी पर्याय को ही जानता है; क्योंकि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय – सब आत्मा ही हैं। आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूप जो पर्याय प्रगट हुई, उसमें पूर्णस्वभाव और पूर्ण पर्याय की प्रतीति आ ही गई, यही आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति की परिणति है।

खाँनिया तत्त्वचर्चा में यह प्रश्न आया है कि सर्वज्ञत्वशक्ति सर्व को जानने की अपेक्षा रखती है, इसलिए सर्वज्ञ व्यवहार से हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। वास्तव में आत्मद्रव्य में सर्वज्ञस्वभाव (शक्ति) सहज ही त्रिकाल-ध्रुवरूप है। पहले से आत्मा अल्पज्ञ ही है अर्थात् सर्वज्ञत्वशक्ति है ही नहीं – ऐसी दृष्टि तो मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञत्वशक्ति है, उसका परिणमन आत्मज्ञानमय ही है। परन्तु जब स्व-पर को जानने की विवक्षा हो, तब व्यवहार प्रगट होता है।

स्थानकवासी संप्रदाय में जहाँ से हम आये हैं वहाँ भी एकबार चर्चा चली थी, तब मैंने उनसे पूछा कि जगत में सर्वज्ञ हैं या नहीं? तब उन लोगों ने कहा – सर्वज्ञ की सर्वज्ञ जानें हमें उनसे क्या काम?

तब मैंने कहा – अरे प्रभु! तू यह क्या कह रहा है? आत्मपदार्थ है या नहीं? आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा का त्रिकाल 'ज्ञ' स्वभाव है। 'ज्ञ' कहो या सर्वज्ञ कहो – वह आत्मा का स्वरूप है। धर्म का मूल ही सर्वज्ञ है; क्योंकि सर्वज्ञस्वभाव के अवलम्बन से ही सर्वज्ञ होते हैं और सर्वज्ञ से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही इस वीतरागी धर्म की उत्पत्ति होती है। इसलिये सर्वज्ञ कौन है ? सर्वज्ञदशा की प्राप्ति का उपाय क्या है ? – यह यथार्थ जानना परम आवश्यक है।

त्रिकालीसर्वज्ञस्वभाव के सम्बन्ध में भी दो मत हैं। श्वेताम्बर मतवाले कहते हैं कि केवलज्ञान पर्यायपने सत्ता में प्रगटरूप से है, उस पर कर्म का आवरण आ गया है। दिगम्बर संत ऋषिवर कहते हैं कि केवलज्ञान द्रव्य में शक्तिरूप से है, पर्याय में उसका अल्पज्ञरूप से परिणमन है। पूर्णज्ञान (पर्याय में) प्रगट नहीं, उसमें निमित्तरूप से कर्म का आवरण है। इसतरह दोनों की बातों में जमीन-आसमान जैसा अंतर है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी स्वरूपप्राप्त व्यक्ति थे। वे ऐसा कहते हैं – जिसे कभी प्रगटरूप से वर्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति नही हुई , परन्तु जिसने वचनयोग से – ऐसा स्पष्ट जाना है कि शक्तिपने केवलज्ञान है, उसे श्रद्धा- दशा की अपेक्षा केवलज्ञान हुआ है, विचार अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है, इच्छा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है, मुख्यनय की अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है।

जैसे संयम का एक अंश दिखता हो तो पूरे संयम का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही अपने सर्वज्ञस्वभाव का निश्चय होते ही ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेयों का निश्चय हो जाता है। जैसे कि मति-श्रुतज्ञान अवयव हैं अर्थात् अंश हैं और केवलज्ञान अवयवी अर्थात् अंशी है। अंश का ज्ञान होते ही अंशी का ज्ञान हो जाता है। धवला में ऐसा पाठ है कि मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश है।

अहा ! केवलज्ञान नया प्रगट होता है, इसलिये नया है, आदि सहित है और उसका कभी अंत नहीं आयेगा, इसलिये अनन्त है – इसप्रकार केवलज्ञान का प्याला सादि-अनन्त है, अनन्तकाल तक सर्वज्ञदेव समाधि में तल्लीन रहेंगे।

परमचारित्ररूप पूर्णवीतरागदशा प्रगट होते ही पूर्ण अकषायरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शांतरस का वेदन होता है। भगवान निजानन्दरसलीन हैं। यह 'परिणमता' शब्द का विस्तार है। भाई! तेरा स्वभाव भी पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता से भरा हुआ है। अन्दर देख तो सही, अन्दर देखते ही हालत सुधर जायेगी। अभी भले ही पर्याय में सर्वज्ञता प्रगटी नहीं है; परन्तु अल्पकाल में सर्वज्ञपद प्रगट होगा – ऐसी प्रतीति चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को हो जाती है। अरे भाई! दोज हुई है तो पूनम भी होगी ही होगी।

भगवान आत्मा शरीर के रजकणों से भिन्न, अचेतनकर्म से भिन्न, पुण्य- पापरूप सब भावकर्मों से भिन्न और अल्पज्ञ दशा से भी भिन्न अखंड, एकरूप सर्वज्ञस्वरूप वस्तु है; वह स्वानुभूति में प्राप्त अवश्य होती है। परन्तु राग, व्यवहार या व्यवहाररत्नत्रय के शुभ विकल्पों से प्राप्त होने योग्य वस्तु का स्वभाव ही नहीं। स्वानुभूति अपने से उत्पन्न होती है, इसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं; गजब की बात है।

अरे भाई! तू कौन है ? तेरे स्वरूप की तुझे खबर नहीं है। समयसार की जयसेनाचार्य कृत टीका में आता है कि – कोई एक गुण भी यथार्थ समझ में आ जाय तो समस्त वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अहा! द्रव्य-गुण-पर्याय, सर्वदर्शित्वशक्ति, सर्वज्ञत्वशक्ति इत्यादि कोई एक भाव (गुण) भी भलीप्रकार लक्ष्य में आ जाये तो समस्त वस्तु लक्ष्यगत हो जाती है। आत्मज्ञानमयी और सर्वज्ञत्व – ये दो चीजें नहीं हैं, दोनों एक ही चीज हैं आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति तो निश्चय है और वह लोकालोक को जानती है – ऐसा विवक्षाभेद करना ही व्यवहार है। यहाँ शक्ति के प्रकरण में निश्चय ही मुख्य है। कोई कहता है कि आप भगवान होने की वकालत करते हो; परन्तु भाई ! यह भिन्न जाति की वकालत है, भगवान होने की वकालत है। तू स्वयं भगवानस्वरूप है, उसे पर्याय में प्रकट करनेवाली यह बात है।

सुबह के प्रवचन में प्रथम कलश में बहुत अच्छी बात आयी थी कि – एक समय में युगपद् प्रत्यक्षरूप से जाननशील जो कोई शुद्धजीव वस्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, उसे मेरा नमस्कार हो। शुद्ध जीव को सारपना घटित होता है। सार अर्थात् हितकारी असार अर्थात् अहितकारी। हितकारी को सुख जानो और अहितकारी को दुःख; क्योंकि अजीव पदार्थ अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को और संसारी जीव को सुख नहीं है, ज्ञान भी नहीं है तथा उनके स्वरूप को जाननेवाले जीव को भी सुख नहीं है, ज्ञान भी नहीं है; इसलिए परमाणु से लेकर शरीर, मन, वाणी, पैसा, स्त्री का शरीर इत्यादि चीजों में सुख नहीं है, ज्ञान भी नहीं है। निगोद के अनन्त जीव हैं, उन्हें भी पर्याय में सुख नहीं है और ज्ञान भी नहीं है। यह शक्ति की बात नहीं है। शक्ति की अपेक्षा तो जीव मात्र सुखी एवं ज्ञानी है। निगोद के अनन्त जीवों को और शरीरादि परमाणु स्कन्धों को जाननेवाले जीव को भी सुख एवं ज्ञान नहीं है। अहाहा.......! संसारीप्राणी निगोद आदि के अनन्त जीव, जो मलिन भाव से पर्याय में परिणमित हो रहे हैं; उन्हें प्रकट दशा में सुख नहीं है और ज्ञान नहीं है। वस्तु में त्रिकाल सुख-स्वभाव और ज्ञान स्वभाव है। उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि जो अज्ञानी जीव निगोद आदि संसारी जीवों को जानता है, उसे सुख नहीं है और ज्ञान भी नहीं है। अहा....! राजमलजी ने गजब की टीका की है। निगोद आदि संसारी जीवों को तो पर्याय में सुख नहीं है, परन्तु उनको जाननेवाले को भी सुख और ज्ञान नहीं है। गजब बात है भाई!

शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है और सिद्ध परमात्मा शुद्ध जीव हैं। उन दोनों को सुख भी है, ज्ञान भी है और उनको जाननेवाले जीव को भी सुख है और ज्ञान है; परन्तु जीव को जाना कब कहा जाय? भगवान सिद्ध परमात्मा जिसप्रकार शुद्ध हैं; उसीप्रकार मेरा भगवान आत्मा भी त्रिकाल शुद्ध है। अहाहा....! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' इस त्रिकाली शुद्ध की दृष्टिपूर्वक परिणमन करने से, स्व-द्रव्य के सन्मुख होकर उसके आश्रय से, स्वानुभव की दशा प्रकट

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होती है, निर्मल श्रद्धान-ज्ञान प्रकट होता है और साथ में अतीन्द्रिय सुख के आस्वादरूप दशा भी प्रकट होती है। नाटक समयसार में आता है कि –

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताको नाम।।

जब स्वानुभव की दशा प्रकट होती है, तब शुद्ध को जाना कहा जाता है। शुद्ध जीव में सुख है, ज्ञान है; इसलिए उसे जाननेवाले को भी सुख और ज्ञान है।

सिद्ध को जानने से सुख है या नहीं ? हाँ सिद्ध को जानने से सुख है; परन्तु सिद्ध को जाना कब कहा जाय कि स्वयं का स्वभाव सदा सिद्ध समान शुद्ध है – ऐसा निश्चय करके स्वभावसन्मुख होकर उसका अनुभव तथा प्रतीति करे, तब सिद्ध को जाना कहा जाय। साथ ही साथ उसमें लीन होने से अतीन्द्रिय सुख का आस्वाद भी होता है।

इसमें स्वद्रव्य को जानने की क्या आवश्यकता है ? अरे भाई! परद्रव्य को जानने जाना तो विकल्प है और विकल्प तो दुःख ही है। मोक्षपाहुड की सोलहवीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि –

'परदब्बादो दुग्गइ' स्वद्रव्य के अलावा अन्य द्रव्य के ऊपर तुम्हारा लक्ष्य जायेगा तो नियम से विकल्प उत्पन्न होगा और उससे तुम्हें दुःख ही होगा।

अहा ! मेरी पर्याय में सर्वज्ञता नहीं है और भगवान की पर्याय में सर्वज्ञपना प्रकट है। वह सर्वज्ञपना पर को जानने से प्रकट नहीं हुआ है, अतः पर को जानने की इच्छा से विराम लेकर स्वस्वरूप के आश्रय से परिणमन करो, उसी में रम जाओ, उसी में स्थिर एवं लीन हो जाओ – यही सर्वज्ञ होने का मार्ग है।

इसप्रकार यह सर्वज्ञत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

११. स्वच्छत्वशक्ति

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोग स्वच्छत्व-शक्तिः।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है – ऐसी स्वच्छत्वशक्ति।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेक आकाररूप – उपयोग जिसका लक्षण है वह स्वच्छत्वशक्ति है। जिसप्रकार दर्पण की स्वच्छता से उसमें मुखमण्डल आदि प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से आत्मा के उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त शक्तियों के भण्डार भगवान आत्मा के असंख्य प्रदेश अमूर्तिक हैं। उनमें स्पर्श, रस गंध अथवा वर्ण नहीं हैं; इसलिए वे अमूर्तिक हैं। उन प्रदेशों में प्रकट लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेक आकाररूप ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है – ऐसी स्वच्छत्व नाम की शक्ति त्रिकाल पड़ी है। यहाँ लोकालोक का आकार कहा, उसमें जड़ तथा चेतन सभी पदार्थ आ गये। पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध वर्ण जानने में आते हैं; परन्तु वे आत्मा के अमूर्तिक प्रदेशों में प्रवेश नहीं करते। आत्मा सर्व पदार्थों को पर की अपेक्षा बिना ही स्व उपयोग में जान ले – ऐसा ही उसकी स्वच्छत्वशक्ति का स्वभाव है।

लोकालोक है, इसलिए उसका ज्ञान होता है ? ऐसा बिल्कुल नहीं है। स्वच्छत्वशक्ति स्वतः स्वयं ही स्वच्छतारूप से परिणमित होती है और उसके द्वारा ही उपयोग में लोकालोक का आकार सहज ही ज्ञात हो जाता है।

भाई ! यह तो सर्वज्ञदेव की वाणी है। भगवान के समवसरण में सौ इन्द्र इस वाणी को सुनने आते हैं। केसरी, सिंह, बाघ, काले नाग इत्यादि

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी भगवान की वाणी सुनने के लिए जंगल में से आते हैं। समोशरण में ऊपर जाने के लिए बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में सभी ऊपर पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर भगवान की दिव्यध्वनि सुनते हैं। ओहो ! निर्बैर होकर अतिनम्रभाव से समोशरण में बैठकर सभी भगवान की वाणी सुनते हैं।

प्रश्न – क्या सिंह और बाघ वह वाणी समझते होंगे ?

उत्तर – हाँ, वे तिर्यंच अपनी-अपनी भाषा में भलीप्रकार समझते हैं और कितने ही वाणी सुनकर वहाँ सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लेते हैं। शरीर भले सिंह अथवा बाघ का हो; परन्तु अन्दर में तो सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा विराजता है। भाई! तू भी मनुष्य नहीं है, भगवान आत्मा है – ऐसा यथार्थ चिन्तन कर।

ढाई द्वीप तक मनुष्य हैं, उसके बाहर असंख्य तिर्यंय सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थान वाले हैं। स्वयंभूरमण नाम का अंतिम समुद्र है, उसमें एक हजार योजन लम्बे शरीरवाले मगरमच्छ हैं। उनमें कोई सम्यग्दृष्टि और पाँचवे गुणस्थानवाले श्रावक तिर्यंच हैं। अंतरंग में शान्ति की वृद्धि होकर उनको श्रावकदशा प्रकटी है। आगम में उल्लेख है कि ढाई द्वीप के बाहर असंख्य सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी तिर्यंच हैं। उनमें अनेकों को तो सम्यग्दर्शन के साथ स्व-आश्रय से उत्पन्न होनेवाली शान्ति की वृद्धि होने से पंचम गुणस्थान वर्तता है। उसमें कितने जातिस्मरणज्ञानवाले, अवधिज्ञानवाले पंचम गुणस्थानवर्ती हैं। कई स्थलचर प्राणी-बाघ, रीक्ष, हाथी, घोड़ा इत्यादि, कई जलचर तथा कई नभचर – कौआ, तोता, चकवा, चकवी, इत्यादि असंख्य तिर्यंय सम्यग्दर्शन सहित पाँचवे गुणस्थानवाले वहाँ हैं। भले ही वे थोड़े हैं, परन्तु फिर भी अंसख्य हैं। तिर्यंचों की संख्या बहुत अधिक है, उसमें असंख्य-असंख्य मिथ्यादृष्टिओं के सामने एक-एक सम्यग्दृष्टि है।

इस जीव ने मनुष्य भव सबसे कम प्राप्त किये हैं। जबकि अनन्तबार इस जीव को मनुष्यपना प्राप्त हुआ है, तो भी चारों गति में सबसे कम भव मनुष्य के पाये हैं – मनुष्य के भवों से असंख्यात गुणे स्वर्ग के भव प्राप्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किये हैं। स्वर्ग में जीव कहाँ से आता है ? नरक में से तो जीव स्वर्ग में जाता नहीं और मनुष्य बहुत थोड़ी संख्या में हैं। इसलिए तिर्यंच में से मरकर बहुत जीव स्वर्ग में जाते हैं तथा बहुत जीव नरक भी जाते हैं। मन सहित तथा मन रहित पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की संख्या बहुत अधिक है। उसमें किसी को शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या अथवा पीतलेश्या के भाव होते हैं तो स्वर्ग में जाते हैं।

इन बैल इत्यादि पशुओं को देखकर ऐसा लगता है कि अरे रे! ये बिचारे जीव कहाँ जायेंगे ? धर्म के परिणाम तो उनके हैं नहीं और पुण्य का भी क्या ठिकाना ? अरे रे! मरकर नारकी अथवा पशु होंगे; क्योंकि स्वर्ग के भवों से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच के भव जीव ने अंसख्यातगुणे प्राप्त किये हैं। अरे रे! आत्मज्ञान बिना ही देहबुद्धि द्वारा ऐसे अनन्तभव प्राप्त करके मरा है, महादु:खी हुआ है। अहा ! उसके दु:ख का क्या कथन करें? समुद्र के समान अकथ्य दु:ख इसने सहन किये हैं।

प्रश्न – भगवान आत्मा के प्रदेश अमूर्तिक हैं, अत: उनमें मूर्तद्रव्य प्रवेश नहीं करता; परन्तु मूर्तिक द्रव्य की प्रतिच्छाया तो ज्ञान में पड़ती है न!

उत्तर – नहीं, यदि सामने नीम का वृक्ष है तो क्या ज्ञान में नीम का आकार आता है ? नीम नहीं आता; क्योंकि नीम तो जड़ है, स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला मूर्तिक पदार्थ है, वह मूर्तिक पदार्थ अमूर्तिक चैतन्यप्रदेशों में प्रवेश नहीं करता; परन्तु उस मूर्तिक पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान तो आत्मा में स्वयं की योग्यता से परिणमित होता है। यदि जड़ज्ञेय का आकार ज्ञान में आ जाये तो ज्ञान जड़ हो जाय; परन्तु ऐसा नहीं है। मूर्तिक पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान की पर्याय मूर्तिक हो जाय – परन्तु ऐसा तीनकाल में नहीं होता; क्योंकि अमूर्तिक चैतन्यप्रदेश किसी भी तरह मूर्तिक नहीं हो सकते।

अहा ! ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा है, उसके सन्मुख होकर परिणमन करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट होते हैं, उनके साथ स्वच्छत्वशक्ति भी परिणमित हो जाती है। अहा ! वह स्वच्छ उपयोग लोकालोक को जानने से मेचक-अनेकाकार है; फिर भी उसमें कोई मलिनता नहीं होती। उपयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो स्वच्छ एक ज्ञानरूप ही रहता है। अहा! साधक के ज्ञान का ऐसा स्वच्छतारूप परिणमन है कि साधकदशाा में होनेवाले राग को जानता है; फिर भी रागरूप मलिन नहीं होता। स्वच्छत्वशक्तिके साथ परिमणन करनेवाले उपयोग की ऐसी सामर्थ्य प्रगट होती है कि उपयोग अनेक पदार्थों को जानता तो है; फिर भी रागरूप मलिन नहीं होता; परन्तु अरूपी, स्वच्छ,निरुपाधि और निर्विकार ही रहता है। समस्त लोकालोक को जाननेरूप जो मेचकता (अनेकपना) है, वह ज्ञान की स्वच्छता को प्रसिद्ध करती है। अहा ! ज्ञान में समस्त लोकालोक का ज्ञान न हो तो ज्ञान की स्वच्छता कैसी ? तथा वह ज्ञान दिव्य भी कैसे हो सकता है ?

आत्मा के प्रदेशों में लोकालोक के आकारों से अनेक आकाररूप उपयोग परिणमता है। ऐसा उपयोग ही स्वच्छत्वशक्ति का लक्षण है। जो स्व-पर संबंधी विशेष ज्ञान होता है, उसे आकार कहते हैं। अर्थ-विकल्प को ज्ञानाकार कहते हैं। यहाँ तो हर बात में विशेषता है। भाई ! यह मार्ग सूक्ष्म है, इसे जिस अपेक्षा से जहाँ/जैसा कहा हो वहाँ वैसा ही यथार्थ समझना चाहिये।

दर्शन निराकार-निर्विकल्प है और ज्ञान साकार है। ज्ञान में आकार आता है या ज्ञान जड़ के आकाररूप हो जाता है – ऐसा आकार का अर्थ नहीं है; बल्कि स्व-पर को भिन्न-भिन्न प्रकाशित करनेवाली ज्ञान की परिणति को यहाँ आकार कहा जा रहा है। ज्ञेयाकारों के जाननपने से ज्ञान का विशेषरूप से जो परिणमन हुआ, उसे यहाँ आकार कहा जा रहा है। विश्व के समस्त ज्ञेयाकारों के जाननेरूप से ज्ञान का विशेष परिणमन होना ही वास्तव में उपयोग की स्वच्छता है तथा वही वास्तव में जीव की स्वच्छत्व-शक्ति का लक्षण है। यदि यह बात कभी न सुने तो यह जीव अपने आत्मवैभव को कैसे जाने ?

अरे रे ! यह दुःखी जीव चौरासी के अवतारों में रखड़ रहा है। कोई यहाँ अरबपति सेठ हो, पर मृत्यु होने पर एकक्षण में सातवें नरक में जाता है। भाई! उसकी पीड़ा की क्या बात करना ? ऐसी अपार, अकथ्य इसकी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वेदना और पीड़ा है कि उसे देखने मात्र से रोना आ जाय। अहा! ऐसे पीड़ाकारी स्थान में जीव ने अनन्तबार जन्म-मरण किया है; परन्तु उसे वह भूल गया है। यहाँ मनुष्यपर्याय में पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी क्या मिली, स्त्री-पुत्र-अनुकूल हुए तो इसे अभिमान हो गया। अरे भगवान यह तू क्या कर रहा है ? यह पागलपन तुझे कैसे हुआ ? भाई ! तेरी क्या चीज है, उसे देख तो सही।

जरा सुन्दर शरीर मिला नहीं कि उसके पीछे पागल हो गया। उसे नहलाता, धुलाता और सजाता है। दर्पण में मुख देखकर उसका श्रृंगार करता है और मानता है कि मैं रूपवान-स्वच्छ हो गया। अरे भाई! तूने यह कैसा पागलपन किया। क्या शरीर को धोने से आत्मा स्वच्छ हो सकता है? शरीर को धोने से जब शरीर ही स्वच्छ नहीं होता तो आत्मा कैसे स्वच्छ हो सकता है ? स्वच्छता तो आत्मा का स्वभाव है, वह कभी शरीर को धोने से प्रगट नहीं होता; परन्तु स्वच्छता जिसका स्वभाव है – ऐसे निज आत्मस्वरूप के सन्मुख परिणमन करने से स्वचछता प्रगट होती है। अरे! अज्ञानी निजचैतन्य के स्वच्छस्वभाव को भूलकर देह के संस्कार (स्नानादि) में धर्म होना मानते हैं। परन्तु भाई! इससे कुछ हाथ आनेवाला नहीं है।

'हाड़ जले ज्यों लाकड़ी, केश जले ज्यों घास', भाई! जिसप्रकार यह लकड़ी और घास जलती है, उसीप्रकार तू जिसका स्नानादि करता है – ऐसा यह रूपवान शरीर जलकर राख हो जावेगा। उसमें से आत्मा की शांति और स्वच्छता नहीं निकलती।

भगवान तू तो चैतन्यमय अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज है और तेरे ज्ञान में जड़-मूर्तिक पदार्थ ज्ञात होते हैं तो भी उपयोग में कभी मूर्तिक का आकार नहीं आता। ज्ञान को साकार कहा है, वहाँ आकार का अर्थ विशेषता सहित ज्ञान का परिणमन होना है। ज्ञान तो ज्ञानाकार ही है, वह ज्ञानाकार, स्व-आकाररूप रहकर ही अनेक परज्ञेयों को जानता है। अहा ! लोकालोक को जाननेवाला अनेकाकाररूप उपयोग है, वह ज्ञानाकार स्व-आकाररूप है, यही स्वच्छत्वशक्ति यहाँ कही जा रही है। अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक-अनेकाकाररूप उपयोग लक्षणवाली स्वच्छत्वशक्ति है। अहा ! स्व-आश्रय से ज्ञान-दर्शन की कोई ऐसी निर्मलता-स्वच्छता होती है कि उसके परिणमन में लोकालोक झलकता है, प्रतिभासित होता है, ज्ञात होता है। अहा! अन्तर्मुख होकर उन्हें देखें तो अन्दर में विस्मयकारी अद्‌भुत चैतन्य का निधान पड़ा है, परन्तु अज्ञानी प्राणी बाह्य धन एवं देहादि में मूर्छित हो रहे हैं।

जिसप्रकार दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।

देखो ! जैसे स्वच्छत्व दर्पण की स्वाभाविक शक्ति है और उसकी पर्याय में घट-पटादि प्रकाशित होते हैं। वे घट-पटादि दर्पण में प्रवेश नहीं करते; परन्तु दर्पण की स्वच्छता में मात्र दिखायी देते हैं; उसीप्रकार भगवान आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति की निर्मलपर्याय है।

तेरी स्वच्छता में लोकालोक ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि मानो उसमें प्रविष्ट हो गया है; परन्तु वास्तव में लोकालोक कभी आत्मा के उपयोग में प्रवेश नहीं करता, लोकालोक तो बाहर ही है, परन्तु आत्मा का स्वच्छ उपयोग ही उसके प्रतिभासरूप से परिणमित हुआ है। अहा ! वास्तव में लोकालोक नहीं, बल्कि आत्मा की स्वच्छता ही ज्ञात होती है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है और वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। उपयोग की स्वच्छता का कोई ऐसा अचिन्त्य स्वभाव है कि पर के सामने देखे बिना ही स्वयं निजस्वभाव से ही लोकालोक के जाननेरूप से परिणमित हो जाती है। इस बात को समझे बिना अज्ञानी जीव भवसमुद्र में गोते खाते हैं।

परमात्मप्रकाश में उपसंहार करते हुए टीकाकार श्री ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं कि इस परमात्मप्रकाश की टीका को जानकर भव्यजनों को ऐसा विचार करना चाहिए कि – 'शुद्ध निश्चयनय से मैं एक (मात्र) तीन लोक में, तीन काल में, मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित- अनुमोदना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से उदासीन (रहित) हूँ। निज निरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षणवाला, मैं स्वसंवेदनज्ञान से स्वसंवेद्य हूँ। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँच इन्द्रियों के विषय व्यापार, मन-वचन- काय का व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म; ख्याति, लाभ, पूजा, दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप, माया, मिथ्यात्व, निदान आदि सभी विभावपरिणामों से रहित हूँ। सभी जीव ऐसे ही हैं।

अहा ! यह आत्मा अनन्त गुणों का संग्रहालय, त्रिकाल शुद्ध, पवित्र, स्वच्छ चैतन्यमय महापदार्थ है। उसकी अनन्त शक्तियों, स्वभावों को जानकर निज द्रव्य के सन्मुख दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है और वही धर्म का आरंभ है। अहाहा...! द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। समयसार में द्रव्यदृष्टि का अधिकार है। यहाँ (परिशिष्ट में) आचार्यदेव ने शक्तियों का अधिकार लिया है। इसमें कहा है कि निज आत्मद्रव्य के सन्मुख ज्ञान की पर्याय झुकाने से चैतन्यद्रव्य का भान होकर जो अन्तरप्रतीति (आत्मानुभूति) प्रकट होती है; वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और वही धर्म है।

यहाँ स्वच्छत्वशक्ति की बात चलती है। जिसप्रकार दर्पण में घट-पट आदि प्रकाशित होते हैं, दर्पण में दिखनेवाले घट-पट वास्तव में घट अथवा पट नहीं हैं, वह तो दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है; उसीप्रकार अमूर्तिक भगवान आत्मा असंख्यात अमूर्तिक चैतन्यप्रदेशोंवाला है, उसमें लोकालोक का आकार प्रतिभासित होता है, वह वास्तव में लोकालोक नहीं है, वह तो स्वयं की स्वच्छत्वशक्ति का परिणमन है। अहो ! लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला भगवान आत्मा कोई अद्भुत दर्पण है। वह स्वयं में स्व को प्रकाशित करता है तथा पर को भी प्रकाशित करता है। भाई ! जरा स्थिर होकर और धीर होकर तू स्वयं के चैतन्यदर्पण में अन्तर्मुख देखे तो उसमें शुद्धस्वरूप दिखता है तथा साथ में लोकालोक भी जानने में आ जाता है। अहो ! भगवान आत्मा ऐसा आश्चर्यकारी चैतन्यचमत्कार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

प्रभू है। अतः हे भाई ! तू पर को जानने की आकांक्षा से, आकुलता से विरत हो और अन्तर्मुख होकर स्वरूप में ठहर जा। अहाहा! उससे परमसुख की प्राप्तिरूप आत्मोप- लब्धि होगी। तेरे स्वच्छ उपयोग में लोकालोक स्वयमेव झलकेंगे। ऐसा स्वच्छत्वशक्ति का परिणमन है। अहा ! कैसी अद्‌भुत स्वच्छता है।

प्रश्न – आत्मा में जो लोकालोक का ज्ञान होता है, उसमें लोकालोक निमित्त है कि नहीं ?

उत्तर – लोकालोक का स्वयं की पर्याय में ज्ञान हुआ, उसमें लोकालोक निमित्त अवश्य है; परन्तु लोकालोक के होने से यहाँ ज्ञान की पर्याय लोकालोक रूप नहीं है, ज्ञान की पर्याय का कर्त्ता लोकालोक नहीं है। उपयोग की स्वच्छता में अनेकरूपता आना स्वयं की पर्याय का स्वभाव है; ज्ञान की पर्याय लोकलोक का कुछ भी कार्य नहीं करती है। निमित्त नहीं है – ऐसी बात नहीं है; परन्तु निमित्त से उपादान में कुछ कार्य होता है – ऐसा तीनकाल में नहीं है।

देखो, शास्त्र में आता है कि लोकालोक को जानने में केवलज्ञान निमित्त है। समस्त लोकालोक (छहद्रव्य, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय, अनन्त सिद्ध और अनन्त निगोद के जीव आदि) केवलज्ञान में ज्ञेयरूप निमित्त है। क्या उसका यह अर्थ है कि केवलज्ञान ने लोकालोक को बनाया है ? ऐसा कदापि नहीं है। न तो लोकालोक केवलज्ञान का उपादान कारण है, न केवलज्ञान लोकालोक का उपादान कारण है – ऐसी वस्तुस्थिति है।

अहा ! यह स्वच्छत्वशक्ति द्रव्य के अनन्तभावों में व्यापक है, जिससे द्रव्य स्वच्छ, गुण स्वच्छ तथा स्वाभिमुख होनेवाली पर्याय भी स्वच्छ है, निर्मल है। भाई ! तेरी स्वच्छत्वशक्ति ऐसी है कि जिसप्रकार द्रव्यस्वभाव में विकार समाता नहीं है और द्रव्यस्वभाव में अभेदरूप से परिणमन करने पर प्रगट पर्याय में भी नहीं समाता है; उसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ उपयोग में विकार का कण भी नहीं समाता है। अहो ! ऐसी अद्‌भुत स्वच्छत्व-शक्ति है। इसप्रकार यहाँ स्वच्छत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖❖❖

१२. प्रकाशशक्ति

स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः।

स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवदेनमयी (स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा में ऐसी प्रकाशशक्ति है कि जो स्वयं अर्थात् अपने से ही प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमयी है। अहा! स्वयं से स्वयं का वेदन हो – आत्मा में ऐसी त्रिकाल प्रकाशशक्ति है। इसमें दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं कि आत्मा का प्रकाशस्वभाव स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है, उसे पर की कुछ अपेक्षा नहीं है तथा वह स्पष्ट संवेदनमयी है; स्वानुभव में आत्मा प्रत्यक्ष, स्पष्ट जानने में आये – ऐसा आत्मा का प्रकाशस्वभाव है।

अहा! जैसे दीपक स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है, उस दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु स्वयं से ही प्रकाशमान है। स्वसंवेदन में स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित कर रहा है, उसे प्रकाशित करने के लिए, जानने के लिए राग की, व्यवहार की, निमित्त की अपेक्षा नहीं है। अहाहा! व्यवहार (व्रतादिक का राग) की अथवा निमित्त (देव-शास्त्र आदि) की अपेक्षा बिना ही स्वसंवेदन में, स्वानुभवमय दशा में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान में आये – ऐसा आत्मा का स्वरूप है।

आत्मा में जिसप्रकार ज्ञान, दर्शन आदि हैं; उसीप्रकार एक प्रकाश-शक्ति भी है। स्वसंवेदन में आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाना ही उसका कार्य है, सम्यग्दर्शन होने पर मति-श्रुतज्ञान में स्वसंवेदन द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष हो जाय, प्रत्यक्ष अनुभव में आये – यह ही इस शक्ति का कार्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अरूपी आत्मा जानने में कैसे आता है तो कहते हैं कि स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष जानने में आये – ऐसा आत्मा का

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव है। भाई ! परोक्ष रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु आत्मा इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, वह तो स्वसंवेदन (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है, स्वानुभव में ज्ञात होता है।

अहाहा ! स्वसन्मुख होने पर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का जो वेदन हुआ, वह प्रकाशशक्ति का कार्य है। अतीन्द्रिय आनन्द के साथ होनेवाला जो व्यवहार और बाह्य निमित्त है, उससे यह अतीन्द्रिय आनन्दरूप कार्य नहीं हुआ।

प्रश्न – तो क्या व्यवहार नहीं है, निमित्त नहीं है ?

उत्तर – अरे भाई ! व्यवहार नहीं है, निमित्त नहीं – ऐसा कौन कहता है ? व्यवहार है, बाह्यनिमित्त है, वे जिसप्रकार से हैं, उन्हें उस रूप से भी जो ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है तथा व्यवहार से, निमित्त से आत्मा प्रत्यक्ष होता है अथवा उनसे आत्मा के निर्मल ज्ञान-श्रद्धान प्रगट होते हैं – ऐसा माने तो वह श्रद्धान मिथ्या है। यहाँ यह बात है कि व्यवहार अथवा बाह्य निमित्त से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता; बल्कि उनका लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुखता करने पर स्वसंवेदन में ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है। अहाहा ! ऐसा आत्मा का प्रकाश स्वभाव है। यहाँ तो व्यवहार और निमित्त जिसरूप से हैं, उस रूप से उनकी स्थापना की जा रही है; तथा निमित्त एवं व्यवहार के लक्ष्य से, आश्रय से, आत्मानुभवरूप, आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान-रमणतारूप धर्म प्रगट होता है – इस मान्यता का निषेध किया जा रहा है; क्योंकि वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

अरे रे ! अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियों में रखड़ते-रखड़ते तुझे मुश्किल से यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ और उसमें भी जैनकुल में तुम्हारा जन्म हुआ, यह कोई महाभाग्य है। यह सब होने पर भी अन्तर में रुचि लाकर तू इस तत्त्वज्ञान की, भेदज्ञान की हितकारी बात न समझे तो आत्मानुभव कैसे हो ? अरे भाई ! तू सुन तो सही; यहाँ सन्त परमात्मा का सन्देश सुनाकर जगत में उसे प्रसिद्ध कर रहे हैं कि तुम्हारे स्वसंवेदन में तुम्हारा आत्मा प्रत्यक्ष हो जाय – ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मा में त्रिकाल मौजूद है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोगों को तत्त्व की बात सुनने की तो फुरसत ही नहीं है। लोग कमाने, खाने खेलने, विषयभोग में ही अपनी जिन्दगी बिता रहे हैं; इसप्रकार जिन्दगी प्रतिपल निष्फल हो रही है। अरे प्रभु ! तू कौन है और तेरा क्या कार्य है ? इसकी तुझे खबर नहीं है। यदि थोड़ा-बहुत धर्म के मार्ग में लगा भी तो तू (अन्तर-अनुभव) का कार्य छोड़कर दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि शुभराग की क्रिया में धर्म मानकर वहाँ ही रुक गया; परन्तु भाई ! यह तो सब जगपंथ है, यह धर्मपंथ नहीं है, धर्मपंथ तो स्वानुभवमय अलौकिक है।

प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' शब्द आता है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इस शब्द के २० अर्थ किए हैं उनमें कहा है कि – १. ग्राहक अर्थात् ज्ञायक इन्द्रियों के लिंगों के द्वारा ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। २. ग्राह्य (ज्ञेयों) का लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इस अर्थ की प्राप्ति होती है। ३. जैसे धुएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिन्ह) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्षपर्वूक अनुमान का विषय नहीं है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ४. दूसरों के द्वारा-मात्र लिंग द्वारा ही जिसका विषय ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ५. जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा अनुमाता (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ६. जिसका लिंग के द्वारा नहीं; किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

देखो, इस छठवें बोल में यह कहा है कि स्वभाव द्वारा जिसका ग्रहण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है, देखा, आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। अहा! ऐसा यह वीतराग का मार्ग है; परन्तु अरे रे! परमेश्वर का सर्वथा विरह हो गया तथा लोक में बहुत विसंवाद बढ़ गया है। यहाँ कहते हैं कि जिसतरह इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान द्वारा आत्मा जानने में नहीं आता, उसीतरह स्वयं की इन्द्रियों से अथवा अनुमान से पर को जाने – ऐसा भी आत्मा नहीं है। अहाहा! निजस्वभाव द्वारा जानने में आये – ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता प्रभु आत्मा है, यहाँ इस बारहवीं शक्ति में भी यही बात की है कि आत्मा का ऐसा प्रकाशस्वभाव है कि वह स्वयमेव स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष हो जाता है। अहाहा! इन्द्रियों से नहीं, राग से नहीं; परन्तु स्वयं के स्वभाव से जानने में आये ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – इसप्रकार अलिंगग्रहण के छठवें बोल के साथ यहाँ कहे गये प्रकाशस्वभाव की संगति है।

अहा! इस प्रकाशशक्ति में ऐसी अचिन्त्य दिव्य सामर्थ्य है कि किसी निमित्त की अपेक्षा बिना ही वह स्वयं ही स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष कर देती है। अहा! ऐसी दिव्य शक्ति सम्पन्न निज आत्मा को अन्तर्मुख होकर देखें तो द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाय। भाई! तुझे अपने अपार, अनन्त वैभव को देखना है तो दिव्यचक्षु स्वानुभूतिरूपी ज्ञानचक्षु खोल! यह आत्मा बाह्य चर्मचक्षुओं से नहीं दिखता है तथा अन्तरंग राग की चक्षु द्वारा भी यह आत्मा नहीं दिखता है। अन्तर की स्वभाव चक्षु द्वारा ही वह अनुभव में आएगा। इस टीका को प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरण में ही आचार्यदेव कहते हैं कि 'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते' उस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को नमस्कार है, जो स्वानुभूति से ही प्रकाशित है। अहाहा! निमित्त अथवा व्यवहार के अवलंबन बिना ही, सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही स्वानुभूति में प्रकाशित होता है।

भाई! यह बात तो तुझे त्रिलोकीनाथ केवली परमात्मा बता रहे हैं, इसका निषेध मत कर! लोक में भी ऐसा होता है कि लड़की की सगाई करना हो तथा, दस, बीस घरों से सगाई का नारियल आया हो तो जो धन सम्पन्न घर होता है, वहाँ सगाई कर देते हैं। यह तो केवली और सर्वज्ञ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मा के सर्वोच्च घर की बात है। बापू! उसको तुरन्त स्वीकार कर, मना मत कर प्रभु! मुक्ति सुन्दरी के साथ तेरी शादी की यह बात है। आनन्दघनजी के एक पद में लिखा है कि 'समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सुगाढ़ी' परन्तु समकित के साथ सगाई तभी होती है। जब स्वभाव सन्मुख होकर आत्मा को स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष जानता है, यह सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। अहो ! यह तो जन्ममरणरूपी रोग के निवारण करनेवाली भगवान की कही हुई परम अमृतमय औषधि है।

प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के सातवें बोल में कहा है कि 'जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों के आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है" देखो, कहा है कि आत्मा के उपयोग में परपदार्थ, परज्ञेय का आलम्बन नहीं है। भाई! तेरी शक्ति स्वयं प्रकाशमान स्वसंवेदनमयी है। तुझे कुछ भी परालम्बन नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि स्वसंवेदन होना तो बहुत कठिन है न! तो उससे कहते हैं कि हाँ, यह बात कलश टीका के ६० वें कलश में कही है कि मिथ्यात्व अवस्था में जीवद्रव्य रागादि अशुद्ध चेतनारूप से परिणमित हो रहा है तथा उसे ऐसा प्रतिभासित होता है कि ज्ञान क्रोधरूप परिणमित हो गया है, जिससे ज्ञान भिन्न, क्रोध भिन्न – ऐसा अनुभव करना बहुत कठिन हो गया है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि अनुभव होना कठिन है; परन्तु वस्तुस्वरूप का विचार करने पर भिन्नपनेरूप स्वाद अवश्य आता है।

भाई ! स्वभाव का अनुभव करना कठिन तो है, पर असंभव नहीं, अशक्य नहीं है; परन्तु वस्तुस्वरूप का विचार, ध्यान करने पर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है, यह बात असंभव नहीं है। अहा! स्वयं के स्वभाव की प्राप्ति स्वयं को अशक्य कैसे हो सकती है ? वह तो तबतक प्राप्त नहीं होता है जबतक कि स्वभाव की दृष्टि नहीं करता। जहाँ अन्तरदृष्टि की नहीं कि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तत्काल आत्मा स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष हो जाता है, अन्तरदृष्टि करने भर की देर है। जीवों ने इस बात का अभ्यास किया नहीं है तथा अध्यात्म पद्धति का वर्तमान में बहुत लोप है; अतः अपनी चीज प्राप्त करना भी बहुत कठिन हो गया है; परन्तु मार्ग तो ऐसा ही है प्रभु !

अहाहा ! भगवान आत्मा अनुभव में, स्वानुभव में प्रत्यक्ष हो जाय, ऐसी इसकी शक्ति है। अहा ! अनन्त गुण-स्वभावों में प्रकाशशक्ति व्यापक है; जिससे ज्ञान प्रत्यक्ष, दर्शन प्रत्यक्ष, सुख प्रत्यक्ष, वीर्य प्रत्यक्ष – इसप्रकार प्रत्येक शक्ति प्रत्यक्ष हो जाय, ऐसा ही इसका स्वरूप है। अहाहा ! भगवान! तुम्हारे घर में अनन्त चैतन्यलक्ष्मी भरी है। तुम्हारा आत्मा प्रत्यक्षरूप से आनन्द का वेदन करे ऐसी तुझमें लक्ष्मी भरी है। भाई ! तेरी ऐसी स्वरूप लक्ष्मी है, उसको स्वीकार तो कर। स्वीकार करेगा तो उसकी आदत हो जायेगी तो वह पर्याय में प्रगट हो जायेगी। अहा ! सहजरूप से समुद्र उछल रहा है, इसमें मोती तैर रहे हैं, जो भाग्यवान होगा, वह मुट्ठी में मोती भर लायेगा।

अहा ! आत्मा को स्वीकार करके अन्तःपुरुषार्थ करे तो रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाय; परन्तु राग से, निमित्त से तथा व्यवहार से आत्मा प्राप्त हो जावेगा, ऐसा विचार कर अन्तःपुरुषार्थहीन, भाग्यहीन रहोगे तो तुझे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होगा, चारगति में ही भटकते रहोगे। कहा भी है कि भाग्यहीन के हाथ में मोती नहीं, बल्कि सीप, कंकड़ ही आवेंगे। यह किसी सम्प्रदाय की बात नहीं है, यह तो वस्तु के घर की, वस्तुस्वरूप की बात है।

इस बारहवीं प्रकाशशक्ति में गजब की बात की है। स्वयं का ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसका स्वयं प्रत्यक्ष संवेदन होता है। अरे, अनंतगुणों का प्रत्यक्ष वेदन होय, ऐसी प्रकाशशक्ति की सामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा है। क्या कहें ? जितना अन्तर में भासित होता है, उतना भाषा में नहीं आता; क्योंकि भाषा का परिणमन स्वतंत्र है तथा उसके कहने की शक्ति मर्यादित है।

दिव्यध्वनि में जो तत्त्व का निरूपण आता है, वह भगवान को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान है, इसलिए नहीं आता है; क्योंकि वाणी का खिरना तो वाणी के उपादानकारण से होता है तथा केवलज्ञान और वचनयोग उसमें निमित्तमात्र हैं। देखो! भाषावर्गणा का परिणमन चार प्रकार का है – सत्यभाषारूप, असत्य- भाषारूप, मिश्रभाषारूप और व्यवहारभाषारूप। यह चार प्रकार की वचनवर्गणा भिन्न-भिन्न है तथा भगवान को तो अकेला केवलज्ञान है, अन्य चार ज्ञान नहीं हैं; अतः दिव्यध्वनि में मात्र सत्यभाषा निकलना चाहिए; परन्तु उसमें सत्य और व्यवहार – ऐसी दो प्रकार की भाषा (वाणी) आती है। केवलज्ञान में व्यवहार नहीं है; परन्तु भाषा में योग्यता ही ऐसी है कि वह सत्य और व्यवहार – इन दो को बताती है। वह भाषा की पर्याय स्वतंत्र परिणमित होती है। उसमें ज्ञान निमित्त तो है; परन्तु उसका कर्ता नहीं है। भाषावर्गणा की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है, केवली नहीं हैं तथा केवली को जो योगजन्य कम्पन होता है, वह भी भाषावर्गणा की पर्याय का कर्ता नहीं है। भाषावर्गणा जड़ है, वह स्वयं स्वतंत्र रीति से जिसकाल में परिणमन के योग्य होती है, उसकाल में परिणमित हो जाती है। प्रयोग करके आत्मा उसको परिणमित करवा दे – ऐसा तीनकाल में नहीं होता।

भाषा में स्व-पर को कहने की ताकत है और आत्मा में स्व-पर को जानने की ताकत है। प्रभु ! जिनागम का मार्ग तो देखो ! द्रव्य में पर्याय अपने आप स्वतंत्र प्रकट होती है। वाणी में स्व-पर को जानने की ताकत नहीं है और आत्मा में स्व-पर को कहने की ताकत नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति है; फिर भी 'मैं वाणी का कर्ता हूँ' – ऐसा कोई माने तो वह मूर्ख ही है। अरे भाई ! यह बाह्य लक्ष्मी, मकान, शरीर, मन, वाणी इत्यादि मेरे हैं – ऐसा मानना तो मिथ्याभ्रम है ही। अरे, यह राग का अंश भी जहाँ तेरा नहीं है तो तुझसे त्रिकाल भिन्न परवस्तु तेरी कैसी हो सकती है ? परवस्तु का क्षेत्र ही भिन्न है प्रभु !

समवशरण में जीव अनन्तबार गया और वहाँ भगवान की दिव्यध्वनि अनंतबार सुनी, वहाँ वाणी सुनकर जो ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, वह स्वयं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से हुई है, वाणी के कारण नहीं हुई है। भले वह परलक्षी ज्ञान है; परन्तु वाणी से वह परलक्षी ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है, परलक्षी ज्ञान भी स्वयं के उपादान से ही उत्पन्न होता है' हाँ इतना अवश्य है कि परलक्षी ज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता। देखो ! कितनी दूर-दूर से लोग यह बात सुनने आते हैं। हम तो परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई बात कहते हैं कि – जो तुम्हें यह तत्त्वज्ञान हुआ, वह शास्त्रश्रवण से नहीं हुआ, स्वयं से ही हुआ है। सुनने के निमित्त से होनेवाली ज्ञान की पर्याय में वह ज्ञान स्वयं से ही हुआ है। जिसमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा अकेला परलक्षी ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह मिथ्याज्ञान है; उसे ज्ञान कौन कहे ? परन्तु कोई परमात्मा की वाणी सुनकर शक्तिसम्पन्न निज द्रव्य का विचार करता है, ध्यान करता है तो उसके द्रव्य-गुण में जो अनादिकालीन शक्ति हैं, उनका पर्याय में परिणमन होकर आत्मा स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष हो जाता है, तब वाणी को इस परिणमन में निमित्त कहा जाता है।

इसमें 'स्वयं' और 'विशद' इन दो शब्दों का खासा वजन है। आत्मा किसी की अपेक्षा से रहित स्वयं प्रकाशमान है और विशद अर्थात् स्पष्ट, प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होकर जानने में आता है। अहो ! आचार्य भगवन्तों ने वन में रहकर कैसा अद्भुत काम किया है। देखो, मूल गाथायें आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दो हजार वर्ष पहले रची हैं तथा उनके एक हजार वर्ष बाद उनकी टीका श्री अमृतचन्द्र सूरि ने बनाई है। अहो ! दिगम्बर मुनिवर तो चलते-फिरते सिद्ध हैं। निज एक ज्ञायकभाव में जिन्होंने उपयोग को जमाया है, लवलीन किया है और जो प्रचुर स्वसंवेदन में मस्त, निजानन्द रस में लीन रहनेवाले हैं, ऐसे योगीवरों ने यह दिव्यशास्त्र रचा है।

यद्यपि शुद्धोपयोग तो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु शुद्धोपयोग की जैसी उग्र लीनता मुनिवरों को होती है, वैसी समकिती को चौथे गुणस्थान में नहीं होती। मुनिराज को तीन कषाय के अभाववाली शुद्धोपयोग की तीव्र लीनता होती है; तथापि सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में, गृहवास होने पर भी आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में अनुभव में आये –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसी यह प्रकाशशक्ति है। यह न्याय की बात है। चौथे गुणस्थानवर्ती समकिती कहता है कि मैं अपने आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव करता है। अहो! यह स्वसंवेदन अचिन्त्य महिमायुक्त है, उसमें अनन्तगुणों का रस समाया है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द झरता है, स्वरूप की प्रतीति प्रगट होती है और अनन्तशक्तियाँ निर्मलतया उछलती हैं। अहो ! यह स्वसंवेदन तो मोक्ष का द्वार खोलनेवाला रामबाण उपाय है।

चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में रहता है – ऐसा भले ही बाहर से दिखता है; परन्तु वास्तव में समकिती ज्ञानी चक्रवर्ती राज्य का स्वामी नहीं है। ४७ शक्तियों में अन्तिम स्व-स्वामित्वमयी संबंध शक्ति है। अहाहा! समकिती चक्रवर्ती ९६ वें हजार रानियों के समूह में दिखता है तो भी वह स्वयं के द्रव्य-गुण और स्वसंवेदन की निर्मल पर्याय, जो उसे प्रगट हुई है; उसी का स्वामी है, राग का, विकल्प का स्वामी नहीं है। जब राग का ही स्वामी नहीं है, तब राज्य का, पर का अथवा स्त्री का स्वामी है, यह बात ही कहाँ रही ? अर्थात् वह इनका भी स्वामी नहीं है।

अहा ! इस प्रकाशशक्ति का अन्य अनन्तशक्तियों में रूप है, जिससे ज्ञान, श्रद्धान, आनन्द इत्यादि प्रत्यक्ष होवें – ऐसा इसका स्वरूप है। अहो! यह तो बड़ा भण्डार भरा है, जिसका पार न आवे, ऐसी यह बात है। एक-एक शक्ति में कितना भरा है ? जितना एक 'जगत' शब्द के विस्तार में भरा है। अहाहा ! छह द्रव्य, इनके गुण, इनकी पर्यायें, तीन काल, अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद राशि अनन्तानन्त पुद्गल। ओहो! जब 'जगत' शब्द का इतना व्यापक अर्थ है, तब उसको जाननेवाले ज्ञान की सामर्थ्य का क्या कहना ? ऐसा एक-एक शक्ति का बहुत अपरिमित विस्तार है तथा मात्र प्रत्यक्ष अनुभव में ही ज्ञात हो सकता है।

द्रव्यसंग्रह की ४७ वीं गाथा में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीदेव कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त हो जाते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है –

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी पुरुष जब स्वरूप में उपयोग लगाते हैं, तब ध्यान होता है। ध्यान ही शुद्धोपयोग है। ज्ञायक का ध्यान लगाने पर वह ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाता है, अनुभव में आता है अर्थात् मति-श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि मति-श्रुतज्ञान को आप प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में 'आद्ये परोक्षम्' आरम्भ के दो ज्ञान अर्थात् मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा कहा है तो उन्हें प्रत्यक्ष कहना कैसे संभव है ?

उत्तर – तत्त्वार्थसूत्र में मति-श्रुतज्ञान को जो परोक्ष कहा है, वह तो पर के जानने की अपेक्षा से कहा है, स्वयं को जानने की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष हैं। यह बात इसमें गर्भित है। लोक में जैसे कहा जाता है कि इस व्यक्ति को मैंने प्रत्यक्ष देखा है, उसीप्रकार भगवान आत्मा स्वसंवेदन में स्पष्ट स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। श्रुतज्ञान की पर्याय अन्तर में ढलकर जब चैतन्यस्वरूप को ध्येय बनाती है, तब उसका प्रत्यक्ष स्वसंवेदन हो जाता है। अनुभव में आत्मा स्वयं प्रगट हो जाता है।

'मैंने राजा को प्रत्यक्ष देखा' – ऐसा कहना तो व्यवहार प्रत्यक्ष है, 'पर' के स्वरूप को सही जाननेवाला ज्ञान भी सच्चा होता है। परन्तु जिसको स्व का ज्ञान होता है, उसे ही देव, गुरु हैं, शास्त्र संबंधी ज्ञान भी सच्चा होता है। जिसको स्व का ज्ञान नहीं हुआ है, उसका पर का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है।

स्वानुभवप्रत्यक्ष आत्मद्रव्य है, परोक्ष रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्वानुभव के काल में आत्मा स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय में तन्मय रहता हुआ, स्वयं को स्पष्ट, प्रत्यक्ष जानता है और इसी का नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्म है। इसप्रकार मति-श्रतुज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष वेदन में, जानने में आता है।

ओहो ! आत्मा को अन्दर से तो देखो ! भगवान आत्मा की अपरिमित, अपार शक्ति है। इस प्रकाशशक्ति के दो रूप हैं, एक ध्रुवरूप और दुसरी परिणतिरूप। ध्रुवरूप तो ध्रुव उपादान है और परिणति क्षणिक उपादान है। यहाँ शक्ति और शक्ति की निर्मल पर्याय की बात है। ध्रुव भी स्वानुभूति की पर्याय में प्रत्यक्ष जानने में आता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समयसार कलश टीका के ६०वें कलश में कहा है कि वस्तु के शुद्धस्वरूप का विचार करने पर अर्थात् ध्यान करने पर भिन्न आत्मा का अनुभव होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। अकेले राग और पुण्य-पाप का विचार करना तो पर प्रकाशक मिथ्याज्ञान है। राग और पर्याय के प्रति जो अनादि से झुक ही रहा है। अहा ! उस तरफ का लक्ष छोड़कर ज्ञान को स्वयं के शुद्धस्वरूप के सन्मुख झुकाने से उस ज्ञान की दशा में आत्मा प्रत्यक्ष होता है और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है।

भाई ! तुम्हारे आत्मा का प्रकाशस्वभाव है, उसमें परोक्षपने का अभाव है। समकिती को पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान प्रकट नहीं हुआ है और परोक्षपना भी वर्तता है। स्वरूप का उग्र आलंबन लेने पर जैसे-जैसे उसे आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, वैसे पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान, केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। यह प्रकाशशक्ति की परिपूर्ण प्रगटता है, जिसमें मात्र पूर्ण प्रत्यक्षता ही है। इसप्रकार यह बात सिद्ध हुई कि अज्ञानी को सर्वथा परोक्षपना ही होता है, समकिती को, साधक को आंशिकरूप से प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होता है और साथ में क्रम से अभाव होनेवाला परोक्षपना भी होता है और केवली को सर्वप्रत्यक्षपना, पूर्णप्रत्यक्षपना होता है।

भाई ! गुप्त रहना आत्मा का स्वरूप ही नहीं है, परन्तु जब तुझे इस बात का विश्वास आयेगा, तभी आत्मा प्रत्यक्ष होगा। अहा ! यह अनन्त जन्म-मरण के अंत करने की बात है। भाई ! दया, दान, आदि के फल में तो भव-भ्रमण ही होगा, इनके फल से कदाचित् स्वर्ग मिले तो वहाँ भी सम्यग्दर्शन बिना दुःखी ही रहोगे और मरकर अंत में नरक-निगोद चले जाओगे।

यदि तुझे भव के ऐसे दुःखों से मुक्त होना है तो अनन्तशक्तिवाले निज आत्मद्रव्य में दृष्टि लगा दे। शक्ति और शक्तिवान – ऐसे भेद का भी लक्ष छोड़कर त्रिकाली द्रव्य को देख, जिससे तुम्हारी ज्ञानपर्याय में आत्मा प्रत्यक्ष हो जावेगा। स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष हो, ऐसा ही इसका प्रकाशस्वभाव है।

इसप्रकार प्रकाशशक्ति का वर्णन समाप्त हुआ। ❖❖❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१३. असंकुचितविकासत्वशक्ति

क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्तिः।

क्षेत्र और काल से अमर्यादित चिद्विलासस्वरूप (चैतन्य के विलास-स्वरूप) ऐसी असंकुचितविकासत्वशक्ति है।

ज्ञानस्वरूपी अनन्तगुणसमुद्र आत्मा में जिसप्रकार ज्ञानादि हैं, उसीप्रकार उसमें असंकुचितविकासत्व नाम की एक शक्ति भी है अर्थात् चैतन्य में संकोच के बिना पूर्ण विकास होना उसका स्वभाव है। तभी तो यह पूर्ण विकसित और पूर्ण विलसित होता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव इसके अनन्तगुणों में व्यापक है, जिससे इसकी प्रत्येक शक्ति-गुण संकोच बिना पूर्ण विकासरूप खिल जाती है। इसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव असंकुचितविकासमय है।

यहाँ कोई कहता है कि केवली भगवान द्रव्यों की वर्तमान वर्तती पर्यायों को तो जानते हैं; परन्तु त्रिकालवर्ती सर्वपर्यायों को नहीं जानते; क्योंकि एक समय की वर्तमान पर्याय वर्तती है; परन्तु भूतकाल-भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में वर्तती नहीं हैं; पर उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि केवली भगवान की ज्ञानशक्ति संकोच रहित खिलकर ऐसी पूर्ण-ज्ञानरूप केवलज्ञानरूप हो गई है कि एक समय में तीनों काल की समस्त पर्यायों को वे प्रत्यक्ष जानते हैं।

आत्मा की ज्ञानशक्ति में इस असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है। यद्यपि ज्ञानशक्ति में असंकुचितविकासत्वशक्ति नहीं है; परन्तु उसमें असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है, जिससे ज्ञानशक्ति में संकोच बिना पूर्ण विकास होता है और तीनकाल तथा तीनलोक की पर्यायों को संकोच बिना एक समय में जानती है। चैतन्य का पूर्ण विकास होने पर जानने में कोई मर्यादा नहीं होती कि इतने काल को ही जाने। तीनकाल सहित लोकालोक को मर्यादा बिना एक समय में प्रत्यक्ष जाने – ऐसा अपरिमित

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूर्ण अनन्तशक्ति का विकास केवली भगवान के होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि चार घातिकर्मों के नाश होने से केवलज्ञान प्रगट होता है; परन्तु यह तो निमित्त का कथन है तथा यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। वास्तव में चार घातिकर्मों का क्षय करना यह आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं। यह तो ऐसे असंकुचितविकासत्व स्वभाववाला है कि जिसके द्वारा जीव पूर्ण विकासरूप होकर केवलज्ञान प्रगट करता है; परन्तु अज्ञानी पामर को स्वयं की प्रभुता की महिमा समझना कठिन लगता है।

ज्ञान में संकोच रहित पूर्ण विकास होता है – ऐसा असंकुचित–विकासत्वशक्ति का रूप है, दर्शन में भी संकोच नहीं रहता और विकास हो जाता है, उसका ऐसा ही स्वरूप है, जिससे असंकोचविकासरूप जो दर्शन वह सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को स्वयं के विकास से ही देखता है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वभावी है, उसमें भी असंकुचितविकासत्व शक्ति का रूप है, जिसके द्वारा आनन्दस्वभाव संकोच बिना पूर्णानन्दस्वरूप में परिणमन करता है तथा जीव में अकषायस्वरूप चारित्र नाम का एक गुण है, उसमें भी इस शक्ति का रूप है, जिससें चारित्र की पूर्ण रमणता- स्थिरता होकर पूर्ण अकषायरूप चारित्र प्रगट होता है। यद्यपि इस शक्ति के अधिकार में चारित्र नाम की शक्ति पृथक् वर्णित नहीं है; तथापि सुखशक्ति में श्रद्धा और चारित्र ये दोनों शक्ति अन्तर्गर्भित हैं।

भगवान सिद्ध के आठ गुणों के वर्णन में भी चारित्र गुण पृथक् नहीं कहा, सम्यग्दर्शन और वीर्यगुण का कथन किया है, वहाँ श्रद्धा में चारित्र शक्ति शामिल कर ली है।

परमात्मप्रकाश में एक दृष्टान्त आता है कि – जहाँ एक बांस का मंडप होता है, वहाँ तक बेल उसके सहारे ऊपर चढ़ती है; परन्तु बेल में अभी ऊपर जाने की शक्ति तो भरी है, मंडप अधिक ऊँचा हो तो बेल भी अधिक ऊँची चढ़े – बेल में स्वयं के कारण से ऐसी शक्ति है, मंडप के कारण नहीं; उसीतरह यह तीन लोक और तीन काल का मंडप है, उसको

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान एक समय में जानता है तथा इससे अनन्तगुणा क्षेत्र और काल हो तो भी केवलज्ञान उसे जाने ऐसी अनन्तविकासरूप शक्ति है। लोकालोक एक ही है; परन्तु इससे अनन्तगुणा लोकालोक हो तो भी भाई ! एक-एक गुण की एक-एक पर्याय का संकोच बिना पूर्ण विकासरूप होकर विलसे – ऐसा आत्मा की असंकोचविकासशक्ति का स्वभाव है।

पण्डित फूलचन्दजी ने खनिया तत्त्वचर्चा में इसका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण किया है। वहाँ प्रश्न है कि – आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर परिपूर्ण विकसित होता है – ऐसा असंकोचविकासस्वभाव है; परन्तु वह पर्याय में पूर्ण विकासरूप कब होता है ?

उत्तर – त्रिकाली, प्रत्यक्ष परिपूर्ण एक ज्ञायकभाव का आश्रय करके परिणमे; तब उसकी पर्याय में पूर्ण विकास होता है। इसके सिवाय जड़ का अथवा विकार का आश्रय करके लाभ माने तो पर्याय में विकास न हो तथा विकार हो तो पर्याय संकोचरूप ही रहे। जीव की पर्याय में अनादि से संकोच है, वह संकोच टालकर संकोचरहित विस्तार कैसे होवे ? यहाँ आचार्यदेव यह बता रहे हैं।

अहा ! प्रभु तुझमें अनन्त शक्तियाँ हैं; वे सभी संकोच बिना विकास पावें – ऐसा प्रत्येक शक्ति का स्वभाव है। जीवत्वशक्ति में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता ऐसे चार भावप्राण हैं, उनका पर्याय में संकोच बिना विस्तार हो – ऐसा जीवत्वशक्ति का स्वभाव है। स्वशक्ति का स्पर्श करके परिणमन करता हुआ ही आत्मा विकास पाता है। अरे प्रभु ! तू अन्दर देख तो सही, तू दीन नहीं, भिखारी नहीं, पामर नहीं, अधूरा नहीं, तुम तो अनन्त-अनन्त प्रभुता के स्वामी सर्वशक्ति से भरपूर परमेश्वर हो, प्रभु हो। अहाहा ! दिगम्बर सन्त तुझे प्रभु कहकर बुलाते हैं और गाथा ७२ की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी तुझे 'भगवान आत्मा' कहकर बुलाते हैं। अहो ! अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलनेवाले वीतरागी दिगम्बर सन्त तेरी आत्मा को भगवान कहकर जगाते हैं। जाग नाथ ! जाग ! अंतर-प्रतीति करके अन्तर में रमण करने से तेरी पर्याय में परमात्मपद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का विकास होवेगा।

यहाँ तो यह कहते हैं कि राग की मंदता की अपेक्षा बिना ही स्वयं के अनन्तगुण संकोच बिना विकासरूप में परिणमें – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। अरे भाई ! राग के अभावस्वरूप वीतरागता, चारित्र की पूर्ण दशा प्रगट करे – ऐसा तो आत्मा का स्वभाव है; परन्तु राग करे – ऐसी आत्मा में कोई शक्ति नहीं है।

अहा ! चैतन्यरूप अमृत का सागर प्रभु तू इस मृतक कलेवर में क्यों मोहित हो गया। अरे भाई ! जिसकी तू रात-दिन सेवा और आवभगत करता है – ऐसा यह शरीर तो जड़, अचेतन, मृतक कलेवर है, इसके जलने पर राख निकलती है; परन्तु इसमें से विकसित होकर केवलज्ञान नहीं निकलता; अतः देह की ममता छोड़ दे, इस रूपवान शरीर का आकार देखना छोड़ दे, यह तेरी चीज नहीं है। अन्दर ज्ञान, आनन्द आदि शक्तियाँ त्रिकाल पड़ी हैं, उनकी दृष्टि कर ! और उन्हीं की सेवा कर ! जिससे ज्ञान और आनन्द की दशा का विकास होकर पूर्णज्ञान-केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द प्रगट होगा और संसारसागर तरकर तेरी जीवन नौका पार उतर जायेगी।

अरे भाई ! यह संकोचरूप अल्पज्ञपर्याय तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुझमें तो सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व आदि शक्तियाँ पड़ी हैं तथा उनकी पूर्णविकासरूप सर्वज्ञदशा और सर्वदर्शीदशा प्रगट होवे – ऐसा आत्मा का असंकोचविकासस्वभाव है; अतः यह अल्पज्ञदशा और राग की दशा जो हेय है; उसकी प्रतीति छोड़ दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं रागी हूँ – ऐसी प्रतीति छोड़ दे, यह तो मिथ्या प्रतीति है। भाई ! ऐसी प्रतीति होते हुए तेरी संकोचदशा-हीनदशा कैसे मिटेगी ? और तुझे असंकोचविकास कहाँ से प्रगट होगा ? अन्दर वस्तु स्वयं के पूर्ण असीम स्वभाव से भरपूर है – ऐसा विश्वास लेकर उसमें तन्मय होकर परिणमित होती हुई वस्तु असंकोच–विकासरूप परिणम जाती है।

संकोच बिना अपरिमित विकासरूप से परिणमे – ऐसा भगवान आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का स्वभाव है। जिसप्रकार परमाणु में अनन्तगुण हैं, हरी, लाल आदि पर्यायें होती हैं, वे स्वयं के कारण से होती हैं, उनमें पर का कारण बिल्कुल नहीं है, उसीतरह भगवान आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वयं से होती हैं, उसमें पर का रंचमात्र भी कारण नही है। अरे भाई ! जो एक समय में तीनों काल सहित लोकालोक को पूर्ण जाने और उसकी भूत और भविष्य की पर्यायों को भी वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष जाने, उसे सर्वज्ञ कहते हैं। सर्वज्ञ अर्थात् शक्ति की अमर्यादित असंकुचित विकासरूप अवस्था।

अरे प्रभु ! तुम कैसी महाआश्चर्यकारी शक्तियों के भण्डार हो, अनन्त, अमर्यादित महिमावंत निज आत्मवस्तु के भान बिना यह तुम्हारे व्रत, तप आदि किसी काम के नहीं। निर्जरा आदि अधिकार में आचार्य भगवान ने कहा है कि अज्ञानी जीव आत्मा के भान बिना व्रतादि क्लेश करे तो करो; पर इनके द्वारा उसके संसार का नाश नहीं होता।

अरे भाई ! तू अल्पज्ञ रहे, अल्पदर्शी रहे, अल्पवीर्यवान, अल्प आनन्द-वान रहे – ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; पूर्णानन्द प्रभु, पूर्ण ज्ञानानन्द का दरिया है। ऐसा भेदज्ञान करके अवलोकन करने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शित्व आदि अनन्तशक्तियों में संकोच बिना पूर्ण विकास हो – ऐसे निजस्वभाव की प्रतीति होती है। यह बात समझ लो तो समस्त ही भाव समझ में आ जाय – ऐसी बात है।

यह असंकुचितविकासत्वशक्ति द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल व्यापक है और स्वसन्मुखता द्वारा उसका स्वीकार करने से पर्याय में भी व्यापक हो जाती है। त्रिकाली द्रव्य असंकोचविकासरूप, गुण असंकोचविकासरूप और उसरूप परिणत पर्याय भी असंकोचविस्ताररूप। गजब बात है भाई!

प्रश्न – परन्तु यदि पूर्ण विकसित ज्ञान की पर्याय लोकालोक को जाने तो उसमें लोकालोक कारण है कि नहीं ?

उत्तर – नहीं, जरा भी नहीं; यह तो निज अंतःपुरुषार्थ की सामर्थ्य से ही पूर्ण विकसित ज्ञान की दशा है, जो लोकालोक को प्रत्यक्ष जान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लेती है, इसमें लोकालोक कुछ भी कारण नहीं है। यदि लोकालोक कारण होवे तो लोकालोक तो अनादि से है और उससे केवलज्ञान अर्थात् ज्ञान की पूर्ण विकसित दशा भी अनादि होनी चाहिए; परन्तु ऐसा तो है नहीं,क्योंकि केवलज्ञान तो जीव को नवीन प्रगट होता है। इससे स्पष्ट होता है कि लोकालोक ज्ञान का कारण नहीं है तथा वह ज्ञान का कार्य है, ऐसा भी नहीं है।

अहा ! ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ असंकुचित-विकासत्व को प्राप्त होवें – ऐसा आत्मा का स्वभाव है और वह स्वभाव स्वसन्मुखतारूप अन्तःपुरुषार्थ द्वारा सिद्ध होता है। यही मार्ग है, इसके सिवाय अन्य सब व्यर्थ है।

इसप्रकार असंकुचितविकासत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

परजीव की हिंसा नरक का कारण नहीं है

क्षायिक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा हो और लड़ाई में हजारों मनुष्यों के संहार के बीच खड़ा हो तथा स्वयं भी बाण छोड़ रहा हो, तथापि यदि उसके अन्तरंग में यह प्रतीति है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पर जीव का कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ, मेरी अस्थिरता के कारण मुझे राग वृत्ति आ जाती है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भान होने से वह नरक में नहीं जाता इसलिए स्पष्ट है कि पर जीव की हिंसा नरक का कारण नहीं है किन्तु अन्तरंग का अशुभभाव ही नरक का कारण है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – ३६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१४. अकार्यकारणत्वशक्ति

अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः ।

जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता – ऐसे एक-द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति है।

जो पर को नहीं करती तथा पर के द्वारा नहीं की जाती – ऐसी एकद्रव्य- स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति है अर्थात् जो अन्य का कार्य नहीं है तथा अन्य के कार्य का कारण भी नहीं है – ऐसा जिस द्रव्य का स्वरूप है, वह स्वरूप उस द्रव्य की अकार्यकारणत्वशक्ति है।

ज्ञानस्वभावी प्रभु आत्मा अनन्तशक्तियों का अखण्ड पिण्ड है। उसमें ज्ञान-दर्शन की तरह एक अकार्यकारणत्वशक्ति भी है। आत्मा के एक द्रव्य-गुण-पर्याय को कोई परद्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः आत्मा अकार्य है तथा परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों को आत्मा नहीं करता; अतः आत्मा अकारण है। परद्रव्य के साथ कार्यकारणभाव से रहित आत्मा का यह अलौकिक अकार्यकारण स्वभाव है।

यहाँ कोई कहता है कि आत्मद्रव्य किसी का कार्य नहीं है तथा किसी का कारण भी नहीं है – ऐसा कहने से द्रव्य का स्वरूप ज्ञात हुआ, पर इससे आत्मा में ऐसी कोई शक्ति है – यह बात कहाँ सिद्ध हुई।

उससे कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञान यथार्थ नहीं है; क्योंकि प्रस्तुत विषय (चर्चा) द्रव्य की शक्ति का ही है। ऐसी शक्तिस्वरूप द्रव्य का अनुभव होने पर पर्याय में भी अकार्यकारणत्व दशा प्रगट हो जाती है। जो पर्याय द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई, वह पर का, राग का कारण नहीं है तथा पर का, राग का कार्य भी नहीं है। जिसप्रकार द्रव्य-गुण किसी के कार्य अथवा किसी के कारण नहीं हैं, उसीप्रकार पर्याय भी किसी का कार्य अथवा किसी का कारण नहीं है जो यह अकार्यकारणत्वशक्ति है,

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह द्रव्य-गुण- पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है।

द्रव्य-गुण तो पर से उत्पन्न नहीं होते; परन्तु पर्याय भी पर से उत्पन्न नहीं होती – ऐसा मानने की यहाँ प्रेरणा दी जा रही है। वस्तु में पर्याय पर्याय से उत्पन्न होती है – ऐसा मानना वस्तुस्वरूप के विरुद्ध है। जो यह अकार्यकारणस्वभाव है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय में तीनों काल व्यापता है। द्रव्य अकार्यकारणस्वभावमय, गुण अकार्यकारणस्वभावमय तथा पर्याय भी अकार्यकारणस्वभावमय है। अहो ! जिसप्रकार द्रव्य-गुण अन्य के द्वारा नहीं किए जाते, उसीप्रकार पर्याय भी अन्य के द्वारा नहीं की जाती – ऐसा ही वस्तु का अलौकिक स्वभाव है। पर्याय का अर्थ है समय-समय उत्पन्न होनेवाला नवीन कार्य, परन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह पर के द्वारा की जाती है। कारण बिना कार्य नहीं होता – यह बात तो ठीक है; परन्तु वह कारण स्वयं में होता है कि पर में ? कार्य स्वयं में हो और कारण पर में ऐसा नहीं है। कार्य-कारण वस्तुतः एक ही द्रव्य में होते हैं।

अरे भाई ! यदि अपना कार्य 'पर' करे तो पराधीन होने से हम स्वयं का ही हित नहीं कर सकेंगे।

तथा यदि हम 'पर' का कार्य करें तो हमारा अपना कार्य कौन करेगा? अतः भाई ! निजकार्य का कारण निज में ही है, 'पर' के साथ निज का कार्यकारण है ही नहीं – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

आचार्यदेव ने यह अकार्यकारणत्वशक्ति ७२ वीं गाथा की टीका में से निकाली है। भाई ! जो यह अकार्यकारणत्वशक्ति है, वह द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल व्याप्त ही है; त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करने पर पर्याय में भी व्यापक हो जाती है। अहाहा ! प्रत्येक गुण की परिणति 'पर' का कारण नही है तथा पर का कार्य नहीं है – ऐसी यह अकार्यकारणत्वशक्ति है तथा इसका मोक्षदशा में विकास-विस्तार होता है। भगवान को जो केवलज्ञान की दशा प्रगट हुई है, वह चार घातिकर्मों के नाश से प्रगट हुई है – ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। पण्डित फूलचन्दजी ने जैनतत्त्वमीमांसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में इसका सुन्दर वर्णन किया है कि चार घातिकर्मों का नाश होकर उनकी अकर्मरूप दशा हुई है। जो कर्मरूप पर्याय थी, वह अकर्मरूप पर्याय हो गई; पर वह केवलज्ञानरूप हुई है – ऐसा नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान तो जीव के ज्ञानगुण की पर्याय है। अतः घातिकर्मों के नाश से केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ।

प्रश्न – यदि ऐसी बात है तो शास्त्र में ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर – भाई ! शास्त्र में तो निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा है। अरे भाई ! वस्तु का यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ समझने से वीतरागता उत्पन्न होती है। वाद-विवाद से यह बात समझ में आती नहीं है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा का ऐसा अकार्यकारणस्वभाव है कि जिससे आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मलपर्याय राग का कार्य नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के कारण निर्मलपर्याय प्रगट हुई है – ऐसा भी नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय कारण और निश्चयरत्नत्रय की निर्मलपर्याय कार्य – ऐसा नहीं है। अतः आत्मा राग का, विकार का कारण नहीं है। आत्मा संसार की उत्पत्ति का कारण नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति है। भाई ! द्रव्य सत्, गुण सत् तथा पर्याय भी एक समय की सत् है। तीनों स्वतंत्र हैं, अतः वास्तव में पर्याय स्वयं की योग्यता से उत्पन्न होती है। कोई अन्य द्रव्य उसकी उत्पत्ति में कारण (हेतु) नहीं है।

निश्चय से तो ऐसा है कि सम्यग्दर्शन अथवा केवलज्ञान की जो पर्याय उत्पन्न हुई, वह उसका जन्मक्षण है। उसकी उत्पत्ति का वह काल था; अतः वह पर्याय उस काल में उत्पन्न हुई। वह उसकी काललब्धि है। उस समय भव्यता के भाव का उत्पन्न होने का काल था; अतः वह पर्याय स्वयं से प्रगट हुई है। जिसमें पर का रंचमात्र भी हेतु नहीं है। देखो, स्वरूप में लीन होने से चारित्रमोह कर्म का नाश होता है, वास्तव में चारित्रमोह कर्म के नाश का कार्य जीव का कार्य नहीं है। जीव का कार्य तो स्वरूपलीनता रूप निर्मल चारित्र है – ऐसा भी नहीं है।

अरे भाई ! 'निमित्त है' – इसका अर्थ मात्र इतना है कि वह कार्योत्पत्ति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के काल में होता तो है, परन्तु वह कार्य का कर्ता नहीं है। 'देखो ! यह ठीक ही कहा है। जो अन्य का कार्य नहीं है तथा अन्य का कर्ता भी नहीं है – ऐसी एकद्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति जीवद्रव्य में त्रिकाल मौजूद है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब परवस्तु स्वरूप निमित्त उपादान में क्या करे ? अर्थात् वह उपादान में कुछ नहीं करता है। वास्तव में एक-एक समय की पर्याय स्वयं में ही स्वयं के कारण-कार्य रूप वर्तती है। परमशुद्ध- नय की अपेक्षा तो कार्य-कारण का भेद ही नहीं है तथा ऐसा भेद करना व्यवहार है।

यहाँ द्रव्य की शक्ति की बात है; परन्तु द्रव्य में जो शक्ति है, वह पर्याय में व्यापती है। अहाहा ! जब त्रिकाली शक्तिवान निज द्रव्य का स्वाभिमुख होने से स्वीकार होता है, तब शक्तियाँ पर्याय में व्याप्त हो जाती हैं, जिससे पर्याय में भी पर का कार्य-कारणपना नहीं है। अहाहा ! जिस पर्याय ने अकार्यकारणरूप द्रव्यस्वभाव स्वीकार किया, वह पर्याय भी अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद हो गयी है, जिससे वह पर्याय भी पर का कार्य-कारण नहीं है। अहा ! द्रव्य का, द्रव्यस्वभाव का जिसमें निर्णय हुआ, वह प्रगट हुई पर्याय ऐसा जानती है कि "मैं आनन्द की मूर्ति चिदानन्दघनप्रभु राग का कारण भी नहीं हूँ और राग का कार्य भी नहीं हूँ। राग, राग के कारण से हुआ है और आनन्द, आनन्द के कारण से।"

यहाँ कोई कहता है कि राग का कारण आत्मा नहीं है; परन्तु जड़कर्म तो कारण है न !

उससे कहते हैं कि ऐसी बात भी नहीं है, जड़ निमित्त है; परन्तु निमित्त, निमित्तरूप से स्वतंत्र है और राग, राग के कारण से स्वतंत्र है। अहा ! गजब बात है भाई ! जड़ की किसी अवस्था अथवा रागदशा का कारण आत्मा नहीं है, आत्मा उनका कार्य भी नहीं है – ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

समयसार की ७२वीं गाथा में आता है कि आस्रव, आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं, जिससे दुख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सदा ही निराकुल स्वभाववाला होने से किसी का कारण नहीं है, किसी का कार्य भी नहीं है। इसमें आचार्यदेव ने यह अकार्यकारणत्वशक्ति निकाली है। कोई ईश्वर जगत को बनाये, यह बात तो दूर रही, यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा परद्रव्य को करे ओर परद्रव्य आत्मा को करे – ऐसा परस्पर कार्य-कारणपना नहीं है। भाई ! यह तो ऐसी बात है, जिससे जगत निहाल हो जावे। अज्ञानी भी पर का कुछ नहीं करता है। वह तो हठ से 'मैं' पर को करता हूँ' – ऐसा (मिथ्या) मानता है, वस्तु का अकार्यकारण स्वभाव तो जैसा है, वैसा है; उसमें किसी की मान्यता से बदलाव नहीं होता। जो इसको अन्तरंग में स्वीकार करता है, वह ज्ञानी है।

प्रश्न – तत्त्वार्थराजवार्तिक में तो दो कारणों से कार्य होने की बात कही गयी है और आप मात्र उपादान से कार्योत्पत्ति बतला रहे है, यह विरोध क्यों है ?

उत्तर – तत्त्वार्थराजवार्तिक में तो 'जब कार्य हुआ, तब निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने के लिए दो कारणों से कार्योत्पत्ति की बात कहते हैं।' पर्याय किसी का कारण नहीं है और कार्य भी नहीं है – इस मूल बात को ध्यान में रखकर, कार्यकाल में निमित्त कौन था, उसका प्रामाणिक ज्ञान कराने के लिए दो कारण से कार्य होता है – ऐसा कहा है। निश्चय से पर्याय स्वयं से प्रगट होती है, परद्रव्य उसका कारण-कार्य नहीं है, यह बात स्थापित करके प्रमाण निमित्त का ज्ञान कराता है; परन्तु जो निश्चय को झूठा मानकर, उड़ाकर निमित्त का ज्ञान कराता है, वह तो सच्चा प्रमाणज्ञान ही नहीं है, वह तो मिथ्याज्ञान है।

अकार्यकारणत्वशक्ति की व्याख्या में जो 'एक द्रव्यरूप' ऐसा शब्द है, वह कई लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो मात्र द्रव्य की बात है; क्योंकि पर्याय तो नई-नई उत्पन्न होती है; अतः उसमें तो पर का कार्य-कारणपना होता ही है।

उससे कहते हैं कि अरे भाई ! तुम्हारी यह मान्यता सही नहीं है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि द्रव्य की अकार्यकारणत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। जिसप्रकार द्रव्य अन्य के द्वारा नहीं किया जाता, गुण अन्य के द्वारा नहीं किये जाते, उसीप्रकार उसकी प्रत्येक पर्याय भी पर के द्वारा नहीं की जाती है। अहाहा! द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप प्रत्येक वस्तु को यहाँ परद्रव्य के लिए अकार्य-कारणमयी सिद्ध करते हैं। स्व के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, वह पर अर्थात् कर्म के उपशमादि से नहीं हुई है। उसीप्रकार वह पर्याय में कुछ नहीं करता है। अन्य का कार्य अन्य के द्वारा किया जाय – यह जैनसिद्धान्त नहीं है। अहा! जब केवलज्ञान हुआ तो मोक्षमार्ग कारण और केवलज्ञान उसका कार्य – ऐसा नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान की पर्याय में अकार्यकारणत्वशक्ति व्यापती है। यहाँ कहते हैं कि जब पूर्व पर्याय वर्तमान केवलदशा के लिए नहीं है। जब ऐसा है तो मनुष्यपना और उत्तमसंहनन था; अतः केवलज्ञान प्रगट हुआ यह बात ही कहाँ रही ? यह तो समस्त निमित्त का कथन है बापू! आजकल ऐसी सूक्ष्म बात लोगों को कठिन लगती है, परन्तु यह न्याय से, तर्क से सिद्ध बात है।

अहा! आत्मा की प्रत्येक शक्ति में इस अकार्यकारणस्वभाव का रूप है। चारित्र की निर्मल पर्याय जब उत्पन्न होती है, तब द्रव्य के आश्रय से ही वह उत्पन्न होती है। अतः स्वयं के द्रव्य के आश्रय से (कारणपने) चारित्रदशा प्रगट हुई – ऐसा कहना भी व्यवहार है; क्योंकि वास्तव में तो चारित्र की पर्याय का कारण वह पर्याय स्वयं है। वह पर्याय स्वयं से ही षट्कारकरूप परिणमित होकर उसरूप हुई है। जब ऐसी बात है, तब व्यवहाररत्नत्रय का राग कारण और चारित्र की निर्मल पर्याय कार्य यह बात ही कहाँ रही ? यह बात है ही नहीं। समय-समय की जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह शक्ति के कारण से प्रगट होती है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। अहाहा! एक समय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल निराकुल आनन्द की अनुभूति की दशा प्रगट हुई, उस पर्याय की सामर्थ्य का क्या कहना ? अहाहा! वह पर्याय निज सामर्थ्य से ही स्वतंत्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट हुई है, वह अन्य का कार्य नहीं है, अन्य का कारण भी नहीं है। अनुभव की निर्मलदशा होने के पहले शुभभाव हुआ; इसलिए अनुभूति की दशा प्रगट हुई है, ऐसा नहीं है।

ज्ञान में , दर्शन में, आनन्द में, चारित्र में, वीर्य में – इसप्रकार प्रत्येक गुण में अकार्यकारणत्व स्वभाव है। गुण की प्रगटता में पर का कारण–कार्यपना किंचित् मात्र भी नहीं है। जब अन्तःपुरुषार्थ जाग्रत होवे, तब परद्रव्य (देव-शास्त्र-गुरु, कर्म आदि) का किंचित् कारणपना नहीं है। 'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो' भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसा कहा है न ? परन्तु यह व्यवहार है।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने में जिसप्रकार परद्रव्य कारण नहीं है; उसी प्रकार स्वयं का द्रव्य-गुण भी वास्तव में कारण नहीं है। ऐसा पर्याय का अकार्यकारणस्वभाव है।

अहा ! यह अकार्यकारणस्वभाव जिसको समझ में आ जाता है, उसकी क्या बात करें । उसकी तो बुद्धि और गति बदल जाती है। 'मैं पर का क्या करूँ ? कुछ भी नहीं करूँ' – ऐसा जानता हुआ वह पर से अर्थात् पर के करनेपने से हट जाता है और स्व सम्यग्दर्शनादि कार्य के लिए पर की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसी निर्मल प्रतीति होती है। देखो, कैसा स्वाधीनता का मार्ग है और कैसा यह स्वाधीन धर्म है। सभी अज्ञानीजीव अनादिकाल से पर में स्वयं का कार्य-कारणपना मानकर स्वकार्य के लिए, पर के आश्रित होकर पर में ही प्रवर्तन करते हैं, रमते हैं,; परन्तु यह तो संसार में रखड़ने का , दुख का पंथ है बापू ! अतः पर के बिना मेरा काम नहीं चलता है तथा पर का काम 'मैं कर दूँगा' ये बात ही छोड़ दो। भाई ! यह भ्रम छोड़कर पर से हटकर स्व में सावधान होओ और पर का काम कभी भी तू करे, ऐसा तेरा स्वरूप ही नहीं है। अहो ! आत्मा का अकार्यकारण स्वभाव कहकर आचार्यदेव ने पर से भेदज्ञान कराकर स्वाधीन मार्ग बताया है।

इसप्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति

परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपापरिणम्य परिणामकत्वशक्तिः।

पर और स्व जिनके निमित्त हैं – ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व -शक्ति है।

पर और स्व जिसका निमित्त है तथा जो ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार को ग्रहण करता है और ग्रहण कराता है, आत्मा का ऐसा स्वभाव परिणम्य-पारिणामकत्वशक्ति है अर्थात् पर जिसमें कारण है ऐसा ज्ञेयाकार को ग्रहण करनेवाला तथा स्व जिसमें कारण है – ऐसी ज्ञानाकार को ग्रहण करने के स्वभावरूप परिणम्य-पारिणामकत्वशक्ति है।

देखो, आत्मा का परद्रव्य के साथ कार्य-कारणपना नहीं है, ऐसी अकार्यकारणत्वशक्ति की बात आ गई है। अब कहते हैं कि पर और स्व जिसका निमित्त है, ऐसा ज्ञेयाकार तथा ज्ञानाकार को ग्रहण करनेवाला और ग्रहण करानेवाला स्वभावस्वरूप आत्मा में परिणम्य-पारिणामिकत्व शक्ति है। थोड़ी सूक्ष्म बात है भाई! जरा ध्यान रखकर समझना। परज्ञेयों के ग्रहण करने के स्वभावरूप जो शक्ति है, वह प्रमाण नाम की परिणम्य शक्ति है और ज्ञानाकारों के ग्रहण कराने के स्वभावरूप जो शक्ति है, वह प्रमेय नाम की परिणामकत्वशक्ति है।

आत्मा में प्रमाण नाम की एक शक्ति है और प्रमेय नाम की भी एक शक्ति है। प्रमाण परिणम्यशक्ति है और प्रमेय परिणामकत्वशक्ति है। ये दोनों मिलकर एक परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

परिणम्य अर्थात् परज्ञेयों द्वारा आत्मा परिणमित होता है अथवा परज्ञेय आत्मा के ज्ञान को परिणमित करवाते हैं, ऐसा इसका अर्थ नहीं है; बल्कि सामने जैसा परज्ञेय है, वैसा ज्ञान का सहज परिणमन स्वयं के स्वभाव से

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है – ऐसा आत्मा का परिणम्य स्वभाव है। स्वभाव से ही पर को जाननेरूप परिणमित होनेवाली आत्मा की प्रमाणशक्ति है। इसे ही परिणम्य -शक्ति भी कहते हैं।

तथा 'परिणामकत्व' अर्थात् सामने स्थित अन्य जीव के ज्ञान को यह आत्मा परिणमाता है – ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञान में ज्ञेयपने से झलकने का आत्मा का परिणामकत्व स्वभाव है। अहा ! आत्मा पर को जाने और पर के ज्ञान में स्वयं ज्ञात हो, ऐसे दोनों स्वभाव उसमें एकसाथ रहते हैं। उनको यहाँ परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति कहा है।

यहाँ आत्मा की शक्तियों का सूक्ष्म वर्णन है। आत्मा पर का कर्ता हो और पर के द्वारा आत्मा का कार्य हो, ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु अनन्त ज्ञेयपदार्थों के ज्ञेयाकारों को विशेषपने ग्रहण करने के स्वभाव- रूप आत्मा में प्रमाण नाम की परिणम्यशक्ति है; उसीप्रकार पर के प्रमाण में प्रमेय बनने की अर्थात् स्वयं के ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप आत्मा में प्रमेयत्व नाम की (परिणामकत्व) शक्ति है। इसमें स्व और पर दोनों वस्तुओं को सिद्ध किया है। अकेला पर परब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है, ऐसा नहीं है तथा अकेला परज्ञेय है, ऐसा भी नहीं है। अहा ! जीव-अजीवरूप ज्ञेय अनन्त हैं तथा प्रमाण-प्रमेय स्वभाव-वाला ज्ञानस्वरूपी आत्मा भी भावों की अपेक्षा अनन्तरूप है।

अहाहा ! आत्मा में अनन्त शक्ति हैं, अनन्त गुण हैं एवं अनन्त स्वभाव भरे हैं। उसमें एक प्रमाण नाम की शक्ति है। उसका कार्य स्व-पर के सभी ज्ञेयाकारों का उनके विशेषों सहित ज्ञान करना है। यहाँ सर्व-ज्ञेयाकारों को जानना कहा – उसमें अपना आत्मा भी एक ज्ञेयाकाररूप जानने में आ गया। उससे कोई ऐसा कहता है कि आत्मा पर को जानता है; परन्तु स्व को नहीं जानता है, उसकी यह बात झूठी सिद्ध हो गई; क्योंकि आत्मा में स्व-पर को जाननेरूप यह प्रमाणशक्ति है तथा कोई ऐसा कहता है कि आत्मा स्व को जानता है; परन्तु पर को नहीं जानता तो उसकी यह बात भी झूठी है। उसको आत्मा में स्व-पर को जाननेरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रमाणशक्ति की खबर नहीं है।

तथा आत्मा में एक प्रमेय नाम की भी शक्ति है, उसका कार्य क्या है? तो कहते हैं कि पर के प्रमाणज्ञान में स्वयं के ज्ञेयाकारों को ग्रहण कराने का, अर्पण कराने का उसका स्वभाव है। इसप्रकार प्रमाण-प्रमेय दोनों मिलकर यह एक परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति यहाँ आचार्यदेव ने कही है। पर की रचना करके, उसे परिणमन कराये – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु पर का ज्ञाता होना तथा पर का ज्ञेय बनना, ऐसा आत्मा का यह परिणम्य-परिणामकत्व स्वभाव है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई !

प्रश्न – आत्मा का स्वयं के ज्ञान में ज्ञेयरूप से झलकने का एवं दूसरे जीवों के ज्ञान में ज्ञेय होने का स्वभाव है तथा स्व-पर को जानने का स्वभाव है तो हमें आत्मा ज्ञात क्यों नहीं होता है ?

उत्तर – अरे भाई ! आत्मा इन्द्रियज्ञान से ज्ञात न होनेवाला सूक्ष्म अतीन्द्रिय अरूपी पदार्थ है। उसको जानने के लिए इन्द्रियज्ञान काम नहीं आता है। तुम्हें अपना उपयोग अन्तर्मुख-अतीन्द्रिय करना चाहिए। आत्मा अतीन्द्रिय स्व-संवेदन से ही ज्ञात हो, ऐसी वस्तु है।

भगवान ! अनन्त ज्ञेयों को जानना तेरा स्वभाव है। जिसप्रकार अनन्त रचना करना अथवा उनका कार्य करना तेरा स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार ज्ञेयों द्वारा तुम्हारे कार्य की रचना (ज्ञानाकार की रचना) होय, या की जाय, ऐसा भी नहीं है; परन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अनन्त का स्वयं के ज्ञान में, प्रमाण में ग्रहण हो और स्व-पर प्रमाणज्ञान में स्वयं के ज्ञानाकार प्रमेयरूप से ज्ञात हों – ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है।

गजब बात है भाई ! अनन्त सिद्ध भगवान और अरिहंत इत्यादि स्वयं को स्वयं के ज्ञान में जानते हैं तथा अनन्त सिद्ध भगवान और अरिहंत इत्यादि ज्ञान में स्वयं के लिए ज्ञानाकाररूप प्रमेय बनकर ज्ञात होते हैं। ऐसा अपने आत्मा का स्वभाव है। भगवान ! तुम अपनी ऐसी सामर्थ्य को जाने बिना अनन्त काल से चार गति में रखड़ रहे हो। यदि तुम अपने स्वभाव के सामर्थ्य की महिमा समझो, उसे स्वीकार करो तो संसार-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिभ्रमण के दु:ख का अन्त हो जाय। तुम्हारी एक-एक पर्याय में स्व-पर का ज्ञान करने की और स्व-पर का ज्ञेय होने की अद्भुत शक्ति है। यह समझकर अन्तर्मुख हो तो 'मुझे आत्मा ज्ञात क्यों नहीं होता' – 'ऐसा संदेह मिट जाय, ऐसी शंका ही न रहे। 'आत्मा मात्र पर को जानता है' जो ऐसा मानता है, उसको आत्मा ज्ञात नहीं होता। वस्तुतः स्व-पर को जानने का आत्मा का सहज स्वभाव है।

अहो ! अन्दर में स्वरूप के आनन्द में झूलते-झूलते आचार्य भगवान ने आत्मा की शक्तियों का महा अद्भुत वर्णन किया है। वे कहते हैं कि आत्मा की शक्तियाँ अनन्त हैं, परन्तु सभी कही नहीं जा सकतीं; क्योंकि शब्द परिमित हैं और शक्तियाँ तो अपरिमित, अनन्त हैं, जिससे वचन द्वारा हम कितनी कहें ? तथा हमें उनको कहने की फुर्सत भी कहाँ हैं ? हम तो निजानन्दरस में लीन रहते हैं। केवलज्ञान होने पर समस्त अनन्त शक्तियाँ प्रत्यक्ष ज्ञात होंगी; अतः वाणी में कितनी कही जायें; फिर भी आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन करके आत्मा के अद्भुत वैभव को दिखाया है।

उन अनन्त शक्तियों में आत्मा की एक ऐसी शक्ति भी है कि जिससे आत्मा स्वयं स्व-पर का ज्ञाता होता है और स्व-पर का ज्ञेय भी होता है। यहाँ आत्मा स्व-पर का ज्ञेय बने – ऐसा कहा है, जिसका अर्थ है पर का अर्थात् परजीवों के ज्ञान में ज्ञेय बने, ऐसी बात है। आत्मा जड़पदार्थों का ज्ञेय बने – ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जड़ पदार्थों में जानने की शक्ति ही नहीं है तथा जड़ इन्द्रियादि को तो अपना ही ज्ञान नहीं है, तब वे परपदार्थों को कैसे जान सकते हैं। एकमात्र आत्मा को ही स्व-पर का ज्ञान है। अहो! निज आत्मा के ऐसे ज्ञेय-ज्ञायक स्वभाव को अन्तुर्मख होकर जानने पर स्वयं को स्वयं का ज्ञान होता है। स्वयं सूक्ष्म अरूपी वस्तु है, जिससे स्वयं स्वयं को नहीं जानता है, ऐसा कोई अज्ञानी मानता है; परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। अरे भाई ! स्वयं की खबर न हो तो अपनी निःशंक प्रतीति कहाँ से हो ? तथा निजस्वभाव की निशंकता हुए बिना साधकजीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किसकी साधना करे ? अरे भाई ! अन्दर तेरा स्वभाव ही ऐसा है कि अन्तर में जाग्रत होने पर स्वरूप की निःसन्देह प्रतीति हो जाती है। इसी का नाम धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

अहा ! स्व-पर को ग्रहण करने का जीव का स्वभाव है। यहाँ ग्रहण करने का अर्थ जिसप्रकार हाथ से हम किसी वस्तु को पकड़ते हैं, उसीप्रकार ज्ञेय को पकड़ना नहीं है; क्योंकि आत्मा के हाथ-पैर नहीं हैं। ग्रहण करने का अर्थ जाननामात्र है। यहाँ स्व-पर को ज्ञेय कहा, उसमें अनन्त गुणमय त्रिकाली शुद्धद्रव्य और उसमें अभेद, तन्मय होनेवाली वीतराग-परिणति स्वज्ञेय है तथा व्यवहार रत्नत्रय का राग तथा देव-गुरु आदि परज्ञेय हैं; क्योंकि राग और देव-गुरु कोई भी परपदार्थ जीवस्वरूप नहीं हैं। अहा ! जो इस बात को अन्तर में समझता है, उसके ज्ञान में निज शुद्ध चैतन्य का ग्रहण होता है तथा परज्ञेय मेरा है – ऐसा विपरीत श्रद्धान दूर हो जाता है। यही अपूर्व धर्म है।

अहाहा ! भगवान ! तुम अकेले चैतन्यस्वरूप हो। १७वीं , १८वीं गाथा की टीका में आया है कि आबाल-गोपाल सभी को सदाकाल ज्ञान की पर्याय में स्वज्ञेय जानने में आता है, ऐसा ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है; परन्तु अरे ! अनादि से इसकी बहिर्दृष्टि है। त्रिकाली एक ज्ञायकभाव की दृष्टि हुए बिना जीव की दृष्टि पर से हटती नहीं है; परन्तु अन्तर्दृष्टि करते ही शुद्ध चैतन्य का ग्रहण हो जाय, ऐसा भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। अहा ! तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-पर ज्ञेयों को जाननेवाला प्रमाणज्ञानरूप है तथा तेरा अनादि-अनन्त स्वभाव केवली आदि के ज्ञान में ज्ञात होने से प्रमेय स्वभाव-रूप है। अहा ! तुझमें ऐसी परिणम्य -परिणामकत्व शक्ति है।

अरे भाई ! यह पैसा मेरा है, तू ऐसा मानता है; परन्तु ऐसा मानना तेरा स्वभाव नहीं है। लक्ष्मी, मकान, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु आदि ये सभी ज्ञेयरूप से तुम्हारे ज्ञान में ज्ञात तो होते हैं; परन्तु तुम्हारे नहीं हो जाते। उन ज्ञेयों को अपना मानना तो केवल भ्रम है; क्योंकि ऐसा वस्तुस्वभाव नहीं है तथा पर के प्रमाण में प्रमेय बनना तेरा स्वभाव है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु पर का तू हो जाये, पिता-पुत्र का तू हो जाये – ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है।

सुनो तो सही प्रभु! जगत की समस्त चीजें ज्ञेयरूप से तुम्हारे ज्ञान में ज्ञात होवें – ऐसा तुम्हारे ज्ञान का स्वभाव है। भाई! तू उन वस्तुओं का स्वामी नहीं है। अहा! परज्ञेयों को ग्रहण करने रूप जो प्रमाणज्ञान है, तुम उसके स्वामी हो; परन्तु परज्ञेयों के स्वामी नहीं हो। भगवान मेरे हैं, गुरु मेरे हैं – ऐसा मानना गलत है; क्योंकि ये सभी ज्ञान के मात्र ज्ञेय हैं। ये भगवान मेरे हैं, ये गुरु मेरे हैं – ऐसी तो जगत में कोई वस्तु ही नहीं है तथा ज्ञानानन्द स्वभाव से यह जीव परिणमन करे तो इसके प्रमाणज्ञान में प्रमेय होकर वे जानने में आते हैं।

केवलज्ञान में समस्त ज्ञेयाकारों को युगपत् ग्रहण करने का स्वभाव है तथा केवली के ज्ञान में ज्ञेयाकारों को ग्रहण करानेवाला उसका प्रमेय स्वभाव है। भाई! तेरे ज्ञानस्वभाव में सभी ज्ञेय ज्ञात होने लायक हैं, बस इतना समझ। परज्ञेय मेरे हैं और मैं पर का हूँ, यह बात भुला दे भाई! क्योंकि ऐसी वस्तु नहीं है। अहो! आचार्यदेव ने अमृत उड़ेला है।

अहा! जहाँ अनन्त स्वभावमय अमृत सागर उछलता है, वहाँ विरोध की बात शोभा नहीं देती। यहाँ तो कहते हैं कि जगत में कोई भी प्राणी विरोधी नहीं है; सर्वप्राणी ज्ञेयमात्र हैं, यह भगवान का न्यायमार्ग है। भाई! जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा उनका ज्ञान करना न्याय है तथा वैसी उनकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है और वही धर्म है। यहाँ तो इतनी बात है कि पर ज्ञेयाकार स्वयं के ज्ञान में निमित्तमात्र हैं तथा स्वयं के ज्ञानाकार पर के ज्ञान में निमित्तमात्र हैं, यह ही आत्मा का परिणम्य-पारिणामकत्व स्वभाव है।

भाई! वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि मेरे ज्ञान में तुम ज्ञेय तरीके ज्ञात होने लायक हो; परन्तु तुम मेरे कुछ नहीं हो तथा मैं भी परद्रव्यस्वरूप केवलज्ञानी जीव के ज्ञान में प्रमेय होने लायक हूँ; परन्तु उनका मैं कुछ नहीं हूँ – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है भाई!

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कई लोग स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं, परन्तु स्त्री अर्धांगिनी नहीं है, वह तो तुम्हारे ज्ञान का ज्ञेय है, उस ज्ञेय का ज्ञान करनेवाली जो ज्ञान की परिणति है, वह तेरी है; क्योंकि स्वपर को जानने का आत्मा का स्वभाव है। आत्मा परज्ञेय का कार्य करे अथवा परज्ञेय स्वयं का हो जाय – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। अहा! वस्तु स्वभाव जैसा यथार्थ कहा गया है, वही न्याय है। लोगों को यह बात सूक्ष्म लगती है; परन्तु यह मूल मुद्दे की बात है। पर का गुरु बनना और पर का शिष्य बनना यह द्रव्य में गुणरूप से तो त्रिकाल मौजूद है; परन्तु द्रव्यस्वभाव की दृष्टि होने पर शक्ति का परिणमन पर्याय में होता है। उस पर्याय में बाहर के अनन्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं; पर वे ज्ञेय मेरे हैं – ऐसा कोई माने तो वह उल्टी मान्यता है। दूसरे जीव का केवलज्ञान प्रगट हो अथवा मति-श्रुतज्ञान हो तो उसके ज्ञान में ज्ञेय होकर के ज्ञानाकार को ग्रहण करानेवाला तेरा स्वभाव है; परन्तु पर का तू जो जाय – ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। भगवान! तुम मात्र ज्ञाता-दृष्टा हो बस! यह बात यहाँ विशेषरूप से सिद्ध करते हैं।

अहा! सम्यग्दृष्टि जीव को अन्तर में ऐसी प्रतीति हुई है कि सर्व पर-ज्ञेय-शरीर, मन, वाणी, कर्म, भावकर्म रागादि सभी मेरे ज्ञान में ज्ञात होने लायक हैं; परन्तु उनमें स्वामित्वबुद्धि नहीं है। अरे ! लोग तो कितनी स्थूल बात करते हैं कि व्यवहार, शुभराग मोक्ष का मार्ग है; पर यहाँ उनकी बात नहीं चलती, शुभराग भी परज्ञेय है, अनात्मा है। उन ज्ञेयों को ग्रहण करने का अर्थात् उनको जानने का आत्मा का स्वभाव है। बारहवीं गाथा में भी आया है कि व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है तथा ग्यारहवीं गाथा में भी आया है कि स्वयं का एक त्रिकाली ज्ञायकभाव सत्यार्थ है; क्योंकि उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। सभी दृष्टियों से देखें तो यह एक ही सिद्धान्त सिद्ध होता है। सम्यग्दृष्टि के जो रागांश बाकी है वह उसके लिए परज्ञेयरूप से ज्ञान में जानने लायक है; परन्तु राग मेरा है अथवा राग से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। अहा! जो राग से भिन्न पड़- कर वीतराग होकर निकला है। राग तो उसके ज्ञान का मात्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञेय है। राग रागरूप से राग में है। ज्ञान ज्ञानरूप से ज्ञान में है। उनका परस्पर कोई संबंध नहीं है। बापू! राग से ज्ञान नहीं होता है और ज्ञान से राग नहीं होता है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी कहते हैं कि जिससमय जितना राग होता है, उस-उस समय में व्यवहारनय से वह जानने लायक है। बारहवीं गाथा की टीका में 'तदात्वे' शब्द पड़ा है, इसका अर्थ यह है कि उस-उस काल में राग जानने योग्य है अर्थात् राग मेरे ज्ञान का ज्ञेय है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में उस-उस समय ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं अपने से प्रगट होती है और उसमें राग परज्ञेयरूप से मात्र ज्ञाता होता है। राग ज्ञेय है; इसलिए ज्ञान की परप्रकाशक पर्याय प्रगट होती है – ऐसा नहीं है; बल्कि स्व-पर को जाननेवाली ज्ञान की क्रमवर्ती पर्याय स्वयं की सामर्थ्य से प्रगट होती है। राग के अथवा निमित्त के कारण से प्रगट होती है – ऐसा नहीं है।

अरे भगवान! जिनेन्द्र का मार्ग तो देखो, अहा! तेरी चीज अन्दर में ऐसी है कि जिससमय अन्दर में राग आता है, उससमय उस राग संबंधी ज्ञान होता है; तथापि उस राग से ज्ञान की पर्याय उत्पन्न नहीं होती। ज्ञान की पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है, उसमें ज्ञेय का, राग का ज्ञान हुआ, ऐसा कहना तो व्यवहार है तथा मैं ज्ञान की पर्याय को जाननेवाला हूँ – यह भी भेदरूप व्यवहार है। मैं तो एक ज्ञायक हूँ। ऐसा अन्दर में परिणमन हो गया, तब ज्ञायक हो गया। स्वयं के ज्ञान में परवस्तु ज्ञेय है और पर के ज्ञान में स्वयं ज्ञात होता है – ऐसी जीव की प्रमाण-प्रमेय शक्ति का जो यथार्थ स्वरूप मानता है, उसको अन्तर में शक्तिवान द्रव्य की प्रतीति होती है और इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

अहा! यहाँ परिणम्य-परिणामकत्व नाम की शक्ति का वर्णन चलता है। जयसेनाचार्य कहते हैं कि एक आधार, एक शक्ति अथवा एक भाव को जो यथार्थ समझता है, वह सभी भावों को यथार्थ समझता है। ऐसा यह वस्तुस्वरूप है। अहा! आत्मा स्व-पर ज्ञेयों को जानता है – ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहना व्यवहार है; क्योंकि जानता है – ऐसा भेद किया; इसलिए व्यवहार है। आत्मा तो बस एक ज्ञायक है। ज्ञान द्वारा जानता है ,ऐसा भेद भी जिसमें नहीं है –ऐसा त्रिकाली भूतार्थ एक ज्ञायक प्रभु आत्मा है और वह सम्यग्दर्शन का विषय है। अहो ! वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी की यह असाधारण अमृतधारा है। देखो ! राई के दाने के बराबर आलू के एक टुकड़े में असंख्य औदारिक शरीर हैं और उन एक-एक शरीर में अनन्त निगोदिया जीव हैं। छह महीना और आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं। आजतक जितने सिद्ध हुए हैं, उनसे अनन्तगुने जीव एक निगोद के शरीर में हैं। वे सभी जीव भगवान ज्ञायक के ज्ञान के ज्ञेय हैं। अहो ! भगवान ज्ञायक का कोई अद्‌भुत अपरिमित ज्ञान सामर्थ्य है। भाई ! लोक में अनन्तजीव हैं, उनकी मात्र दया पालना ही धर्म नहीं है; परन्तु स्वपर को जाननेवाले परम अद्‌भुत ज्ञानस्वभाव की महिमा लाकर अन्तर्मुख होना ही धर्म है – ऐसा आचार्यदेव का विशेष अभिप्राय है।

'पर की रक्षा का भाव पाप है' – यदि ऐसा कोई मानता है; तो उसकी यह मान्यता खोटी है, मिथ्या है। तथा पर की रक्षा आत्मा कर सकता है – यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है; परन्तु परजीवों की रक्षा का परिणाम तो पुण्यभाव है। ऐसा भाव धर्मियों को भी होता है; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मी परजीवों की रक्षा कर सकता है; क्योंकि ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। रक्षा के परिणाम से रक्षा हो जाय – यह बात तीन काल में सम्भव नहीं है।

बहुत गम्भीर बात है भाई ! लोग सत्य को समझे बिना विरोध करते हैं; परन्तु उससे क्या लाभ है ? भाई ! निज अनन्तगुण स्वभावमय द्रव्य के ऊपर दृष्टि जाने पर स्वानुभूति प्रगट होती है और उसी का नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है।

इसप्रकार यहाँ परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति समाप्त हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।

जो कम-बढ़ नहीं होता – ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (निश्चिततया यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति।

जिस शक्ति के कारण वस्तु घटती-बढ़ती नहीं – ऐसे स्वरूप में नियतरूप अर्थात् स्वरूप में ही रहनेरूप त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। यह सोलहवीं शक्ति है। भगवान आत्मा सोलह कलाओं से युक्त परिपूर्ण चन्द्रमा के समान परिपूर्ण है – इस शक्ति में यही बताया गया है कि भगवान आत्मा में हानि-वृद्धि नहीं होती, वह तो भरितावस्थ है, परिपूर्ण अवस्थित है; उसमें अशुद्धता का तो नामो-निशान भी नहीं है।

जो शक्ति त्रिकाल शुद्ध है, वह द्रव्य व गुण में तो अनादि से व्यापक है तथा शक्तिवान द्रव्य की अन्तर्मुख प्रतीति होने पर शक्ति जब पर्याय में भी व्यापक हो जाती है, तब पर्याय में शक्ति का निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। त्रिकाली गुण-द्रव्य तो परद्रव्य और विकार के ग्रहण-त्याग से रहित त्यागोपादानशून्य हैं। उनमें कोई घट-बढ़ नहीं है। पर्याय अपूर्ण शुद्ध हो या पूर्ण शुद्ध हो, द्रव्य में जिसप्रकार कोई घट-बढ़ नहीं होती; उसीप्रकार पर्याय में भी परद्रव्य का अथवा विकार का ग्रहण-त्याग नहीं होने से घट-बढ़ नहीं होती – ऐसी सूक्ष्म बात है भाई!

यह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति घट-बढ़ रहित नियतत्वरूप है। इसका पर्याय में परिणमन होता है; जिससे पर्याय में शक्ति व्यापक होने पर उसमें भी घट-बढ़ नहीं होती। भले पर्याय में अल्प अर्थात् अपूर्ण शुद्धता हो; परन्तु वह त्रिकाली द्रव्य को प्रसिद्ध करती है, विकार को अथवा पर्याय को प्रसिद्ध नहीं करती। परद्रव्य की अथवा विकार की उसमें घुसपैठ ही नहीं है। भाई! यदि एक भी पर्याय में कमी-बेशी होना मानें तो त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि नहीं हो अर्थात् मिथ्यात्वरूप अशुद्धता बनी रहे; परन्तु यहाँ अशुद्धता की

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बात ही नहीं है। इसप्रकार द्रव्य की क्रमवर्ती निर्मल- निर्मल पर्यायों में इस त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का भी एक साथ परिणमन होता है।

जो वस्तु है, वह तो त्रिकाल त्यागोपादान रहित है। परद्रव्य अथवा विकार का ग्रहण तथा उनका त्याग तो जीव के स्वरूप में नहीं है अर्थात् राग का त्याग करना और निर्मल पर्याय को उत्पन्न करना जीव के स्वरूप में नहीं है। यह पर्याय तो सहज उत्पन्न होती है। जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह घट-बढ़ रहित है अर्थात् उसमें विकार का ग्रहण-त्याग नहीं है। भाई ! यह बात तो सर्वज्ञदेव के सिवाय अन्य कहीं नहीं है।

भाई ! तू देख तो सही। अन्दर पूर्ण शुद्ध तेरी चीज कैसी है ? तुझे पूर्ण शुद्धता प्रगट हो तो क्या अन्दर कोई कमी आ जाती है ? और कभी अपूर्ण शुद्धता रहे तो क्या अन्दर की वस्तु में विशेष शुद्धता रहती है। नहीं, ऐसा है ही नहीं। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य एक ज्ञायक भावमय द्रव्य है वह तो जैसा है वैसा ही है, उसमें कभी कोई कमी-वृद्धि होती ही नहीं है; क्योंकि उसमें परद्रव्य-परभाव का ग्रहण-त्याग नहीं होता। यहाँ तो विशेष पर्याय की बात सिद्ध करते हैं। जो शक्ति है, वह द्रव्य में त्रिकाल व्यापक है और दृष्टिवंत को वह पर्याय में व्यापक होती है। जो शक्तिवान द्रव्य है, उसकी अन्तरदृष्टि और अन्तररमणता होने पर उत्पन्न होनेवाले निर्मल रत्नत्रय में घट-बढ़ नहीं होती है; क्योंकि उसमें भी परद्रव्य तथा परभाव का ग्रहण-त्याग नहीं होता। अहो ! यह तो अलौकिक बात है बापू!

अरे ! परमात्मा का विरह हो गया; तथापि भरतक्षेत्र में परमात्मा की वाणी इस समयसार में रह गई है। यह हमारा सद्भाग्य है कि यह हमें प्राप्त हुई है। यह वाणी साक्षात् शब्दब्रह्म है, जिनवचन है। भाई ! तू राग से लाभ होना मानता है; परन्तु यह तो मिथ्या मन्यता है; क्योंकि राग तेरे स्वरूप में ही नहीं है तो तुझे कैसे लाभदायक हो सकता है। वास्तव में तो पर्याय को ग्रहण करना, छोड़ना भी द्रव्य में नहीं है, तब अपने को पर का और राग का ग्रहण-त्याग करनेवाला मानना तो स्पष्ट मिथ्यात्व है; क्योंकि पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं, विचार तो कर ! क्या जीव रजकणों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को ग्रहण करता है अथवा छोड़ता है ? स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, महल-मकान, अटारी और धनादिसामग्री इत्यादि को क्या जीव ग्रहण करता है अथवा छोड़ता है ? ऐसा बिल्कुल नहीं है।

प्रश्न – दीक्षा के समय मुनिराज घर-बार इत्यादि छोड़ते तो हैं न !

उत्तर – छोड़ते कहाँ हैं ? घर-बार इत्यादि तो जहाँ हैं, वहाँ ही है। पहले इन पदार्थों में आसक्ति थी; परन्तु विशेष वैराग्य होने पर स्वरूप में प्रगाढ़ लीनता होने से ये बाह्य पदार्थ सहज ही छूट जाते हैं, तब मुनिराज ने इन सभी को छोड़ा – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वस्तुतः परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के है ही नहीं। दीक्षाकाल में मुनिराज के आत्मा में कोई घट-बढ़ होती हो – ऐसा नहीं है, वस्त्रादि को छोड़ना आहारादि को ग्रहण करना, ऐसा चारित्रगुण की पर्याय का स्वभाव नहीं है, मुनिराज के चारित्रगुण पर्याय तो आत्मलीनतारूप है। उसमें पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं, भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है। उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती – ऐसा उसका त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव है। यह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। यह शक्ति द्रव्य की दूसरी अनन्त शक्तियों में व्यापती है और अनन्त गुणों की अनंत पर्यायों में भी इस शक्ति का रूप है। जिससे द्रव्य-पर्याय में घट-बढ़ नहीं होती अर्थात् द्रव्य- पर्याय में परद्रव्य की घुसपैठ नहीं होती।

भाई ! अपूर्ण शुद्ध और पूर्ण शुद्ध – ऐसा भेद पर्याय में भले हो; परन्तु जो अपूर्ण शुद्ध पर्याय है, वह भी घट-बढ़ रहित सम्पूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है। यदि एक पर्याय को भी न मानें तो सम्पूर्ण द्रव्य सिद्ध नहीं हो; क्योंकि सभी अनन्त पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है, यह तो ख्याल में आने जैसी बात है।

बंध अधिकार में जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि बंध का नाश करने के लिए यह भावना करना चाहिए कि 'मैं निर्विकल्प हूँ, मैं भरितावस्थ हूँ।' भरितावस्थ का अर्थ पर्याय नहीं; बल्कि भरितावस्थ का अर्थ है कि 'मैं निश्चय से शक्ति से परिपूर्ण भरा हूँ। अहाहा ! मैं घट-बढ़ रहित अनन्त शक्ति से पूर्ण सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु हूँ।'

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली द्रव्य में कमी-वृद्धि नहीं होती। ऐसा मैं निर्विकल्प, अभेद, उदासीन हूँ। अहाहा! धर्मीजीव ऐसा भाता है कि नित्य निरंजन शुद्ध चिदात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान अनुष्ठानरूप, निश्चय निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न, वीतराग सहजानन्दस्वरूप सदा ही अनुभूति-मात्र से जानने में आता है – ऐसा मैं स्वसंवेद्यमान पूर्ण हूँ। राग-द्वेष- मोह से रहित, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहित, पंचेन्द्रिय के विषय-व्यापार से और मन-वचन-काय के व्यापार से रहित, ज्ञानरस, आनन्दरस, श्रद्धारस, चारित्ररस, शांतरस – ऐसे अनन्त गुणों के रस से भरा पूंर्ण एक हूँ।

प्रवचनसार के नय अधिकार में आता है कि मैं स्वयं से अशून्य हूँ, पूर्ण हूँ और पर से शून्य हूँ। मैं सर्व विभाव परिणति से रहित हूँ। ऐसा होने पर भी जो शुभभाव से कल्याण होना मानता है; उनकी यह मान्यता गलत है; क्योंकि शुभभाव तो बंधरूप है, बंध का कारण है और भगवान आत्मा उससे शून्य है। अहा! लोक में निगोद से लेकर सिद्धपर्यंत सभी जीव निजस्वभाव से पूर्ण भरपूर हैं और पर से शून्य हैं। निगोददशा में अथवा सिद्धदशा में, सर्व अवस्थाओं में एक ज्ञायकप्रभु भगवान आत्मा निज-चैतन्य स्वभाव से पूर्ण भरपूर है और पर से शून्य है। भाई! द्रव्यस्वभाव त्रिकाल ऐसा का ऐसा ही है। उसमें कभी घट-बढ़ नहीं होती है। अहा! केवलज्ञान और सिद्धदशा भी प्रगट हो जाय तो भी द्रव्यस्वभाव तो ऐसा का ऐसा ही घट-बढ़ रहित रहता है। इसप्रकार स्वरूप से प्रत्येक आत्मा निर्विकल्प, भरितावस्था है, उसके आश्रय से परिणमन होने पर पूर्ण शुद्धता प्रगट होती है। इसी का नाम धर्म है।

समयसार की ३४ वीं गाथा में आया है कि आत्मा को राग के त्याग का कर्तापना नाममात्र है। परमार्थ से आत्मा राग का त्याग नहीं करता; पर जब वह अपने स्वरूप में स्थिर होता है, तब सहज ही राग की उत्पत्ति न होने से उसे व्यवहार से राग के त्याग का कर्ता कहा जाता है। अपना स्वरूप निजस्वभाव से पूर्ण भरा है। उसकी प्रतीति करके स्वरूप में स्थिरता करना चारित्र है। स्वरूपस्थिरतारूप यह चारित्र राग के त्यागस्वरूप है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिससे राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र से कहा जाता है। परमार्थ से राग का त्याग आत्मा कर ही नहीं सकता; क्योंकि परमार्थ से भगवान ज्ञायक में राग का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। अहा ! इस ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेकर जो पर्याय प्रगट होती है, वह भी राग के ग्रहण-त्याग से रहित है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही राग के, विकार के ग्रहण एवं त्याग से रहित हैं। अहा ! यह अलौकिक बात भगवान सर्वज्ञ के मत के अलावा कहीं नहीं है। भाई ! जिसप्रकार पिता की बात बहुत सावधानी से सुनते हैं; उसीप्रकार परम पिता जिन परमेश्वर की यह बात बहुत सावधानी से सुनना चाहिए; क्योंकि इसी में अपना कल्याण है।

अहाहा ! चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव से भरपूर है। वह पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। यह आत्मा का त्यागोपादानशून्यत्वगुण नामक स्वभाव है। निज त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर परिणमन करने पर त्यागोपादानशून्यत्वगुण का परिणमन भी हो जाता है, जिससे प्रगट पर्याय में परद्रव्य का, परभाव का, ग्रहण-त्याग नहीं होता।

यहाँ प्रगट शुद्ध पर्याय को घट-बढ़ रहित बताया जा रहा है, अशुद्ध पर्याय को नहीं। स्वयं में प्रगट होनेवाली यह पर्याय पूर्ण शुद्ध हो या अपूर्ण शुद्ध हो वह पूर्ण द्रव्य को ही सिद्ध करती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी पूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है; अतः उस पर्याय को भी पूर्ण कहा जाता है। अहो ! यह परमेश्वर का मार्ग किसी की कल्पना से उत्पन्न नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है भाई ! कहा है न कि –

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म।।

अहा ! अन्दर भगवान ज्ञायक पूर्ण भरा है। उसमें एक शक्ति ऐसी है कि जिससे प्रत्येक गुण की पर्याय पूर्ण भरितावस्थ है। प्रत्येक गुण की पर्याय में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का रूप है, जिससे ज्ञान की पर्याय परज्ञेय के ग्रहण-त्याग से शून्य है। आनन्द की पर्याय आकुलता के ग्रहण-त्याग से शून्य है। अहा ! यह तो अमृत का झरना बह रहा है। भाई !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दिगम्बर संत, मुनिवरों के अलावा कहीं यह झरना है ही नहीं। वे कहते हैं कि भगवान तुम परिपूर्ण हो और परिपूर्णता से जो पर्याय प्रगटी हो वह भी पूर्ण है, पर के ग्रहण-त्याग से रहित है।

सम्पूर्ण द्रव्य गुणी है तथा उसकी शक्तियाँ गुण हैं। उन गुणों का वर्णन यहाँ हो रहा है। गुण, स्वभाव, सत् का सत्त्व – इन सभी का एक ही अर्थ है। प्रारम्भ में ही आचायदेव ने कहा है कि 'ज्ञानमात्र में दृष्टि को अचलपने स्थापित करके, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान तथा उनसे अविनाभावी जितना भी अनन्तधर्मसमूह दिखाई देता है – वह सभी एक आत्मा है। यहाँ कहते हैं कि जो अनन्त शक्तियाँ हैं, वे अक्रमरूप हैं और शक्तियों का जो परिणमन होता है, वह क्रमशः प्रवर्तता है। यहाँ क्रम में अशुद्धता की बात नहीं लेना, शुद्धता की ही बात लेना। अशुद्धता का जो ज्ञान होता है, वह स्वयं की पर्याय में स्वयं से होता है। ज्ञान की ऐसी ही सहज स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य है। ज्ञान की पर्याय स्वपर को प्रकाशित करती हुई स्वयं स्वतः प्रगट होती है। १२ वीं गाथा में जो यह कहा है कि 'व्यवहारनय विचित्र (अनेक) वर्णमाला के समान होने से, जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है।' उसका भी यह अर्थ है।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि क्रमवर्तीरूप और अक्रमवर्तीरूप जो अनन्तधर्मों का समूह है, वह सभी वास्तव में एक आत्मा है। उसमें 'यह शक्ति और यह शक्तिवान, यह पर्याय और यह पर्यायवान – ऐसे भेदरूप व्यवहार को दूर करके त्रिकाली, शक्तिवान, एक द्रव्य की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का विषय बहुत सूक्ष्म, अचिन्त्य और अलौकिक है।

यहाँ जो शक्ति का वर्णन है, वह द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से है। जिससे क्रमवर्ती परिणाम में मात्र शुद्धता की ही बात है। उस शुद्धता के क्रम में अशुद्धता की, व्यवहार की नास्ति है। इसी का नाम अनेकान्त है। प्रवचन-सार के परिशिष्ट के अन्त में जो नयों का वर्णन है वह ज्ञानप्रधान कथन है। वहाँ ज्ञानप्रधान शैली होने से राग का कर्ता आत्मा को कहा है।

तो फिर सही बात क्या है?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोनों बातें अपेक्षा से सही हैं। जहाँ जिस अपेक्षा से बात की है, वहाँ उसी अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए। शक्ति अर्थात् स्वभाव और स्वभाववान आत्मा की दृष्टि कराने से वहाँ अशुद्धता की बात है ही नहीं; क्योंकि द्रव्यदृष्टि निर्विकल्प है, उसका विषय भी निर्विकल्प है। द्रव्य में अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली कोई शक्ति ही नहीं है; तथापि जबतक साधकपना है, तबतक राग होता है। द्रव्यदृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ है, वह राग को भी जानता है। ज्ञान तो स्वपरप्रकाशक है न ? उससे जहाँ ज्ञानप्रधान कथन होता है, वहाँ राग का परिणामन स्वयं में है, उससे राग का कर्ता स्वयं है – ऐसा पर्याय-अपेक्षा कहा जाता है। ज्ञानप्रधान कथन में राग का भोक्ता भी आत्मा को कहा जाता है। प्रवचनसार में विकार के अंश को जीव का बताया गया है; क्योंकि एक समय के विकारी अंश को यदि निकाल दें तो तीनों काल की पर्याय का समूहरूप द्रव्य ही सिद्ध न हो। यहाँ शक्ति के अधिकार में शुद्ध पर्याय की ही बात ली है। शुद्ध पर्याय भले अल्प हो; परन्तु वह पर्याय परिपूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है, प्रसिद्ध करती है। जो अंश है, वह पूर्ण अंशी को सिद्ध करता है।

आप्तमीमांसा में ऐसा लिखा है कि अशुद्धपर्याय हो अथवा शुद्धपर्याय हो, वह पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है; क्योंकि नय-उपनय के विषय का समूह द्रव्य है। वहाँ अशुद्धनय भी लिया है। रागरूप अशुद्धता क्रमवर्ती ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होती है। राग है; अतः राग का ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की क्रमवर्ती पर्याय उस समय स्वयं से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान राग को परज्ञेयरूप से जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है। निश्चय से तो स्व-परप्रकाशक ज्ञन की पर्याय ज्ञान ही है।

सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति को आत्मदर्शनमयी और आत्मज्ञान मयी कहा है।

प्रश्न – सर्वज्ञ पर को जानता है; अतः सर्वज्ञ है – क्या ऐसा है ?

उत्तर – नहीं; ऐसा नहीं है। एक समय में स्वयं के त्रिकाली द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान कराता है और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान कराता है – ऐसी जो सर्वज्ञ पर्याय है, वह आत्मज्ञानमयी है। स्वरूप से ही केवलज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक समय में स्व-परप्रकाशक है। जो पर को प्रकाशित करे वह सर्वज्ञ नहीं है। आत्मज्ञानरूप से परिणमन करना तो इसका स्वभाव है। पर को जानता है, ऐसा कहना तो असद्भूतव्यवहार है। लोकालोक को जानने-वाली ज्ञान की पर्याय आत्मज्ञानमयी है। लोकालोक के होने से आत्मज्ञान-मयी सर्वज्ञ पर्याय है – ऐसा भी नहीं है।

संवत् १९८३ में इस विषय से संबंधित चर्चा हुई; तब एक सेठ कहने लगा कि लोकालोक है; अतः ज्ञान की पर्याय हुई। तब हमने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं है। केवलज्ञान की पर्याय स्वयं से हुई है। उसे लोकालोक की अपेक्षा नहीं है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में यह बात आई है। 'केवल-ज्ञान लोकालोक का निमित्त है और लोकालोक केवलज्ञान का निमित्त है' – ऐसा वहाँ लिखा है। निमित्त है – इसका क्या अर्थ है ?

कोई अन्य चीज वहाँ उपस्थित है – इतना ही इसका अर्थ है। केवलज्ञान और लोकालोक को अपनी सत्ता के लिए परस्पर की अपेक्षा नहीं है।

'वत्थु सहावो धम्मो' जो भगवान ज्ञायक आत्मा है, वह वस्तु है तथा इसकी शक्तियाँ उसके स्वभाव हैं। ऐसा जानकर यह धर्म, यह धर्मी – ऐसी भेददृष्टि छोड़कर धर्मी, निज ज्ञायक प्रभु के ऊपर दृष्टि देने से पर्याय में वीतरागतारूपी धर्म प्रगट होता है। सदा ही मोक्ष का ऐसा ही मार्ग है।

वास्तव में चार अनुयोग का तात्पर्य वीतरागता है। केवलज्ञान की सत्ता को जो अन्तर्मुख होकर स्वीकार करता है, उसे यह वीतरागता प्रगट होती है। जो केवलज्ञान को तो माने और कहे कि हमें पुरुषार्थ क्या करना? उसने वास्तव में केवलज्ञान की सत्ता को माना ही नहीं, जिसने उसे अन्तर में स्वीकार किया है, वह अन्तर पुरुषार्थी है और केवलज्ञानी ने उसका संसार देखा ही नहीं है।

देखो ! यह पुरुषार्थ का स्वरूप ! केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार केवलज्ञान स्वभाव में झुकने से होता है। अहा ! पूर्णभरितावस्थ केवलज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा है, वह घट-बढ़ रहित सदा जैसा है, वैसा ही रहता है – ऐसा ही स्वीकार करके उसके आश्रय से परिणमन करना धर्म है।

इसप्रकार यह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति पूर्ण हुई। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१७. अगुरुलघुत्वशक्ति

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्ट-गुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमित, स्वरूपप्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप) ऐसा जो विशिष्ट (खास) गुण, उस स्वरूप अगुरुलधुत्वशक्ति।

षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमने स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। इस षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप का विशेष स्वरूप 'गोम्मटसार' शास्त्र से जानना चाहिए। अविभागीप्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में रहनेवाली वस्तुस्वभाव की वृद्धिहानि जिससे होती है तथा जो वस्तु-स्वरूप के टिकने में, सदैव कायम रहने में कारण है – ऐसा कोई गुण आत्मा में है, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है। ऐसी ही अगुरुलघुत्व-शक्ति भी आत्मा में है।

गजब की सूक्ष्म बात है भाई! षट्गुणवृद्धि, षट्गुणहानि और एक-एक समय में षट्गुणवृद्धि-हानि होवे – ऐसा जीव का कोई अचिन्त्य अगुरु-लघुत्वस्वभाव है।

अगुरुलघुत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। अगुरुलघुत्व-स्वभाव अनंतगुणों में व्यापक है। अगुरुलघुत्व गुण दूसरे अनंतगुणों में है, ऐसा नहीं है; परन्तु अन्य अनन्त गुणों में अगुरुलघुत्वगुण का रूप है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में भी अगुरुलघुत्वगुण का रूप है। आत्मा में जो यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि पर्यायें होती हैं, उन सभी में षट्गुणहानिवृद्धि होवे – ऐसा अगुरुलघुत्व स्वभाव है। यह केवलीगम्य है। पण्डित दीपचन्दजी ने 'चिद्विलास' ग्रन्थ में इस शक्ति का वर्णन किया है। उसमें दृष्टांत रूप से सिद्धभगवान में षट्गुण-वृद्धिहानि बताई है, पर अगुरुलघुत्वगुण का सूक्ष्म परिणमन केवलज्ञान-गम्य है, वचन-अगोचर है, तर्क-अगोचर है। भाई! श्रुतज्ञान में यदि सब

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ समझ में आ जाये तो केवलज्ञान की दिव्य महिमा कैसे रहे ? फिर उसे महिमावंत कौन मानेगा ?

अहा ! केवलज्ञान की पर्याय में भी एक समय में षट्गुणवृद्धिहानि होती है। केवलज्ञान तो जैसे का तैसा रहता है। तीन काल, तीनलोक सहित लोकालोक को जानता है। षट्गुणवृद्धिहानि होने पर भी उसमें कोई कमोबेशी नहीं होती। अहा ! ऐसा ही कोई अगुरुलघुत्व स्वभाव है, जिसे भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है और परमागम में बताया है। यह बात किसी तर्क से, युक्ति से समझ में नहीं आ सकती। अतः इसे आगमप्रमाण से मानना चाहिए।

जिसे त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति की चर्चा में पर्याय की पूर्णता मानना कठिन लगता है, उसे यह षट्गुणवृद्धिहानि का स्वरूप समझना कठिन तो लगेगा ही। आचार्य कहते हैं कि एकसमय की पर्याय में षट्गुणवृद्धिहानि होती है। भले ही एकसमय की क्षायिक समकित की अथवा क्षायिक ज्ञान की ही पर्याय क्यों न हो, उसमें भी एकसमय में यह षट्गुणवृद्धिहानि होती है। ऐसा जीव का कोई अचिन्त्य अगुरुलघुत्वस्वभाव है।

एकसमय की पर्याय में षट्गुणवृद्धिहानि इसप्रकार होती है – १. अनंतगुणवृद्धि २. असंख्यगुणवद्धि ३. संख्यगुणवृद्धि ४. संख्यभागवृद्धि ५. असंख्यभागवृद्धि ६. अनन्तभागवृद्धि।

इसीप्रकार हानि के भी छह बोल हैं – १. अनंतगुणहानि २. असंख्यात-गुणहानि ३. संख्यगुणहानि ४. संख्यभागहानि ५. असंख्यभागहानि और ६. अनंतभागहानि।

इसप्रकार एकसमय में षट्गुणवृद्धिहानिरूप से अगुरुलघुत्व का कोई सूक्ष्म परिणमन होता है, जो मात्र केवलीगम्य है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति में ऐसा कहा था कि द्रव्य-गुण-पर्याय में कमी-वृद्धि नहीं होती – ऐसा ही इसका स्वभाव है। एक-एक गुण की एक-एक पर्याय में घट-बढ़ नहीं होती। एक समय की ज्ञान, दर्शन, आनंद, वीर्य, अनंत चतुष्टय और सिद्ध की पर्याय में कमी-वृद्धि नहीं होती। भले अल्प पर्याय हो तो भी वह घट-बढ़ रहित परिपूर्ण है – ऐसा वहाँ कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षयोपशम समकित की पर्याय हो अथवा क्षायिक समकित की, मति-श्रुतज्ञान हो अथवा केवलज्ञान की पर्याय हो, चारित्र की अल्पनिर्मल पर्याय हो अथवा पूर्ण वीतरागता की पर्याय हो; वे एक-एक पर्याय पूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती हैं और पर के ग्रहण-त्याग से शून्य, घट-बढ़ रहित हैं; अतः पूर्ण हैं।

सोलहवीं त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति तो ख्याल में आ सकती है, पर इस सत्रहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति का स्वरूप तो आगमगम्य अर्थात् आगम से प्रमाणित करना चाहिए; क्योंकि वह तर्कगोचर नहीं है। वह तो केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। अहाहा ! एकसमय में, एकसमय की पर्याय में छहप्रकार की वृद्धि और छहप्रकार की हानि – ऐसे बारह बोल एक साथ लागू होते हैं। प्रत्येक गुण की, प्रत्येक समय की, प्रत्येक पर्याय में षट्गुण- वृद्धिहानि होती है। एकसमय में षट्गुणवृद्धि और दूसरे समय में षट्गुणहानि हो – ऐसा नहीं है। प्रत्येक पर्याय में बारह बोल एक साथ लागू होते हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने एकसमय में षट्गुणवृद्धिहानि प्रत्येक पर्याय में देखी है। अहाहा ! इस षट्गुणहानिवृद्धिरूप से परिणमनेवाला स्वरूप- प्रतिष्ठा का कारणरूप ऐसा कोई आत्मा का अचिन्त्य अद्भुत अगुरुलघुत्व स्वभाव है। भाई ! यह बात छद्मस्थ के ज्ञान में नहीं आ सकती। केवलज्ञान में जो ज्ञात होता है, उस सभी को छद्मस्थ नहीं जान सकता। स्वहित के लिए प्रयोजनभूत अर्थ को तो छद्मस्थ ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी निःशंकरूप से जानते ही हैं; तथापि इस अगुरुलघुत्वगुण का सूक्ष्मपरिणमन तो केवलज्ञानगोचर ही है।

अहा ! प्रत्येकगुण में अगुरुलघुपना है। उसकी प्रत्येक पर्याय में भी अगुरुलघुपना आता है। यह अतिसूक्ष्म विषय है। ज्ञान की केवलज्ञानरूप पर्याय हो या मति-श्रुतज्ञानरूप पर्याय हो, प्रत्येक पर्याय में षट्गुणहानि-वृद्धि होती है। निगोद के जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग उघाड़ (क्षयोपशम) है, उसमें भी यह षट्गुणवृद्धिहानि होती है तथा केवली को अनंतज्ञान-केवलज्ञान है, उसमें भी यह षट्गुणवृद्धिहानि होती है। अहाहा ! एक ही समय में अनंतगुणवृद्धि, अनंतगुणहानि, असंख्यगुणवृद्धि, अनन्तभागवृद्धि, अनन्तभागहानि, असंख्यभागवृद्धि, असंख्यभागहानि, संख्यगुणवृद्धि संख्यगुणहानि, संख्यभागवृद्धि, संख्यभागहानि – इसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बारह ही बोल एकसाथ होते हैं। अहाहा! भगवान आत्मा का अगुरुलघुत्व स्वभाव और उसका पर्याय में सूक्ष्म परिणमन जैसा भगवान ने देखा है, वैसा ही कहा है। यहाँ उसका सामान्य कथन किया है। शास्त्र में कहा है कि इस षट्गुणवृद्धिहानि का स्वरूप श्रुतज्ञानगम्य नहीं है, आगमगम्य है। इसमें तर्क नहीं करना चाहिए; क्योंकि तर्क से यह बात समझ में नहीं आ सकती।

अविभागप्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में रहनेवाली वस्तु-स्वभाव की वृद्धिहानि जिससे होती है तथा जो वस्तु को उसके स्वरूप में टिकने का कारण है, ऐसा कोई आश्चर्यकारी गुण आत्मा में है। उसे अगुरुलघुत्वशक्ति कहते हैं। अविभागप्रतिच्छेद अर्थात् अंश का छेद करते-करते जिस अंश के दो भाग न हो सकें, ऐसे एक अंश को अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। निगोदिया जीव के अक्षर के अनंतवें भाग प्रमाण ज्ञानपर्याय में भी ऐसे अनंत अविभागप्रतिच्छेद हैं। अरे भाई ! यह कोई अचिन्त्य अलौकिक बात है ,ऐसा जानकर इसकी अन्तर में महिमा लाओ।

आस्था से, श्रद्धा से, उत्साह से और उमंग लाकर यह स्वीकार करे तो कल्याण हो जाय – ऐसी यह चीज है।

अहाहा ! यह आत्मद्रव्य षट्गुणस्थानपतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित होता है; फिर भी उसकी स्वरूपप्रतिष्ठा के कारणरूप यह शक्ति विशिष्टगुणस्वरूप है। इसका अर्थ यह है कि भगवान आत्मा अनंत-गुण निधानप्रभु सदा अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, टिका रहता है, वह अपने स्वरूप से च्युत होकर कभी जड़रूप नहीं होता, उसका कोई गुण अन्यगुणरूप नहीं होता तथा उसके अनंतगुण द्रव्य से निकलकर अलग- अलग नहीं हो जाते; उसीप्रकार द्रव्य की, आत्मा की कोई पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं हो जाती। वह अपने स्वरूप में ही टिकी रहती है। अहो! स्वरूप में प्रतिष्ठित रहनेरूप आत्मा का यह कोई अलौकिक स्वभाव है। स्वरूप घटता नहीं है, बढ़ता नहीं है, स्वरूप का कोई अंश (गुण) कभी छूटता नहीं है, अन्यरूप नहीं होता है और नया गुण उसमें नहीं आता है। ऐसा अगुरुलघुत्वस्वभावी भगवान आत्मा है, उसे समझकर दृष्टिगत करने पर पर्याय में निर्मलता ही निर्मलता प्रगट होती है। यही धर्म है।

इसप्रकार यहाँ अगुरुलघुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१८. उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति

क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।

क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तना जिसका लक्षण है, ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति है। क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।

देखो, आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु है। उसमें एक त्रिकाली उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति है। कैसी है यह शक्ति? तो कहते हैं कि क्रमवृत्तिरूप अर्थात् एक के बाद एक वर्तनेरूप पर्याय है और अक्रमवृत्तिरूप अर्थात् एक साथ त्रिकाल वर्तनेरूप गुण है। द्रव्य में अक्रमवर्तीरूप सभी गुण एक साथ त्रिकाल मौजूद हैं तथा पर्यायें एक के बाद एक क्रमशः ऊर्ध्वप्रवाहरूप में क्रमबद्ध उत्पादव्ययरूप हैं और अक्रमवर्तीरूप गुण ध्रुवत्वरूप हैं। इसप्रकार समस्त द्रव्य क्रम-अक्रमवृत्ति द्वारा उत्पादव्ययध्रुवत्वस्वभाववाला है।

भूल एकसमय की पर्याय में है, उसे दूर करने में कितना काल लगेगा? एकसमय में ही वह भूल मिट सकती है; क्योंकि क्रम से वर्तना जिसका लक्षण है, ऐसी पर्याय क्रमवृत्तिरूप है। यह जीव जिस समय निजस्वभाव को जानकर स्व-आश्रय से परिणमित होता है, उसीसमय भूल मिटाकर निर्मल परिणमन होता है। अज्ञानी जीव अनादि से निजस्वभाव को भूलकर पर-आश्रय से परिणमन करता है, इसकारण उसके विकारी परिणमन मात्र की भूल है। क्रम-अक्रमवृत्तिरूप वर्तने के स्वभाववाला जो स्वद्रव्य है, उसकी रुचि और लीनतारूप परिणमन करके जीव निर्मल-रत्नत्रयरूप से परिणमित होता है। यही शक्ति का वास्तविक परिणमन है और यही धर्म है।

पर्याय में क्रमवर्तीपना तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को है; परन्तु अज्ञानी को पराश्रय से परिणमन करने पर मलिन पर्याय उत्पन्न होती है, जबकि ज्ञानी को स्वाश्रय से परिणमन करने पर निर्मल समकित आदि

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग की पर्यायें होती हैं। इसप्रकार पर्याय में भूल होने एवं भूल मिटने का संक्षिप्त कथन है।

यह क्रम और अक्रमरूप वर्तने का स्वभाव आत्मा की एक-एक शक्ति में लागू होता है, क्योंकि क्रमवर्तीरूप, अक्रमवर्तीरूप वर्तना जिसका लक्षण है – ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति आत्मा की एक-एक शक्ति में व्याप्त है। यह तो पहले कहा गया है कि क्रम और अक्रमरूप वर्तनेवाले अनंत धर्मों का समुदाय आत्मा है। इसप्रकार प्रत्येक शक्ति का उत्पाद-व्ययरूप से, क्रम से प्रवर्तना, अक्रमरूप से ध्रौव्य रहना इसका स्वरूप है। अहाहा! ज्ञानमात्र भाव के अन्तर में प्रगट होने पर अनंत शक्तियाँ एक साथ पर्याय में उल्लसित होती हैं,उछलती हैं। अहो! द्रव्य के समस्त गुणों का ऐसा स्वभाव है कि वे गुण गुणरूप से ध्रौव्य रहने पर भी क्रमवर्ती पर्यायों में परिणमते हैं।

तुम सुनो तो सही बापू! तुम्हारे आत्मद्रव्य की एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक है, एक-एक शक्ति अनंत गुणों में निमित्त है, एक-एक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में व्यापती है। एक-एक शक्ति ध्रौव्य उपादान है और उसकी पर्याय क्षणिक उपादान है – उसमें अक्रमरूप से रहनेवाला ध्रुव उपादान है और क्रम से वर्तना क्षणिक उपादान है।

इस शक्ति में व्यवहार का, राग का, निमित्त का अभाव है। यह शक्ति क्रम से प्रवर्तती है। इसकी निर्मल परिणति होती है और उसमें व्यवहार की, राग की तथा निमित्तों की नास्ति है। व्यवहार के अथवा निमित्त के कारण से इस शक्ति का परिणमन नहीं हुआ है।

यहाँ इस शक्ति के अधिकार में व्यवहार की बात ही नहीं की। साधक को दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि व्यवहार के, शुभराग के परिणाम होते तो हैं, परन्तु उनको वह मात्र जानता ही है। उनमें तन्मय नहीं होता। ज्ञान राग से भिन्न रहता है और राग ज्ञान से, इसलिए वह ज्ञानपर्याय अपने में अपनी सामर्थ्य से अपने आप होती है। उसमें व्यवहार का, राग का अभाव ही है। ज्ञान की पर्याय, समकित की पर्याय, चारित्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की पर्याय, आनन्द की पर्याय, पर की अपेक्षा बिना स्वयं ही होती है – ऐसी सूक्ष्म बात है भाई !

अहाहा ! क्रम-अक्रम वर्तनेरूप यह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति आत्मा की एक-एक शक्ति में व्यापक है; जिससे प्रत्येक गुण में जिस समय जिस पर्याय के होने का काल है, वह उसीसमय उस गुण में उत्पन्न होती है। प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय होकर क्रमवर्ती नवीन पर्याय का उत्पाद होवे – ऐसा इस शक्ति का स्वभाव है। ऐसा नहीं है कि प्रति समय क्रम से उत्पन्न होनेवाली पर्याय पर के निमित्त से उत्पन्न हो जाये। दया, दान, पंचमहाव्रत आदि रूप राग की मंदता के परिणाम हैं; इसलिए क्रम से निर्मल रत्नत्रय का परिणाम प्रगट हुआ – ऐसा वस्तु के स्वरूप में है ही नहीं। द्रव्य के सहज परिणमन में, उत्पाद-व्यय में किसी की अपेक्षा नहीं है। यह भेदज्ञान की सूक्ष्म बात है, वह अन्तर के अभ्यास से प्राप्त होती है, उसमें स्थूल उपयोग काम नहीं आता। अहाहा! जिसे अन्तर दृष्टि हुई, शक्ति का परिणमन शुरू हुआ है, जो साधक है, उसे राग तो है; परन्तु राग के और शक्ति के परिणमन में परस्पर नास्ति है। इसप्रकार एक-एक शक्ति में व्यवहार का अभाव है, यह अनेकान्त है। अहाहा ! शक्ति की निर्मलता की अस्ति और उसमें विकार की, व्यवहार की, राग की नास्ति – ऐसा अनेकान्तमय साधक का परिणमन होता है तथा एक-एक शक्ति पारिणामिकभावरूप है।

प्रश्न – मोक्षमार्ग किस भावरूप है ?

उत्तर – मोक्षमार्ग उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिकभावरूप है। भगवान आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति है, वह पारिणामिकभाव है। इस शक्ति के निमित्त से जो उत्पादव्ययरूप क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं, वे निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होती हैं और वे पर्यायें उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक भावरूप हैं। जिसमें जो भाव लागू होता है, उसमें वही भाव समझना। इन निर्मल पर्यायों में शुभभाव का अभाव है; क्योंकि उदयभाव शक्ति के कार्यरूप नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! यह सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा अन्दर शक्तियों का दरिया है, उसमें केवलज्ञान की पर्याय जैसी अनन्त पर्यायें क्रमशः होती हैं। केवलज्ञान की पर्याय एकसमय मात्र की है, दूसरे समय दूसरी पर्याय होती है। सादि अनंतकाल ऐसी पर्यायों का क्रमशः होना वस्तु का स्वभाव है। ऐसी अनंतपर्यायों के समुदायरूप ज्ञानगुण है। उसीप्रकार श्रद्धा, चारित्र, आनन्द इत्यादि गुणों की भी अनन्तपर्यायें जानना। ऐसी अनन्त पर्यायें और अनन्त गुणों का पिण्ड निजात्मद्रव्य है। इस जीव ने निज अन्तःतत्त्व का अभ्यास कभी किया नहीं। इसकारण यह कठिन लगता है, परन्तु भाई ! भगवान का मार्ग ऐसा ही है।

अहाहा ! आत्मा शाश्वत सत् वस्तु है। उसमें रहनेवाली शक्तियाँ भी त्रिकाल शाश्वत एवं पारिणामिकभावरूप हैं। एक शक्ति दूसरी अनन्तशक्तियों में निमित्त तो है; परन्तु वह अन्य शक्तियों को उत्पन्न नहीं करती है। प्रत्येक शक्ति में क्रमवर्ती-अक्रमवर्तीरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का रूप है। जिस समय ज्ञान की पर्याय का निर्मलपने क्रमवर्ती उत्पाद होता है, वह ज्ञान गुण के क्रमवर्ती-अक्रमवर्तीपन का स्वभाव है। उत्पाद- व्यय-ध्रौव्य उसमें निमित्त है। अहाहा ! एक-एक शक्ति में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि में उत्पाद-व्यय रूप से जो पर्याय समय-समय में होती है, वह पर की अपेक्षा के बिना ही, स्वयं के षट्कारक से होती है। ऐसा ही द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान की पर्याय का जो क्रमवर्ती उत्पाद होता है; वह इस उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति के कारण होता है – ऐसी सूक्ष्म बात है बापू !

प्रश्न – चार घातिकर्मों के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है – तत्त्वार्थसूत्र में भी ऐसा कहा है, फिर पर्यायें पर निरपेक्ष और स्वयं के षट्कारक से होती हैं यह बात कहाँ रही ?

उत्तर – हाँ, वहाँ जो कहा है वह निमित्त का कथन है अर्थात् केवलज्ञान होने के समय बाह्य निमित्त कौन होता है, इसका ज्ञान कराया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। वास्तव में तो ज्ञानुण में उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति का रूप है, जिससे ज्ञान की केवलज्ञानरूप पर्याय उस काल में स्वयं से ही प्रगट होती है। कर्म का क्षय बाह्य निमित्त है; परन्तु कर्म की अथवा दूसरे किसी भी पदार्थ की उसमें अपेक्षा नहीं है, ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ऐसा कहा है कि पूर्वपर्याययुक्तद्रव्य कारण है और उत्तरपर्याययुक्त द्रव्य उसका कार्य है। जैनतत्त्वमीमांसा में पण्डित श्री फूलचन्दजी ने भी यह बात लिखी है। परन्तु वहाँ तो द्रव्य की पूर्वपर्याय का ज्ञान कराया है। यहाँ उस बात को व्यवहार में कथन जानकर गौण किया है। भाई! उत्पादव्ययध्रुवत्व वस्तु का स्वभाव है। द्रव्य की एक-एक पर्याय में सहज स्वतंत्र उत्पाद-व्यय समय-समय में होता है। अहा! बाह्य निमित्त के कारण से पर्याय का उत्पाद होता है – ऐसी होनेवाली पर्याय स्वयं ही अपने उत्पाद का वास्तविक कारण है। अपने क्रम में प्रगट व्रतादि व्यवहार को और पूर्व पर्याय को कारण कहना तो व्यवहारमात्र है तथा वर्तमान एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय का वास्तविक कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन के कारण से सम्यग्ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। कहीं कहा भी हो तो उस कथन की यथार्थ अपेक्षा समझना चाहिए।

भगवान आत्मा त्रिकाली ध्रुव, ध्रुव और ध्रुव है और उसकी एक-एक शक्ति भी ध्रुव है। उस शक्ति और शक्तिवान द्रव्य के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद की दृष्टि करने से, अभेद शुद्ध चैतन्य के तल में स्पर्श करने से अर्थात् ध्रुव के सन्मुख होकर परिणमने से निर्मलपर्याय का सहज ही अपने कारण से उत्पाद होता है। तब पूर्व पर्याय का व्यय भी स्वयं से स्वतंत्र होता है। कोई किसी का कारण नहीं है। द्रव्य-गुण ध्रुव एकरूप सदृश रहते हैं। वे भी स्वयं से ही होते हैं। अहो! ऐसा ही अलौकिक वस्तुस्वरूप है। भाई! साधक को अशुभ से बचने के लिए जो शुभराग आता है, वह व्यवहार है; परन्तु वह निर्मल पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता और पूर्व पर्याय भी उस निर्मल पर्याय की वास्तविक कारण नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। यह सब सूक्ष्म लगता है, फिर भी जानना तो पड़ेगा ही। इस जगत के हीरा, माणिक, मोती, बाग, बंगला, बगीचा, स्त्री, पुत्र, परिवार और रूपवान् शरीर आदि सब दूसरी चीज हैं। इनको जानने पर कभी सुख नहीं होता; क्योंकि इनमें सुख नहीं है। स्व-सन्मुख होकर निज स्वरूप को जानने पर सुख होता है; क्योंकि उसमें सुख है।

'निमित्त से उपादान का कार्य नहीं होता, व्यवहार से निश्चय नहीं होता और पर्यायें क्रमनियमित हैं; इन विषयों पर वर्तमान में बहुत विवाद हो रहा है। अरे भाई ! इन विषयों का यथार्थ स्वरूप समझकर विरोध मिटाना चाहिए।

पंचास्तिकाय की गाथा १५५ में नियत-अनियत की बात आयी है। इस गाथा में स्वसमय और परसमय की व्याख्या की गई है। वहाँ स्वभावलीन परिणमन को नियत कहा है और विभाव परिणमन को अनियत कहा है। अनियत का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम क्रमनियमित न होकर आगे-पीछे किए जा सकते हैं; बल्कि अनियत अर्थात् स्वभाव में अनवस्थित। स्वभाव में लीन न होनेवाली विभावपर्याय ही वहाँ अनियत का अर्थ है।

प्रवचनसार में ४७ नयों का अधिकार है। वे ४७ धर्म आत्मा में एक ही साथ हैं। वहाँ भी कालनय और अकालनय ये दो नय कहे हैं। आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।

प्रश्न – यहाँ अकाल का अर्थ 'पर्याय क्रम-अनियत अर्थात् आगे-पीछे होती है' – क्या ऐसा है ?

उत्तर – पर्याय तो क्रमनियमित स्वकाल में ही उत्पन्न होती है; परन्तु साथ में स्वभाव और पुरुषार्थ होता है, उसे बताने के लिए वहाँ अकालनय की बात की है। वस्तुतः एक ही पर्याय एकसाथ कालनय और अकालनय का विषय होती है। जब काल को गौण करके पुरुषार्थ और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव की विवक्षा होती है, तब वह अकालनय का विषय होती है। इसप्रकार कोई पर्याय आगे-पीछे होती है – ऐसा वहाँ अभिप्राय ही नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में ही उत्पन्न होती है।

अहा ! जिसप्रकार द्रव्य के सभी गुण एकसाथ द्रव्य में त्रिकाल सर्वप्रदेशों में व्यापक हैं, उनमें कभी हानि-वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार द्रव्य के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में तीनों काल की प्रतिसमय प्रगट होनेवाली पर्याय का स्वकाल नियत है। भाई ! तीनों काल की प्रतिसमय प्रगट होनेवाली पर्याय का स्वकाल नियत है। भाई ! तीनों काल की पर्यायों का प्रवाह द्रव्य में नियत है। पर्यायों की क्रमनियमित धारा में कभी भंग नहीं पड़ता। अहा ! ऐसा क्रम-अक्रमवर्तीपना द्रव्य का स्वभाव है। यहाँ कोई कहता है कि क्रमवर्तीपना अर्थात् पर्यायें एक के बाद एक होती हैं; परन्तु क्रम से प्रगट होनेवाली अमुक पर्याय निश्चित होती है – ऐसा नहीं है; परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। क्रमवर्तीपने का अर्थ मात्र इतना नहीं है कि प्रवाहक्रम में किसी समय में कोई पर्याय होती है, परन्तु वह पर्याय भी नियत-निश्चित है। जिसप्रकार सोमवार आदि सात दिन निश्चित क्रमबद्ध हैं। प्रमेयकमल-मार्तण्ड में क्रमभाव को समझाते हुए नक्षत्र का दृष्टान्त भी यही बात सिद्ध करता है।

समयसार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथा ३०८ से ३११ की टीका में आचार्यदेव ने यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट की है। जीव और अजीव सभी द्रव्य स्वयं के क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होते हैं। क्रमनियमित कहो अथवा क्रमबद्ध कहो, एक ही बात है। भाई ! ध्रुव रहकर क्रमनियमित भाव से परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। सम्पूर्ण द्रव्य ही ऐसा है। अहा ! द्रव्य के ऐसे क्रम-अक्रमवर्तीपने के स्वभाव को यथार्थ जान ले तो पर्याय, उल्टी, सीधी, आगे, पीछे होती है, निमित्त से होती है और निमित्त से बदल सकती है – ऐसी विपरीत दृष्टि मिट जाती है और उसे स्वसन्मुख दृष्टि द्वारा निर्मल परिणमने की धारा प्रारम्भ हो जाती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार द्रव्य में होनेवाली पर्यायें स्वकाल में क्रमबद्ध प्रगट होती हैं – ऐसे निर्णय के जोर से स्वद्रव्य मिलता है। शुद्ध एक ज्ञायक स्वभाव के प्रति उपयोग झुकता है और उसमें निर्मल परिणमन की क्रमवर्ती धारा उल्लसित होती है। यही धर्म है।

यहाँ कोई पूछता है कि समयसार कलश टीका में कलश २५२ में त्रिकाली द्रव्य को स्वकाल कहा है,उसका क्या आशय है ?

समयसार कलश टीका में कलश २५२ में त्रिकाली द्रव्य को स्वकाल कहा है तथा वर्तमान पर्याय का भेद करना परकाल कहा है। वहाँ कहा है कि स्वद्रव्य अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था। स्वभाव अर्थात् वस्तु का जो आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्र कहलाता है। परकाल अर्थात् द्रव्य के मूल की निर्विकल्प अवस्था ही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहलाती है। परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेद-कल्पना, उसे परभाव कहते हैं। देखो ! बाहर के अन्य द्रव्य की पर्याय परकाल कहलाये – यह बात तो दूर ही रही, यहाँ तो द्रव्य की स्वयं की अवस्था को ही भेदकल्पना से परकाल कहते हैं। भेद पर से दृष्टि हटा लें तो जो स्वद्रव्य है, वही स्वक्षेत्र, स्वभाव और स्वकाल है। ऐसा कहकर अभेददृष्टि कराई है। अहा! द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के चार भेद भी वास्तव में त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब जो पर्याय निमित्त से, परद्रव्य से उत्पन्न होती है – ऐसी पराश्रय की बात को अवकाश ही कहाँ रहा ? वास्तव में प्रत्येक द्रव्य का उत्पादव्यय-ध्रुवत्व स्वभाव है तथा जिससे द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वयं से स्वतंत्र प्रगट होती है। उसका कोई परद्रव्य कारण नहीं है। पूर्वपर्याय भी उसका कारण नहीं है। द्रव्य स्वयं अपने स्वभाव से ही एक अवस्था को पलटकर नियत अवस्था- न्तररूप होता है। यह तो अमृतमयी वाणी है भाई ! जो इसका अन्तर में निर्णय करे, उसे भेद की दृष्टि तथा मेरी अवस्था कोई अन्य बदले दे – ऐसी पराश्रय की दृष्टि छूट जाती है और अभेद एक ज्ञायक की दृष्टि होकर निर्मल-निर्मल परिणमन होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहाहा ! भगवान आत्मा वस्तु त्रिकाली है, वह गुण-पर्याय के भेद से रहित, अभेद एकरूप ज्ञायकप्रभु है। उसमें पूर्वपर्याय का व्यय होकर नवीन पर्याय का उत्पाद होता है तथा वस्तु चिन्मात्र सदा एकरूप सदृश रहती है, ऐसा उसका उत्पादव्ययध्रुवत्व स्वभाव है,उसमें परद्रव्य का, निमित्त का, कर्म का कोई कारणपना नहीं है। अरे ! उसकी एक शक्ति का कारण दूसरी शक्ति नहीं है; क्योंकि एक-एक शक्ति में उत्पाद-व्यय -ध्रुवत्व का रूप है अर्थात् प्रत्येक शक्ति का स्वयं का उत्पादव्ययध्रुवत्व स्वयं से है। अहा ! ऐसे स्वयं के क्रम-अक्रमवर्तीस्वभाव को जानकर गुण-पर्याय के भेद पर से दृष्टि उठाकर अभेद एक स्वभाव पर लाने से उसमें क्रमशः निर्मलपर्याय की उत्पत्ति होती है। यही साधकदशा और यही मोक्षमार्ग है। लोग अपने अन्तरंग स्वरूप को जानना नहीं चाहते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मोक्षमार्ग मान रहे हैं; परन्तु भाई ! ऐसे क्रियाकाण्ड के शुभ विकल्प तो तूने अनन्त बार किये हैं इसमें क्या नया है ?

अरे भाई ! तू अन्दर देख तो सही तुम्हारे अन्दर में अखण्ड आनन्द भरा है। अहाहा ! जिसप्रकार समुद्र की तलहटी में सोना, हीरे-मोती पड़े हैं; उसीप्रकार भगवान आत्मा के तल में ज्ञान-दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि अनन्त गुण रत्नों का भण्डार भरा है। अहाहा ! वे प्रत्येक गुण अर्थात् शक्ति स्वयं के उत्पादव्ययध्रुवत्व स्वभाव के कारण से अपना-अपना कार्य करते हैं, उसमें कोई दूसरा कारण नहीं है। द्रव्यदृष्टि वाले को सम्यग्दर्शन की निर्मलपर्याय का उत्पाद होता है, वह अपने काल में स्वयं से होता है, उसके होने में अन्य किसी कर्मादि के उपशमादि वास्तविक कारण नहीं हैं। ज्ञान के उत्पादव्ययध्रुव स्वयं से है; पर अथवा वाणी के कारण से नहीं। अहाहा ! अन्तर्मुख परिणमित होता हुआ ज्ञानस्वभाव अपने से ही विशेष ज्ञानपने परिणमता है, वाणी के कारण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है – ऐसा नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – तो फिर जिनवाणी सुनने से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – अरे भाई ! यद्यपि वाणी के कारण से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है; परन्तु ज्ञान स्वभावी निज ज्ञायक के सन्मुख होकर परिणमने से ज्ञान होता है, ऐसा समझना ही जिनवाणी सुनने का वास्तविक प्रयोजन है; अतएव जिज्ञासु को बहुत विनय और भक्तिपूर्वक ज्ञानी के पास सत्श्रवण का प्रेम व उत्साह आता है। वाणी से ज्ञान नहीं होता; इसलिए सुनने से क्या प्रयोजन है ? – ऐसा स्वच्छदन्ता का भाव उसे नहीं होता है। सत् को सुनते समय भी उसे अपने अन्तरंग के स्वभाव का ही विचार रहता है। उसका झुकाव और वजन निमित्त पर नहीं होता, बल्कि ज्ञानियों ने जो द्रव्यस्वभाव बताया है, उसी पर वजन होता है। यही वाणी सुनने का प्रयोजन है। ज्ञानी को भी बार-बार सत्श्रवण का भाव आता है, उसमें उसकी रुचि का जोर नहीं होता। जिसे आत्मस्वभाव में ही रुचि का जोर हो गया है, उसे वाणी सुनने का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

भाई ! तुम्हारा अन्य निमित्त से क्या काम है ? अन्दर तुम्हारी ज्ञानमात्र वस्तु में एकसाथ अनन्तगुण ध्रुवपने रहते हैं। अनन्त गुणों का अभेद एकरूप त्रिकाली स्वद्रव्य उसमें दृष्टि कर तो अनन्त गुणों की निर्मलपर्याय प्रकट होगी। अहाहा ! स्वद्रव्य के आश्रय में जाने से ही ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, स्वच्छता, प्रभुता, वीर्य इत्यादि सभी अनन्त शक्तियाँ निर्मलपने उल्लसित होकर पर्याय में व्यक्त होती हैं। अहा ! उस स्वसंवेदन में, स्वानुभव में अनन्त शक्ति की निर्मलता एकसाथ समाती है। अहो, तुम ऐसे अद्भुत चैतन्यगुणरत्नाकर प्रभु हो, अन्दर नजर डालते ही सम्यग्दर्शनादि अपूर्व-अपूर्व रत्न प्रकट होते हैं; पर अन्दर में तो ढूँढ़े नहीं और बाहर में, राग की क्रिया में, निमित्त में खोज करे तो उससे क्या हो ? अर्थात् उससे कुछ नहीं होगा, अन्तर सन्मुखता के पुरुषार्थ बिना सब व्यर्थ ही है।

देखो ! स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप आत्मा में एक वीर्यशक्ति त्रिकाल है, उसका क्या करें ? तो कहते हैं कि स्वरूपस्थित दर्शन-ज्ञान-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चारित्र, आनन्द इत्यादि गुणों की निर्मलपर्यायों की रचना करना उसका कार्य है। देखो, वीर्यशक्ति की सामर्थ्य ! अहाहा ! आत्मा स्वयं अपने अन्तःपुरुषार्थ द्वारा अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपर्याय को रचता है। निर्मलपर्याय की रचना में स्ववीर्य को छोड़कर कोई परवस्तु कारण नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु उसका कारण नहीं है, परद्रव्य, कर्म आदि उसका कारण नहीं है और व्यवहार की, राग की क्रिया उसका कारण नहीं है। आत्मा स्वयं अपने वीर्य से जाग्रत होकर अन्तःपुरुषार्थ से ही कर्ता होकर निर्मलसम्यग्दर्शनादिरूप कार्य को करता है। ओहो ! स्वयं की निर्मलपर्याय को रचनेवाला आत्मा स्वयं ही अनन्त वीर्यवान ईश्वर है।

प्रश्न – यह बात तो ठीक है; परन्तु सम्यग्दर्शनादि पर्यायें क्रमबद्ध स्वकाल में प्रकट होती हैं – ऐसा आप कहते हो तो वीर्यशक्ति का क्या काम ?

उत्तर – भाई ! 'पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; इसलिए वीर्यशक्ति कुछ कार्यकारी नहीं है' – ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि पर्यायें तो क्रमबद्ध अपने काल में प्रगट होती हैं; परन्तु तब वीर्यशक्ति का कार्यरूप अन्तःपुरुषार्थ उसके साथ में होता ही है। ओहो ! निर्मल रत्नत्रय का स्वकाल स्वसन्मुखता और स्वरूपलीनता के अन्तःपुरुषार्थ बिना नहीं होता। वास्तव में निर्मल रत्नत्रय के स्वकाल में अनन्तगुण की निर्मलपर्यायें एकसाथ ही होती हैं तथा अन्तःपुरुषार्थ भी उनके साथ होता ही है। पर्याय स्वकाल में प्रगट होती है – यह एक विवक्षा से बात है; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पर्याय-उत्पत्ति के काल में पुरुषार्थ का अभाव होता है। ज्ञानमात्र भाव के परिणमन में अनन्त गुणों की पर्यायें एकसाथ उल्लसित होती हैं – ऐसा यथार्थ समझना चाहिए। यही अनेकान्त है।

अरे ! परमाणु में भी स्वयं की वीर्यशक्ति है, जिससे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण अपने-अपने कार्य की रचनारूप से परिणमित होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रत्येक गुण अपने कारण अपने कार्यरूप परिणमित होता है। उसका कार्य अपने कारण नहीं होता। एक स्वतंत्र परमाणु सूक्ष्म है, वह स्थूल स्कन्ध से मिलने पर स्थूलरूप से परिणमन करता है, वहाँ वह अपनी पर्याय की योग्यता से सूक्ष्म से स्थूलरूप परिणमित होता है, इसमें स्थूल स्कन्ध उसका कारण नहीं है। स्निग्ध के दो गुणवाला एक परमाणु चार गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ मिलने पर चार गुण स्निग्धतारूप परिणमित हो जाता है, वह अपनी पर्याय की शक्ति की योग्यता से चार गुण स्निग्धतारूप से परिणमित होता है। निमित्त के कारण से वह परमाणु चार गुण स्निग्धतारूप से परिणमित नहीं होता है। अहा ! उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है और जिससे वह द्रव्य स्वतंत्रतया अपने आप उत्पादव्ययरूप परिणमित होता है। अहा ! स्वसन्मुखता के अन्तः-पुरुषार्थपूर्वक निर्विकल्प अनुभव हुए बिना इस क्रमबद्ध आदि का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। मात्र क्रमबद्ध का नाम लेकर पुरुषार्थहीन होना तो स्वच्छन्दता है, अज्ञान है।

अहा ! आत्मा के अन्तरंग स्वरूप का ज्ञान होने पर ही अन्य जीव, पुद्गलादि द्रव्यों का द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है। यह बात समयसार कलश टीका के कलश ६० में कही है। वहाँ कहा है कि "जिसप्रकार अग्नि और पानी की उष्णता और शीतलता का भेद निजस्वरूपग्राही ज्ञान से प्रगट होता है, उसीप्रकार, भावार्थ यह है कि जिसप्रकार अग्निसंयोग से पानी गरम किया जाता है तथा गरम कहा जाता है; फिर भी उसके स्वभाव का विचार करने पर उष्णता अग्नि की है, पानी तो स्वभाव से शीतल है – ऐसा भेदज्ञान उत्पन्न होता है।" देखो, यह भेदज्ञान ! जिसप्रकार उष्णता पानी का स्वरूप नहीं है; उसीप्रकार राग-विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है। जब बात ऐसी है तो राग से, व्यवहार से निश्चय होता है यह बात ही कहाँ रही ? अर्थात् ऐसा नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहा ! सत् उत्पादव्ययध्रुवस्वरूप है। तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्' उनका यहाँ पर उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति के रूप में वर्णन किया है। यहाँ कहते हैं कि क्रम से होना और अक्रम से होना जिसका लक्षण है ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है। उसमें क्रमवृत्तिरूप पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवतारूप हैं। ऐसे क्रम- अक्रमवर्ती भावों का समूह अर्थात् गुणपर्यायों का एक पिण्ड द्रव्य है। आत्मा और जगत के सभी द्रव्य ऐसे उत्पादव्ययध्रुवस्वरूप सहज अपने से है। अहा! जो ऐसे निज आत्मद्रव्य का निर्णय करके, द्रव्यस्वभाव में एकाकार होकर परिणमित होता है उसके स्वभाव-आश्रित निर्मल-निर्मल पर्यायों का उत्पाद होता है। इसी का नाम धर्म है।

प्रश्न – समयसार गाथा ३८ की टीका में पर्याय को क्रम-अक्रमरूप प्रर्वतनेवाली कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर – हाँ कहा है; पर वहाँ दूसरी अपेक्षा से बात है। वहाँ 'अक्रम' का अर्थ यह नहीं है कि पर्याय आगे-पीछे होती है। वहाँ तो कहा है कि "चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तित व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता; अतः मैं एक हूँ" यहाँ चारगति की पर्याय एक के बाद एक होती है; अतः उसे क्रमरूप प्रवर्तनेवाला भाव कहा है और योग, कषाय, लेश्या आदि भाव एकसाथ होते हैं, जिससे उन्हें अक्रमरूप प्रवर्तनेवाला भाव कहा है। वास्तव में प्रत्येक गुण में होनेवाला परिणमन तो क्रमवर्ती ही होता है; परन्तु श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एवं सुख आदि सहभावी गुणों में जो साथ-साथ परिणमन होता है, उस सहभावी परिणमन को भी 'अक्रम' कहते हैं – ऐसा यथार्थ समझना चाहिए।

इसप्रकार यहाँ उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

१९. परिणामशक्ति

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्व-मात्रमयी परिणामशक्तिः।

द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित, सदृश और असदृश जिसका एक रूप है – ऐसी अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है।

देखो, त्रिकाली स्वद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले ज्ञानमात्र भाव के परिणमन में मात्र ज्ञान ही नहीं है; परन्तु उसके साथ श्रद्धा, आनन्द, वीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ एकसाथ उल्लसित होती हैं। उसमें एक 'परिणाम-शक्ति' भी है। द्रव्य के स्वभावरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से तन्मय समान और असमान रूपवाली अस्तित्वमात्रमयी परिणाममशक्ति है। आत्मा द्रव्य है तथा उसके स्वभाव ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद हैं। ध्रौव्य-नित्य-टिकनापना और क्षण-क्षण में होनेवाले उत्पाद-व्यय भी द्रव्य के स्वभाव से ही हैं, पर से नहीं। पर के कारण से तो आत्मा के परिणाम होते ही नहीं हैं।

द्रव्य की जो सत्ता (अस्तित्व) है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की भिन्न-भिन्न सत्ता नहीं है; बल्कि तीनों मिलकर एक सत्ता है। तीनों से अभिन्न एक, अस्तित्वमात्रमयी परिणाम-शक्ति है। ध्रौव्य की अपेक्षा से वह अस्तित्व सदृश है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से वह विसदृश है। अहा! ऐसे सदृश-विसदृशरूप एक अस्तित्व-मात्रमयी परिणामशक्ति है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई ! परन्तु ध्यान रखने पर समझ में आती है।

भाई! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, यह तो तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म विषय है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा द्रव्य है और वह एकसमय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का आलिंगन करता है। यदि द्रव्य न हो तो परिणाम किसमें होगा? और यदि उत्पाद-व्यय न हों तो परिणाम किसप्रकार उत्पन्न होगा? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों के एकसाथ हुए बिना परिणामशक्ति बन ही नहीं

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकती। इसीलिए तो कहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न एक अस्तित्व-मयी परिणामशक्तिहै। सद्द्रव्यलक्षणम् और उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तम् सत् ऐसे जो दो महान सूत्र तत्त्वार्थसूत्र में आते हैं; वे इस शक्ति में समाहित हो जाते हैं। यहाँ अस्तित्वमयी कहकर एक सत्ता बताई है।

भाई ! प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्पर्श करता है। समयसार की तीसरी गाथा की टीका में आता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं के धर्मों के चक्र को चुम्बन करता है; परन्तु पर को स्पर्श नहीं करता। वहाँ कहा है कि वे सभी पदार्थ स्वद्रव्य में अन्तर्मग्न रहकर अपने अनन्तधर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तो भी वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। देखो ! ऐसा वस्तुस्वरूप है; फिर भी लोग मानते हैं कि कर्म से विकार होता है; परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। कर्म का उदय जीव की पर्याय को छूता भी नहीं है तो फिर उसके उदय से जीव को विकार कैसे हो सकता है ? वास्तव में तो जीव स्वयं को भूलकर अज्ञान से पर का संग करता है, जिससे उसकी पर्याय में राग-द्वेषादि विभावभाव उत्पन्न होते हैं। भाई ! विकार होता है, वह भी जीव की अपनी योग्यता से होता है, पर से अथवा कर्म से नहीं होता।

प्रवचनसार में सैंतालीस नयों का अधिकार है, उसमें एक ईश्वरनय भी कहा है। वहाँ कहा है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता को भोगता है, धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भांति। इसप्रकार जीव स्वयं निमित्त के अधीन होकर पर्याय में पराधीन होता हुआ विकाररूप से परिणमन करता है, ऐसी उसमें स्वयं की पर्यायगत योग्यता है, कर्म के कारण से विकार नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि भाई ! तेरी वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित ऐसी एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है। शक्ति ध्रुव है; परन्तु पर्याय में उत्पाद-व्ययपने से परिणमन करती है, उसमें जो ध्रुव है वह सदृश एकरूप है और उत्पादव्यय विसदृश है। उत्पाद-व्यय एकसमान नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध हैं; अतः उन्हें विसदृश कहा है। धवल में तीनों को विरुद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और अविरुद्ध कहा है। व्यय तो पूर्व पर्याय के अभावरूप है, जिससे उत्पाद-व्यय विरुद्ध अर्थात् विसदृश हैं और जो ध्रौव्य है वह अविरुद्ध अर्थात् सदृश है। ध्रुव कहो, एक कहो, सामान्य कहो, सदृश कहो। सभी एकार्थवाचक हैं।

यह समझ में आ जाय तो ज़न्म-मरण का अन्त आ जाये, ऐसी यह वस्तु है। दया, दान, पूजा इत्यादिक के शुभभाव तो जीव अनादिकाल से कर रहा है; परन्तु वे कोई धर्म नहीं हैं। अन्दर आत्मा शुद्धचैतन्य मूर्ति प्रभु है। उसकी अन्तरदृष्टि हुए बिना धर्म नहीं हो सकता। अरे भाई! आत्मा के स्वभाव में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे विकार करा सके, भव-भ्रमण करा सके। शक्ति और शक्तिवान द्रव्य तो त्रिकाल ध्रुव पवित्र परमात्म-स्वरूप है। यहाँ निर्मल परिणाम की ही बात है। मलिनता की बात नहीं है। निर्मलपरिणाम क्रमवर्ती और निर्मलगुण अक्रमवर्ती – इन दोनों के समुदाय का नाम आत्मा है।

यह बात तो ठीक है, पर नियमसार की गाथा 48 में तो त्रिकाली ध्रुव को निश्चय आत्मा कहा है।

हाँ, वहाँ दृष्टि का विषय सिद्ध किया है। जिसकी दृष्टि करने पर निर्मल-निर्मल परिणाम होते हैं, उस दृष्टि का विषय वहाँ बताया है, जिससे त्रिकाली ध्रुव को निश्चय आत्मा तथा निर्मल पर्याय को व्यवहार आत्मा कहा है। ध्यान रखकर समझना बापू! यह विषय बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर है। अकेले निश्चय-निश्चय की बात नहीं है। अहाहा! अन्दर कारण परमात्मा नित्यानन्द, चिदानन्द, ध्रुवप्रभु त्रिकाल विराज रहा है, उसकी प्रतीति अन्तरदृष्टि और अनुभव होने पर जो निर्मल-निर्मल पर्याय का उत्पाद होता है, उसे यहाँ आत्मा कहा है। भाई! अपेक्षा समझना चाहिए।

देखो! यहाँ परिणामशक्ति की बात चलती है, कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अठारहवीं उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति और उन्नीसवीं परिणामशक्ति दोनों एक ही हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। क्रमवर्ती और अक्रमवर्तीरूप वर्तना जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्ययध्रौव्यशक्ति कही। अब इस परिणाम-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्ति में यह कहते हैं कि ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय से आलिंगित सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसी एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है – इसप्रकार दोनों में अन्तर है।

भाई ! सदृश और विसदृश – ऐसे दोनों स्वभाववाला तेरा अस्तित्व है। उत्पाद-व्यय विसदृश अर्थात् विरुद्ध हैं और ध्रुव सदृश अर्थात् अविरुद्ध है। समयसार गाथा 3 की टीका में यह बात आयी है, वहाँ कहा है कि जो टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत स्थित रहता है और समस्त विरुद्ध कार्य, अविरुद्ध कार्य के हेतुपने से जो हमेशा विश्व का उपकार करता है अर्थात् उसे टिकाये रखता है। इसमें उत्पाद-व्यय को विरुद्ध कार्य कहा है और ध्रौव्य को अविरुद्ध। यहाँ शक्ति के वर्णन में उसे ही सदृश-विसदृश कहा है। ध्रौव्य त्रिकाल एकरूप है; अतः वह सदृश और पर्याय उत्पाद- व्ययरूप भाव-अभावरूप ऐसी दो प्रकार की है; अतः वह विसदृश है। अहो ! ऐसे सदृश-विसदृशरूप एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है। यहाँ कोई पूछता है कि जो परिणाम होता है, वह गुण में से होता है या ध्रौव्य में से ?

चिद्विलास में इसका समाधान किया है कि ध्रौव्य परिणमित होता है, गुण नहीं। परिणमनशक्ति द्रव्य में है – इस संबंध में चिद्विलास में निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया है।

"कोई प्रश्न करता है कि गुण द्वार से जो परिणति उत्पन्न हुई है, वह गुण की है अथवा द्रव्य की। यदि गुण की हो तो गुण तो अनन्त हैं जिससे परिणति भी अनंत होना चाहिए और वह परिणति द्रव्य की हो तो उसे गुण की परिणति क्यों कहते हो ?

उसका समाधान – यह परिणमनशक्ति द्रव्य में है और द्रव्य गुणों का पुन्ज है। वह अपने गुणरूप से स्वयमेव परिणमता है, जिससे गुणमय परिणमन को गुणपर्याय कहते हैं, जिसे द्रव्य की परिणति, गुण की परिणति – ऐसा तो कहते हैं; परन्तु वह परिणमनशक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। इसका प्रमाण तत्त्वार्थसूत्र में दिया है –

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः द्रव्य के आश्रय से तो गुण रहते हैं; पर गुण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के आश्रय से गुण नहीं। 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् गुण पर्यायवाला द्रव्य है – ऐसा भी कहा है पर्यायवाला द्रव्य को कहा है, गुण को नहीं, परिणमन शक्ति द्रव्य से है। द्रव्य गुणलक्षण से परिणमित होता है, जिससे क्रम, अक्रम स्वभाव द्रव्य का कहा है तथा वहाँ भी क्रमवर्ती पर्याय एवं अक्रमवर्ती गुणों के समुदाय को आत्मा कहा है।

देखो, ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद – इन तीनों से आलिंगित सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसी परिणामशक्ति जब परिणमित होती है, तब परिणति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं; इसलिए शक्ति और शक्तिवान – ऐसा भेद का लक्ष्य छोड़ देना चाहिए: क्योंकि भेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणाम नहीं होते हैं। भेद तो अभेद को बताने के लिए है; अतः भेद का लक्ष छोड़कर अभेद को ग्रहण करो। अहाहा! अभेद एकरूप सामान्य, अबद्धस्पृष्ट जो ध्रुवस्वभाव है; उसकी दृष्टि करके, उसी में एकाग्र हो जा, इसी से सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होगा।

यहाँ द्रव्यदृष्टि कराना है। परिणामशक्ति का स्वभाव है अर्थात् द्रव्य का परिणमन होने पर उसकी विशेषतारूप गुण का परिणमन होता है; अतः परिणति द्रव्य से उठती है, गुण से नहीं। द्रव्य स्वयं ही अपनी विशेषतारूप परिणमित हो जाता है। अहाहा! धर्म करना हो तो इसका भलीप्रकार ज्ञान करना पड़ेगा।

परिणामशक्ति से परिणति नहीं उठती, वस्तुतः द्रव्य ही द्रवित होता है, द्रव्य में से परिणति उत्पन्न होती है। पंचास्तिकाय गाथा ६ के मूल पाठ में कहा है कि "उन-उन क्रमभावी और सहभावी सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त करता है, उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं, जो सत्ता से अभिन्न है। यहाँ गुण द्रवित होता है – ऐसा नहीं कहा; परन्तु द्रव्य द्रवित होता है – ऐसा कहा है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी इसी तरह द्रवति गच्छति का एक अर्थ तो द्रवित होता है अर्थात् प्राप्त करता है – ऐसा किया है। उसके बाद द्रवति अर्थात् स्वभाव पर्यायों को द्रवित करता है और गच्छति अर्थात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विभाव पर्यायों को प्राप्त करता है – ऐसा दूसरा अर्थ भी वहाँ किया है। यहाँ तो द्रव्य शुद्धतारूप से परिणमित होता है, वह परिणामशक्ति का कार्य है; परन्तु वह परिणमन द्रव्य में से होता है, गुण में से नहीं। द्रव्य स्वयं गुण लक्षणरूप से परिणमित होता है, जिससे क्रम-अक्रम स्वभाव द्रव्य का कहा है – ऐसी सूक्ष्म बात है भाई ! भाषा तो सरल है; परन्तु भाव बहुत गम्भीर है।

जब द्रव्य का परिणमन होता है, तब सभी गुणों का परिणमन एकसाथ होता है; परन्तु यहाँ द्रव्य द्रवित होता है – ऐसा कहकर भेद की वासना मिटाकर द्रव्यदृष्टि कराई गयी है। जिसप्रकार पानी में तरंग उठती है; उसीप्रकार द्रव्यरूप वस्तु में तरंग उठती है। गुण द्रवित होता है, पर्याय द्रवित होती है – ऐसा कहना भेद का कथन है। वास्तव में आनन्द की जो परिणति उत्पन्न होती है, वह आनन्द गुण में से नहीं, द्रव्य में से उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शनरूप निर्मल श्रद्धान की जो परिणति उत्पन्न होती है, वह श्रद्धागुण में से नहीं; परन्तु द्रव्य में से उत्पन्न होती है। श्रद्धागुण सम्यग्दर्शनरूप हुआ है – यह तो भेद का कथन है। परमार्थ से त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शनरूप में परिणत होता है। इसप्रकार गुण परिणमित होते हैं – ऐसा अर्थ न लेकर द्रव्य परिणमित होता है – ऐसा अर्थ करना परमार्थ है। भाई ! यह तो वीतराग भगवान का मार्ग है, यह तो वीतरागतामय ही है। अहा ! वह वीतरागता किसप्रकार प्राप्त होती है ? तो कहते हैं त्रिकाली शुद्ध जो निज आत्मद्रव्य है, उसका लक्ष्य करके परिणमन करने पर वीतरागता प्राप्त होती है। जिसप्रकार यह मार्ग है, उसे उसीप्रकार यथार्थ जानना-समझना चाहिए। अहा ! आत्मा एक समय में अनन्त स्वभाव का सागर है। उसका आश्रय लेने से अनन्त शक्ति के परिणमनसहित आत्मद्रव्य उछलता है, उसको परिणामशक्ति कार्यरूप परिणत हुई – ऐसा भेद से कहा जाता है।

प्रश्न – आपने ये नई-नई बातें कहाँ से निकालीं ?

उत्तर – यह नई बातें नहीं हैं भाई ! यह तो अनन्त तीर्थंकरों की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दिव्यध्वनि द्वारा बतायी गयी बातें हैं और सभी परम्परा से, अनादि से प्रवाहरूप चली आयी हैं; इस युग में हमारे निमित्त से मात्र प्रसिद्ध हुई हैं; अतः लोगों को नयी लगती है।

प्रश्न – क्या इसे समझे बिना धर्म नहीं होगा ?

उत्तर – भाई ! प्रथम धर्म क्या है ? और वह कैसे होता है ? – यह सब जानना-समझना चाहिए। तत्त्व की वास्तविक समझ किये बिना अन्तर्मुखदृष्टि किसप्रकार होगी ? और अन्तर्मुखदृष्टि हुए बिना धर्म किसप्रकार होगा ? अनन्तकाल के दुःख मिटाने का उपाय तो सही-सही समझना चाहिए न ?

प्रश्न – जो तिर्यंच समकित प्राप्त करता है, क्या उसे इन सबका ज्ञान होता है ?

उत्तर – हाँ, तिर्यंचों को सम्यग्दर्शन होने पर सातों तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान हो जाता है। मेरा आत्मद्रव्य जो यह पूर्ण आनन्दस्वरूप है, वह मैं जीवतत्त्व हूँ। दुःख का वेदन आस्रव-बंध है। जो यह आनन्द का वेदन हुआ, वह संवर-निर्जरा है – इसप्रकार शब्दों का भले उसे ज्ञान न हो तो भी भाव का भासन तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को भी बराबर होता है। मोक्षमार्ग-प्रकाशक में इस विषय का खुलासा हुआ है। भोगभूमि में क्षायिक समकिती तिर्यंच हैं, उनको सात तत्त्व का भावभासन यथार्थ होता है। सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यंचायु का बंध हो गया हो तो जीव भोगभूमि का तिर्यंच होता है। वह क्षायिक समकित लेकर भी तिर्यंच हो जाता है, उस जीव को वहाँ कदाचित् सात तत्त्व के नाम की भी खबर न हो; फिर भी सातों तत्त्वों के भाव का यथार्थ भासन तो होता ही है।

द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् – इसप्रकार ये तीनों सत् कहलाते हैं; परन्तु वास्तव में तीन सत् नहीं हैं। तीनों मिलकर एक सत् हैं। सत् द्रव्य का लक्षण है। अहाहा ! ध्रौव्य, व्यय, उत्पाद से आलिंगित सत् द्रव्य का लक्षण है। इसप्रकार जगत के सभी द्रव्य सत् हैं; अतः सभी द्रव्यों का कायम रहकर बदलना अपने-अपने स्वभाव से ही होता है, किसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के कारण से किसी का बदलाव है ही नहीं। इसप्रकार स्वपर की सत्ता भिन्न-भिन्न होने पर भी परवस्तु के कार्य मैं करता हूँ – ऐसा जो मानता है, वह परवस्तु की स्वतंत्र सत्ता का इन्कार करके पर को अपने आधीन मानकर उसकी स्वाधीनता को हरना चाहता है; परन्तु अरे ! परवस्तु उसके आधीन होकर नहीं परिणमती, फलस्वरूप अज्ञानी जीव पर के आश्रय से परिणमन करता हुआ थककर आकुल-व्याकुल होकर अपनी सत्ता को ही घातता है। अज्ञानी पर की सत्ता में घालमेल (मिलावट) करने जाता है; परन्तु ऐसा होना संभव नहीं है; अतः वहाँ विसंवाद उत्पन्न हो जाता है, उसकी शांति नष्ट हो जाती है, उसे अशान्ति और दुःखपूर्ण संसार ही मिलता है, इसप्रकार तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना जीव दुःखी हो जाता है।

द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित अस्तित्वमयी परिणाम गुणपर्यायरूप धर्मों को चूमता है; परन्तु द्रव्य पर को नहीं चूमता, अतः कर्मों ने जीव को परेशान किया है, यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म का उदय जीव के विकार का कारण नहीं है और जीव का विकार कर्मबन्ध का हेतु नहीं। हे जीव ! तू अपने उल्टे परिणमन की योग्यता से चारगति में रखड़ता है। अहा ! तेरी अशुद्धता भी मोटी और शुद्धता भी मोटी – ऐसा अनुभवप्रकाश में कहा है। अपनी अशुद्धता से जीव रखड़ता है, कर्म के कारण से नहीं। अहा ! तीर्थंकरदेव की ओंकारवाणी जीव ने अनन्त बार सुनी है; परन्तु इसे तत्त्वदृष्टि नहीं हुई, अपने परिणाम द्रव्य के सन्मुख नहीं हुए, इसमें अपना ही दोष है, उसमें कर्म का उदय बिल्कुल कारण नहीं; क्योंकि कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है।

चिद्‌विलास पृष्ठ ३३ के अन्तर्गत परिणामशक्ति के वर्णन में कहा है कि –" एक अभेद वस्तु में सर्वसिद्धि है, जिसप्रकार चन्द्र और चन्द्र का प्रकाश एक ही है, सामान्यतया निर्विकल्प है। जब विशेषता से शिष्य को प्रतिबोध कराते हैं, तब जिसप्रकार शिष्य गुरु के प्रतिबोध से उनका स्वरूप जानकर जैसे-जैसे विशेष ज्ञाता होता जाता है; वैसे-वैसे उस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिष्य को आनन्द की तरंग उठती है, उस समय वह वस्तु का निर्विकल्प आस्वाद लेता है; इसकारण गुण-गुणी का विचार योग्य है। गुण के विशेष को परिणाम कहा है, इस परिणाम से उत्पाद-व्यय द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है – ऐसा कहना चाहिए। इसप्रकार भेद द्वारा अभेद का ज्ञान कराना प्रयोजनवान है।

इस शक्ति का परिणमन द्रव्य में से होता है, गुण में से नहीं; क्योंकि गुण द्रव्य के आश्रय से हैं, गुण के आश्रय से गुण नहीं है तथा गुण-पर्याय-वाला द्रव्य है – ऐसा कहा है, वहाँ पर्यायवाला द्रव्य को ही कहा; परन्तु गुण को नहीं कहा – इसप्रकार गुणभेद की वासना मिटाकर द्रव्यदृष्टि कराना है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो इन शक्तियों को भिन्न-भिन्न समझाने से क्या फायदा ?

उत्तर – अरे भाई ! इन शक्तियों को यथार्थ समझ ले तो अन्तर में आनन्द की तरंग उछलेगी – इसप्रकार स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ जाग्रत होता है – इनकी सच्ची समझ से अनन्त काल की थकान उतारने के पुरुषार्थ का मार्ग मिलता है बापू ! एक-एक शक्ति को यथार्थरूप से जानकर शक्तिवान द्रव्य की दृष्टि करने से अभेद एक ज्ञानमात्र वस्तुरूप आत्मा का परिणमन होता है और उसमें सभी अनन्त शक्तियाँ एक साथ उछलती हैं। इसप्रकार अनन्त गुणों में अभेद निज आत्मवस्तु की दृष्टि कराने के लिए इन शक्तियों का वर्णन है। वस्तु, आत्मा स्वभाव से अनेकान्तमय किस प्रकार है ? उसमें अनन्त धर्म किस प्रकार हैं – यह स्पष्ट जानने-समझने के लिए आचार्यदेव ने यहाँ शक्तियों का वर्णन किया है। वहाँ भेद की वासना में नहीं रुकना; क्योंकि भेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन आदि निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

यह बात सूक्ष्म लगती है; अतः लोग बाहर के स्थूल राग में रुक गये हैं। व्रत करो, दया पालो, भक्ति करो – इत्यादि आचरण में धर्म होना मानकर रुक गये हैं; परन्तु यह सभी तो शुभराग है भाई ! यह तो बंध का ही कारण है, इससे तू धर्म होना माने तो यह मिथ्याभाव है।

प्रश्न – पर ज्ञानी भी तो दया, दान, व्रत, तप आदि करते हैं ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – अरे भाई ! अस्थान के राग से और अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को दया, दान, व्रत आदि का शुभराग आता है; परन्तु वह उसे हेय मानता है। ज्ञानी उसे धर्म अथवा धर्म का साधन नहीं मानता। ज्ञानी की परिणति में व्रतादि व्यवहार भले हों; फिर भी उनसे भिन्न शुद्धता का परिणमन उसे अन्तरंग में वर्तता है। वह शुद्धता में तन्मय है और राग में अतन्मय है, वास्तव में उसके स्वभावसन्मुखी उत्पाद-व्यय में निर्मलता हुई है और उसमें राग का प्रवेश नहीं है। राग तो भिन्न ज्ञेयपने रह जाता है और उस राग का ज्ञान स्वकाल में समा जाता है। राग चैतन्य का स्वकाल नहीं है, परकाल है और राग का ज्ञान स्वकाल में समाता है। राग परपरिणति है। अहाहा! ज्ञान और राग दोनों समकाल और समक्षेत्र में होने पर भी ज्ञान अलौकिक वीतरागी-विज्ञान है। जो ज्ञानी को प्रगट हुआ है। अज्ञानी तो राग को उपादेय मानता है – इसप्रकार व्रतादि के समान होने पर भी ज्ञानी-अज्ञानी के अभिप्राय में बहुत अन्तर है।

प्रश्न – शास्त्र में व्रत-अव्रत में छाया-आतप का अन्तर कहा है न!

उत्तर – हाँ कहा है। धूप में सोते रहने की अपेक्षा छाया में सोना ठीक है अर्थात् अव्रत की अपेक्षा व्रत ठीक है, भला है; परन्तु जिसे अन्तर में शुद्ध अन्तःतत्त्व रूप निज आत्मा का भान हुआ है, आनन्द के अनुभव की वृद्धि हुई है, उसे अव्रत का विकल्प छूटकर व्रत का विकल्प आता है; अतः उसे अव्रत की दशा की अपेक्षा व्रतदशा ठीक कही है। जिसे सम्यग्दर्शन-पूर्वक आनन्द की धारा विशेषरूप से प्रगटी है; उसे पाँचवें गुणस्थान में व्रत-प्रतिमा लेने का विकल्प उठता है और वह यथार्थ व्यवहार है; परन्तु अज्ञानी को यह बात लागू नहीं पड़ती; क्योंकि उसे यथार्थ व्रत है नहीं।

चौथे गुणस्थानवर्ती देव की अपेक्षा पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक को व्रत के विकल्प के समय भी अन्दर शांति की विशेष धारा होती है और उस विकल्प को व्यवहार से छाया कहा है; वस्तुतः तो अन्तर में आनन्दरस की धारा प्रगट हुई है, वही छाया है। इसप्रकार परिणामशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖❖❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२०. अमूर्तत्वशक्ति

कर्मबन्धव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्त -त्वशक्तिः।

कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त होनेवाला सहज स्पर्शादि शून्य आत्म-प्रदेशों का स्वरूप अमूर्तत्वशक्ति है।

अहाहा! ज्ञानलक्षण से लक्षित भगवान आत्मा में एक अमूर्तत्व नाम की शक्ति है, जो इन्द्रियग्राही नहीं है, अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जो जानने में, अनुभव में आती है, भगवान आत्मा का अमूर्तत्व स्वभाव है। कर्मबन्ध के अभाव से उसका व्यक्तरूप में परिणमन होता है। जब समस्त कर्मों का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, तब साक्षात् पूर्ण अमूर्तपना व्यक्त होता है और चौथे गुणस्थान में जितना कर्मबंध का अभाव है, उतना इस अमूर्तत्वशक्ति का परिणमन होता है। अहाहा! अनन्त गुणों का समुदाय प्रभु आत्मा है, उसके सन्मुख दृष्टि होने पर एक-एक अंश पर्याय में प्रगट होता है और तब यह अमूर्तत्वशक्ति भी आंशिकरूप से व्यक्तरूप में परिणमित होती है।

अहा! राग से खिसककर त्रिकाली शुद्ध द्रव्य का आश्रय लेने पर अनन्त गुणों में अंशरूप से अमूर्तपने का व्यक्त परिणमन होता है अर्थात् आत्मप्रदेशों रूप अमूर्तपना प्रगट होता है। ऐसा आत्मा तो अमूर्त वस्तु है; परन्तु कर्म के संबंध से उसे रूपी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि को जो रागादिभाव हैं, उन्हें भी रूपी मूर्त कहते हैं। राग पुद्गल का परिणाम है; अतः वह रूपी है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक जितनी स्वरूपलीनता होती है, उतना कर्मबन्ध का अभाव होता है और उतने प्रमाण में राग के अभावरूप जो शुद्धता का परिणमन व्यक्त होता है, वह अमूर्तत्वशक्ति का परिणमन है। यह परिणमन साधक को भले ही पूर्ण प्रगट न हो तो भी आंशिकरूप से अमूर्तत्वशक्ति का व्यक्तरूप में परिणमन होता ही है और वह परिणमन स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित होता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आस्रव अधिकार में यह बात लिखी है कि चौथे गुणस्थान में द्रव्यदृष्टि होने पर जितने अंश में शुद्धि प्रगट होती है, उतने अंश में वहाँ कंपन का अभाव होकर अयोगपना व्यक्त होता है और उतने ही प्रमाण में अमूर्तत्व शक्ति का भी व्यक्त परिणमन होता है। इसी सन्दर्भ में निष्क्रियत्वशक्ति का भी वर्णन बाद में आवेगा। आत्मा का अनुभव होने पर ज्ञानी की पर्याय में आंशिकरूप से निष्क्रियत्वशक्ति का परिणमन होता है, वहाँ अंकपदशा हो जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कि तिर्यंच को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता; परन्तु ऐसा नहीं है, उसे भी सम्यक्त्व होता है तथा सम्यग्दर्शन के साथ ही शरीरादि में एकत्वबुद्धि छूट जाती है। अन्य शल्य वहाँ होती ही नहीं, पर मुनष्य पर्याय में अनेक शल्य और विपरीत आग्रह हैं; अतः उन सभी को दूर करने के लिए तत्त्वाभ्यास करके आत्मा का सम्यक्ज्ञान करना चाहिए।

अहा! ज्ञानस्वरूपी आत्मा सदा अमूर्त ही है। अमूर्तत्व उसका स्वभाव है और वह गुण-पर्याय में व्याप्त है, जिससे उसके गुण अमूर्त और पर्याय भी अमूर्त हैं। अरे भाई! ज्ञानमात्र भाव में मूर्तपने का प्रवेश ही नहीं है, उसमें कर्म के संबंध और देह के संबंध की बात ही नहीं है। अहा! अशरीरी चैतन्यबिम्ब बिनमूरत चिनमूरत प्रभु को मूर्त देह के संबंध से पहचानना तो कलंक है, मिथ्याभाव है। अरे भाई! अपनी अनन्त चैतन्यशक्ति में भगवान आत्मा ने मूर्तपने को-देह को, कर्म को और रागादि विकार को कभी ग्रहण किया ही नहीं, यह तो सदा ही अमूर्तपने से शोभित हो रहा है।

अभी भी शुद्धनय से देखने पर आत्मा कर्मसंबंध रहित अबद्ध-अस्पृष्ट और राग के संबंध रहित है। धर्मी जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने आत्मा को कर्म के संबंध से रहित अमूर्त अनुभव करता है। अहाहा! त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा त्रिकाल अमूर्त है और उसकी दृष्टि में जो निर्मल पर्याय प्रगटी, वह भी अमूर्त है। देह, कर्म और वर्णादि भावों से रहित है; तथापि आत्मा कर्म- संबंधवाला है, देहवाला है – मूर्त है, विकारी है, ऐसा ही वह अनुभव करता है, वह आत्मा और अनात्मा के विवेकरहित मिथ्यादृष्टि है।

परन्तु शास्त्रों में जीव को मूर्त भी तो कहा है? हाँ कहा है; संसारदशा में जीव का मूर्त कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, उसका ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कराने के लिए उपचार से उसे मूर्त कहा है तो भी निश्चय से आत्मा का सदा ही अमूर्त स्वभाव है और उपयोग गुण द्वारा जो समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न है – ऐसे जीव को वर्णादि रूप मूर्तपना जरा भी नहीं है। समयसार गाथा ६२ में वर्णादि भावों के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहा है कि "हे मिथ्याभिप्राय वाले यदि यदि तू ऐसा मानता है कि यह सभी वर्णादिभाव जीव ही है – अर्थात् जीव मूर्त ही है, तो तेरे मत में जीव और अजीव का कोई भेद नहीं रहता" तथा संसारी जीव मूर्त है यदि तू ऐसा कहता है तो मूर्त तो पुद्गल ही होता है, जिससे तेरी मान्यता में पुद्गल ही जीव ठहरा, भिन्न जीव तो रहा नहीं। मोक्षदशा में भी मोक्ष तो पुद्गल का ही हुआ; अतः न्याय तो यह है कि मोक्षदशा में अथवा संसारदशा में भगवान आत्मा का सदा अमूर्त स्वभाव ही है।

यहाँ 'कर्मबंध के अभाव से व्यक्त होती हुई.........आत्म प्रदेशों स्वरूप अमूर्तत्वशक्ति" कहकर त्रिकाली शक्ति और उसकी निर्मल पर्याय बतलायी है; संसारदशा में कर्मबंध का निमित्तपना है – ऐसा भी बताया है, जो जीव अपनी अवस्था को और अशुद्धता को तथा उनके निमित्त को जैसा है वैसा जानकर तथा अपनी शक्ति को जानकर शक्तिवान निज़ आत्मद्रव्य के आश्रय से परिणमित होता है; उसकी अशुद्धता टलकर शुद्धता प्रकट होती है और तब कर्मबंध के अभावपूर्वक आत्मप्रदेश सहज स्वाभाविक अमूर्तरूप से व्यक्त होते हैं – ऐसा सहज स्पर्शादि शून्य आत्मप्रदेशों स्वरूप अमूर्तिक त्रिकाल है और वह पर्याय में व्यक्त होता है – इसप्रकार अनेक अपेक्षाओं से कथन किया जाता है; अतः वास्तविक ज्ञान करके अन्तर अनुभूति करे तो निहाल हो जाये अर्थात् इसे आत्मा प्रत्यक्ष हो जावे – ऐसी यह बात है। अहा! चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा सदा ही अमूर्त है और शरीर तो मूर्त ही है; दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ऐसे लक्षणभेद द्वारा दोनों की भिन्नता जानकर हे भाई! तू मूर्त शरीर का पड़ौसी हो जा। जिसप्रकार सिद्ध प्रभु अमूर्त हैं; उसीप्रकार तुम भी अमूर्त हो; अतः मूर्त शरीर की क्रिया से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को जानो। यह इन्द्रियादि अमूर्त पदार्थ तेरे कोई नहीं हैं; अतः वहाँ से लक्ष्य हटाकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपयोग को स्वस्वरूप में जोड़ दो।

अरे रे ! विज्ञानघन प्रभु आत्मा मूर्त कलेवर में मोहित हो जाता है, यह तो महान कलंक है और महाविपरीतता है।

भाई ! यथार्थ स्वरूप समझे बिना एकान्त से ऐसा माने कि 'कर्म से राग होता है, शुभराग से धर्म होता है' तो यह सही नहीं है यदि कर्म से राग हो तो कर्म ही संसार हुआ, परन्तु संसार तो जीव की विकारी पर्याय, विभावदशा है और वह अपनी योग्यता से हुई है; कर्म के कारण नहीं तथा यदि शुभराग से धर्म हो तो शुभराग ही धर्म ठहरा; परन्तु धर्म तो वीतरागतारूप है। इसप्रकार यथार्थ तत्त्वदृष्टि हुए बिना कोई मुनिपना अंगीकार करे तो करे; परन्तु उससे क्या ? ऐसे नग्न दिगम्बर जैन साधु को प्रवचनसार की २७१ वीं गाथा में संसारतत्त्व कहा है। राग और पुण्य के भाव को अपना माननेवाले को, हितरूप माननेवाले को मोक्ष अथवा मोक्ष का मार्ग नहीं होता, वह तो संसारी ही है और जो कर्म के संबंध से परिणमता है, वह भी संसारी ही है।

अरे भाई ! आत्मा की पर्याय में विकार है, कर्म का संबंध है – ऐसा जानना तो व्यवहार है और चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा विकार और बंधन से रहित है – ऐसे चिन्मात्र स्वभाव को जानना निश्चय है। जो जीव एकान्त से व्यवहार को ही स्वीकार करके उसके आश्रय में अटक रहा है, वह संसारी मिथ्यादृष्टि है और जिसे चिन्मात्र शुद्ध आत्मा के आश्रय से निर्मल पर्याय होती है, वह सम्यग्दृष्टि है, उसे धर्म अर्थात् शुद्धद्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय होती है और कर्म के साथ संबंध मिटता जाता है। कालान्तर में साक्षात् सिद्धदशा की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ आत्मा का अमूर्तस्वभाव पूर्ण खिल जाता है। योगसार में योगीन्दुदेव ने कहा है कि –

नासाग्र दृष्टिवंत हो देखें अदेही जीव को।
वे जनम धारण ना करें ना पियें जननी क्षीर को।।

भाई ! भव से छूटना हो, अशरीरी होना हो तो ध्यान द्वारा अपने अन्तर में लीन हो तो परम सुखमय अशरीरी सिद्धदशा होगी तथा बार-बार अन्य माताओं का दूध नहीं पीना पड़ेगा।

इसप्रकार बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति पूरी हुई। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२१. अकर्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तप रिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः।

जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों के निमित्त से किये गये परिणामों का कर्त्ता नहीं होता – ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मा में है।

देखो ! कर्म के निमित्त से अथवा कर्म के आश्रय से जो रागादि परिणाम होते हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। कर्मों के आश्रय से जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सभी ज्ञातृत्व से भिन्न हैं, अनात्मपरिणाम हैं। भगवान आत्मा उनका कर्ता नहीं है। अहो ! समकिती को स्वरूप के निर्मल ज्ञान-श्रद्धान के साथ समस्त रागादि का अकर्तृत्वपना भी प्रगट होता है; जिससे ज्ञानी जीव रागादि का कर्ता नहीं होता। ऐसा आत्मा का अकर्ता स्वभाव है।

अहा ! आत्मा में अकर्तृत्वरूप एक गुण है। कर्म के निमित्त के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा नहीं करता, परन्तु उनको करने की निवृत्तिरूप परिणमित होना इस अकर्तृत्व गुण का कार्य है। अहा ! जो कार्य सिद्ध परमात्मा का नहीं है, वह भगवान आत्मा का भी कार्य नहीं है। ऐसा ही आत्मा का अकर्तृत्व स्वभाव है।

यद्यपि अस्थिरता के काल में ज्ञानी-धर्मात्मा को भी यथासंभव शुभाशुभ भाव होते हैं, पर उसका श्रद्धान-ज्ञान तो यह है कि यह विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञायक प्रभु हूँ और उसमें ठहरना ही मेरा कर्तव्य है। इसप्रकार पर्याय में ज्ञानी को दया-दान आदि राग के परिणाम हैं; परन्तु उसे उनका कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानी को ज्ञान के साथ रागादि अकर्तापना नियम से प्रगट होता ही है।

अनन्त गुणों के निधान प्रभु आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्म को करे और भोगे। तुझे अज्ञानदृष्टि में कर्म का कर्तापना भासता है। स्वभाव दृष्टिवन्त को तो आत्मा अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है। राग करना आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

श्रेणिक राजा क्षायिक समकित सहित पहले नरक में गये हैं, वहाँ दु:ख के परिणाम होते हैं, पर उन परिणामों के वे कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। ज्ञानी को जानने-देखने रूप परिणाम होता है और उसका वह कर्ता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से पर्याय में कर्म के निमित्त से जो विकारी भाव होते हैं, उनका वह मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता नहीं। ज्ञानी तो अपने जानने-देखनेरूप परिणाम का कर्ता है, उस परिणाम के साथ जो राग वर्तता है; वह उसका कर्ता नहीं है। भाई! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा का परिणाम तो राग है। वह परिणाम मिथ्यात्व नहीं है; परन्तु उस शुभराग को वीतरागभावरूप धर्म मानना मिथ्यात्व है।

द्रव्यसंग्रह की ४७वीं गाथा में कहा है कि ज्ञायकभाव का ध्यान करने पर जो निर्विकल्पदशा हुई, वह निश्चय मोक्षमार्ग है तथा साथ में जो राग है, उसे उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है – इसप्रकार व्यवहार का राग होता है; किन्तु आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अहाहा! राग के अकर्तापने से परिणमन करना आत्मा का सहज अकर्ता स्वभाव है, राग के कर्तापने से परिणमे – ऐसी आत्मा में कोई शक्ति नहीं है।

अरे! यह बात समझने की इस जीव को फुर्सत ही नहीं है। यह तो बस खाने, पीने, खेलने एवं लड़के-बच्चों को खुश करने में रुक गया है और पाँच-पचास लाख कमाकर खुश हो-होकर फूल रहा है; परन्तु यह सभी तो पुद्गल की चीज है तथा उन पदार्थों के लक्ष्य से जो राग की पर्याय उत्पन्न होती है, उसका भी कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा तो उसका ज्ञाता-दृष्टा है। पर के लक्ष से होनेवाले राग को शास्त्र में पुद्गल परिणाम कहा है। उसका कर्तृत्व आत्मा को नहीं है अर्थात् उसे नहीं करने रूप आत्मा की अकर्तृत्व नाम की शक्ति है।

अरे भाई! यह देह तो देखते-देखते ही उड़ जायेगी। देह की स्थिति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कब पूरी होगी – यह कौन जानता है। अतः जगत का कोई काम करना और देह को ठीक रखना आत्मा के अधिकार में नहीं है; अतः झूठे विकल्पों को रोककर निजशक्ति की संभाल कर, इसी में इस अवसर की (मनुष्य जन्म की) सार्थकता है। इसमें तीन बातों का निश्चय होता है –

१. सर्वथा भिन्न परद्रव्य का कर्तृत्व आत्मा में किसी भी प्रकार नहीं है।

२. स्वभाव से तो विकार का भी आत्मा कर्ता नहीं है। 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसी मिथ्या मांन्यता के कारण अज्ञानी पर्याय में विकार का कर्ता होता है। वास्तव में तो वह भी अकर्ता ही है; परन्तु ऐसा वह नहीं मानता, जिससे कर्तारूप से परिणमित होता है।

३. स्वस्वरूप की संभाल कर, जो स्वसन्मुख होकर निर्मल-निर्मल परिणमित होता है, वह ज्ञानी विकार का साक्षात् अकर्ता होकर ज्ञाता-दृष्टा रूप से परिणमित होता है। अरे भाई! इस स्वर्ण अवसर में स्वाध्याय द्वारा यथार्थ तत्त्वनिर्णय कर लेना चाहिए।

देखो, शास्त्र-स्वाध्याय का भाव आना शुभविकल्प है; तथापि प्रवचनसार में स्वभाव के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करने को कहा है। समयसार की पहली गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ समयप्राभृत में कहता हूँ, हे शिष्य! तू सुन!

अनंत सिद्धों को अपनी पर्याय में स्थापित करके सुन! मैंने तो अनन्त सिद्धों को अपनी पर्याय में स्थापित किया है, तू भी अनन्त सिद्धों को अपनी पर्याय में स्थापित करके समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा को कहने वाला शास्त्र सुन! सिद्ध की पर्याय तो एक समय की है, परन्तु अपना आत्मा अनंत-अनंत सिद्ध पर्यायों का पिण्ड है। 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' का यह अर्थ है कि अनंत सिद्धों को पर्याय में स्थापित करने से अपनी दृष्टि त्रिकाली शुद्धद्रव्य में मिल जाती है।

यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभ राग के परिणाम ज्ञातापने से भिन्न हैं और वे कर्मकृत हैं; भगवान आत्मा उनका कर्ता नहीं है; क्योंकि आत्मा तो परिणामों को करने की निवृत्तिस्वरूप अकर्तृत्वस्वभावी है। जिस भाव से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध होता है, उस भाव का भी आत्मा कर्ता नहीं है, उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। कर्मकृत परिणामों को आत्मा जाननेवाला है, करनेवाला नहीं।

यहाँ शुभाशुभ भावों को कर्मकृत कहने का यह अर्थ नहीं है कि वे कर्म से उत्पन्न होते हैं, विकारभाव तो जीव स्वयं स्वतंत्रपने करता है; परन्तु कर्म-निमित्त के आधीन होकर विकार करने से उसे कर्मकृत कहा है, वास्तव में तो कर्म जड़ है, वह आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकता। कहा भी है –

करम बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अगनि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।

यद्यपि गोम्मटसार में ऐसा लिखा है कि ज्ञानावरण से ज्ञान रुकता है, पर वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए लिखा है। ज्ञान किसी ज्ञानावरण के उदय से नहीं रुका है, ज्ञान की ऐसी दशा होना तो स्वयं की ही योग्यता से है, कर्म तो निमित्तमात्र है। विकार कर्म के निमित्त से होता है, जिससे उसे कर्मकृत कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि को जो किंचित् राग होता है, वह अपनी योग्यता से कमजोरीवश होता है; परन्तु स्वभावदृष्टिवंत ज्ञानी उसका कर्ता नहीं है; क्योंकि विकार को नहीं करने रूप आत्मा का अकर्ता स्वभाव है। अहाहा! राग ज्ञायक से भिन्न परिणाम है और ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न जो परिणाम है, उन परिणामों के नहीं करने रूप आत्मा का अकर्ता स्वभाव है। कहते हैं कि पुण्य परिणाम आतमा से भिन्न है। इस संसार में भी उसको करने की समाप्तिरूप भगवान आत्मा का अकर्ता स्वभाव है। अपने ऐसे स्वभाव को जाने बिना तू जिस पुण्य की इच्छा करता है; वह पुण्य और पुण्य कर्म का काल तो अनादि संसार में अत्यल्प होता है। मिथ्यात्वदशा में अनंतकाल तो जीव का पाप और पाप कर्म के दुःखरूप फल में ही व्यतीत होता है।

अहाहा! आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड, अनंत गुणरत्नों से भरा हुआ भगवान रत्नाकर है। उसके अन्तर्मुख अनुभव के साथ अतीन्द्रिय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आनन्द की लहर उठती है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। देखो! 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र वास्तव में धर्म है और 'दंसण मूलो धम्मो' धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन है, वह चारित्र का मूल है; क्योंकि सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना कोई बाह्य में व्रत, तप करे तो भले करे; पर वे कुछ नहीं हैं, व्यर्थ हैं अर्थात् भगवान उनको बालव्रत और बालतप कहते हैं।

अहाहा! स्वस्वरूप की रमणतारूप चारित्र तो कोई अलौकिक चीज है भाई! निजानन्द-ज्ञानानन्द स्वरूप में रमना, चरण करना, ठहरना – इसका नाम चारित्र है। प्रचुर आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ भोजन है, वहीं चारित्र है। यह तो कोई परम पारलौकिक दशा है बापू! चारित्र किसे कहना? अहो! धन्य वह चारित्रदशा और धन्य अवतार! सम्यग्दृष्टि को यह चारित्रदशा पूजनीक है। अहाहा! अभेदरत्नत्रयस्वरूप भगवान आत्मा अनंतगुण रत्नाकर है। उसके सम्मुख दृष्टि करके स्वसंवेदन में अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्दर्शन महा-महिमावंत मोक्षदशा का सोपान है। छहढाला में आता है न कि –

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा।
सम्यक्ता न लहैं सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।

अध्यात्मपंचसंग्रह में पं. दीपचन्दजी ने कहा है कि अभव्य जीव को ज्ञान होता है; किन्तु ज्ञान की परिणति नहीं होती अर्थात् ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा के स्वसंवेदन ज्ञान को ज्ञान परिणति कहते हैं। अभव्य को ११ अंग और ६ पूर्व का ज्ञान होता है; पर उसे ज्ञान की परिणति नहीं होती। ओहोहो! ग्यारह अंग किसे कहना? एक आचारांग शास्त्र के १८००० पद हैं और एक पद में ५१ करोड़ श्लोक है। दूसरे सूत्रकृतांग के इससे दुगुने इसप्रकार दुगुने-दुगुने करते ११ अंग तक लेना। इसके साथ नवपूर्व का ज्ञान होता है। यह ज्ञान कोई अभ्यास करने से प्रगट नहीं होता, सहजरूप से इस जाति के क्षयोपशम की प्राप्ति होती है। सात द्वीप और सात समुद्र को देखनेवाला विभंग ज्ञान भी अभव्य को प्रगट होता है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु उसे ज्ञान की परिणति नहीं है।

अहा ! जिसमें निज ज्ञायकस्वभाव का निर्मल ज्ञान-श्रद्धान होता है – ऐसी ज्ञान की परिणति उसे नहीं होती। अहाहा ! शक्ति और शक्तिवान के भेद का लक्ष्य छोड़कर, सच्चिदानन्दस्वरूप अन्दर आत्मा निर्विकल्प अभेद एक विराजता है, उसके निर्मल ज्ञान-श्रद्धान का नाम ज्ञान परिणति है। ऐसे निज आत्मा का ज्ञान होने पर ज्ञान की परिणति के साथ में अनंत शक्तियाँ भी एक साथ व्यक्त होकर पर्याय में उछलती हैं, उदित होती हैं। इसका नाम आत्मज्ञान है। यहाँ कहते हैं कि उस ज्ञान में राग का कर्तापना नहीं है। ज्ञान के साथ पूर्ण अकर्तास्वभाव उछलता है, जिससे ज्ञानी राग का कर्ता नहीं होकर मात्र ज्ञाता है

देखो, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें अन्तिम स्वयंभूरमण नाम का समुद्र है। उसका विस्तार असंख्य योजन है। जिसप्रकार उसके नीचे रेत नहीं है, रत्न भरे हैं; उसीप्रकार भगवान आत्मा अखण्ड एकरूप चैतन्य महाप्रभु अनंत है, रत्नों का भण्डार है, स्वयंभू चैतन्यरत्नाकर है। प्रवचनसार की १६ वीं गाथा में आत्मा को स्वयंभू कहा है। अहाहा ! इसकी दृष्टि करके अन्दर झुकने से अर्थात् उसमें तन्मय होकर परिणमने से अनंत गुणरत्न पर्याय में निर्मलपने व्यक्त होकर उछलते हैं। अहा ! वे पर्यायें क्रमरूप से प्रवर्तित होती हैं। यहाँ शुद्ध पर्यायों की बात लेना चाहिए; क्योंकि शक्ति के अधिकार में अशुद्ध पर्याय की बात ही नहीं है।

नियमसार की गाथा ३८ में पर्याय से रहित त्रिकाली एक ज्ञायकभाव को आत्मा कहा है। वहाँ द्रव्यदृष्टि का विषय त्रिकाली शुद्धद्रव्य सिद्ध किया है। त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायक के श्रद्धान-ज्ञान होने पर पर्याय में जो शक्तियों का परिणमन हुआ, उन पर्याय और गुणों के समूह को आत्मा कहा है। यहाँ द्रव्य की शक्तियाँ और उनका परिणमन सिद्ध करना है। जिससे द्रव्य में अक्रमरूप से प्रवर्तती शक्तियों और क्रमवर्ती पर्याय के समूह को आत्मा कहा है। यहाँ विकारी परिणमन की बात नहीं है; क्योंकि विकार शक्ति का कार्य नहीं है; परन्तु कर्म के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

औपाधिक भाव है। वास्तव में उसका कर्तृत्व भगवान आत्मा को नहीं है।

जो ये ४७ शक्तियाँ कही हैं, वे सभी आत्मा में एकसाथ हैं। यहाँ उनका क्रमशः वर्णन किया गया है। इसीप्रकार प्रवचनसार के अन्त में ४७ नयों का अधिकार है और उन नयों के विषयरूप धर्म भी द्रव्य में एक-साथ हैं अर्थात् नित्य, अनित्य आदि सभी धर्म आत्मा में एकसाथ हैं और उसमें काल में मोक्ष होता है और अकाल में मोक्ष होता है – ऐसा कहा है, फिर भी वे दोनों धर्म एकसाथ एकसमय में रहते हैं। उस जाति की जो द्रव्य अथवा पर्यायगत योग्यता है, उसे धर्म कहते हैं, नियतिनय और अनियतिनय के विषयरूप दोनों धर्म पर्याय में एक ही समय में हैं। स्वभावरूप पर्याय को निमित्त कहा है और विभावरूप पर्याय को अनिमित्त कहा है।

आत्मद्रव्य क्रियानय से (अनुष्ठान की प्रधानता से) सिद्धि को प्राप्त करे – ऐसा है। जीव को ज्ञान से मोक्ष हो – ऐसा नहीं बनता; उसीप्रकार जीव को कभी क्रिया से और कभी ज्ञान से मोक्ष हो – ऐसा भी नहीं बनता। दोनों धर्म द्रव्य में एकसाथ होते हैं, मात्र विवक्षाभेद है।

यहाँ अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन चलता है। कर्मों द्वारा किये जानेवाले विकारी परिणामों के करने के अभावस्वरूप अकर्तृत्वशक्ति है। विकार के परिणाम कर्म-निमित्त के आश्रय से होते हैं, जिससे कर्मों द्वारा किये गये परिणाम – ऐसा कहा है। विकार कोई स्वभाव के आश्रय से नहीं होता और आत्मा में विकार करवाने का कोई स्वभाव (शक्ति) नहीं है।

पंचास्तिकाय की ६२ वीं गाथा में कहा है कि विकार अपनी पर्याय के षट्कारक से उत्पन्न होता है अर्थात् एकसमय की पर्याय में होनेवाली मिथ्यात्व और राग-द्वेष रूप विकृति अपनी पर्याय के षट्कारक से होती है, पर के कारण से नहीं तथा अपने द्रव्य-गुण के कारण से भी नहीं।

समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार की ७५, ७६, ७७ वीं गाथा में ऐसा कहा है कि धर्मी को अपना पूर्णस्वभाव दृष्टि में आने पर जो निर्मल परिणाम प्रकट हुआ है, वह उसका व्याप्य है और आत्मा उसका व्यापक है; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी को जो विकार शेष है, वह उसका व्याप्य नहीं है। वह विकार तो पुद्गल का व्याप्य है और पुद्गल उसका व्यापक है। यह बात विकार से भिन्न त्रिकाली द्रव्यस्वभाव सिद्ध करने के लिए है; क्योंकि राग स्वभावभूत नहीं है। वह पुद्गलकर्म के संयोग से उत्पन्न होता है और उसका संयोग मिट जाने पर नष्ट हो जाता है; अतः उसे पुद्गलकर्म का व्याप्य कर्म कहा है।

समयसार कलश टीका में ६८ वें कलश में कहा है कि राग, द्वेष, मोह के परिणाम व्याप्य हैं और मिथ्यादृष्टि जीव उनमें व्यापक हैं; अतः मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध चेतनपरिणाम का कर्ता है। अज्ञानी जीव विकार में तन्मय होकर परिणमता है; अतः वह विकार का कर्ता होता है।

भाई ! किस अपेक्षा से कहाँ कौन-सा कथन किया है, यह बात ध्यान में रखकर ही शास्त्र का अर्थ समझना चाहिए। यहाँ कहते हैं कि विकार के परिणाम कर्म के द्वारा कराये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शक्ति के वर्णन में स्वभाव की बात होने से, विभाव को कर्म के उदयरूप निमित्त के आधीन होनेवाला भाव बताकर उसे कर्मकृत परिणाम कहा है। शास्त्र में प्रत्येक कथन के विभिन्न अपेक्षाओं से पाँच प्रकार के अर्थ किये गये हैं — १. शब्दार्थ २. आगमार्थ ३. मतार्थ ४. नयार्थ ५. भावार्थ — इसप्रकार पाँच प्रकार से अर्थ करके कथन का यथार्थ जानना चाहिए।

भगवान आत्मा मात्र ज्ञायकवस्तु है। उसके सन्मुख होने पर ज्ञान और आनन्द की निर्मलदशा प्रकट होती है। उसकी अनन्त शक्तियाँ पर्याय मे एकसाथ उछलती हैं; तथापि विकारी परिणाम नहीं होते; क्योंकि विकारी परिणामों के अभावस्वरूप भगवान आत्मा का अकर्तास्वभाव है। सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायों के समुदाय को यहाँ आत्मा कहा है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के परिणाम कर्मकृत विकृत परिणाम हैं। वे ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणाम हैं और ज्ञानी उनके कर्तत्व से निवृत्त है अर्थात् ज्ञानी ज्ञातापने के अलावा कर्मकृत परिणामों का कर्ता नहीं है।

प्रश्न — ऐसा कहकर तो आप पुण्य को उड़ा रहे हैं ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – ऐसा नहीं है भाई ! इससे तो तुम्हारे निर्विकारी एक ज्ञायक-स्वभाव की ही प्रसिद्धि हो रही है; अतः अपने स्वभाव की महिमा लाकर प्रसन्न हो जा तथा ऐसे महिमावंत स्वभाव को समझने के काल में जो पुण्य बंधेगा, वो भी अति उत्कृष्ट होगा तथा निजस्वभाव को समझकर पुण्य-पाप का विच्छेद कर दे तो क्या बात है। तब तो वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त हो जायेगा और यही हमारा कर्तव्य व इष्ट है।

अहाहा ! धर्मी जीव अनन्तशक्ति के धारक भगवान आत्मा की अन्तर-दृष्टि करके उसका आश्रय लेता है तो राग के परिणाम से निवृत्तरूप होता है। ज्ञानी विकार में प्रवृत्तस्वरूप नहीं है; अतः उसे विकार का कर्तृत्व भी नहीं है। यह मार्ग अन्य मार्गों से बहुत भिन्न है भाई ! अहाहा ! जिसके फल में अनन्तकाल पर्यन्त अनन्तचतुष्टय प्राप्त होता है, उसकी प्राप्ति का उपाय भी नितान्त अनुपम है। वीतरागी परमात्मा का ऐसा लोकोत्तर मार्ग कोई महाभाग्यशाली ही प्राप्त करता है। परमार्थ से अनभिज्ञ लोग व्रत करो, दान करो, तप करो – इसप्रकार पुण्य करने के मार्ग को मोक्षमार्ग समझकर सन्तुष्ट हो जाते हैं; परन्तु यह मार्ग नहीं है बापू ! यह सभी पराश्रयरूप व्यवहार बंध का ही कारण है।

अहाहा ! धर्मी और ज्ञानी उसे कहते हैं, जो पराश्रयरूप व्यवहार और राग करने से निवृत्तरूप होता हुआ ज्ञानमय परिणाम से, आनन्दमय परिणाम से परिणमित होता है। जो आत्मा को राग का, व्यवहार का कर्ता मानता है; वह व्यवहारमूढ़ है, इसीकारण भगवान ने व्यवहार का आश्रय लेने का निषेध किया है। जिसप्रकार 'मैं पर को करता हूँ' – स्वपर की एकता से ऐसा मिथ्या अध्यवसाय बंध का ही कारण है; उसीप्रकार पराश्रित व्यवहार के भावों से मोक्षमार्ग होगा – ऐसी मान्यता भी मिथ्या है और बंध की ही कारण है। भाई ! यह भगवान के श्रीमुख से निकली हुई बात है, इसमें विरोध करने जैसा कुछ भी नहीं है।

धर्मी पुरुष व्यवहार के राग से निवृत्तरूप है। आत्मा परद्रव्य की क्रिया करे – यह बात तो छोड़ो; राग के, व्यवहार के परिणाम करने और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कराने से भी आत्मद्रव्य निवृत्तस्वरूप है जगत में प्रतिसमय सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य निरन्तर कर रहे हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं करता। ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता तो है ही नहीं, अपनी पर्याय में होनेवाले राग का भी कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञानी की दशा बहुत निराली है।

प्रश्न – परन्तु प्रवचनसार में तो नयों के अधिकार में उसे राग का कर्ता कहा है ?

उत्तर – हाँ, ज्ञानी को जितना राग है, उतना उसका वह ज्ञान अपेक्षा से कर्ता भी है। राग का परिणाम करने योग्य नहीं है। ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि से राग की प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि उसे कमजोरीवश जितना राग है, उतने राग का उसे कर्ता भी कहा है।

प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान शैली से कथन है और यहाँ दृष्टि के विषय की अपेक्षा से बात है, इसलिए यहाँ ज्ञानी को राग से निवृत्तस्वरूप बताया है तथा कर्तृत्वनय से उसे चारित्रमोह के उदयजन्य राग का कर्ता भी समझना चाहिए।

प्रवचनसार में तो ज्ञानी को राग को भोक्ता भी कहा है। ज्ञानी को भूमिकानुसार होनेवाले दुख का वेदन भी होता है। देखो ! राजा श्रेणिक आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। वर्तमान में नरक में हैं, क्षायिक समकिती हैं, जब वे वहाँ से निकलकर माता के गर्भ में आयेंगे, तब स्वर्ग से इन्द्र आकर उनका जन्मोत्सव मनायेंगे। इन्द्र भी क्षायिक समकिती हैं, एक ही भव में मोक्ष जावेंगे; तथापि भगवान की माता से कहते हैं कि हे जगत-जननी, रत्नकोखधारिणी ! आप इस बालक को अच्छी तरह सम्हाल कर रखना; क्योंकि यह बालक हमें संसार से पार उतारनेवाला एकमात्र जहाज है।

देखो, ऐसा भक्ति का राग क्षायिक समकिती इन्द्र को भी आता है; तथापि वह उस राग के विकल्प से निवृत्तस्वरूप ही परिणमित होता है। वह राग के विकल्प का मात्र ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। ज्ञानी आत्मा जड़

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की क्रिया का कर्ता तो है ही नहीं; साथ ही साथ भगवान के प्रति होनेवाले भक्ति-विनय के परिणाम का भी कर्ता नहीं है। ज्ञानी तो इन शुभ विकल्पों से भी निवृत्तस्वरूप है। इसप्रकार लोग अन्दर की बात समझे बिना व्रत, तप इत्यादि में उलझ रहे हैं, परन्तु ये सभी क्रियाएँ आत्मा के ज्ञान के बिना व्यर्थ ही हैं। इनके कर्तारूप से परिणमना मिथ्यादशा है। समकिती को शुद्धतारूप से अकर्तृत्व का परिणमन हुआ है और वह परिणमन राग की निवृत्तिरूप है, यही अनेकान्त है।

राग से धर्म होता है तथा स्वभाव के आश्रय से भी धर्म होता है – ऐसा मानना अनेकान्त नहीं है, स्याद्वाद नहीं है, यह तो फूदड़ीवाद है। आत्मा अपने निर्मल परिणाम का कर्ता है और राग के, व्यवहार के कर्तृत्व से निवृत्त है – यही सम्यक् अनेकान्त है।

प्रश्न – पंचास्तिकाय में जो व्यवहार साधन की बात कही है उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – हाँ, पंचास्तिकाय में भिन्न साधन-साध्य की बात आयी है; परन्तु वह तो बाह्य सहचर और निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है, वास्तव में भिन्न साधन-साध्य है नहीं। परमार्थ से दो साधन नहीं हैं; परन्तु शास्त्र में साधन का दो प्रकार से वर्णन अवश्य किया गया है। जिसप्रकार मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; परन्तु शास्त्र में मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से किया गया है। मोक्षमार्ग तो तीनों काल एक वीतरागभावस्वरूप ही है, उसके साथ होनेवाले शुभराग को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है; परन्तु है तो वह बन्ध का ही मार्ग। ज्ञानी तो उसके कर्तृत्व से भी निवृत्तस्वरूप ही है।

अहा! अकर्तृत्वशक्ति के साथ अकार्यकारणत्वशक्ति भी परिणमित होती है। शुभभाव कारण है और स्वानुभव कार्य – ऐसा नहीं है। निश्चय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान कारण हैं और व्यवहार का शुभराग कार्य है – ऐसा भी नहीं है। भाई! जिसप्रकार आत्मा राग का कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है। यह तो जैनदर्शन की अलौकिक बात है, धर्म कैसे होगा? यह समझने के लिए सर्वप्रथम ये सभी बातें जाननी होंगी, इन्हें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समझे बिना धर्म होना संभव नहीं है।

भाई ! शास्त्र में किस पद्धति से कहाँ क्या कहा है ? यह ठीक तरह से समझना चाहिए, अपनी मति कल्पना से उल्टा अर्थ करोगे तो दृष्टि ही विपरीत होगी और शास्त्र स्वाध्याय का सच्चा फल नहीं आवेगा, संसार परिभ्रमण ही रहेगा।

अहो ! एक-एक शक्ति का वर्णन करके आचार्यदेव ने समयसार स्वरूप शुद्धात्मा प्रसिद्ध किया है। यह जीव एक शक्ति को भी यथार्थ समझ ले तो अनादिकालीन जो विकार की गन्ध बैठ गयी है, वह निकल जायेगा। अहाहा ! एक-एक शक्ति जिस एक ज्ञायक को प्रसिद्ध करती है, वह निकल जायेगी। अहाहा ! एक-एक शक्ति जिस एक ज्ञायक को प्रसिद्ध करती है, उस ज्ञायक की दृष्टि होने पर और उसी में ठहरने पर विकार का अन्त हो जाये – ऐसी यह बात है। हे भाई ! विकार कोई मेरी चीज नहीं है, ऐसा जानकर विकार से भिन्न निजज्ञायकभाव की दृष्टि कर और उसी में ठहर, उसी में चरण कर; जिससे अन्तर में आत्मा का अकर्तास्वभाव प्रगट होगा। भवभ्रमण का नाश करने की यही रीति है। इसप्रकार यहाँ अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖❖❖

मुक्तिरूपी कार्य आवश्य प्रगट होता है

देव, गुरु, शास्त्र मुझसे भिन्न हैं और पुण्य-पाप के भाव भी मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञानादि अनन्तगुण का पिण्ड हूँ इसप्रकार जीव अपनी शक्ति की संभाल करता है सो उपादान कारण है और अपनी शक्ति उपादान है। यहाँ पर उपादान और उपादान कारण का भेद बताया गया है। उपादान त्रिकाली द्रव्य है और उपादान कारण पर्याय है। जो जीव उपादान शक्ति को संभाल कर उपादान कारण को करता है उसके मुक्तिरूपी कार्य अवश्य प्रगट होता है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – २

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२२. अभोक्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों के द्वारा किये गये एवं ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के अनुभव से उपशमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति है।

देखो ! यहाँ यह कहते हैं कि आहार, पानी एवं स्त्री इत्यादि का भोक्ता तो आत्मा है ही नहीं; ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न समस्त विकारीभावों का भी भोक्ता आत्मा नहीं है। ज्ञानी को भोग की आसक्ति का परिणाम होता है; परन्तु उस परिणाम के भोगने से ज्ञानी निर्वृत्तस्वरूप है। हर्ष-शोक, साता-असाता के जो परिणाम हैं, वे ज्ञानी के ज्ञाता परिणाम से जुदे ही हैं। ज्ञानी उनमें तन्मय नहीं होता है। अतः वह उनका भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है। देखो ! ज्ञानभाव के साथ यह अभोक्तृत्वस्वभाव का परिणमन। ज्ञानी की पर्याय में हर्ष-शोक आदि विद्यमान होने पर भी उसको उनका अभोक्तापन है। अहो ! यह तो स्वभावदृष्टि की कोई अद्भुत बात है। यह बात स्वभावसन्मुख हुए बिना समझ में नहीं आती।

दाल, भात, मिष्ठान्न पदार्थ जड़ हैं, रूपी अजीवतत्त्व हैं। अरूपी भगवान आत्मा इनका भोक्ता नहीं है। यह अज्ञानी जीव रूपी पदार्थ को देखकर ऐसा मानता और कहता है कि यह अच्छा है और यह बुरा है तथा मैं शरीरादि को भोगता हूँ, परवस्तुओं को भोगता हूँ; परन्तु यह मिथ्या मान्यता है; क्योंकि आत्मा परवस्तुओं को त्रिकाल नहीं भोग सकता। यदि आत्मा जड़ हो भोगे को वह भी जड़ हो जावेगा।

कोई धनवान सेठ हो, बहुत पुण्य के ठाठ के बीच खड़ा हो, रूपवान देह आभूषणों से लदा हो तथा घर में बंगला, बाग-बगीचा, मोटर इत्यादि करोड़ों की साहबी भरा वैभव हो – ऐसे धनाढ्य को देखकर अज्ञानी के

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुँह में पानी आता है कि अहा ! कैसी साहबी है, कैसे भोग हैं, यह सेठ कितना सुखी है। परन्तु भाई ! यह तो तेरी बहिर्दृष्टि है और मिथ्या है; क्योंकि जड़ पदार्थों को भोगनेवाला आत्मा नहीं है। सुख का एक अंश भी उन भोगों में से नहीं आता है।

यहाँ तो धर्मी जीव की बात है। उसे स्वरूप की दृष्टि होने पर आत्मज्ञान प्रगट हुआ है। अतः वह प्रगट अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता है। उसके किंचित् राग-द्वेष शेष हैं; परन्तु उस राग का वह भोक्ता नहीं है। अहा ! जिस काल में सिंह या सियार मुनिराज को फाड़कर खा रहे हैं, उस काल में भी वे निजानन्दरसलीन रहकर आनन्द के भोक्ता हैं। उन्हें उस काल में किंचित् दुःख का परिणाम होता है; परन्तु वे उसके भोक्ता नहीं हैं; क्योंकि उनके अन्दर अभोक्तास्वभाव प्रगट हुआ है। अज्ञानी को अनादि से देह में एकत्वबुद्धि है; अतः उसे ज्ञानी का अन्तरंग परिणमन ख्याल में नहीं आता है।

प्रश्न – यदि ज्ञानी राग को नहीं भोगता है तो उस राग को कौन भोगता है ?

उत्तर – राग को रागी भोगता है। राग का परिणाम भी अपने षट्कारक से पर्याय में होता है और रागी जीव उसमें तन्मय होकर परिणमता है। चूंकि ज्ञानी उसमें तन्मय नहीं होता; इसकारण वह राग का भोक्ता नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि राग का भोक्ता तो जीव त्रिकाल में नहीं है; परन्तु उससे राग के भोगने से भी उपरमस्वरूप जीव का स्वभाव है। अतः स्वभावनियत ज्ञानी पुरुष राग का भोक्ता नहीं है।

एक बार एक पण्डितजी कहने लगे कि जो जीव को परद्रव्य का कर्ता नहीं मानता है, वह दिगम्बर नहीं है। उनसे हमने कहा कि अरे भाई! तुम यह क्या कहते हो ? केवली के अनुयायी महान दिगम्बर आचार्य क्या कहते हैं कि 'आत्मा राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है। तब पर के कर्ता-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भोक्तापने की बात ही कहाँ रही ? अरे भाई ! स्वभाव की दृष्टिवाले को तो एक निजानन्द का ही भोग है। वह रागादि के भोगने से सदा उपरमस्वरूप है। आत्मा जड़ को भोगे तो जड़ हो जाय, राग को तन्मयता से भोगे तो बहिरात्मा हो जाये; अतः ज्ञानी पुरुष निजस्वभाव से निसृत अपने ज्ञानानन्द निर्मलभाव को ही भोगते हैं और यही शोभास्पद है। इसी में आत्मा की आत्मारूप में प्रसिद्धि है और इसी में अन्य सभी भावों का अभोक्तापना है। भाई ! यदि तुझे यह बात समझ में न आवे तो हम क्या करें? मार्ग तो ऐसा ही है।

अरे भाई ! एक बार इस शरीरादि का मोह छोड़कर, आत्मा की जिज्ञासा उत्पन्न कर, अन्दर स्वरूप में डुबकी तो लगा। तुझे अन्दर कोई अचिन्त्य निधान दिखेगा। यह देह तो हाड़-मांस-चमड़े का, मिट्टी का ढेला है। यह सभी बाग-बंगला-मोटर आदि भी धूल ही धूल है। इनसे तुझे क्या फायदा है ? इनके लक्ष से तो तुझे राग और दुःख ही होगा और यह राग को भोगने की दृष्टि तुझे अनन्त जन्म-मरण करायेगी। कालकूट सर्प का जहर तो एकबार मरण कराता है; परन्तु यह उल्टी दृष्टि का जहर अनन्त बार मरण करावेगा। हे भाई ! अनन्त सुखनिधान निज चैतन्यस्वरूप को जानकर उसके अनुभव का प्रयास कर। यही तुझे अनन्त जन्म-मरण से निकालकर परम सुख की प्राप्ति करायेगा।

ज्ञानी को किंचित् आसक्ति का परिणाम होता है, परन्तु उसे उसकी रुचि नहीं है। उसमें उसे सुखबुद्धि नहीं है। ज्ञानी को निज चैतन्यस्वभाव का भान होने से वह राग के परिणाम का भोक्ता नहीं होता। अहाहा ! ज्ञानी चैतन्य चिदानन्दमय एक ज्ञायकभाव की आसक्तिरूप परिणाम के भोगने से निवृत्तस्वरूप है। भाई ! यह बहुत धैर्य से समझने की बात है। यह तो धर्मकथा है बापू !

देखो, भरतचक्रवर्ती क्षायिक समकिती थे। उनका छह खण्ड का राज्य था, छियानवे हजार रानियाँ थीं। उनको भोगने की आसक्ति का परिणाम भी उन्हें था; तथापि उस काल में वे ज्ञाता-दृष्टा परिणाम के ही

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोक्ता थे। उन्हें विकार का विषैला स्वाद नहीं आता था। अरे भाई ! ज्ञाता-दृष्टा रूप परिणाम स्वयं विकार के अभोक्तृत्वस्वरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव नरक के बहुत प्रतिकूल संयोग में होता है, उसे किंचित् आकुलता का परिणाम होता है, फिर भी वह आकुलता को नहीं भोगता है। वह तो स्वभाव की दृष्टि के बल से अन्तर में निर्मल सुख को भोग रहा है। कहा भी है –

बाहिर नारकीकृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीत लगति है अटापटी।।

अहाहा ! सम्यग्दृष्टि की परिणति बड़ी अटपटी है। श्रेणिक राजा का जीव नरक में भी अभी निराकुल आनन्दरूप परिणाम का ही भोक्ता है अर्थात् वह दुःख और प्रतिकूलता को बाह्य वस्तु जानकर उसे भोगने से निवृत्तस्वरूप ही परिणम रहा है।

अज्ञानी तो कोई न कोई बहाना बनाकर तत्त्व से विमुख हो रहा है। वह पूरे दिन पाप-पंक में लिप्त हो रहा है। कब निवृत्त होगा और कब तत्त्व समझेगा – इस तरह यह जीवन चला जा रहा है। भाई ! इसके बाद कहाँ जायेगा ? कहाँ जन्म लेगा ? – इन सबका विचार तो कर।

यहाँ कहते हैं कि अनन्तगुण निधान प्रभु आत्मा में ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न एवं विकारी परिणाम के भोगने में निवृत्तस्वरूप त्रिकाल अभोक्तपन है। ऐसे स्वभाव को अन्तरलक्ष कर स्वीकार करने से पर्याय में भी अभोक्तागुण का परिणमन भोक्ता नहीं होता है। भाषा तो सरल है; पर भाव गंभीर है। अहा ! ज्ञानी को अभोक्तृत्वशक्ति का भान होने पर पर्याय में अभोक्तापन प्रगट हुआ है और वह राग के, विकार के परिणाम का भोक्ता नहीं है। इसी का नाम धर्म है।

इसप्रकार यहाँ अभोक्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३. निष्क्रियत्वशक्ति

सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों के अभाव से प्रवर्तित होनेवाली आत्मप्रदेशों की निष्पंदता स्वरूप, अकंपतास्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है।

जब समस्त कर्मों का अभाव होता है, तब आत्मप्रदेशों का कंपन मिट जाता है; अतः ऐसा कार्य करनेवाली निष्क्रियत्वशक्ति भी आत्मा में है।

त्रिकाली एक ज्ञायकमात्र भगवान आत्मा का आश्रय करने पर ज्ञानी की पर्याय में समस्त (पूर्ण) द्रव्य और उनके अनन्त गुणों का ज्ञान होता है, तभी पर्याय में सर्व गुणों की एकदेश प्रगटता होती है। अक्रमवर्ती अनन्तगुण-मय प्रभु आत्मा तथा उसकी निर्मल पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। उन अक्रम-वर्ती गुण और क्रमवर्ती पर्यायों का समुदाय आत्मा है। यहाँ विकारी पर्याय की बात नहीं की है;क्योंकि विकार शक्ति का या गुण का कार्य नहीं है। अनन्त शक्ति के धारक सामान्य ध्रुव एक स्वभावभाव, एक ज्ञायकभाव के ऊपर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं और तब आत्मा में निष्क्रियत्व सहित अनन्तगुण पर्याय में एकदेश प्रगट होते हैं। ज्ञानभाव की प्रकटता के साथ अनंत शक्तियाँ एकसाथ उछलती हैं।

देखो! पहले अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्ति का वर्णन किया है, वहाँ ऐसा कहा है कि समस्त कर्मों के द्वारा किये गये एवं ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के करने और भोगने के अभावस्वरूप अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व-शक्ति है। यहाँ इस निष्क्रियत्वशक्ति के वर्णन में कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव तो स्थिर-अकंप-निष्क्रियत्व है। प्रदेशों का कंपन तो कर्मनिमित्त से हुआ औदयिकभाव है, वह स्वभावभाव नहीं है। स्वरूप के आश्रय से सर्वकर्मों का अभाव होने पर चैतन्यप्रभु पूर्ण स्थिर-अक्रिय होता है और वह अक्रियत्व आत्मा का स्वभाव है तथा उसकी पर्याय में प्रगटता होती है।

समकिती धर्मी को भी इस स्वभाव की एकदेश व्यक्तता होती है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी को दृष्टि में कर्मनिमित्त के संबंधरहित एक अकंप चिदानन्दस्वभाव ही वर्तता है और उसके कर्मकृत कंपन सहित सभी भावों का दृष्टि-अपेक्षा अभाव है।

यद्यपि साक्षात् कंपनपना तो चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है; तथापि चौथे गुणस्थान के क्षायिक समकिती जीव को भी निष्क्रियत्वशक्ति का अंश व्यक्त होता है। आस्रव-अधिकार में १७६ वीं गाथा के भावार्थ में यह बात आयी है। वास्तव में तो जब अपना पूर्णानन्दस्वरूप त्रिकाली द्रव्य प्रतीति और अनुभव में आता है; तब प्रत्येक चतुर्थगुणस्थानवर्ती समकिती की पर्याय में एकदेश निष्पंदतारूप परिणमन होता है अर्थात् निष्क्रियत्व-शक्ति का एक अंश पर्याय में व्यक्त होता है। श्रीमद्राजचन्दजी ने भी 'सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व' – इसप्रकार सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर अविनाभावीरूप से सभी गुणों का अंश प्रगट होता है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पण्डित श्री टोडरमलजी कहते हैं कि 'इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट होते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में वे सर्वथा प्रगट होते हैं।' देखो! ऐसा नहीं कहा कि – ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुणों का एक अंश प्रगट होता है; परन्तु चतुर्थ गुण-स्थान में ज्ञानादि समस्त गुणों का एकदेश प्रगट होना बताया है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आत्मा के ज्ञानादि सर्व गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से पर्याय में परिणमित होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

आत्मा की एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य है। एक-एक शक्ति में अनन्त शक्तियों का रूप है, जिससे निष्क्रियत्वशक्ति द्रव्य-गुण में त्रिकाल व्यापक है। त्रिकाली द्रव्य का भान होने पर निष्क्रियत्वशक्ति पर्याय में भी व्यापक होती है। इसप्रकार निष्क्रियत्वशक्ति का अयोगपनारूप अंश चौथे गुणस्थान के समकिती को पर्याय में प्रगट होता है। चार अघातिकर्मों का नाश होने पर जो प्रतिजीवी गुण प्रगट होते हैं, उनका भी एक अंश चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में यह बात स्पष्ट करते हुए कहा है कि हे भाई! तुमने तीन उदाहरण लिखे अथवा उदाहरण द्वारा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न लिखे; परन्तु दृष्टांत सर्वांग नहीं मिलता है। दृष्टांत तो एक खास प्रयोजन दर्शाता है। यहाँ दोज़ का चन्द्र, जलबिन्दु, अग्निकण तो एकदेश हैं और पूर्णिमा का चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड ये सर्वदेश हैं। इसी-प्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट होते हैं तथा वे ही तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण प्रगट होते हैं।

यहाँ चन्द्रमा का दृष्टांत सर्वांग लागू नहीं पड़ता। जिसप्रकार चन्द्रमा का थोड़ा भाग व्यक्त है तथा शेष भाग में आवरण है; उसीप्रकार यहाँ सिद्धान्त में लागू नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण द्रव्य ख्याल में आता है तथा पर्याय में असंख्य प्रदेश और अनन्त गुणों का एक अंश प्रगट होता है। चन्द्रमा का अमुक भाग खुला है और शेष भाग में आवरण है। यह दृष्टान्त इस सिद्धान्त में सर्वांग लागू नहीं होता। भगवान आत्मा के असंख्यप्रदेश के क्षेत्र में अनन्तगुणों का निधान पड़ा है। वे अनन्तगुण सम्पूर्ण क्षेत्र में, असंख्य प्रदेश में व्यापक हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर उन ज्ञानादि गुणों का अंश व्यक्त न हुआ हो – ऐसा नहीं है। चार प्रतिजीवी गुण तथा इस निष्क्रियत्वशक्ति का भी पर्याय में एक अंश प्रगट होता है। अहा! ऐसा अलौकिक सम्यग्दर्शन है।

समयसार की ११ वीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है, उसमें कहा है कि –

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।

ऋषिवरों ने ऐसा बताया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

भूतार्थ, त्रिकाल सत्यार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप निज आत्मद्रव्य है, उसका आश्रय लेने पर पर्याय में, असंख्यप्रदेशों में अनंतगुणों का अंश प्रगट होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

देखो! आस्रव अधिकार की १७६ वीं गाथा के भावार्थ के दूसरे पेराग्राफ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबंधी कषाय का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उदय न होने से उसे उसप्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी भी बन्ध नहीं होता। (क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा तत्संबंधी अविरति और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है; इसलिए उसे उसप्रकार का बंध नहीं होता...............)

यहाँ यद्यपि क्षायिक सम्यग्दृष्टि की बात है; परन्तु प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में निष्क्रियत्व का एक अंश पर्याय में प्रगट होता है – ऐसा इसका आशय है। अहो ! यह बात अद्भुत, अलौकिक, सूक्ष्म और गम्भीर है। चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादिगुण सर्वदेश प्रगट हुए हैं – इन दोनों की एक जाति है – ऐसा समझना चाहिए – ऐसा कहकर पण्डित श्री टोडरमलजी ने अद्भुत रहस्य खोल दिया है। भाई ! यह बात सर्वज्ञ के मार्ग के अलावा अन्य कहीं नहीं है।

बाहर में धन-लक्ष्मी का भण्डार पुण्योदय से ही मिलता है। इसमें कोई होशियारी काम नहीं आती। जिसने अपना ज्ञान अन्दर में विराजमान अनन्तगुणनिधानरूप चैतन्यलक्ष्मी से भरे आत्मा में लगा दिया है, उसके असंख्यप्रदेशों में स्थित अनन्तगुणों का एक अंश पर्याय में व्यक्त हो जाता है। अहाहा ! शक्तियाँ द्रव्य-गुण में तो व्यापती ही हैं तथा पर्याय में भी व्यापती हैं; क्योंकि प्रत्येक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। यह द्रव्यानुयोग का कथन बहुत सूक्ष्म है बापू ! जब निज पूर्ण सत् की प्रतीति होती है, तब सर्व गुणों का एक अंश समकिती धर्मी को चौथे गुण-स्थान में प्रगट हो जाता है।

अरे ! अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की लोगों को खबर नहीं है। थाने से एक भाई आया, उसने यहाँ के स्वाध्याय मन्दिर की दीवाल के ऊपर लिखी पंक्ति पढ़ी कि 'द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। उसे देख वह बोला "महाराज ! जो द्रव्यदृष्टि है, वही सम्यग्दृष्टि है – ऐसा यहाँ लिखा है तो क्या द्रव्य दृष्टिवाले अर्थात् पैसे वाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं।" यहाँ द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मद्रव्य है, अनन्तगुणनिधानरूप परमार्थ वस्तु है। गुण अर्थात् उसका त्रिकाली भाव-स्वभाव। पर्याय अर्थात् गुणों के परिणमनरूप दशा। द्रव्य-गुण-पर्याय का यही अर्थ है। जैनकुल में जन्म लेने पर भी इस जीव को जैन-धर्म की कुछ खबर नहीं है। रुपया, पैसा तो जड़ हैं बापू! उन्हें अपना मानने से आत्मा के जड़त्व का प्रसंग आता है; क्योंकि जड़ का स्वामी जड़ ही होता है। जिसप्रकार भैंस का पति पाड़ा होता है, उसीप्रकार पैसा और राग का स्वामी जड़ है, चेतन नहीं। निर्जरा अधिकार की २०८वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि –

"यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो और मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ और जो अजीव का स्वामी होगा वह वास्तव में अजीव ही होगा। इसप्रकार अवशतः (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही है। जो 'स्व' है, उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।"

कुछ लोग यह बात जानकर व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा एकान्त से मानते हैं; परन्तु यह सम्यक् एकान्त है भाई! तुम सही न समझने से विरोध की बात करते हो; परन्तु यही परमार्थ सत्य है। अहाहा! अपना स्वरूप अन्दर में त्रिकाल ध्रुव एक सच्चिदानन्दमय है। उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में वीतरागी शान्ति प्रगट होती है। स्वरूप का भान होने पर अनन्तगुणों में निर्मलता का अंश प्रगट होता है। आनन्द गुण का अंश प्रगटता है। उसके साथ वीर्यगुण का अंश भी प्रगट होता है। वीर्य अर्थात् स्वरूप की रचना करनेवाला। राग की रचना करना वीर्य का कार्य नहीं है। राग करना तो नपुंसकता है। जिसप्रकार नपुंसक से संतानोत्पत्ति नहीं होती; उसीप्रकार राग से धर्म की प्रजा (सन्तान) नहीं होती।

मोक्षमार्ग बहुत सूक्ष्म है। भाई! बाह्य पदार्थों से तेरा क्या संबंध है। अरे! शुभराग का विकल्प भी दुःखदायक है। भाई! तुझे अपनी खबर नहीं है भगवान! तुम स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी हो। तुम्हें तो प्रतिक्षण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आनन्दानुभूति होना चाहिए, पर उसके बदले तू राग और दुःख के वेदन में फंस गया है। दुःख और राग के अभाव स्वभाववाले भगवान! तुम स्वयं असंगमूर्ति, चैतन्यमूर्ति हो। अहा! तुम ऐसे निज आनन्दस्वरूप के समीप कभी गये नहीं। राग के संग में रुक गये हो। राग के रंग में रंग गया है। भाई! तू इसतरह प्रतिपर्याय में अनन्त दुःखी है। शुभोपयोग को तुम मोक्ष का साधन मानते हो; पर यह तुम्हारा अज्ञान है। धर्मी को जितने अंश में अकंपदशा प्रगट हुई है, उतने अंश में उसे शुभोपयोग का अभाव है; अतः वह शुभोपयोग धर्म का साधन कैसे हो सकता है ? शुभराग धर्म का साधन त्रिकाल नहीं है।

अकर्तृत्वशक्ति में समस्त कर्मकृत परिणामों के करण के उपरम की बात की थी। जिसप्रकार विकारी भाव कर्मकृत परिणाम हैं तथा उनके करण के उपरमस्वरूप अकर्तृत्वशक्ति है; उसीप्रकार अकंपस्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति की विकृत अवस्था कंपनरूप परिणाम है। वह कर्मकृतदशा है। वास्तव में सर्वकर्म के अभाव से प्रवर्तित होनेवाली अकंपतारूप निष्क्रियत्वशक्ति आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है।

अहा! इस टीका में तो बहुत माल भरा है बापू!

भगवान आत्मा चैतन्यरत्नाकर प्रभु है। उसकी पर्याय में जो कम्पन होता है, वह कर्मकृत है, आत्मा का स्वभाव नहीं है और उसका कर्ता भी आत्मा नहीं है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती धर्मी को जितने अंश में अकंपरूपरदशा प्रगट हुई है, उतने अंश में कंपदशा का अभाव है। यहाँ कहते हैं कि निष्क्रियत्वशक्ति के परिणमन में जितनी अकंपता हुई है, वह आत्मद्रव्य की पर्याय है तथा कर्म के निमित्त से होनेवाली जितनी कंपदशा है, उसका अकंपनदशा में अभाव है। ज्ञानी को जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसमें व्यवहार का अभाव है। यही अनेकान्त और स्याद्वाद है। निष्कंपशक्ति का परिणमन सद्भावरूप है, उसमें समस्त कर्म का अभाव है। यह मार्ग अतिसूक्ष्म है भाई! लोगों को इसका अभ्यास नहीं है। लोग बाह्य संसार में रखड़ते हुए लौकिक अभ्यास में जीवन व्यतीत कर रहे हैं; पर ऐसे तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिन्दगी व्यर्थ में चली जायेगी भाई !

अहाहा ! अनन्त महिमानिधान प्रभु आत्मा है। यथार्थ में इसकी महिमा भासित हो तो क्या कहना ? समयसार नाटक में जीवनट की महिमा बताई है। वहाँ कहा है कि "जीवरूपी नट की सत्ता में अनन्तगुण हैं, प्रत्येक गुण में अनन्त पर्यायें हैं। प्रत्येक पर्याय में अनन्त नृत्य हैं, प्रत्येक नृत्य में अनन्त खेल हैं, प्रत्येक खेल में अनन्त कलायें हैं और प्रत्येक कला की अनन्त आकृतियाँ हैं। – इसप्रकार जीव बहुत ही विलक्षण नाटककार है। पण्डितश्री दीपचन्दजी ने भी शक्ति के वर्णन में बहुत महिमामय कथन किया है। अहाहा ! जो ऐसे निज चैतन्यमात्र आत्मा की महिमा जानकर अन्तर सुख परिणमे, उसकी महिमा का क्या कहना ? इस अन्तर सन्मुखता से तो जीव सर्व कर्मों का अभाव करके पूर्ण निष्क्रिय-निष्कंप, अभूतपूर्व सिद्धपद को पाता है।

एक दूसरा न्याय यह है कि जो शुभभाव है, उसमें शुद्धता का अंश गर्भित है। जिसप्रकार ज्ञान का अंश बढ़कर केवलज्ञान बन जाता है; उसीप्रकार शुभभाव में जो शुद्धता का अंश है, वह बढ़कर यथाख्यातचारित्र हो जाता है।

प्रश्न – यदि शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश न हो तो क्या शुभराग बढ़कर यथाख्यातचारित्र प्रगट कर सकता है ?

उत्तर – नहीं ! ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। अतः शुभोपयोग में गर्भित शुद्धता रहती है, यह सहज ही सिद्ध होता है।

यह बात ठीक है; लेकिन जिसने मिथ्यात्व नामक ग्रन्थि का भेद किया है, उसके शुभभाव में शुद्धता गर्भित है, वही शुद्धता बढ़कर यथाख्यात -चारित्र के रूप में प्रगट होती है। ज्ञान की शुद्धि के बढ़ने के साथ ही साथ चारित्र की भी शुद्धता बढ़े – ऐसा नहीं है। यह बात पण्डित श्री बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त की चिट्ठी में कही है। वहाँ कहा है कि विशेष इतना है कि जो गर्भित शुद्धता है, वह प्रगट शुद्धता नहीं है। जबतक ग्रन्थिभेद नहीं होता है, तबतक दोनों गुणों की गर्भित शुद्धता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग नहीं साधती; परन्तु जीव को ऊपर अवश्य ले जाती है। जब ग्रन्थिभेद होता है, तब इन दोनों की शिखा फूटती है और तब ये दोनों गुण धाराप्रवाहरूप से मोक्षमार्ग की तरफ चलते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी परमार्थवचनिका के अन्त में कहते हैं कि 'तत्त्व वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत है; इसकारण ज्यादा क्या लिखें। जो ज्ञानी होगा, वह थोड़ा लिखने पर भी बहुत समझेगा और जो अज्ञानी होगा, वह इस चिट्ठी को सुनेगा तो जरूर, पर समझेगा नहीं। यह वचनिका जैसी है, वैसी यथायोग्य बुद्धिप्रमाण केवली के वचनानुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा, इसका श्रद्धान करेगा, उसका उसकी भूमिकानुसार कल्याण होगा।''

अहा ! देखो तो जरा ! इसकाल में केवलज्ञानी तो हैं नहीं और पण्डितजी विदेह में भगवान के समक्ष तो गये ही नहीं थे, फिर भी उनकी वाणी में तत्त्व का कितना जोर है। इसका एकमात्र कारण यह है कि सम्यग्दर्शन होने पर ऐसी दृढ़ता स्वयमेव आ जाती है। पण्डितजी कहते हैं कि हम विदेह में भगवान के पास नहीं गये तो क्या हुआ, हम अपने भगवान आत्मा के पास तो गये हैं, उसके बल से अति दृढ़ता के साथ हम यह कहते हैं कि हमारी बात केवली के वचनानुसार है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती धर्मी जीव की वाणी हो अथवा पाँचवे या छठवे गुणस्थानवर्ती संतों की वाणी हो, उनके तत्त्वज्ञानसंबंधी समस्त कथन केवली के वचनानुसार ही हैं। उनमें कोई फर्क नहीं होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में समकिती जीव को निष्क्रियत्वशक्ति की निष्कंप-दशा आंशिकरूप से प्रगट हुई है। अहाहा ! यदि मेरु हिले तो उसके प्रदेश हिलें; पर ऐसा तो होता नहीं, इसीप्रकार ऐसी अविचल निष्कंपदशा का एक अंश ज्ञानी की पर्याय में प्रगट होता है। उसमें कर्मनिमित्तक कंपन का अभाव है। निष्कंपपर्याय क्रमवर्ती प्रगट होती है और गुण अक्रम से रहते हैं। उन क्रम और अक्रम के समुदाय को आत्मा कहा जाता है। आत्मा के स्वभाव में तो अकंपपना, अक्रियपना त्रिकाल है। ज्ञानी की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय में आंशिकरूप से ऐसा अकंपना व्यक्त होता है। पर्याय में जितनी कंपदशा शेष है, उसका इस अकंपदशा में अभाव है।

शास्त्र में चौदहवें गुणस्थान में जो अकंपदशा कही है, वह पूर्ण अकंपता की अपेक्षा से है तथा इसीकारण तेरहवें गुणस्थान में सयोगदशा कही गई है। समकिती को धर्म प्रगट होने से उसकी दृष्टि में सर्वकर्म का अभाव है, निष्कंपपर्याय में कर्म का अभाव है तथा कर्म के निमित्त से जो कंपन शेष है; उसका भी अकंपनदशा में अभाव है। अहो! दृष्टि का विषय अतिसूक्ष्म है भाई! अहा! दिगम्बर संतों के अलावा यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल कंपन का अभाव है ही, साथ ही सम्यग्दृष्टि की पर्याय में भी आंशिकरूप से अकंपनदशा प्रगट हो जाती है। यहाँ कोई कहता है कि इसप्रकार तो आपने सभी को निष्कंप बना दिया, निष्कंप सिद्ध कर दिया।

उससे कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा निष्कंपस्वरूप ही है भाई! निष्कंपता, निष्क्रियता तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है। सक्रियता, कंपन आदि आत्मा का स्वरूप नहीं है। अहाहा! त्रिकाल निष्क्रिय एक ज्ञायकभाव -रूप निज आत्मद्रव्य का अनुभव होने पर पर्याय में अकंपपने का परिणाम होता है। जिसप्रकार अकंपपना कारण और कंपन उसका कार्य – ऐसा नहीं है; उसीप्रकार कंपन कारण और अकंपन उसका कार्य – ऐसा भी नहीं है। साधकदशा में कंपन है जरूर; पर अकंपनरूप जो परिणमन हुआ, उसमें कंपन का अभाव है। जो शुद्धोपयोग है, उसमें अशुद्धोपयोग का अभाव है। ऐसी आत्मदृष्टि करके निष्कंप होने का यह मार्ग है भाई!

भगवान! तुझमें अनन्त गुण भरे हैं, उनमें एक अकंपन गुण है, इस अकंपनगुण का अनन्तगुणों में रूप है; अतः सभी गुण अकंपनस्वरूप हैं। कोई भी गुण कम्पित नहीं होता। शास्त्र में एक जगह यह बात आती है कि ज़ो योग का कंपन है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त नहीं है; क्योंकि कंपन में यदि धर्मास्तिकाय को निमित्त मानें तो अकंपन में अधर्मास्तिकाय को निमित्त मानना पड़ेगा; परन्तु ऐसा है नही; अतः कंपन में धर्मास्तिकाय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्त नहीं है। धर्मास्तिकाय तो गति में निमित्त है और कंपन तो कर्मकृत औपाधिक भाव है। यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई ! कोई प्रबल पुरुषार्थी जीव ही इसे पाता है।

राग में रचे-पचे कायर पुरुषों को यह वीतराग का मार्ग प्राप्त नहीं होता।

अहो ! दिगम्बर सन्तों ने पंचमकाल में अमृत की धारा बरसाया है। एक-एक शक्ति में कितना माल भरा है बापू ! यहाँ तो क्रम से बात चलती है; पर मुनिवरों के क्षयोपशम और अन्तरदशा की बात ही कुछ और है। अहाहा ! केवली भगवान के ज्ञान में यह बात आई और तीन ज्ञान के धनी, एक भवावतारी इन्द्रों ने यह बात सुनी है। यहाँ तो अनेकान्त सिद्ध किया है कि अकंपशक्ति के परिणमन में जो अकंपपना प्रगट हुआ है, उसमें कर्म और कर्मकृत कम्पन का अभाव है। अकंपनदशा भावरूप है और उसमें कंपन का अभाव है। अकंपन भी है और कंपन भी है – ऐसा द्वैत स्वानुभव की, स्वरूप की दृष्टि में है ही नहीं। वास्तव में आत्मा में कंपन है ही नहीं।

ऊपर आया है कि क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्तीगुणों का समुदाय आत्मा है। यहाँ क्रमवर्ती पर्याय में निर्मलता के क्रम की बात है। अक्रमवर्ती गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं ही। उनकी क्रमवर्ती अकंपन की दशा भी निर्मल है। कंपन आत्मा की चीज है – यह बात यहाँ स्वीकारी ही नहीं है; क्योंकि कंपन आत्मस्वभाव का कार्य नहीं है। ज्ञानानुभूति में ज्ञानी को कंपन का अनुभव नहीं होता। अहाहा ! कंपनरहित अकंपस्वभावी निष्क्रिय प्रभु आत्मा है तथा सर्वकर्मों का नाश होने पर आत्मा का अकंपस्वभाव साक्षात् प्रगट होता है। सिद्धदशा में वह सादि-अनन्त, अविचल-स्थिर रहता है तो हे भाई ! अपने त्रिकाली एक निष्क्रिय ज्ञानस्वभाव को तो देख, जिससे तेरी अनन्त शक्तियों का निर्मल परिणमन होकर, पर्याय में कंपदशा छूटकर तुझे सादि-अनन्त अकंपरूप पूर्ण सिद्धदशा प्रगट होगी।

इसप्रकार यहाँ तेइसवीं निष्क्रियत्वशक्ति पूरी हुई। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२४. नियतप्रदेशत्वशक्ति

आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिणामावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणानियतप्रदेशत्वशक्तिः।

जो अनादि संसार से लेकर संसार अवस्था में संकोच-विस्तार से लक्षित है और जो चरम शरीर के परिणाम से कुछ न्यून परिणाम से अवस्थित होता है, ऐसा लोकाकाश के माप जितना आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है, ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति है। (आत्मा के लोकपरिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही हैं, वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोचविस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम परिमाण से स्थित रहते हैं।)

आत्मा का क्षेत्र शरीरप्रमाण है; परन्तु उसकी शक्ति असीमित अनन्त है। अहाहा! संख्या में शक्तियाँ अनन्त हैं और एक-एक शक्ति की सामर्थ्य भी अमाप अपरिमित अनन्त है। देखो! लोकाकाश के सभी ओर आकाश का अनन्त-अनन्त विस्तार है। इस आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। प्रदेश का अर्थ यह है कि एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरता है, उतना क्षेत्र एक प्रदेश है। आकाश के ऐसे अनन्त-अनन्त प्रदेश हैं और उनसे अनन्त गुणे एक जीवद्रव्य में त्रिकाल गुण विद्यमान हैं। भाई! स्वभाव का क्षेत्र के विस्तार से संबंध नहीं है। स्वभाव में तो उसकी अनन्त शक्ति का महत्त्व है। एक-एक जीव में ऐसी अनन्त सामर्थ्ययुक्त त्रिकाली अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें से यहाँ नियतप्रदेशत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है।

प्रत्येक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय में त्रिकाल व्यापक है और अपने त्रिकाली शुद्धद्रव्य की दृष्टि होने पर वे पर्याय में व्याप्त होती हैं। यह जीव स्वयं चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका स्वीकार और सत्कार होने पर 'मैं त्रिकाली सत् हूँ' – ऐसी प्रतीति होकर पर्याय में उसका परिणमन होता है, पर्याय में उसका स्वाद आता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा की एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य है। एक-एक शक्ति की अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार अनन्त शक्तियों की उत्पाद-व्ययरूप क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणों का समुदाय आत्मा है। प्रत्येक शक्ति सहज-भावरूप पारिणामिक भाव में है। उसका भान होने पर क्रमवर्ती निर्मल पर्याय प्रगट होती है। वह पर्याय औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव रूप अथवा क्षायिकभावरूप है; औदयिकभाव का उसमें अभाव है। इस शक्ति के आधिकार में विकारी भाव की बात ही नहीं ली है; क्योंकि विकार कोई शक्ति का कार्य नहीं है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ अक्रम से त्रिकाल हैं; उनमें एक नियत-प्रदेशत्वशक्ति भी त्रिकाल है अर्थात् आत्मा के क्षेत्र में असंख्य प्रदेश नियत हैं। अहाहा! जिस क्षेत्र में चैतन्य के अनन्त गुण प्रकाशित होते हैं, आत्मा के उन प्रदेशों की संख्या नियत (निश्चित) है। यहाँ असंख्य प्रदेशों को नियत कहा है, अन्यथा असंख्य प्रदेशों को व्यवहार से कहा जाता है। पंचास्तिकाय की ३२ वीं गाथा की टीका में जीव का क्षेत्र एकप्रदेशवाला कहा है। वहाँ कहा है कि जीव वास्तव में अविभागी एकद्रव्यपने के कारण लोकप्रमाण एकप्रदेशवाला है। इसकी क्या अपेक्षा है? इसकी अपेक्षा यह है कि असंख्य प्रदेश के भेद का निषेध करके जीव को अविभागी एकद्रव्य-पने के कारण लोकप्रमाण एकप्रदेशी कहा है। असंख्यप्रदेश एकद्रव्यमय, अभेद, एकरूप हैं – वहाँ यह बात ली है और यहाँ यह बताया गया है कि जो प्रदेशों की संख्या है, वह त्रिकाल नियत है, उसमें घट-बढ़ नहीं होती है; अतः वे असंख्य प्रदेश त्रिकाल नियत हैं। इसप्रकार पंचास्तिकाय में एकप्रदेशी जीवद्रव्य कहा और यहाँ नियत-असंख्य प्रदेशी जीवद्रव्य कहा – इन दोनों कथनों में विरोध नहीं है, बल्कि अविरोध है, मात्र विवक्षाभेद है। अपेक्षा से दोनों कथन बराबर हैं।

२४२ वें कलश की टीका में ऐसा कहा है कि असंख्य प्रदेश एकरूप हैं और उनमें भेद करना व्यवहार है। वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की बात है तथा एकरूप वस्तु को सर्वद्रव्य कहा है। तथा 'यह द्रव्य है और यह गुण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है' – ऐसा भेद करने को परद्रव्य कहा है। असंख्य प्रदेश एकरूप हैं – यह स्वक्षेत्र है और उसमें 'यह प्रदेश, यह प्रदेश – ऐसा भेद करके लक्ष में लेने को परक्षेत्र कहा है। भगवान आत्मा त्रिकाली द्रव्य भूतार्थ अभेद एकाकार स्वकाल है और पर्याय का भेद करके उसके ज्ञान करने को परकाल कहा है। अनन्त शक्ति या अनन्तस्वभावरूप जो एक भाव है, वह स्वभाव है। तथा एक-एक शक्ति का भेद करके लक्ष्य में लेने को परभाव कहा है। यह बात जरा धीरज रखकर ध्यान से सुन ले तो समस्त मिथ्या-आग्रह मिट जावें – ऐसी यह बात है भाई! यह कल्पित बात नहीं है बापू! यह तो भगवान केवलियों के प्रवाह से चली आ रही वाणी है। भेद को छुड़ाकर,अभेद को पकड़ने के पुरुषार्थ को जगानेवाली यह वाणी है भाई! भेद तो अभेद को समझने के लिए है, पर भेद दृष्टि का विषय नहीं है।

अहाहा! आत्मा अनन्त गुणस्वभाव का एकरूप चैतन्य स्वयंभू भगवान है। जिसप्रकार इस मध्यलोक में स्वयंभूरमण नाम का अन्तिम समुद्र है। उसका असंख्य योजन में विस्तार है। उसके तल में रेत नहीं है, रत्न भरे हैं; उसीप्रकार आत्मा का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। उसके एक-एक प्रदेश में अनन्तगुणरूपी चैतन्यरत्न भरे हैं। अहाहा! ऐसा अनन्तभावरूप त्रिकाली एकभाव स्वभाव कहलाता है और उसमें एक-एक गुण, शक्ति का भेद करना अर्थात् यह ज्ञान है, यह सुख है – ऐसा भेद करने को परभाव कहा जाता है। वास्तव में जो स्वद्रव्य है, वही स्वक्षेत्र है, वही स्वकाल है और वही स्वभाव है।

इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद से रहित भगवान आत्मा स्वयंभू आनन्दकन्द प्रभु है। वह अकषाय, वीतरागस्वभाव से भरा हुआ शुद्ध स्वद्रव्य है। अहाहा! आत्मा चैतन्य-अमृत का पिण्ड प्रभु है भाई! जितना समझ में आवे, उतना तो समझो बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है। भेद का लक्ष छोड़कर अभेद, एक त्रिकाली को लक्ष में लेने पर वह प्राप्त होता है। इसे धर्म कहो या मोक्ष का मार्ग कहो, एक ही बात है। जिसप्रकार आम का जो वर्ण है, वही गंध है, वही रस और वही स्पर्श है। भेद को लक्ष में न लें तो सम्पूर्ण वस्तु वर्ण-गंध-रस-स्पर्शमय है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चिन्मात्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभेद एक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है। अहाहा ! ऐसे अभेद की दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि अनादि संसार से लेकर संकोचविस्तार से लक्षित ऐसा लोकाकाश के माप बराबर आत्म-अवयत्व जिसका लक्षण है – ऐसी एक नियतप्रदेशत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल पड़ी है। आत्मा में जो असंकुचितविकासत्वशक्ति है, वह अलग है और यह संकोचविस्तार से लक्षित जो नियतप्रदेशत्वशक्ति है, वह अलग है।

असंकुचितविकासत्वशक्ति का स्वरूप तो ऐसा है कि जिसमें संकोच का अभाव है, ऐसा पर्याय में गुण का जो असीमित विस्तार होता है, वह असंकुचितविकासत्वशक्ति है। अहाहा ! पूर्ण द्रव्य, पूर्ण क्षेत्र, पूर्ण काल और पूर्ण भाव – इन सभी को संकोचरहित पूर्ण विकासरूप शक्ति की सामर्थ्य से जाने – जीव में ऐसी असंकुचितविकासत्वशक्ति है। अहाहा ! जिसमें संकोच नहीं, परिमितता नहीं – ज्ञानादि में ऐसा पूर्ण विकास होना असंकुचितविकासत्वशक्ति है। लोगों को यह बात कहीं मिली नहीं; अतः वे बाह्य में, क्रियाकाण्ड में अटक गये हैं; परन्तु भाई ! निजस्वरूप की समझ बिना ये सब क्रियायें व्यर्थ हैं। जबतक क्रियाकाण्ड में, राग में अज्ञान से अटका रहेगा; तबतक स्वानुभव होना संभव नहीं है।

अहाहा ! भगवान आत्मा मूर्ख नहीं है। उसकी ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त शक्तियाँ अमूढ़ हैं। भाई ! आत्मा में अमूढ़स्वभाव की सीमा नहीं है, अहाहा ! ज्ञानी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं असीमित अनन्त शक्तियों से भरा हुआ चिदानन्दकन्द प्रभु हूँ। अहाहा ! एक समय में तीन लोक और तीन काल को जाने – ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड मुझमें विद्यमान है। अहाहा ! पूर्णानन्द की प्रतीतिरूप सादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड श्रद्धा गुण मुझमें पड़ा है। एक समय में निर्बाध अनन्त आनन्द दे दे – ऐसी सादि-अनन्त आनन्द की पर्यायों का पिण्ड मुझमें पड़ा है। अहाहा ! ऐसा अनन्तगुण का रत्नाकर प्रभु मैं आत्मा हूँ। अरे, ऐसे अपने आत्मा को भूलकर हे जीव ! तू इस आकुलता की भट्टी के वेदन में कहाँ फँस गया ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहाहा ! पूर्णानन्द-सच्चिदानन्द चैतन्यचमत्कारमय प्रभु आत्मा है; जो उसका अन्तर में स्वीकार और सत्कार करता है, उसकी पर्याय में ज्ञान और आनन्द का स्वाद आता है।

कहा है न कि – **रसस्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम**

अहाहा ! वहाँ वर्तमान में जो आनन्द प्रगट हुआ है, वह भविष्य के पूर्ण आनन्द का कारण है। वर्तमान प्रगट ज्ञान और आनन्द की दशा को पूर्ण आनन्द का कारण व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो एक समय में जो पूर्ण आनन्द की दशा प्रगट हुई, वह तत्समय की षट्कारक की परिणति से प्रगट हुई है। भाई ! पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय हुआ; अतः यहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ है – वास्तव में ऐसा नहीं है; पर ऐसा कहना व्यवहार है; क्योंकि उत्पाद, व्यय की अपेक्षा नहीं रखता है। पूर्व पर्याय का व्यय है और वर्तमान पर्याय का उत्पाद है; तथापि उत्पाद को व्यय की अपेक्षा नहीं है।

भाई ! केवलज्ञान की जो एक समय की पर्याय प्रगट हुई, वही कर्ता है, जो पर्याय प्रगटी वही कर्म, वही पर्याय कारण अर्थात् साधन है। पूर्व की चार ज्ञान की पर्यायों का व्यय साधन नहीं है। जो पर्याय प्रगटी, वह अपने में रखी है; अतः वही सम्प्रदान, वह अपने में से हुई है; अतः वही अपादान और उस पर्याय का आधार वही पर्याय है; अतः वही अधिकरण है। इसप्रकार अपने षट्कारक के परिणमन से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। व्यय तो अभावरूप है और अभाव (व्यय) भाव (उत्पाद) का कारण नहीं होता। द्रव्य में जो सर्वज्ञत्व आदि शक्तियाँ आत्मा के नियत प्रदेशों में त्रिकाल पड़ी हैं; उनसे युक्त जो शक्तिवान द्रव्य है, उसका आश्रय लेने पर पर्याय में केवलज्ञान आदि पूर्णदशा प्रगट होती है। ऐसी सूक्ष्म बात है भाई !

यहाँ नियतप्रदेशत्वशक्ति की बात चलती है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा के प्रदेशों की संख्या नियत, लोकप्रमाण असंख्य है। यहाँ प्रदेशों की संख्या को नियत-निश्चय कहा है। पंचास्तिकाय में अस्तिकाय द्रव्य की सिद्धि की है; अतः वहाँ प्रदेशों की एकरूपता की बात की है। यदि वह जीव अपने आप को, अपने स्वरूप को अत्यन्त गरज और दरकारपूर्वक

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

न जाने तो धर्म किसप्रकार होगा ?

अरे ! जब एक राजा से, एक बादशाह से मिलने जाना हो तो लोग कितनी तैयारी करके जाते हैं, तब यहाँ तो भगवान से भेंट करने जाना है तो कितनी तैयारी करनी चाहिए। अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ के साथ जायें तो भगवान से भेंट हो। अहाहा ! तीन काल और तीन लोक को एकसमय में जानने की क्षमतावाला अनन्त शक्ति का भण्डार भगवान आत्मा सर्वोपरि चैतन्य बादशाह है। इससे भेंट करने जाना हो तो यह बाहर के हीरा, माणक, मोती की भेंट काम नहीं आती तथा क्रियाकाण्ड के राग की भेंट भी काम नहीं आती; पर जब अन्तःपुरुषार्थ जाग्रत करके इसके स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करें तो यह तत्काल दर्शन देनेवाला परमात्मा है। अतः हे भाई ! बाहर के कोलाहल से विश्राम पाकर अन्तर्मुख हो।

यह बाहर के पैसा आदि संयोग तो पुण्य के योग से मिलते हैं। वे संयोग हों अथवा न हों, जीव को शरणभूत नहीं हैं तथा व्रतादि का राग भी शरण नहीं है। एकसमय की पर्याय भी शरण नहीं है। अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ चिन्मात्रचिन्तामणि स्वयमेवदेव विराजमान है। वही एक शरण है, मंगल है और उत्तम है। बाह्य में जिनदेव, जिनगुरु और जिनधर्म को व्यवहार से शरण कहा जाता है और शरण जाना जाता है।

अनादि संसार से जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार हो रहा है। निगोद की दशा में जीव के प्रदेशों का संकोच होता है; तथापि प्रदेशों की संख्या कम नहीं होती और एक हजार योजन के मच्छ के शरीर में रहनेवाले जीव के प्रदेशों का विस्तार होता है तो भी प्रदेशों की संख्या बढ़ती नहीं है। जीव के प्रदेशों की संख्या तो तीनों काल इतनी की इतनी असंख्य रहती है।

जीव को सिद्धदशा प्राप्त होने पर उसकी अवगाहना अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून रहती है। यह अवगाहना सादि-अनन्त काल तक रहती है। संसारदशा में उसके असंख्य प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है। संसारदशा में जीव की एकरूप अवगाहना नहीं रहती है। जिसप्रकार कपड़े को मोड़ने पर उसके प्रदेशों की संख्या घटती नहीं है और उसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खोलने पर बढ़ती नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के प्रदेश भी विभिन्न दशाओं में एक समान संख्या में रहते हैं।

देखो! निगोदिया का शरीर अंगुल के असंख्यातवे भाग बराबर होता है और एक शरीर में अनंत निगोदिया जीव होते हैं। छह माह आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति पाते हैं। अनादि से आजतक अनंत पुद्गल परावर्तन काल व्यतीत हो गया। इस लम्बे काल में अनन्त जीव मुक्त हो गये। अहो! उनकी संख्या की अपेक्षा निगोद के एक शरीर में जीवों की संख्या अनन्तगुणी है। वास्तव में निगोद में जीवों के प्रदेशों की संख्या संकुचित हो गई है।

तो क्या जीव जितने आकार में है, उससे संकुचित हो जाता है?

नहीं; ऐसी बात नहीं है। निगोद में एक भी प्रदेश संकुचित नहीं होता है। प्रदेश तो क्षेत्र का अविभागी अंश है। वह जितना है, उतना ही रहता है। उसमें संकोच नहीं होता; परन्तु संसारदशा में जीवों के प्रदेश संकुचित और विस्तृत होते हैं। सर्व प्रदेशों की अवगाहना छोटी हो जाती है, पर प्रदेशों की संख्या यथावत् रहती है और प्रदेश भी जितने हैं, उतने ही रहते हैं; पर वे परस्पर संकुचित होकर अवगाहना पाते हैं। अरे! यह बात एक सर्वज्ञ कथित मार्ग के अलावा अन्य कहीं नहीं है भाई!

वेदान्त इत्यादि अन्य मत में आत्मा शुद्ध है – ऐसी बात कही है; परन्तु वहाँ उसका स्वरूप अच्छी तरह नहीं बताया गया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक वेदान्त के विद्वान को पत्र लिखा कि "हम पदार्थ की चार प्रकार से व्याख्या कर सकते हैं। किसी भी पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – इसप्रकार चार अंश होते हैं। अतः आत्मा में भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव – ये चार बातें घटित करना चाहिए।" आत्मा द्रव्य से एक है, क्षेत्र से असंख्यप्रदेशी है, काल से त्रिकाली अथवा एकसमय की अवस्थारूप और भाव से अनन्तगुणमय है। परन्तु अन्यमती ऐसे चार भेद नहीं मानते। वे आत्मा को मात्र एक सर्वव्यापक, शुद्ध चैतन्यमय अभेद मानते हैं जो वस्तुस्वरूप से मेल नहीं खाता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ कहते हैं कि आत्मा क्षेत्र से असंख्यातप्रदेशी है। संसारदशा में उसके प्रदेशों का संकोचविस्तार होता है। मुक्त होने पर जीव अन्तिम शरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण में अवस्थित हो जाता है और यह अवगाहना सादि-अनन्त कालतक अवस्थित रहती है।

लोकाकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेशों के समान एक जीव के असंख्यातप्रदेश हैं, उतने ही एकजीव के प्रदेश होते हैं। जीव लोकाकाश में व्याप्त नहीं है; परन्तु लोकाकाश के जितने असंख्यात प्रदेश हैं, उतने ही एकजीव के प्रदेश होते हैं। आत्मा अवयवी है और उसके प्रदेश अवयव हैं। जिसप्रकार शरीर अवयवी है और हाथ-पैर उसके अवयय हैं तथा जिसप्रकार श्रुतज्ञानप्रमाण अवयवी और निश्चय-व्यवहार नय उसके अवयव हैं; उसीप्रकार आत्मा के संबंध में जानना।

आत्मानुभव करनेवाला श्रुतज्ञानप्रमाण अवयवी है और उसके निश्चय और व्यवहार ऐसे भेद करना अवयव हैं। भावश्रुतज्ञान पर्याय है, उस पर्याय को द्रव्यं से अखण्ड मानकर भगवान आत्मा एक होने से अवयवी है और असंख्य प्रदेश उसके अवयव हैं। हाथ, पैर, मुँह, नाक, कान इत्यादि शरीर के अवयव जड़ हैं, वे आत्मा के अवयव नहीं हैं। शरीर और उसके अवयव आत्मा से भिन्न हैं, परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा भेदज्ञान नहीं करता है और स्व-पर को मिला देता है, जिससे चर्तुगति में परिभ्रमण करता है।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों को यहाँ नियत कहा है। नियत प्रदेश निश्चय है – इसका अर्थ यह है कि जो प्रदेश हैं, वे नियत संख्यावाले अर्थात् उनकी असंख्यातरूप संख्या निश्चित है। उनका स्थान भी निश्चित है। भले ही संकोचविस्तार हो; पर प्रदेशों की संख्या नियत ही है। वस्तु का निजघररूपी द्रव्य, निजघररूपी असंख्यप्रदेशी नियत क्षेत्र, त्रिकाल निजघररूपी काल और निजघररूपी भाव – चारों एक ही हैं। भेद की दृष्टि छोड़कर, अभेद, एक की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन धर्म है। कलश टीका के २५२ वें कलश में कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव – चारों ही अभेद, एकरूप वस्तु है। उनमें पर्याय के भेद को ग्रहण करना परकाल है और असंख्यप्रदेश के भेद का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लक्ष्य करना परक्षेत्र है। स्वकाल में परकाल की नास्ति है। स्वक्षेत्र में परक्षेत्र की नास्ति है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव परपने तो अस्तिरूप हैं; परन्तु परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की आत्मा में नास्ति है। स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है – यह तो स्थूल बात है। यहाँ तो कहा जा रहा है कि अपना त्रिकाली स्वरूप स्वद्रव्य, स्वकाल है और एकसमय की विकारी-निर्विकारी पर्याय के भेद पर लक्ष्य करना परद्रव्य, परकाल है। समयसार की ५० वीं गाथा में एक समय की पर्याय को परद्रव्य कहा है, साथ ही यह भी बताया है कि पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; अतः हेय हैं। अन्तःतत्वस्वरूप निजात्मा उपादेय है। अभेद एक शुद्ध ज्ञायकमात्र वस्तु दृष्टि का विषय है – यही मूल बात है।

यहाँ शक्ति अर्थात् गुणों का वर्णन है। अनन्त गुणों का भण्डार आत्मा गुणी है। गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। आत्मा शुद्ध चैतन्यरत्नाकर है; उस पर दृष्टि करने से, उसमें ही रमणता-लीनता करने से सम्यग्दर्शन सहित निर्मल रत्नत्रय प्रगट होता है। इसी का नाम धर्म और मोक्षमार्ग है। भाई! ज्ञान की हीनता और अधिकता तथा आकार के छोटे-बड़े होने से रत्नत्रय का कोई संबंध नहीं है। अभेद एक चैतन्य की दृष्टि और रमणता करना ही रत्नत्रयरूप धर्म है और इसका फल मोक्ष है।

प्रवचनसार की ६१ वीं गाथा में लिखा है कि असंख्यप्रदेशस्वरूप तिर्यक्प्रचय है। इसमें एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का अभाव है अर्थात् कोई प्रदेश किसी अन्य प्रदेश में मिलता नहीं है। ऐसा होने से ही असंख्य प्रदेश सिद्ध होते हैं। असंख्य प्रदेशरूप क्षेत्र की जो यह आकृति है; उसे ही व्यंजन पर्याय कहते हैं। वह व्यंजनपर्याय संसारदशा में संकोचविस्तार-रूप होती है। सिद्धों में अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून आकार में व्यंजन-पर्याय अवस्थित रहती है।

प्रदेशत्वगुण की पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं। प्रदेशत्वगुण को छोड़कर अन्य गुणों की पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं। व्यंजनपर्याय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और अर्थपर्याय रूप क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणों के समुदाय को यहाँ आत्मा कहा गया है। यहाँ अशुद्ध पर्याय नहीं लेना तथा प्रदेशों में जो कंपन होता है; उसका भी अभाव समझना। यह बात पहले निष्क्रियत्व-शक्ति में आ गई है। निष्क्रियत्वशक्ति अनन्तगुणों में व्यापक है। असंख्य-प्रदेशों में जो व्यंजनपर्याय है; उसमें निष्क्रियत्वशक्ति व्यापती है। वे प्रदेश वहाँ स्थिर हो गये हैं। जितनी अस्थिरता है; उसका इस व्यंजनपर्याय में अभाव है। बहुत सूक्ष्म बात है प्रभु !

चिद्विलास में गुण अधिकार के आठवें पृष्ठ पर ऐसा कहा है कि – "एक ज्ञाननृत्य में अनन्तगुणों का समूह ज्ञात हुआ है, अतः वह समूह ज्ञान में है। अनन्त गुणों के समूह में एक-एक गुण अनन्तरूप से अपने ही लक्षण को ध ारण करता है। यही कला है और वह एक-एक गुणरूप होने से अनन्तरूपों को धारती है। एक-एक रूप जिस रूप में हुआ, उसकी अनन्त सत्ता है। एक-एक सत्ता अनन्त भावों को धारण करती है। एक-एक भाव में अनन्त रस है। एक-एक रस में अनन्त प्रभाव है। इसप्रकार यह भेद अनन्त तक जानना। चिद्विलास की टीका में इस विषय पर विस्तार से वर्णन है।

एक ज्ञान की पर्याय द्रव्य को, गुणों को और पर्यायों को जानती है। इसप्रकार अनन्तगुणों की एक समय की अनन्त पर्यायों सहित द्रव्यों को जानना ज्ञान की पर्याय का नृत्य है। एक समय की ज्ञान की पर्याय में अनन्त नट, ठट होते हैं। ज्ञान सामान्य-विशेष वस्तु को, संकोचविस्तार को, अवस्थित को, अनन्तगुणपर्यायों को जानता है। आज से दो सौ वर्ष पहले हुए पण्डित दीपचन्दजी जैसे महान विद्वान ने इन सभी का वर्णन चिद्विलास में किया है।

अहाहा ! एक-एक गुण, एक-एक पर्याय और उसमें नृत्य, ठट, रूप, सत्ता, रस, प्रभाव। अहो.......अहो ! अनन्त दरबार भरा है। जिसप्रकार भगवान का समवशरण दिव्य, अलौकिक धर्म दरबार है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यरत्नाकर प्रभु में अनन्तगुणनिधानरूप अलौकिक दरबार भरा है। भाई ! तेरी चीज चैतन्यवस्तु से जगत में कुछ भी ऊँचा नहीं है; अतः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अन्तर्दृष्टि करके उसका सेवन तो कर !

आगे कहा गया है कि आत्मा के नियत असंख्यप्रदेशों में सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्ति के अनुपम निधान भरे हैं। ये शक्तियाँ जब पर्याय में पूर्ण प्रगट होती हैं, तब सर्वदर्शित्व शक्ति की पर्याय विशेष भेद किए बिना सामान्य सत् को देखती है और केवलज्ञान की पर्याय एक-एक द्रव्य के भिन्न-भिन्न गुणों को, एक-एक गुण की भिन्न-भिन्न पर्यायों को, एक-एक पर्याय के भिन्न-भिन्न अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेदों को पर्यायों को नट, ठट, कला, रूप, रस इत्यादि सभी को एक समय में जानती है। एक समय में दो-दो शक्तियों का परिणमन; फिर भी उनके लक्षण परस्पर भिन्न हैं। अहो ! इसी को अद्भुत रस कहते हैं।

अहो ! भगवान आत्मा की सत्ता ऐसी अद्भुत चमत्कारी है। ज्ञान साकार है, दर्शन निराकार है। दोनों की सत्ता एक द्रव्य में एक साथ, एक समय में है।

प्रश्न – ज्ञान साकार है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – साकार का अर्थ आकार नहीं है; परन्तु स्व-पर अर्थ को ज्ञान भिन्न-भिन्न जानता है; अतः उसे साकार कहा है अर्थात् स्व-पर अर्थ को प्रकाशित करना ज्ञान का स्वभाव है; अतः उसे साकार कहा है तथा दर्शन निराकार है अर्थात् उसके प्रदेश नहीं हैं – ऐसा नहीं है; परन्तु पदार्थों में भेद किए बिना ही सामान्य अवलोकन मात्र दर्शन है; अतः उसे निराकार कहा है। साकार अर्थात् सविकल्प, निराकार अर्थात् निर्विकल्प।

अहा ! आत्मा के असंख्य प्रदेश अनन्तगुणों में सर्वत्र व्यापक हैं। उसमें भी ऐसा नहीं है कि गुण का अमुक अंश अमुक प्रदेश में और अमुक अंश अन्य प्रदेश में होता है। हे भाई ! जो कुछ है, वह सर्वस्व तेरे नियत असंख्य प्रदेश में ही है। तेरे अंसख्य प्रदेशों से बाहर तेरा कुछ नहीं है; अतः परद्रव्य से विराम पाकर अनन्तगुणस्वभावमय एक द्रव्य को ही देख, जिससे तुझे ज्ञान, सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

इसप्रकार यहाँ नियतप्रदेशत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

२५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिकास्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।

सर्व शरीरों में एकस्वरूपात्मक स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है। शरीर के धर्मरूप न होती हुई अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।

अहाहा ! निगोद से निकलकर चरमशरीरपर्यन्त जीव अनन्त शरीर धारण करता है; परन्तु इन सभी शरीरों में भगवान आत्मा तो अपना एकस्वरूपात्मक एक ज्ञायकभावमात्र ही रहता है। – ऐसा इसका स्वधर्मव्यापकत्व स्वभाव है। अहा ! संसार परिभ्रमण करता हुआ जीव मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच के अनन्त शरीर धारण करता है। उन-उन शरीर के आकार बराबर व्यंजन पर्याय हुई; फिर भी आत्मा इन शरीरों में व्यापक नहीं है, क्योंकि शरीर व्याप्य और भगवान आत्मा व्यापक – ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वरूप सदा एक ज्ञायक है। शरीर और राग में व्याप्त होना आत्मा का स्वरूप नहीं है।

अपने अनन्त गुणों और निर्मल पर्यायों में व्याप्त होना आत्मा का स्वधर्मव्यापकत्व गुण है। यहाँ निर्मल पर्याय की बात है, मलिन की नहीं; क्योंकि मलिन पर्याय में आत्मा व्यापक नहीं है। भाई ! आत्मा जड़ में, शरीर में तो व्यापक है ही नहीं; पर राग में, विकार में भी व्यापक नहीं है। अनादि संसार से इस जीव को राग तो अनेक प्रकार का हुआ; परन्तु उसमें भगवान आत्मा व्यापक-तन्मय नहीं हुआ। आत्मा रागमय नहीं होता, वह त्रिकाल एकस्वरूपात्मक ही रहता है।

जिसप्रकार एक दीपक अनेक कमरों में ले जाते हैं, तब भी वह दीपक अपने प्रकाशरूप ही रहता है, कमरेरूप नहीं होता; उसीप्रकार अनन्त शरीरों में और असंख्यात प्रकार के राग में फिरने पर भी यह चैतन्य प्रभु आत्मा त्रिकाल निज चैतन्य के प्रकाशरूप-एकस्वरूप ज्ञायक-

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वरूप ही है। जिसप्रकार दीपक कमरे में नहीं व्यापता; उसीप्रकार चैतन्य-दीपक आत्मा शरीर में या राग में नहीं व्यापता। अहाहा ! इस जीव की पर्याय में जो दया, दान, भक्ति आदि के विकल्प होते हैं, उनमें भगवान आत्मा तन्मय होकर नहीं व्यापता है। लोग कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है; परन्तु यहाँ कहते हैं कि आत्मा व्यवहार में नहीं व्यापता है। भगवान आत्मा व्यापक अर्थात् कर्ता है तथा निर्मल पर्यायरूप व्याप्य अवस्था उसका कर्म है, वास्तव में तो ऐसा कहना भी व्यवहार है; क्योंकि वह निर्मलपर्याय स्वयं अपने से उत्पन्न हुई है। वह पर्याय स्वयं कर्ता है और स्वयं ही कर्म है। यहाँ तो पर से भिन्नता सिद्ध करना है न ! अतः कहा है कि अनन्त शरीरों में यह ज्ञायक प्रभु त्रिकाल एकस्वरूपात्मक है। इसका ऐसा ही स्वधर्मव्यापकत्व स्वभाव है।

यह जीव चाहे एक हजार योजन लंबाईवाले शरीर में जाये या फिर असंख्यातवें भागप्रमाण शरीर में जाये, अपने स्वरूप में ही व्याप्त होता है; उन शरीरों में नहीं तथा राग में भी आत्मा कभी व्यापक नहीं होता। अहाहा ! ऐसा पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर आत्मा में त्रिकाल विराजता है। भाई ! अन्दर तेरा चैतन्य का निधान कैसा है ? तुझे उसकी खबर नहीं है। भगवान ! तुम पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप से शोभायमान प्रभु स्वधर्मव्यापक हो। तुम्हें छोटे-बड़े शरीर मिले; पर तुम उनमें व्याप्त नहीं हुए। अरे ! तुम कभी शरीर और राग से नहीं जुड़े हो। त्रिकाली एक-स्वरूपात्मक भगवान आत्मा की पहिचान एवं उसका आश्रय करते ही निर्मल-निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

असख्यप्रदेशी अनन्त गुणों का धाम आत्मा है। लोक में शरीर के नाम से आत्मा को बुलाते हैं; पर छोटे-बड़े नाना प्रकार के नामवाले शरीर में रहने पर भी आत्मा शरीर को स्पर्श भी नहीं करता। आत्मा तो अपने अनन्त गुणों में व्यापक होने पर गुणभेद को भी स्पर्श नहीं करनेवाला नित्य एकस्वरूप है। वह अनेकरूपवाला कभी हुआ ही नहीं। अरे ! जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब यह लक्ष्मी मेरी, यह स्त्री, कुटुम्ब मेरे, यह महल-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मकान मेरा – यह कहाँ रहा ? ये तो सभी भिन्न चीजें हैं बापू ! संयोग आये और जाये; परन्तु आत्मा तद्रूप कभी नहीं होता।

अनादि से आत्मा अपने एक स्वरूप में ही रहा हैं। ऐसी अपनी चीज की दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है। अरे रे! इसप्रकार यह मनुष्य देह में, अपनी ऐसी वस्तु का ज्ञान न करे, उसकी दृष्टि न करे तो उसके जीवन का क्या फायदा ? कुछ नहीं करके उसने जीवन व्यर्थ ही खो दिया। एक स्वरूप – ऐसे निज ज्ञायकस्वरूप को जाने बिना, उसका अनुभव किए बिना चाहे जितने व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि करे; परन्तु उससे क्या फायदा ? उससे कुछ भी लाभ नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा उसमें व्यापक नहीं होता; उसीप्रकार शुभाशुभराग में भी भगवान आत्मा व्यापक नहीं होता। ऐसा ही समयसार कीं छठवीं गाथा में कहा है –

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चैव।।

अहाहा! भगवान आत्मा अप्रमत्त नहीं है, प्रमत्त नहीं है; एक ज्ञायकभाव -स्वरूप है। यहाँ शब्द की बात नहीं लेना शब्द का जो वाच्य है, उस ज्ञायकतत्त्व को ग्रहण करने की बात है। 'ज्ञायक' जो शब्द है, उसमें ज्ञायक पदार्थ नहीं है। जिसप्रकार 'शक्कर' शब्द वाचक है और शक्कर उसका वाच्य है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञायक शब्द वाचक है और ज्ञायकभाव जो त्रिकालीद्रव्य है, वह वाच्य है। अहा ! वह त्रिकालीद्रव्य ज्ञायक प्रभु सदा एकरूप रहता है। कभी प्रमत्त-अप्रमत्त रूप नहीं हुआ। पर्याय भले ही मलिन अथवा निर्मल वस्तु हो तो भी त्रिकाल एकस्वरूप में ही रही है। अहा! ऐसे निज एकस्वरूपात्मक द्रव्य की दृष्टि होने पर पर्याय में भी एक स्वरूपात्मकपने का, स्वधर्मव्यापकत्व का परिणमन होता है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई !

द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकस्वरूप हैं ही; उनका अन्तर में स्वीकार करने से पर्याय में भी एकस्वरूपात्मकपने का परिणमन होता है। अहाहा! निज ज्ञानानन्दस्वरूपी, एकस्वरूपी भगवान का अन्तर में सत्कार करना,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदर करना – इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। आत्मा को शरीर, राग या पर्याय मात्र जानना स्वयं अपना अनादर है। यही आत्मा का घात या हिंसा है। इसके अलावा और हिंसा क्या है? परजीव को मारने का परिणाम हिंसा है; पर अपने को, अपने आत्मा को रागमय, शरीरमय मानना तो स्वरूपघातरूप महाहिंसा है ही; क्योंकि वह सर्वहिंसा का मूल है।

अहाहा! अन्दर अनन्तगुणमय एकस्वरूपात्मक जीवन है; उसका स्वीकार करने से पर्याय में निर्मल परिणमनरूप परिणमन होता है अर्थात् एकस्वरूपात्मक द्रव्य का पर्याय में परिणमन होता है। अहा! आत्मा की ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है। अपने धर्मों में, अपने गुणों और पर्यायों में आत्मा व्यापक है; परन्तु देह और मलिन पर्याय में व्यापक नहीं है। ऐसा होने पर शुभराग या शुभयोग से धर्म होता है – यह बात ही कहाँ रही? भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो शुभराग को हेय कहा है। पण्डित कैलाशचन्दजी ने भी लिखा है कि आचार्यदेव की यह बात सही है।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि जो शुभराग को उपादेय मानता है, वह निज आत्मा को हेय मानता है। व्यवहाररत्नत्रय जो शुभयोग है, उसे जो आदरणीय और उपादेय मानता है; उसने चिदानन्दस्वरूप अपने अखण्डानन्द प्रभु को हेय माना है, हेय कर दिया है। अरे! धर्मी जीव तो राग को हेय मानकर, शुद्ध त्रिकाली निज आत्मद्रव्य को उपादेय मानता है। भाई! तेरी चीज जिसप्रकार है, उसे उसीप्रकार स्वीकार कर, इसी में तेरा हित है, अन्यथा आत्मघात तो है ही। सत् परिपूर्ण विज्ञानघन प्रभु त्रिकाल एकस्वरूप ही है, वह स्वधर्म में ही व्यापक है। अपने गुण-पर्याय में ही व्यापक है; अन्यत्र व्यापक नहीं है।

प्रश्न – आत्मा स्वधर्म में सदा ही व्यापक है तो फिर उसे धर्म करने की क्या जरूरत है?

उत्तर – आत्मा स्वभाव से स्वधर्मव्यापक है – यह तो ठीक है ही; परन्तु अज्ञानी को इसकी खबर कहाँ है। वह तो अपने को देहमय और रागमय है – ऐसा जानता है। अतः 'मैं सदा ही स्वधर्म एकस्वरूप हूँ' –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा जो अन्दर में ज्ञान करता है तो उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन आदि धर्म उत्पन्न होते हैं, अतएव यह उपदेश है कि हे भाई ! अनन्तगुणस्वभावमय निज आत्मद्रव्य को जानकर उसी की दृष्टि कर, जिससे तुझे मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

समयसार की १७-१८वीं गाथा में भी ऐसा ही प्रश्न पूछा है। वहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो ! आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्य है, भिन्न नहीं है तो फिर आप ज्ञान की उपासना का उपेदश क्यों देते हो ?

आचार्यदेव समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप है; तथापि उसने एक क्षण भी ज्ञान का सेवन नहीं किया; यतः स्वयंबुद्धत्व और बोधितबुद्धत्वरूप कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है; पर इसके पास दोनों ही कारण नहीं हैं। इसप्रकार आत्मा स्वभाव से स्वयं एक ज्ञानस्वरूप होने पर भी जबतक ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसका सेवन नहीं करेगा; तबतक वह अज्ञानी ही रहेगा। अतः उसे ज्ञान की उपासना का, अन्तर की एकाग्रता का उपदेश दिया जाता है।

अहो ! इस पंचमकाल में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थंकर-तुल्य काम किया है। भाई ! शब्द थोड़े हैं, पर उनसे वस्तु का महत्त्व कम न समझना। देखो ! 'जगत' तीन अक्षरों का शब्द है; पर इसमें क्या नहीं आया ? सभी आ गया है। अहा ! एक जगत शब्द में अनंत निगोद, अनंत-सिद्ध, छह द्रव्य और उनके द्रव्य-गुण-पर्याय – सभी आ गये। इसीप्रकार भगवान की ऊँकाररूप वाणी में सबकुछ आ जाता है।

जिसप्रकार कुतार गाय के थनों में दूध रहता है। उसे कोई कुशल ग्वाला ही निकाल पाता है; उसीप्रकार शास्त्रों में तत्त्व भरा है, उसे समर्थ आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने तर्क द्वारा बाहर निकाला है, प्रकाशित किया है।

मूढ़-अज्ञानी जीव निज चिदानन्दमय चैतन्यवस्तु को छोड़कर, जड़ देह के विकार में अपना निवास मान रहे हैं। उनसे कहते हैं कि हे जीवों ! यह तुम्हारा निवास नहीं है। जड़देह में या विकार में रहना तेरा स्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है। तेरा स्वभाव तो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनंत स्वधर्मों में रहने का है। अहा ! ऐसे अपने स्वभाव को जानकर उसमें निवास कर, उसकी श्रद्धा, ज्ञान, रमणता कर और विकार की वासना (रुचि) छोड़ दे। अहा ! देह और विकार की वासना छोड़कर अनंत धर्मस्वरूप एक-स्वरूपात्मक एकाकार निज आत्मा को जानने का फल परमसुख की प्राप्तिरूप अमृत है।

परमार्थ से भगवान आत्मा अपने निर्मल गुणों और निर्मल पर्यायों में व्यापता है। शरीर और राग का कभी स्पर्श भी नहीं करता है। ऐसा ही द्रव्यस्वभाव है। अरे ! अपनी चीज कैसी है – इसकी खबर बिना धर्म हो जाय – यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है। इस जीव का अनन्तकाल ऐसे ही चला गया। संसार के धंधों और विषय-कषाय के मारे इसे फुर्सत ही नहीं है। पूरे दिन में घण्टे-दो घण्टे देवदर्शन, भक्ति -पूजा और स्वाध्याय में निकालता है और बाकी का सारा समय अकेले अशुभ में व्यतीत करता है। बहुत समय तो लोगों को खुश रखने में व्यतीत जाता है; परन्तु इससे तेरा आत्मा नाराज हो रहा है – क्या तुझे इसकी खबर नहीं है। अरे रे ! तू निरन्तर दुःखी हो रहा है। अरे भाई ! तेरा पर के साथ क्या संबंध है ? पर से प्रेम करने की बात करता है; पर प्रेम करने का अर्थ क्या है ? अपनी पर्याय अपने द्रव्य में एकाग्र हो तो प्रेम प्रगट होता है। पर तरफ का प्रेमभाव तो राग है, उसे करके धर्म मानना भ्रान्ति है।

अरे भाई ! तुम इस देह से भिन्न अव्यापक हो, ऐसा होने से पर से तुम्हारा क्या संबंध है ? अतः पर से और जड़देह से भिन्न तेरा आत्मा ऐसा का ऐसा एकरूप चिदानन्द चैतन्यस्वरूप में रहा है – ऐसा जानकर तू प्रसन्न हो जा। अपने आत्मा के धर्मों का अनुभव कर। ऐसा करने पर शरीर से संबंध छूटकर तुझे अशरीरी मुक्तदशा की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार यहाँ स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२६. साधारण, असाधारण, साधारणासाधारण-धर्मत्वशक्ति

स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका-साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः।

स्व-पर के समान, असमान और समानासमान – ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारणस्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्व-शक्ति है।

देखो, आत्मा में अनन्त धर्म हैं। उनमें जो स्व-पर के समान धर्म हैं, वे साधारण हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि धर्म साधारण हैं; क्योंकि वे धर्म जिसप्रकार आत्मा में हैं; उसीप्रकार आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यों में भी हैं। इसप्रकार एकसाथ रहनेवाले समान-साधारण धर्म अनन्त हैं।

तथा जो धर्म मात्र आत्मा में ही होते हैं, वे आत्मा के विशेष धर्म होने से असमान-असाधारण धर्म हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मा के असाधारण धर्म हैं; क्योंकि वे एक आत्मा में ही हैं। आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं हैं। ऐसे असाधारण धर्म भी अनन्त हैं।

उनमें ज्ञान स्व-पर को जाननेवाला धर्म होने से आत्मा का असाधारण लक्षण है। भगवान आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होता है। यद्यपि सत् द्रव्य का लक्षण है, तो भी वह आत्मा का लक्षण नहीं है,क्योंकि सत् साधारण धर्म होने से उसके द्वारा स्व-पर की भिन्नता नहीं की जा सकती अर्थात् सत् से आत्मा का अन्य द्रव्यों से भिन्नस्वरूप लक्षित नहीं होता है।

तथा आत्मा में कुछ धर्म ऐसे हैं, जो परद्रव्य के साथ समान हैं तथा कुछ परद्रव्य के साथ असमान हैं, ऐसे धर्म साधारणासाधारण धर्म हैं। आत्मा के अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म हैं; क्योंकि अमूर्तत्वादि धर्म, अधर्म आकाशादि में हैं; पर वे पुद्गल द्रव्य में नहीं हैं। आकाशादि की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपेक्षा जीव का अमूर्तत्व धर्म साधारण है और पुद्गल की अपेक्षा जीव का वह धर्म असाधारण है; अतः अमूर्तत्व गुण जीव का साधारणासाधारण धर्म है। अमूर्तत्व द्वारा भी आत्मा पर से भिन्न लक्षित नहीं होता; क्योंकि उसका धर्म, अधर्म, आकाशादि द्रव्यों के साथ साधारणपना है। अमूर्तत्व द्वारा पुद्गल द्रव्य से असाधारणपना ज्ञात होता है; परन्तु आकाशादि द्रव्यों के साथ उसका साधारणपना होने से उस अमूर्तत्व द्वारा आकाशादि द्रव्यों से भिन्न आत्मा का लक्ष नहीं हो सकता है।

इसप्रकार अस्तित्वादि साधारण धर्म; ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि असाधारण धर्म और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म – इसप्रकार तीन प्रकार के धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ होने से उसका साधारण, असाधारण, साधारणासाधारणधर्मत्व स्वभाव है। आत्मा सत्, चित् व अमूर्तिक है – ऐसा कहने से ऊपर के तीनों प्रकार के धर्म उसमें आ जाते हैं।

प्रवचनसार में कहा है कि आत्मा में जो चैतन्यगुण हैं, वह एक अपेक्षा से सामान्यगुण है; क्योंकि अपने में जिसप्रकार चैतन्यगुण है; उसीप्रकार अन्य अनन्त आत्माओं में भी चैतन्य गुण है। इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुण जिसप्रकार स्वद्रव्य में हैं; उसीप्रकार अन्य अनन्त आत्माओं में भी हैं; उस अपेक्षा से वे साधारण धर्म हैं; परन्तु इस जीव में जो ज्ञान है, वही ज्ञान दूसरे जीवों में है – ऐसा नहीं है। प्रत्येक जीव के ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि धर्म उस-उस जीव के ही विशेष धर्मरूप हैं। इसप्रकार जीव में असाधारणपना भी है तथा अपने ज्ञान द्वारा अन्य जीवों से भिन्न अनुभव में आता है।

भाई ! ज्ञान, आनन्द इत्यादि विशेष गुण प्रत्येक आत्मा में हैं। अपने में हैं तथा अन्य जीवों में भी हैं। पर अपना ज्ञान, आनन्द आदि अपने में तथा परजीवों के ज्ञान, आनन्द आदि पर में हैं। स्व का ज्ञान अन्य जीव में नहीं है। दूसरे जीव का ज्ञान स्व में नहीं है। इसप्रकार स्व की परजीवों से भिन्नता होने से स्वसन्मुख होते ही अपने ज्ञान द्वारा अन्य सभी जीवों से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भिन्न अपना आत्मा अपने संवेदन में आता है। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान ही धर्म है। भाई! तेरा ज्ञानलक्षण एक ऐसा असाधारण धर्म है कि वह परद्रव्यों और परभावों से भिन्नरूप और अपने अनन्त धर्मों-गुणों से एकत्वरूप आत्मा का अनुभव कराता है। अतः प्रसन्न हो जा और ज्ञानलक्षण से स्वद्रव्य को लक्षित कर!

अस्ति की अपेक्षा आत्मा और अन्य पदार्थ समान हैं। पर आत्मा में ज्ञान है, जो अन्य सभी जड़तत्त्वों में नहीं है। यह आत्मा की विशेषता है। जिसप्रकार पुद्गल में रूपीपना का असाधारणधर्म है; उसीप्रकार ज्ञानादि जीव के असाधारण धर्म हैं; क्योंकि ज्ञानादि मात्र जीव में ही हैं। अन्य द्रव्यों में नहीं हैं।

इसप्रकार परद्रव्यों से तो भगवान आत्मा भिन्न है ही और अन्दर के रागादि विकार से भी वह भिन्न है; क्योंकि रागादि विकार में ज्ञान नहीं है। जिसप्रकार आत्मा और परमाणु अस्ति-अपेक्षा एक हैं, पर भिन्न हैं; क्योंकि उनका स्वभाव भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाली ज्ञानस्वभाव और क्षणिक विकार अस्ति-अपेक्षा एक होने पर भी भिन्न हैं, क्योंकि विकार में ज्ञान और ज्ञान में विकार नहीं है। ऐसा जानने पर अन्तर्मुखदृष्टि होने से आत्मा का अनुभव होता है। अहा! इसप्रकार परद्रव्यों और शुभाशुभ विकारी भावों से भेदज्ञान करके अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञानादि अनंतशक्तियों से एकाकार रूप स्वद्रव्य का अनुभव करना मोक्षमार्ग है।

अरे! अपने स्वरूप को जाने बिना लोग तो क्रियाकाण्ड और शुभोपयोग के व्यवहार में ही धर्म मानकर संतुष्ट होकर बैठ गये हैं। परन्तु भाई! जिसे तुम व्यवहार कहते हो, वह वास्तव में आत्मव्यवहार नहीं है। प्रवचनसार की ९४ वीं गाथा की टीका में कहा है कि आत्मा का शुद्ध ज्ञान और आनन्दरूप से परिणमन करना ही शुद्ध व्यवहार है। आत्मा का रागभाव से, विकारभाव से परिणमन करना शुद्ध व्यवहार नहीं है, वह मनुष्य व्यवहार है। अहा! यह प्रवचनसार तो भगवान की दिव्यध्वनि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का सार है। भाई ! द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध हैं और पर्याय भी शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमित हो तो आत्मव्यवहार होता है। इसके अलावा समस्त व्यवहार राग है, व्यर्थ है। वह अपूर्व नहीं है। वह तो जीव ने अनन्तबार किया है।

भाई ! 'आत्मा है' – इसप्रकार अस्तित्वगुणमात्र से आत्मा को खोजने जाओगे तो आत्मा हाथ नहीं आयेगा; क्योंकि अस्तित्व तो सभी द्रव्यों का स्वभाव है।

तथा 'आत्मा अमूर्त है' – इसप्रकार अमूर्तपने से आत्मा को खोजने जाओगे तो भी वह हाथ नहीं आवेगा; क्योंकि अमूर्तपना आकाशादि द्रव्यों का भी स्वभाव है।

दया, दान, व्रत आदि अनेकप्रकार के शुभव्यवहार में आत्मा को खोजने जाओगे तो भी तुम्हें उसकी प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि वह शुभराग आत्मा का स्वरूपभूत नहीं है। राग और ज्ञानस्वभाव बिल्कुल भिन्न चीजें हैं।

'जो ज्ञान है वह आत्मा है' – इसप्रकार ज्ञानलक्षण से खोजने पर, पर से और विकार से भिन्न अपने अनन्त स्वभावों से एकमेक – ऐसा भगवान आत्मा प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन और आत्मोपलब्धि का उपाय है।

समान, असमान और समानासमान – इसप्रकार तीन प्रकार के धर्मों का धारक भगवान आत्मा है। ऐसा निजस्वरूप को जानकर, पर से और विकार से भेदज्ञान करके अन्तर्दृष्टि द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करना धर्म है और यही कर्तव्य है।

इसप्रकार यहाँ साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२७. अनन्तधर्मत्वशक्ति

विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनन्तधर्मत्वशक्तिः।

'विलक्षण (परस्पर भिन्न लक्षणों वाला) अनन्त स्वभावों से भावित – ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्तधर्मत्व शक्ति है।

यहाँ 'अनन्तधर्मत्व शक्ति' शब्द में 'धर्म' शब्द से गुण-स्वभाव की बात है। नित्य-अनित्य आदि जो अपेक्षित धर्म हैं। उनकी यहाँ बात नहीं है। अहाहा! 'धारयति इति धर्मः' जो अनन्त गुण-स्वभाव को धारण करे – ऐसा आत्मद्रव्य धर्म है। यहाँ 'धर्म' शब्द से त्रिकाली गुण-स्वभाव शक्ति की बात है। अहाहा! आत्मा में कितनी शक्तियाँ हैं? अनन्त शक्तियों का धारक है आत्मा। अहो! अनन्त शक्ति-स्वभावों से अभिमण्डित आत्मा त्रिकालस्वरूप है। यही उसका अनंतधर्मत्व स्वभाव है। अहा! ऐसे निज आत्मद्रव्य को दृष्टि में लेकर जब निर्मल परिणमन होता है; तब पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है, आत्मज्ञान प्रगट होता है।

अहा! अनन्तधर्मत्वमय भगवान आत्मा है। उसके अनन्त धर्म विलक्षण हैं अर्थात् परस्पर भिन्न लक्षणवाले हैं। कहा है न कि "विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित....अहाहा! आत्मा के अनन्त स्वभाव हैं। वे परस्पर भिन्न लक्षणवाले हैं। एक गुण से दूसरा गुण विलक्षण है। ज्ञान का लक्षण जानना, दर्शन का लक्षण देखना, वीर्य का लक्षण स्वरूप की रचना करना, आनन्द का लक्षण परम आल्हाद का अनुभव होना, अस्तित्व का लक्षण त्रिकाल सत्‌रूप से रहना – इसप्रकार सभी अनंत शक्तियाँ विलक्षण-स्वभाववाली हैं। किसी गुण का लक्षण किसी गुण में नहीं आता, उसमें मिलता नहीं। यदि मिल जाय तो अनन्त स्वभाव-गुण सिद्ध ही न हों। ऐसे अनन्त स्वभावों से भावित एकभाव जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्त-धर्मत्वशक्ति जीव में है। अनन्त धर्म विलक्षण होने पर भी एकभावरूप से रहते हैं – उनका ऐसा रहना ही भगवान आत्मा का अनंतधर्मत्व

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव है।

यह बात तो ठीक है; पर वे अनन्तधर्म दिखते तो नहीं हैं ?

छद्मस्थ को भिन्न-भिन्न रूप से अनन्तधर्म प्रत्यक्ष न ज्ञात हों – यह बात तो ठीक है; पर अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा अनन्त धर्मों से अभेद एक चिन्मात्र वस्तु आत्मा का अनुभव अवश्य होता है और उस अनुभव में सभी धर्म समा जाते हैं। जिसप्रकार दवाई की एक गोली में अनेकप्रकार के तत्त्वों (अम्लों) का एकसाथ स्वाद होता है; उसीप्रकार आत्मवस्तु के अनुभव में समझना। अहाहा! स्वानुभव रस में अनन्तगुणों का रस समाता है; इसलिए तो कहा है कि –

अनुभव चिंतामनिरतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोखस्वरूप।।

अहाहा ! यह अनुभव तो सर्वसाररूप है। भाई ! यहाँ यह शक्तियों का वर्णन भेदों में अटकने के लिए नहीं किया है, परन्तु अनन्त गुणों का अभेद एक जो अनुभव रस है, उसकी प्राप्ति के लिए किया है।

शक्तियों के भेद के लक्ष से स्वानुभवरस नहीं प्रकटता। अभेद, एक ज्ञायक के ही लक्ष से स्वानुभवरस प्रगट होता है और तभी शक्तियों की यथार्थ प्रतीति होती है। अहा! अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न लक्षण होने पर भी 'आत्मा' शब्द में सभी गुण एकसाथ समा जाते हैं।

अहा! ऐसे अभेद, एकरूप, चिन्मात्रस्वरूप आत्मा में अन्तर्मुख होकर परिणमने से स्वानुभव की दशा प्रगट होती है और उसमें आत्मा और उसके अनन्त धर्मों की सच्ची प्रतीति होती है। यह तो धर्मकथा है बापू ! सावधान होकर समझना।

युक्ति, आगम और अनुभव से भगवान आत्मा और उसके अनन्त धर्मों का यथार्थ निर्णय होता है, परन्तु जो स्वसन्मुख होकर आत्मवस्तु का निर्णय नहीं करता, उसको अनन्त धर्मों का निर्णय नहीं होता। उसके लिए अनन्त शक्तिमय आत्मा त्रिकाल विद्यमान होने पर भी नहीं होने के बराबर ही है; क्योंकि उसकी शक्तियाँ उल्लसित नहीं होतीं, ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उल्लसित नहीं होता, आनन्द उल्लसित नहीं होता। 'मैं तो अनन्तधर्ममय एकभावरूप ज्ञायकमात्र आत्मा हूँ।' – ऐसा निर्णय करके जहाँ अन्तर्मुख हुआ कि वहाँ अन्तःपुरुषार्थ की जागृतिपूर्वक शक्तियाँ पर्याय में उल्लसित होती हैं और उनका एकसाथ, एकरस स्वानुभव में, वेदन में आता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है और यही मार्ग है।

शक्ति-गुण तो त्रिकाल हैं और उनकी पर्यायें क्रमवर्ती प्रगट होती हैं। इन क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणों को मिलाकर यहाँ आत्मा कहा जाता है। यहाँ विकार की बात नहीं है; क्योंकि शक्ति तो निर्मल है और जो शक्तिवान द्रव्य है, वह भी निर्मल शुद्ध है तथा त्रिकाली शुद्ध द्रव्य का भान होने पर जो पर्याय प्रगट हुई, वह भी निर्मल है। उसमें विकार नहीं समाता है। विकार का तो निर्मलपर्याय में अभाव है। इसी का नाम स्याद्वाद और यही अनेकान्त है। अरे ! लोगों को तो द्रव्य-गुण-पर्याय की भी खबर नहीं है। वे तो पर के, शरीर के, महल-मकान के, कुटुम्ब के और समाज के काम मैं करता हूँ – ऐसा अभिमान किया करते हैं; परन्तु यह तो संसार परिभ्रमण का मार्ग है भाई! पर के काम करना और राग करना तेरा स्वभाव नहीं है।

प्रश्न – तो क्या कुम्हार घड़ा नहीं बनाता है ?

उत्तर – नहीं, कुम्हार घड़ा नहीं बनाता। घड़ा तो मिट्टी से बनता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि कुम्हार में घड़ा बनाने की शक्ति है; पर यह ठीक नहीं है, सत्य नहीं है। समयसार की ३७२ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि हम ऐसा नहीं देखते हैं कि कुम्हार से घड़ा होता है। हम तो ऐसा ही देखते हैं कि मिट्टी से घड़ा होता है। भाई ! वस्तु ही ऐसी है और जैनदर्शन तो वस्तुदर्शन है। यह किसी सम्प्रदाय की बात नहीं है।

अहा ! अपने में अनन्तधर्मत्वशक्ति त्रिकाल विद्यमान है, उसका परिणमन स्वयं से होता है। अपने में निर्मलपर्याय को करनेवाला कर्ता नाम का गुण है। ज्ञान, आनन्द, प्रभुता इत्यादि अनन्तगुणों की पर्यायों का कर्ता बने – ऐसा कर्ता नाम का अपने में गुण है और वह अपने अनन्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुणों में व्यापक है। इसीप्रकार यह शक्ति भी स्वयं अपने से परिणमित होती है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है; तब एकद्रव्य, अन्यद्रव्य को करता है – यह बात ही कहाँ रहती है।

प्रवचनसार की १०२ वीं गाथा में लिखा है कि प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का जो काल (जन्मक्षण) है, वह उसीसमय उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर निमित्त से कार्य होता है – यह बात कहाँ रही ? चिद्विलास में भी निश्चय- व्यवहार के अधिकार में लिखा है कि जिस समय जो पर्याय होनी है, वह उसी समय होती है – यह निश्चय है।

प्रश्न – जब सबकुछ होना निश्चित है, तब हमें क्या करना है ? कहा भी है – जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे।

उत्तर – हाँ, कुछ नहीं करना है; पर होनहार का निर्णय त्रिकाली एक ज्ञायकभाव के सन्मुख होनेरूप अन्तःपुरुषार्थ करने पर ही होता है। होनेवाली पर्याय तो अपने काल में ही होती है; पर उस होनहार का निर्णय द्रव्यस्वभाव की दृष्टि के पुरुषार्थ से होता है। यह काम करना है।

भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होगा – यह बात तो ठीक है; पर तुम्हें केवलज्ञान के स्वरूप का श्रद्धान है अथवा नहीं ? जो एकसमयवर्ती ज्ञान की पर्याय तीनलोक और तीनकाल को एकसमय में प्रत्यक्ष जानती है; उसे केवलज्ञान कहते हैं। ऐसे अद्भुत सामर्थ्यशाली केवलज्ञान की सत्ता का निर्णय यह जीव जब अन्तःपुरुषार्थ द्वारा करे, तब होता है। अरे भाई ! भगवान को जो केवलज्ञान की पर्याय प्राप्त हुई है, वह स्वयं अपने से हुई है अर्थात् प्राप्त होने योग्य की ही प्राप्ति होती है। जो है, वही प्रगट होता है अन्दर में केवलज्ञानस्वभाव मौजूद है, उसे कारणरूप से ग्रहण करने से पर्याय में स्वभाव की प्रगटतारूप केवलज्ञान प्रगट हुआ है। अहा ! जो इसप्रकार केवलज्ञानपर्याय का निर्णय करता है, उसे स्वयमेव अपने केवलज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। ऐसे निर्णय में क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय समाहित है। यही पुरुषार्थ है; क्योंकि अन्तर्मुखदृष्टि के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुरुषार्थ बिना सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय नहीं होता है। जब अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति होती है, तभी सर्वज्ञपर्याय की सम्यक् प्रतीति होती है।

अरे ! लोग तो बिचारे निमित्त में अटके हैं। वे ऐसा मानते हैं कि द्रव्य की पर्याय निमित्त से होती है अर्थात् निमित्त को कार्य का नियामक मानते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि उपादान में तो अनेक प्रकार की योग्यताएँ हैं; पर जब जैसा निमित्त मिलता है, तब वैसा कार्य होता है; परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। अरे भाई ! जबतक निमित्त पर दृष्टि रहे, राग या पर्याय पर दृष्टि रहे; तबतक स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ नहीं जागता और अपने सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय नहीं होता; तब केवलज्ञान और क्रमबद्ध -पर्याय का सम्यक् निर्णय कैसे हो ? इसप्रकार निमित्ताधीन दृष्टिवाला बहिर्दृष्टि बहिरात्मा ही है। वह सच्चे देव-गुरु को प्राप्त करके भी संसार-परिभ्रमण ही साधता है।

जो केवलज्ञान की पर्याय अनन्त-अनन्त केवलियों के ज्ञान में स्थित पदार्थों को जानती है। ऐसा केवलज्ञान अन्दर में त्रिकाल मौजूद ज्ञान-स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। अहाहा ! ज्ञानस्वभाव परिणमित होकर केवलज्ञान हुआ है। ऐसे अनादि-अनन्त स्वभावों-गुणों का पिण्ड है भगवान आत्मा। मात्र एक गुण से अनुभूतिरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होती; परन्तु 'सम्पूर्ण द्रव्य है' – ऐसी स्वीकृतिपूर्वक सम्पूर्ण द्रव्य से अनुभूति -पर्याय उत्पन्न होती है। तत्त्वार्थसूत्र में भगवान उमास्वामी ने भी 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' – ऐसा सूत्र कहा है। अन्दर में गुण की परिणति और द्रव्य की परिणति भिन्न-भिन्न नहीं होती है। वास्तव में द्रव्य ही अपनी अनेक विशेषताओं रूप परिणमित होता है। ऐसा बताने का प्रयोजन त्रिकाली अभेदद्रव्य की दृष्टि कराना है।

यहाँ कहते हैं कि विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित – ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है – ऐसी 'अनन्तधर्मत्वशक्ति' है। अहा ! विलक्षण अनन्त धर्मों का धारक आत्मद्रव्य है, वह एक भावरूप है। ज्ञान, श्रद्धान,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आनन्द आदि अनन्त वस्तु भिन्न नहीं है। वस्तु तो अनन्त स्वभावों की एकभावरूप एक ही है। एक साथ अनन्तस्वभावरूप वस्तु तो एक ही प्रतिभासित होती है। अहा! ऐसी आश्चर्यकारी अद्भुत चीज आत्मा है। विलक्षण क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के काल में समस्त गुण क्षायिकभावरूप से प्रगट नहीं होते हैं और वस्तुस्वरूप से एकता होने से वस्तु के आश्रय से परिणमन करने पर समस्त गुणों का अंश निर्मल हो जाता है, पर्याय में उछलता है। सम्यग्दर्शन होने पर केवलज्ञान भले न हो; परन्तु सम्यग्ज्ञान तो अवश्य होता ही है और इसप्रकार समस्त गुणों का एक अंश प्रगट हो जाता है। अहा! ऐसो अनन्तधर्मस्वरूप निज आत्मा को जानकर उसका अनुभव करना अथवा उसके अन्तरसन्मुख होकर परिणमना ही मोक्षमार्ग है; मुक्ति का कारण है।

अरे! लोगों ने तो बाह्य व्रत, तप, भक्ति इत्यादि द्वारा धर्म हो जायेगा – ऐसा मान लिया है; परन्तु ये सभी शुभभाव तो राग हैं। भाई! वस्तु में जो चीज है नहीं; उससे अपना कल्याण मानना तो महान भ्रम और पाखण्ड है। अरे भाई! तेरे अनन्त धर्मों में शुभराग नहीं है। शुभराग तो पर्याय में नवीन ही उत्पन्न होता है। पर के लक्ष से पर्याय में नये रागादिभाव उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – जब द्रव्य-गुण में विकार करने की कोई शक्ति ही नहीं है तो विकार कहाँ से हुआ?

उत्तर – पर्याय की योग्यता से, अपने षट्कारक के परिणमन से विकार उत्पन्न होता है; अपना द्रव्य उसका कारण नहीं है और परद्रव्य भी उसका वास्तविक कारण नहीं है। पंचास्तिकाय में अस्तिकाय की सिद्धि की है; वहाँ अस्तिकाय की पर्याय में षट्कारक का परिणमन बताया है। जीव की पर्याय में विकार अपने से स्वतंत्र उत्पन्न होता है।

भाई! तेरी चीज चैतन्यरत्नाकर तो कोई अलौकिक ही चीज है। अहाहा! अनन्त चैतन्य गुणरत्नों का अन्दर भण्डार भरा है। राग की कर्ताबुद्धि में इस भण्डार का ताला बन्द हो गया है। उसके खुलने का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपाय बताते हैं कि राग के ऊपर की दृष्टि छोड़ दे। अनन्त स्वभावों के भेद का लक्ष्य छोड़ और एक ज्ञायकभावरूप चैतन्य में दृष्टि लगा, खजाना खुल जायेगा और अद्भुत, आल्हादकारी आनन्द प्रगट होगा।

समयसार की पाँचवी गाथा में कहा भी है कि –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में अपने स्वभाव से एकत्वरूप और रागादि विकार से विभक्तरूप – ऐसे भगवान आत्मा का स्वरूप आया है और ऐसा ही हमने प्रत्यक्ष अनुभव करके जाना है। अतः हे शिष्य! अपने-अपने अनुभव में स्वसंवेदन से बात को प्रमाण करो। इसप्रकार स्वसंवेदन में भगवान आत्मा राग से भिन्न, एकत्वविभक्तस्वरूप अनुभव में आता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; अतः ज्ञान से ही प्राप्त होता है। वह आनन्द-स्वरूप है; अतः आनन्द की पर्याय से प्राप्त होता है। आत्मा प्रभुत्वशक्ति से भरा है, अतः प्रभुत्व की पर्याय से उसकी प्रभुता का भान होता है। आत्मा अकर्तृत्वशक्ति से भरा है; अतः पर्याय में राग के अकर्तारूप से और ज्ञान के कर्तारूप से अनुभव में आता है। इसीतरह अभोक्तृत्व नाम की एक शक्ति है, जिससे राग का अभोक्ता और आनन्द का भोक्ता रूप से सम्पूर्ण द्रव्य अभोक्तास्वरूप अनुभव में आता है। यदि हम केवलज्ञान के स्वरूप को मान लें तो निमित्त से उपादान का कार्य होता है, व्यवहार से निश्चय होता है तथा द्रव्य की पर्याय सक्रम-अनियत भी होती है – ये सभी विपरीत मान्यतायें सहज ही उड़ जाती हैं अर्थात् तब ऐसी मान्यताओं को कोई अवकाश नहीं रहता।

आत्मा अनन्त धर्मस्वरूप एक है; उसमें राग नहीं है, विभाव नहीं है। वह तो स्वयं स्वयं को तारनेवाला अचिन्त्यदेव है। उसे अन्य कोई तारने-वाला नहीं है। अरे भाई! अपना स्वभाव कैसा है और देव-गुरु-धर्म का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वरूप क्या है – इसे यथार्थ समझे बिना, इनकी पहिचान किए बिना तू किस बल पर मुक्त होगा ? उल्टी मान्यता और कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का सेवन तो तुझे संसार-संमुद्र में डुबोनेवाला है। हे भाई ! तुम स्वयं ही कल्याणस्वरूप हो। तुम स्वयं ही अपनी निर्मल पर्यायों रूप सृष्टि के सृष्टा हो और स्वयं अपने रक्षक हो। भगवान तो कहते हैं कि हमारे जैसे सभी धर्म तुममें भरे हैं। उनकी अन्तर में स्वीकृति कर और भगवान बन जा ! यही मार्ग है; अन्दर में स्वरूप का स्वीकार ही मार्ग है और अस्वीकार ही अमार्ग है।

यहाँ शक्ति के वर्णन में शक्ति का धारक द्रव्य पवित्र है, शक्ति पवित्र है और उसकी परिणति भी पवित्र है। निर्मलपर्याय को ही यहाँ शक्ति की पर्याय में गिना है और शुभाशुभ राग का, विकार का उसमें अभाव है। लोग इसे समझे बिना विरोध करते हैं; परन्तु निश्चय से अर्थात् शुद्धभाव से पर्याय शुद्ध होती है तथा शुभरागरूप व्यवहार से भी शुद्धपर्याय प्रगट होती है – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

भाई ! एक-एक शक्ति के परिणमन में व्यवहार का, राग का अभाव है। यह ख्याल में रखने लायक बात है भाई ! गाँव-गाँव और घर-घर पहुँचाने जैसी यह बात है। स्वरूप के परिणमन की अस्ति में रागादि विकार की नास्ति है।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वाभिमुख परिणमन होने पर जीव के अनन्त धर्मस्वभाव का एकसाथ ही निर्मल परिणमन होता है, तब अनन्त धर्मों का भी एक ही साथ परिणमन होता है। सभी गुण एक ही साथ परिणमित होते हैं। उस परिणमन में राग का, विकार का अभाव है – यही वस्तु का अनेकान्तस्वरूप है। व्यवहार का अभाव और निश्चय का सद्भाव यही वस्तु का सम्यक् अनेकान्त है।

इसप्रकार यहाँ अनन्तधर्मत्वशक्ति पूरी हुई।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति

तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।

तद्‌रूपमयता और अतद्‌रूपमयता जिसका लक्षण है – ऐसी विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति है।

देखो ! समयसार में तत्, अतत् आदि चौदह बोल कहे गये हैं। वहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञायकस्वभावी आत्मा निजज्ञायकस्वभाव से तत् है और परज्ञेय उसमें नहीं हैं; अतः ज्ञेयस्वरूप से वही आत्मा अतत् है। अहाहा ! अपने में जो ज्ञानादि भाव हैं; उनसे आत्मा में तत्पना है; परन्तु आत्मा में जो भाव नहीं हैं, उनसे अतत्पना है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी तत् है; क्योंकि आत्मा ज्ञान से तद्‌रूपमय है; पर आत्मा रागादि से, ज्ञेयों से अतत् है; क्योंकि उसको रागादि से, परज्ञेय से अतद्‌रूपमयता है। अहा ! इसप्रकार तत्पना और अतत्पना – ऐसे दोनों विरुद्ध धर्म एकसाथ जिसमें रहते हैं – ऐसा आत्मा का विरुद्धधर्मस्वभाव है।

समयसार परिशिष्ट में ज्ञान-ज्ञेय के अन्तर्गत तत्-अतत् धर्मों का वर्णन किया है। ज्ञायक ज्ञायकस्वरूप से स्वयं से है और परज्ञेय से नहीं है – इसप्रकार वहाँ आत्मा का तत्-अतत् भाव कहा है। पंचाध्यायी में ऐसा कहा है कि वस्तु वस्तुरूप से, स्वयं से तत् है और परवस्तुरूप से वही अतत् है अर्थात् नहीं है। वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय में भी तत्-अतत्पना घटाया है। अहो ! यह तो वस्तु के अनेकान्तस्वभाव का ही अमृत है।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से तत् और पररूप से अतत् है – ऐसे तत्-अतत् धर्म वस्तु में एकसाथ रहते हैं – ऐसी वस्तु की विरुद्धधर्मत्वशक्ति है। अन्यमत में तो यह बात है ही नहीं। वहाँ तो ऐसा मानते हैं कि एक ही आत्मा सर्वव्यापी है। वे अनेकपना नहीं मानते हैं। पर भाई ! जगत में द्रव्यस्वभाव है, वस्तुस्वभाव है। यहाँ आत्मद्रव्य की बात है; अतः कहा है कि ज्ञान, ज्ञानरूप से है, ज्ञेयरूप से नहीं। इसप्रकार तत्-अतत्पना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मनिष्ठ आत्मा के धर्म हैं। अहाहा! ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा परज्ञेयों का और रागादि ज्ञेयों का ज्ञान करता है; परन्तु परज्ञेय या रागादि उसमें नहीं हैं। आत्मा का अतत्भाव ज्ञेय और रागादि को आत्मा में प्रविष्ट नहीं होने देता। देखो तो सही! यह आत्मा को जीवित रखनेवाला भेदज्ञान! यह तो कोई अलौकिक चीज है बापू!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में एकसाथ दो विरुद्ध शक्तियाँ हैं – ऐसी उनकी विरुद्धधर्मत्वशक्ति है। ज्ञान स्वयं से है, ज्ञेयरूप से नहीं – इसप्रकार जो है, वही नहीं है – ऐसा विरोध लगता है; परन्तु ये विरुद्ध धर्म एक साथ अविरोधरूप से वस्तु में रहते हैं – ऐसी आत्मा की विरुद्धधर्मत्वशक्ति है। यह शक्ति गुण है; अतः इसके परिणमनस्वरूप पर्याय भी होती है। जबकि नित्य-अनित्य तो अपेक्षित धर्म हैं। द्रव्य कायम रहने की अपेक्षा नित्य कहलाता है। नित्य कोई गुण नहीं है; अतः उसकी कोई पर्याय नहीं होती है तथा पर्याय पलटती है – इस अपेक्षा वस्तु अनित्य कहलाती है। अनित्य भी कोई गुण नहीं है; अतः उसकी भी पर्याय नहीं होती। नित्य-अनित्य अपेक्षित धर्म हैं।

आत्मा की विरुद्धधर्मत्वशक्ति उसका स्वभावगुण है। शक्ति कहो या गुण या स्वभाव कहो – एक ही बात है। इस शक्ति का तत्-अतत्रूप से परिणमन भी है। अपने ज्ञानपने ज्ञान रहता है और अज्ञानपने से नहीं रहता। वीतरागता, वीतरागतारूप से है और रागरूप से नहीं है। आनन्द की दशा आनन्दरूप से रहती है, दुःखरूप से नहीं रहती – इसप्रकार तत् -अतत् रूप से वस्तु स्वयं परिणमित होती है – ऐसा आत्मा का विरुद्ध धर्मत्वस्वभाव है। यही सर्वज्ञ भगवान कथित मार्ग है भाई!

वस्तु के अनेकान्तस्वरूप के चौदह बोलों में कहा गया है कि तत्-अतत् के साथ में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा की अस्ति है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा की नास्ति है – इसप्रकार तत्-अतत् धर्मों के साथ-साथ अस्ति-नास्ति आदि अनेक धर्म आत्मा में हैं। इन धर्मों में सर्वप्रथम तत्-अतत् की बात की है; वहाँ ज्ञान-ज्ञेय के बीच में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तत्-अतत्पना बताया है। तत्पश्चात् अस्ति-नास्ति के आठ बोलों का वर्णन किया है। इसप्रकार तत्-अतत्, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य – ऐसे चौदह बोलों से अनेकान्त का स्वरूप समझाया है।

जीव की अपनी पर्याय में अनेक विपरीत भ्रान्तियाँ हो जाती हैं। जैसे राग से भी धर्म होता है और आत्मा पर का कार्य भी करता है – इत्यादि अनेकप्रकार से जीव में अनादिकाल से उल्टी मान्यताएँ पड़ी हुई हैं। अनेकान्त उसका निषेध करके असत्य अभिप्राय छुड़ाकर, वस्तु का सम्यग्ज्ञान कराता है तथा सर्वविरोध मिटा देता है। अहा! विरोध मिटाने का तो उसका स्वभाव है; क्योंकि वस्तु में परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ एकसाथ भले ही हैं; तथापि वे वस्तु का विरोध नहीं करती हैं। बल्कि वस्तु को टिकाये रखती हैं, सिद्ध करती हैं, प्रसिद्ध करती हैं। तत्-अतत्पना वस्तु को वस्तु मे स्थापित करता है। अहो! अनेकान्त ऐसा अभेद्य किला है कि वह आत्मा को सदा पर से भिन्न ही रखता है। पर के एक अंश को भी आत्मा में नहीं मिलने देता। अहा! अन्तर्दृष्टि द्वारा ऐसे निज स्वरूप को जानना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

प्रवचनसार की २०० वीं गाथा में ऐसा कहा है कि "एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रम से प्रवर्तित, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावीरूप विचित्र पर्याय समूहवाले, अगाधस्वभाव और गंभीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों – इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है .... उस शुद्धात्मा का यह मैं मोह उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।

उपर्युक्त कथन में निमित्त से कथन किया है। आत्मा में ज्ञेयसंबंधी ज्ञान तो हुआ है; परन्तु ज्ञेय कभी आत्मा में नहीं आते हैं। भाई! चारों ओर से सत्य समझना चाहिए; अन्यथा एकान्त हो जावेगा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि निमित्त से उपादान का कार्य होता है – ऐसा मानना चाहिए; अन्यथा एकान्त हो जावेगा ?

अरे भाई ! वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। निमित्त तो परवस्तु है। वह वस्तु अपना काम करे और पर का भी काम करे – ऐसे विरुद्धधर्मवाली नहीं है, बल्कि अपना काम करे और पर का काम नहीं करे – ऐसे विरोधी धर्म से वस्तु यथास्थित सिद्ध होती है और यही अनेकान्त है। जब वस्तु पररूप से होती ही नहीं है; तब पर का काम किसप्रकार कर सकती है ? अतः निमित्त से उपादान का कार्य होता है – यह मान्यता मिथ्या शल्य है।

तथा कोई कहता है कि व्रत, तप, भक्ति के शुभराग से धर्म होता है – ऐसा मानो; अन्यथा एकान्त हो जावेगा।

अरे भाई ! भगवान आत्मा निजज्ञानस्वभाव से तद्रूप है और विकार से, शुभाशुभ राग से अतद्रूप है तथा स्वभाव का भान होने पर जो निर्मल परिणति हुई; वही स्वभाव से तद्रूप है और रागादि से अतद्रूप है। जब राग, निर्मल-वीतराग परिणति से तद्रूप ही नहीं है तो राग से धर्म होता है – यह बात ही कहाँ रहती है। इसप्रकार राग से धर्म होता है – यह मान्यता राग की एकताबुद्धिरूप मिथ्या शल्य के अलावा कुछ नहीं है। यही मिथ्या अनेकान्त है।

भगवान आत्मा त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, वह अबंधस्वभावी है और उसके मोक्षमार्गरूप परिणाम भी अबंधस्वभावी ही हैं। अबंध परिणाम बंधन के कारण हों – ऐसा कभी नहीं होता है; अतः जिसके द्वारा बंध होता है, वह शुभराग धर्म नहीं है, वास्तव में वह बंधमार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि अपना ज्ञानस्वरूप अपने से तत्स्वरूप है और वह परज्ञेय से, राग से अतत्रूप है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है और उसकी परिणति भी आनन्दस्वरूप ही होती है। वह परिणति परद्रव्यरूप, परज्ञेय रूप अथवा दुःखरूप नहीं होती है। इसी का नाम अतत् है। अपने स्वभाव के अस्तित्वरूप से, स्वभाव का अनुसरण करके परिणति होती है। यह उसका तत्पना है और वह परभाव के अभावरूप है; यही उसका अतत्पना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। अहा! ऐसा विरुद्धधर्मत्व नाम का जीव का गुण-स्वभाव है।

निश्चय के आश्रय से भी धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से भी धर्म होता है – ऐसी मान्यता में तो विरुद्धधर्मत्वशक्ति नहीं रही; इसमें तो विरुद्धधर्मत्व का अभाव हो गया; परन्तु विरुद्धधर्मत्व तो जीव का स्वभाव ही है। वस्तुतः निश्चय से धर्म होता है और व्यवहार से नहीं – ऐसा विरुद्ध- धर्मत्व है। अहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होता है और ज्ञेय और व्यवहाररूप परिणमित नहीं होता – यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति का कार्य है। भाई! अनेकपना मानने पर विरुद्धधर्मत्व सिद्ध होता है। सभी को एक आत्मा माननेवाले को विरुद्ध-धर्मत्व सिद्ध नहीं होता। वेदान्ती एक, सर्वव्यापक, चैतन्य आत्मा मानते हैं; तो वहाँ एक आत्मा में विरुद्धशक्ति कहाँ से सिद्ध होगी? अर्थात् वहाँ विरुद्धधर्मत्वशक्ति सिद्ध नहीं होगी।

अहा! अपने सन्मुख होकर परिणमन करने पर एकसाथ विरुद्ध धर्मत्वस्वभाव का परिणमन होता है और उसमें राग और पर के परिणमन का अभाव होता है; क्योंकि शक्ति की परिणति राग और पर के परिणाम से अतत्स्वरूप है। इसप्रकार व्यवहार से निश्चय होता है; यह बात स्वयमेव खत्म हो जाती है। शक्ति के वर्णन में द्रव्य, गुण और उसकी निर्मलपर्याय की बात है। शक्ति निर्मल है और उसका परिणमन भी निर्मल होता है। विकार का परिणमन उसमें समाता (शामिल) नहीं है। अहा! वस्तु को अपने स्वभाव से तद्‌रूपमयता है और पर के स्वभाव से अतद्‌रूपमयता है। भगवान आत्मा व्यवहार और परद्रव्य से अतद्‌रूपमय है। जब राग और परद्रव्य के स्वभाव का ही शक्ति के परिणमन में अभाव है तो शरीर और जड़कर्म की बात ही कहाँ रही। आत्मा में कर्म का तो अभाव ही है; क्योंकि आत्मा का स्वभाव कर्म से अतद्‌रूपमय है। अज्ञानी कहता है कि कर्म के उदय से विकार होता है; पर यहाँ इस मान्यता का निषेध किया है।

प्रश्न – तो क्या कर्म कुछ है ही नहीं?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – कर्म है न; परन्तु कर्म कर्म में है, आत्मा में वह नहीं है। आत्मा अपने चैतन्यमय द्रव्य-गुण-पर्यायों के साथ एकरूप-तद्रूप है; परन्तु कर्म से अतद्रूप है, जुदा है। यदि ऐसा न हो तो जड़-चैतन्य का विभाग मिट जाने पर आत्मा और जड़ दोनों एकमेक हो जायें अथवा वस्तु का ही अभाव हो जाए; पर ऐसा कभी होता नहीं है।

कर्म का उदय और विकार दोनों से आत्मा अतद्रूपमय है। विकार विकार में रहता है। विकार परिणति है; पर वह निर्विकार परिणमन में नहीं आती है। निश्चय से तो विकार को आत्मा की वस्तु ही नहीं गिना गया है। विकार पर्याय में है, उसे परमार्थ से परवस्तु कहा है। भाई ! व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है, वह शुभराग है, उसे ज्ञानी अपने स्वरूप में नहीं गिनते। वे उसका स्वामित्व और कर्तापन नहीं रखते।

जो चारित्र गुण है, वह वीतरागतारूप से परिणमित होता है, रागरूप से नहीं परिणमता। दुःख से वह अतद्रूपमय है। ऐसी तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति का लक्षण है। भगवान आत्मा में अनन्त गुण धर्म हैं। वे सभी निर्मल हैं, पवित्र हैं और वे अपनी निर्मल परिणति में तद्रूप-तन्मय हैं तथा विकार और पर का अतन्मयरूप परिणमन होता है। विकार में आत्मा और आत्मा की परिणति तन्मय नहीं है। वास्तव में विकार और व्यवहार का परिणमन आत्मा के अस्तित्व में है – ऐसा नहीं गिना जाता है अर्थात् दृष्टि के विषय में ऐसे परिणमन को गौण कर दिया जाता है। यह तो धीरे-धीरे पचाकर दृढ़ करने जैसी बात है भाई !

बाहर तो बहुत गड़बड़ हो रही है। लोग इस सत्य बात का भी विरोध करते हैं; अतः दृढ़ता के लिए यहाँ विशेष स्पष्टीकरण किया है। आत्मा में ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त निर्मल शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों का उस रूप परिणमन होता है, यह तद्रूपमयता है और रागादिरूप तथा परस्वभावरूप परिणमन नहीं होता है, यह अतद्रूपमयता है। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि रागरूप परिणमन आत्मा की चीज है ही नहीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह तो अनात्मा है, परद्रव्य के स्वभावमय है। यह बहुत गंभीर बात है बापू!

बिल्ली के बच्चे पैदा होने के बाद सात दिनतक बिना आँख खोलें यहाँ-वहाँ फिरते रहते हैं। जब वे अपनी आँख खोलते हैं; तभी जगत देखते हैं। यदि उनकी आँखे न खुलतीं तो भी जगत तो रहता ही तथा आँखें खुलीं; इसलिए जगत है – ऐसा भी नहीं है। यह कोई नई बात नहीं है; बल्कि अनादि से चली आ रही एवं सर्वज्ञपरम्परा से प्राप्त बात है। तुझे खबर न होती तो भी यह बात थी और अब जब तुझे खबर पड़ी है; तब भी यह बात है। यह बात तो अनादि से है, जो समझता है, उसके लिए वह नवीन कहलाती है; परन्तु है तो अनादि से ही। अहो! वीतराग का मार्ग तो प्रवाहरूप से अनादि से चला आया है। भाई! तू प्रयत्न करके यह तत्त्व समझ। मैं अपने स्वरूप से हूँ और पर से नहीं – ऐसा तत्त्व समझ। तेरा अविनाशी कल्याण होगा।

इसप्रकार यहाँ विरुद्धधर्मत्वशक्ति पूरी हुई। ❖ ❖ ❖

अपनी मान्यता को बदल दे

अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुये अनेक भवों में इस जीव को शुभ निमित्त मिलें; परन्तु एक पवित्र सम्यग्दर्शन के बिना जीव अपने गंवारपन से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, जिसे अपने स्वाधीन स्वभाव की पहचान नहीं है और जो यह मानता है कि मेरा सुख मुझे देव-शास्त्र-गुरु अथवा शुभराग इत्यादि पर निमित्त दे देंगे, उसे यहाँ पर ग्रन्थकार ने गंवार मूर्ख कहा है। रे गंवार! तू स्वभाव को भूलकर निमित्ताधीन दृष्टि से ही परिभ्रमण करता रहा है। अपने ही दोष से तूने परिभ्रमण किया है, तू यह मानता ही नहीं कि तू स्वतंत्र है; इसलिए तुझे सुख का अनुभव नहीं होता। कर्मों ने तेरे सुख को नहीं दबा रखा है; इसलिए तू अपनी मान्यता को बदल दे।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ-८६-८७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२९. तत्त्वशक्ति

तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः।

तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप तत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन चेतनरूप से रहता है, परिणमित होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि – 'तद्‌रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति।' अहाहा! सच्चिदानन्द सहजात्मस्वरूप भगवान आत्मा अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में तद्‌रूप है। आत्मा का ऐसा तत्त्वस्वभाव है। यहाँ त्रिकाली एक ज्ञायकभावरूप निर्विकल्प वस्तु को स्वद्रव्य, वस्तु के आधारमात्र अपने असंख्यात प्रदेशों को स्वक्षेत्र, त्रिकाल वस्तुमात्र की मूल अवस्था-स्थिति को स्वकाल तथा वस्तु की सहजशक्ति को स्वभाव कहा जा रहा है – ऐसी अपनी अभेद, अखण्ड, निर्विकल्प, वस्तु की ओर झुकाव करके, उसरूप होकर परिणमना ही धर्म है। यह मार्ग अति सूक्ष्म है बापू! पर है बहुत अलौकिक।

अहाहा! भगवान आत्मा एक ज्ञायकस्वरूप, शुद्धतारूप, आनन्दस्वरूप परम पवित्र प्रभुत्वशक्तिस्वरूप प्रभु है। उसमें तद्‌रूप होना, उस रूप हो जाना तत्त्वशक्ति का स्वरूप है। भवन अर्थात् परिणमनसहित शक्ति की यह बात है। तद्‌रूप भवन अर्थात् परिणमन होना उस शक्ति का कार्य है। अहाहा! शुद्ध ज्ञानरूप में, शुद्ध आनन्दरूप में, शुद्ध समकितरूप में, पवित्र वीतरागतारूप में, शुद्ध प्रभुत्वरूप में, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भगवान आत्मा जैसा है, उस रूप में उसका परिणमन होना तत्त्वशक्ति का कार्य है। उसमें राग का अभाव है। आत्मा मात्र चैतन्य का दल है। उसके उसरूप परिणमन में राग नहीं समाता है। इसप्रकार रागरूप अथवा व्यवहार-रत्नत्रयरूप परिणमना अपना स्वकाल नहीं है, वह आत्मा नहीं है। अरे! लोगों को अपने ऐसे ही स्वरूप को जानने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। जरा विचार तो कर! यहाँ कहते हैं कि जिसमें तद्‌रूप परिणमन

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है; वहाँ ही जाना है। जिसमें परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अभाव है – ऐसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में तद्रूप होना है। यही धर्म करने की विधि है।

देखो ! पहला सौधर्म स्वर्ग है, उसमें ३२ लाख विमान हैं। एक-एक विमान में असंख्य देवता होते हैं। कोई विमान छोटा है तो उसमें संख्यात ही देवता होते हैं। इस देवलोक का स्वामी इन्द्र समकिती और एक भवावतारी होता है। उसकी हजारों इन्द्राणियाँ होती हैं। उनमें एक मुख्य इन्द्राणी होती है। वह भी समकिती ओर एकभवावतारी होती है। एक भव धारणकर वह मोक्ष पावेगी। उस इन्द्र के बाह्य में असीम सम्पदा है; पर वह समृद्धि-सम्पदा अपने स्वरूप से, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से बाह्य है। वह स्वरूपभूत नहीं है – ऐसा वह इन्द्र मानता है, अनुभव करता है।

अहा ! सम्यग्दर्शन क्या चीज है और उसका विषय निज अन्तःतत्त्व एक ज्ञायकमात्र वस्तु कैसी अद्भुत अलौकिक चीज है – इसकी लोगों को खबर नहीं है।

अरे ! लोग तो लाखों रुपये खर्च करके मन्दिर बनाने, प्रतिष्ठा कराने आदि शुभकार्यों में धर्म मानकर अटक गये है; पर ये सभी तो मंदकषाय के परिणाम हैं। भाई ! ये सभी काम ज्ञानी के जीवन में भी होते हैं; पर ये कोई धर्म नहीं हैं। निज शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना धर्म है। वह तद्रूप परिणमन है। धर्मी को उस समय जो शुभराग है, उससे पुण्य ही बंधता है। उस पुण्यबंध और उसके फल का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जावेगा तो मोक्ष प्राप्त करेगा।

राग से भिन्न होकर अन्तरस्वभाव का अनुभव करना, स्वभाव में तद्रूप होकर परिणमना ही धर्म है। राग की रुचि, परवस्तु, देह और धनादि में तन्मयता तो अज्ञान है, मूढ़ता है।

अहा ! यह तत्त्वशक्ति ध्रुव त्रिकाल है; पर उसका परिणमन हुए बिना इस शक्ति की प्रतीति कैसे हो सकती है ? अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणमना, ज्ञातारूप से परिणमना, अकषाय वीतरागभावरूप से परिणमना तद्रूपभवनमय तत्त्वशक्ति है। इस शक्ति के वर्णन में तो बहुत गंभीरता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। जिसप्रकार 'जगत' शब्द में छह द्रव्य, उनके गुण-पर्याय, अनन्त सिद्ध, अनन्तानन्त निगोद राशि इत्यादि सभी समा जाते हैं; उसीप्रकार इस तत्त्वशक्ति में बहुत कुछ समा गया है। अहा ! अपने स्वरूप में, एक चैतन्यरूप में तद्रूप परिणमन का नाम तत्त्वशक्ति है। उसमें राग का अभाव है; क्योंकि चैतन्य में राग का अंश नहीं है।

शास्त्र में ऐसा लिखा है कि मनुष्य भव अनन्तकाल में एकबार मिलता है तथा इस जीव ने अनन्तबार मनुष्य भव प्राप्त किया है। अहो ! इस जीव ने जितने अनन्त भव मनुष्यपर्याय के प्राप्त किये हैं; उससे असंख्यातगुने अनन्त भव नरकगति के प्राप्त किये हैं। नारकी तो मरकर स्वर्ग जाता नहीं है और मनुष्यों की संख्या बहुत कम है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु मरकर स्वर्ग जाते हैं। ढाई द्वीप के बाहर बहुत पशु हैं। उस पर्याय से निकलकर शुभभाव के फल में बहुत जीव स्वर्ग जाते हैं। जीवों ने जितने स्वर्ग के भव प्राप्त किये हैं; उससे असंख्यातगुणे अनन्त भव तिर्यंचगति के प्राप्त किये हैं। एक श्वास लेने जितने समय में तो निगोदिया जीव अठारह भव जन्म-मरण के धारण कर लेता है। अहो ! इस जीव ने अनन्तकाल निगोद में बिताया है। इसप्रकार इस जीव ने चार गति में अनन्त दुःख भोगे हैं।

इस मनुष्यपर्याय में छोटा-सा कांटा लग जाय तो देखो कितना दुःख होता है। एक कांटा लगने मात्र से दुःखी हो जाता है। पहले नरक की कम से कम दस हजार वर्ष आयु होती है। वहाँ भी बहुत दुःखी होता है तो फिर निगोद की क्या बात करना ? भगवान सिद्ध के अनन्त सुख और निगोदिया जीव के अनन्त दुःख – इन दोनों का ही कथन नहीं किया जा सकता है। भाई ! ऐसे दुःख में तुमने अनन्तकाल बिताया है। यहाँ आचार्यदेव इस दुःख से निवृत्ति का उपाय बताते हैं।

वे कहते हैं कि एक बार सुन तो सही प्रभु ! अरे इस भव में तो भव के अभाव करने का उपाय करना चाहिए। अहा ! तेरी वस्तु में एक तत्त्व नाम की शक्ति पड़ी है, उसका तद्रूप परिणमन होता है, यही भव के अन्त का उपाय है। अहाहा ! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। उसमें एकाग्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर परिणमन करने से ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप परिणमन को ही यहाँ आत्मा कहा जा रहा है। शक्ति के परिणमन में विकार की बात ही नहीं है। विकार तो बाहर की चीज है। यहाँ तो क्रमवर्ती निर्मलपर्याय और अक्रमवर्ती गुणों के समुदाय को आत्मा कहा जा रहा है। यह तो सर्वप्रथम ही बता दिया है कि ''ज्ञानमात्र में अविचलितरूप से स्थापित दृष्टि द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित उससे अविनाभूत अनन्त धर्मसमूह में जो लक्षित हो रहे हैं, ऐसे समस्त गुण-पर्यायें वास्तव में एक आत्मा हैं।'' इसप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका तद्‌रूप ज्ञानस्वरूप, आनन्द-रूप, वीतरागतारूप परिणमन होता है, यही भव के अन्त का उपाय है।

बहुत सूक्ष्म बात है बापू! आजकल तो धर्म के नाम पर बहुत भेद हो गये हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव में लोगों ने धर्म मान लिया है; पर यह मान्यता तो मिथ्या है बापू! यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-रूप जो अपनी वस्तु अन्दर, अखण्ड, एकरूप पड़ी है; उस ध्येयभूत निज वस्तु में एक तत्त्वशक्ति पड़ी है। उसका तद्‌रूप, ज्ञाता-दृष्टारूप, वीतरागतारूप, आनन्दरूप परिणमन होता है, वह तत्त्वशक्ति का स्वरूप है, कार्य है। अरे! इस जीव ने यह उपदेश कभी सुना नहीं और मूर्खता से अपनी जिन्दगी बिता रहा है। लौकिक में श्रीमंत आदि उपाधियाँ भले ही धारण करें; पर उनसे क्या फायदा ? वह कोई श्रेष्ठता है क्या ? अपने हाथ में रखा हुआ हथियार अपना ही गला काटे तो वह हथियार क्या काम का ? इसीप्रकार लौकिक श्रेष्ठता से भववर्धन होने लगे तो ऐसी श्रेष्ठता किस काम की ?

जो यह तत्त्वशक्ति है, वह त्रिकाल ध्रुव है। उसके परिणमन में उसकी प्रतीति होती है। परिणमन हुए बिना उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? आत्मा अतीन्द्रिय त्रिकाल है; परन्तु पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्दरस के वेदन हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की प्रतीति कहाँ से होगी ? कारण तो त्रिकाल ध्रुव है। उसके तद्‌रूप कार्य में कारण की प्रतीति होती है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। तत्त्वदृष्टि बहुत सूक्ष्म है बापू!

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु उसके बिना सब व्यर्थ है। इस देह के रजकण तो जब चाहे तेरा साथ छोड़ देंगे और तत्त्वदृष्टि के बिना तू चौरासी के चक्कर में कहाँ अटक जावेगा? कुछ ठिकाना नहीं है; अतः शीघ्र ही तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ कर।

अहो! स्वरूप में जाने से अज्ञानी को भय, खेद और थकान लगती है; अतः उसे स्वरूप के प्रति द्वेष होता है; परन्तु हे भाई! तुम्हारा स्वरूप तो अभय, अखेद है। अहा! एक-एक शक्ति में आचार्यदेव ने कितना-कितना रहस्य भरा है। एक शक्ति ख्याल में आ जाये तो अनन्त शक्तिमय वस्तु ही ख्याल में आ जाये – ऐसी यह बात है। आचार्य जयसेनदेव ने कहा है कि यह जीव एक भाव को यथार्थ जान ले तो अनन्त भाव यथार्थ जानने में आ जाते हैं।

अहा! सर्वज्ञ परमात्मा जो पूर्ण तत्स्वरूप परिणमित होकर सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व दशा को प्राप्त कर चुके हैं, उन भगवान के श्रीमुख से यह बात निकली है। वे कहते हैं कि तेरा स्वरूप मेरी तरह पूर्ण तत्त्वशक्तिमय है। शरीर और रागरूप से परिणमित होना तेरा स्वरूप नहीं है। शरीर तो हाड़-मांस की पोटली है; वह तो जड़, माटी, धूल है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है तथा आत्मा में जो दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उठते हैं, वे भी जड़ के संग से होने के कारण जड़रूप परिणाम हैं। वे चैतन्य के तद्‌रूप भवनरूप नहीं हैं। यद्यपि यह कठोर बात है प्रभु! पर सत्यार्थ है।

अहो! लोग तो अनादि से पापकुण्ड में फंस रहे हैं। वहाँ से निकलें तो दया, दान, व्रत आदि बाह्य क्रियाकाण्ड में रुक जाते हैं; पर ये सभी विकल्प राग हैं और रागरूप से होना तद्‌रूप भवनमय शक्ति का कार्य नहीं है।

अहा! भगवान जिनेन्द्रदेव, सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि तद्‌रूप भवनरूप तेरी शक्ति है। तुझमें तद्‌रूप परिणमन की सामर्थ्य है। तेरे पुरुषार्थ में ऐसी सामर्थ्य भरी है; क्योंकि तद्‌रूप होनेरूप तत्त्वशक्ति का पुरुषार्थशक्ति में रूप है। पुरुषार्थ में स्वयं शुद्धतत्त्व परिणमे – ऐसा तत्त्वशक्ति का रूप है।

भाई! आचार्यदेव तुझे भगवान कहकर बुलाते हैं। ७२ वीं गाथा में आचार्यदेव ने आत्मा को 'भगवान आत्मा' कहकर जगाया है। जिसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

माता बालक को जब झूले में झुलाती है, तब मीठी लोरी गाकर उसकी प्रशंसा करती है, फिर सुलाती है। बालक को अव्यक्तरूप से प्रशंसा प्रिय होती है; उसीप्रकार संत तुझे जगाने के लिए तेरे स्वरूप के मीठे गीत गाते हैं। अरे भाई ! क्या तुझे अपने गुणों के मीठे-मधुर गीत प्रिय नहीं लगते। जाग नाथ ! जाग; चैतन्य की चमत्कारिक शक्ति से भरे भगवान! तुम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हो। तद्रूप भवनरूप अपने स्वभाव को भूलकर दया, दान आदि राग के प्रेम में तूने अपने चैतन्यदेव को मृतक समान कर दिया है। प्रभु! राग के प्रेम में तेरी चैतन्यसम्पदा नष्ट हो रही है, लुट रही है।

प्रश्न – पर शास्त्रों में तो व्रत-तप आदि के परिणामों को धर्म कहा है ?

उत्तर – हाँ कहा है; पर वह कथन तो व्रतादि के विकल्पों को धर्मी पुरुष की धर्मपरिणति का सहचर जानकर, उपचार से किया गया है। उसे उपचारमात्र समझना। वह कोई वास्तविक धर्म नहीं है।

प्रश्न – तो फिर हम क्या करें ?

उत्तर – राग और ज्ञान में सहज ही भिन्नता है। उनका ज्ञान करके भेदज्ञान करना। राग का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव को ग्रहण करना। इसी का नाम धर्म है। धर्मी पुरुष को राग आ जाता है; परन्तु उसमें उसे हेयबुद्धि होती है। उसमें उसे कर्ताबुद्धि और स्वामित्वबुद्धि नहीं होती है।

भगवान! ज्ञान और आनन्दमय तेरा जीवन है। जीवनशक्ति से शक्ति का अधिकार शुरु किया है न ! अहाहा ! जीवनशक्ति में तत्त्वशक्ति का रूप है और तत्त्वशक्ति में जीवनशक्ति का रूप है।

अरे रे ! अन्दर पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है; वह दृष्टि में नहीं आया, उसका तद्रूप भवनमय परिणमन नहीं किया तो जीवन में क्या किया ? कुछ भी नहीं किया, जीवन ऐसे ही चला गया। भाई ! यह बाहर की धूल लाख-करोड़ की सम्पत्ति मिल जाये तो इसमें क्या है ? यह तो धूल है धूल। यह मनुष्य देह छूट जाने के बाद जीव चौरासी के अवतार में रखड़ते हुए पता नहीं कहाँ चला जायेगा। हम तो बारम्बार कहते हैं कि जिसप्रकार धनुष से छूटा तीर कहाँ जावेगा, इसका निश्चय नहीं है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार मिथ्यात्व के वशीभूत जीव चौरासी के अवतार में कहाँ जा पड़ेगा – कुछ भी पता नहीं है। अरे भगवान! जरा अन्दर तो नजर कर! प्रभु! अकेले चैतन्य के दल, चैतन्यचमत्कार स्वरूप तुम आत्मा हो और तद्रूप-भवन-परिणमन यह तुम्हारा कार्य है।

अहो! दिगम्बर सन्तों की यह रामबाण वाणी है। जीव को यह वाणी मिली नहीं और कदाचित् मिली भी तो प्रेम से जिज्ञासापूर्वक सुनी नहीं।

'सूक्ष्म बात है, इसमें हमारा काम नहीं' – ऐसे बहाने करके इसने समझना छोड़ दिया है। अहाहा! पर भगवान आत्मा ज्ञानादि अनन्त स्वभावों का दरिया है। जिसप्रकार पूर्णिमा में समुद्र में पानी की भरती (वृद्धि) हो जाती है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में दृष्टि करने पर पर्याय में तद्रूप भवनरूप ज्ञान और आनन्द की भरती (बाढ़) आती है और इसी का नाम धर्म है।

अहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावमय है। वह एक चैतन्यरूप में परिणमे तो उसका तद्रूप भवन है। अरे चतुर! जब तेरा ऐसा परिणमन हो, तब तेरी चातुरी कही जाये। संवत् १९६४ की बात है पालेज में हमारी दुकान थी। डाह्याभाई घोणसा की भरूच में नाटक कम्पनी आई थी, मीराबाई का नाटक था, उस नाटक कम्पनी के मालिक का नाम डाह्याभाई था। वह मरते समय ऐसा बोला कि हे डाह्या! यदि शान्तिपूर्वक तेरी देह छूटे तो तेरा डाह्यापना अर्थात् सयानपन कहा जाये; उसीप्रकार यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि निज चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य का आश्रय करके अन्तर में निर्विकल्प आनन्द की अनुभवदशा प्रगट करे तो तेरा सयानपन कहा जाये। राग मंद करके लाखों का दान देने में कौन-सी उपलब्धि है? इससे पुण्य बंधता है, संसार मिलता है; परन्तु तद्रूप भवनरूप चैतन्य की, निराकुल आनन्द की परिणति नहीं होती है।

भाई! तेरे आत्मा में तद्रूप भवनमय तत्त्वशक्ति है। उसे पहचानकर अन्तर्मुख होते ही उसका तद्रूप परिणमन होता है और यही धर्म है, यही मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार यहाँ तत्त्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३०. अतत्त्वशक्ति

अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः

'अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति' – अर्थात् आत्मा में तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा अन्य तत्स्वरूप नहीं परिणमनेरूप अतत्त्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण चेतन जड़रूप नहीं होता है।

अहाहा! रागरूप न होना, पुण्यभावरूप न होना, परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप न होना – ऐसी अतत्त्व नाम की जीव में शक्ति है। जिसप्रकार अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से रहने, निर्मल रहने रूप तत्त्वशक्ति है; उसीप्रकार रागरूप न होना एवं पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप न होना भी आत्मा का स्वभाव है और यही अतत्त्वशक्ति है।

अरे! लोग कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायेगा; किन्तु यहाँ स्पष्टरूप से यह कहते हैं कि व्यवहाररूप से नहीं परिणमित होना – आत्मा की अतत्त्वशक्ति का स्वरूप है।

भगवान आत्मा में विकार हो – ऐसा कोई गुण नहीं है; बल्कि आत्मा विकाररूप नहीं होता – ऐसा आत्मा का अतत्त्वस्वभाव-गुण है। विकार होता है – यह तो पर के लक्ष से होनेवाली वैभाविकदशा है। वह कोई शक्ति का कार्य नहीं है। ऐसी सूक्ष्म बात है भाई!

जिसप्रकार अग्नि में दीमक नहीं लगता, सोने में कालिमा-जंग नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में आवरण नहीं है, अशुद्धि नहीं है। अहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण विज्ञानघन, परमपवित्र, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है। उसमें परद्रव्यरूप न होनेरूप एक अतत्त्वशक्ति त्रिकाल विद्यमान है। अहा! आत्मा रागरूप न हो जाये, शरीररूप न हो जाये – ऐसी आत्मा में अतत्त्वशक्ति त्रिकाल है।

दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के भाव राग हैं। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा-विनय-भक्ति का भाव भी राग ही है। शास्त्र लिखने का भाव भी राग

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, विकल्प है। नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा और पंचमहाव्रत के परिणाम – ये सभी विकल्प भी राग हैं। यहाँ कहते हैं कि इन व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप न होने के स्वभावरूप अतत्त्वशक्तिस्वरूप भगवान आत्मा है। अरे! आत्मा रागरूप ही नहीं होता तो स्त्री, पुत्र, महल-मकान और धन सम्पत्तिरूप होने की बात कहाँ रही? अरे! ये सभी तो आत्मा से बहुत दूर हैं। भाई! इन सभी को अपना मानकर अनन्तकाल से हैरान हो रहा है। अरे! अपना स्वरूप अन्दर कैसा है – यह बात इसने अन्तर प्रीतिपूर्वक कभी सुनी ही नहीं। श्री पद्मनन्दिस्वामी पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक ग्रन्थ में कहते हैं –

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिवार्णभाजनम्।।

अहा! इस जीव ने राग से भिन्न निज भगवान आत्मा की बात प्रीतिपूर्वक कभी सुनी नहीं, आचार्यदेव कहते हैं कि अन्तर में प्रीति लाकर जो निज शुद्धात्मा की बात सुनता है, वह अवश्य भविष्य में मोक्ष का अधिकारी होता है।

देखो! पहले कहा था कि आनन्दरूप से परिणमनस्वभाववाली आत्मा की तत्त्वशक्ति है। यहाँ कहते हैं कि रागरूप और जड़रूप परिणमन नहीं करने के स्वभाववाली आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। आत्मा शरीररूप नहीं होता – यह तो ठीक ही है; पर यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय में जो रागादिरूप परिणमन है; आत्मा उसरूप भी नहीं होता है – ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है।

शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमन होना – ऐसी आत्मा की तत्त्वशक्ति है और रागरूप नहीं होना – ऐसी आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। अतः राग करोगे तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा; यह बात बिल्कुल गलत है। मिथ्यात्व के जोर में अज्ञानी ऐसा कहें तो भले कहें; परन्तु रागादिरूप नहीं होने का भगवान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है। अरे! जब वस्तुस्थिति ऐसी है तो पैसा कमाना, रिश्तेदारों को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रसन्न रखना और विषयभोग भोगना आदिरूप आत्मा होता है – यह बात ही कहाँ रहती है ? यह तो सभी बहुत दूर रह गये हैं। अरे ! यह जीव तत्त्व समझता नहीं है और सारा दिन संसार के ही प्रपंच में रचा–पचा रहता है; परन्तु इसका फल बहुत खराब मिलेगा। भाई ! मिथ्यात्व का फल परम्परा से निगोद है।

लोग कहते हैं कि जो जिसमें नहीं है, उसका उस रूप हो जाना, वस्तु का स्वभाव ही नहीं है। अतः राग से तुम्हारा कल्याण हो जायेगा – यह बात बिल्कुल गलत है।

चक्रवर्ती के नवविधान होते हैं; पर बापू ! यह तो धूल-जड़ निधान है; पर भगवान आत्मा में तो अनन्त चैतन्यशक्ति के निधान भरे है; परन्तु उस आत्मा की महिमा लाकर उसकी रुचि इस अज्ञानी ने कभी नहीं की। कभी शास्त्रज्ञान हो गया तो उसमें खुश हो गया, सन्तुष्ट हो गया; परन्तु भाई ! शास्त्रज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है, आत्मज्ञान ही ज्ञान है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा अज्ञानरूप न हो जाय – ऐसी उसकी अतत्त्वशक्ति है। जिसप्रकार परमाणु कर्म हो जाये – ऐसा कोई गुण परमाणु में नहीं है, गुण बिना ही अधर से (अपने आप) परमाणु में कर्मरूपी पर्याय होती है; उसीप्रकार आत्मा में विकार उत्पन्न हो – ऐसी कोई शक्ति नहीं है। स्वतः ही गुण के बिना पर्याय में स्वतंत्ररूप से विकार होता है। गुण और द्रव्य विकाररूप नहीं होते – ऐसा ही द्रव्य का त्रिकालीस्वभाव है। यही अतत्त्वशक्ति का स्वरूप है।

जिसप्रकार एक परमाणुद्रव्य में पीड़ा नहीं है, पीड़ा का अभाव है; उसीप्रकार त्रिकाली आत्मद्रव्य में विकार नहीं है, विकार का अभाव है। विकार उत्पन्न करनेवाली आत्मा में कोई शक्ति ही नहीं है। आत्मा में एक वैभाविकशक्ति है। वह शक्ति विकार करती है, विभावरूप परिणमन करती है – ऐसा इसका अर्थ नहीं है, बल्कि धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों में न होने से उस विशेषशक्ति को वैभाविकशक्ति कहा जाता है। जीव और पुद्गल परमाणु – इन दो द्रव्यों में यह खास शक्ति है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल – इन चार द्रव्यों का तो शुद्ध परिणमन सदा पारिणामिकभावरूप है। इनके द्रव्य-गुण तो पारिणामिकभाव हैं ही, साथ ही इनकी पर्याय भी पारिणामिकभावरूप कही गयी है; क्योंकि उनमें उत्पाद-व्यय रूप पर्याय की धारा शुद्ध एकरूप होती है।

जीवद्रव्य में एक ध्रुव कारणशुद्धपर्याय पारिणामिकभावरूप कही गयी है। नियमसार में ध्रुव कारणशुद्धपर्याय की बात आयी है। धर्मास्तिकाय आदि चारों द्रव्यों के द्रव्य, गुण और पर्याय पारिणामिकभावरूप एकरूप हैं, उनमें उत्पाद-व्ययरूप पर्याय की धारा एकरूप वर्तती है; परन्तु आत्मद्रव्य में एकरूप उत्पाद-व्यय नहीं हैं; उसकी संसारदशा में विकारी पर्याय के उत्पाद-व्यय होते हैं। मोक्षमार्ग में शुद्ध-अशुद्ध पर्याय के उत्पाद-व्यय होते हैं और सिद्धदशा में अकेली शुद्धपर्याय के उत्पाद-व्यय होते हैं। इसप्रकार जीव में उत्पाद-व्यय वाली पर्याय एकरूप नहीं है। चारों द्रव्यों में जिसप्रकार उत्पाद-व्यय की एकरूप धारा त्रिकाल चलती है; उसीप्रकार जीवद्रव्य में उत्पाद-व्यय की धारा त्रिकाल एकरूप नहीं है।

जीवद्रव्य में ध्रुव कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल धारावाही एकरूप है; परन्तु यह कारणशुद्धपर्याय प्रगट उत्पाद-व्ययरूप नहीं है। सामान्य आत्मद्रव्य जो त्रिकाल ध्रुव है, उसके विशेषरूप ध्रुव कारणशुद्धपर्याय है; उसमें उत्पाद- व्यय नहीं हैं। समुद्र की एकरूप सपाटी (तलहटी) की जिसप्रकार कारण- शुद्धपर्याय त्रिकाल ध्रुव है; उसीप्रकार आत्मा की कारणशुद्धपर्याय भी त्रिकाल ध्रुव है। नियमसार की १ से १६ गाथाओं के प्रवचनों में यही बात स्पष्ट की है। सामान्य वस्तु जो ध्रुव है; उसमें एक विशेष ध्रुव कारण-शुद्धपर्याय अनादि-अनन्त वर्तती है, उसे नियमसार की १५ वीं गाथा में पंचमभाव की पूजनीक परिणति कहा है। अरे! आजकल ऐसे सूक्ष्म विषय का श्रवण, विचार, धारणा, मंथन, चिन्तन-मनन नहीं होता है; अतः विद्वानों के भी यह बात गले नहीं उतरती है; परन्तु इससे क्या होगा? भाई! गहरा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तलस्पर्शी विचार और मंथन करके इस बात का निर्णय करना चाहिए। यह जो कारणशुद्धपर्याय है, वह प्रगट पर्यायरूप नहीं है। जिसप्रकार समुद्र में पानी की सपाटी होती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनन्त गुणों का ध्रुवपिण्ड वस्तु है, इसमें सपाटी (समुद्र की तलहटी) के समान अनादि-अनन्त ध्रुव कारणशुद्धपर्याय है। यह बिल्कुल नई बात है। सूक्ष्म चिन्तन-मनन द्वारा इसका यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

जिसप्रकार गुण त्रिकाल ध्रुव हैं; उसीप्रकार प्रत्येक गुण की एक पर्याय भी त्रिकाल ध्रुव अनादि-अनन्त शुद्ध है। वही उत्पाद-व्यय से रहित कारण-शुद्धपर्याय है। अहाहा! इस कारणशुद्धपर्याय में भी अतत्त्वशक्ति व्यापक है। द्रव्य-गुण का तो यह स्वभाव है कि वे विकाररूप नहीं होते। कारणशुद्धपर्याय का भी यही स्वभाव है कि वह विकाररूप नहीं होती है। वह अतत्त्वशक्ति है, जो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। भगवान आत्मा शुद्ध कारणपरमात्मा है, उसके ऊपर दृष्टि रखने पर प्रगट पर्याय में भी आत्मा रागरूप नहीं होता अर्थात् उसका शुद्ध परिणमन होता है। भाई! यह तीनलोक के नाथ भगवान जिनेन्द्रदेव की वाणी है। यहाँ कहते हैं कि जो चैतन्य है, वह चैतन्यरूप से परिणमन करता है, वह जड़रूप कभी नहीं होता है – ऐसी आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। भगवान आत्मा त्रिकाल एक ज्ञायकरूप से रहा है, वह शुभाशुभभावरूप कभी हुआ ही नहीं है, वह जड़रूप कभी हुआ ही नहीं है। अजीव अधिकार में शुभाशुभ भावों को अजीव-जड़ कहा है।

समयसार की छठवीं गाथा में आचार्यदेव ने यह लिखा है कि ज्ञायक-भावरूप आत्मा त्रिकाल ज्ञायकबिम्ब है, वह कभी भी शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ है। चैतन्य का तेज शुभाशुभभावों में फैलता ही नहीं है। भाई! मोक्षमार्ग तो ऐसा है और यही हितकारी मार्ग है। तेरे द्रव्य-गुण और कारणपर्याय की सहजशक्ति ही ऐसी है कि आत्मा की रागरूप पर्याय की दृष्टिवाले अज्ञानी की पर्याय में ही विकार उत्पन्न होता है।

अरे रे! तत्त्वदृष्टि बिना जीव अनादिकाल से दुःखी होकर चारगति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में रखड़ रहा है। देखो ! ब्रह्मदत्त नामक एक चक्रवर्ती था। उसने स्वयं को भूलकर अज्ञान से घोरपाप किये; अतः यहाँ के एक श्वांस के काल्पनिक सुख के फल में वहाँ ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पचहत्तर पल्योपम के दुःख प्राप्त किये। एक पल्लोपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष बीत जाते हैं। यहाँ ७०० वर्ष की आयु को भोगते हुए ऐसे दुष्टभाव किये कि उनके फल में सातवें नरक में जा पड़ा। मिथ्यात्वसहित भाव का इतना दुःख मिलता है और यदि वह जीव आत्मज्ञान और तत्त्वदृष्टि प्रकट कर ले तो उसके फल में अनन्तकाल तक अनन्त आनन्द प्राप्त हो; अतः भाई ! ऐसा आत्मज्ञान तू शीघ्र प्रकट कर, तुझे यह अवसर मिला है।

परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा में अतत्‌रूप है – ऐसी आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। आत्मा अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है, यह उसकी तत्त्वशक्ति है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा नास्तिरूप है, यह उसकी अतत्त्वशक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। स्वरूप से होना और पररूप से नहीं होना – ऐसी जीव में एक विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति त्रिकाल है। इस शक्ति के कारण परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एकसाथ द्रव्य में अविरोध से रहते हैं और द्रव्य को सुस्थित-प्रस्थापित करते हैं। इस तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति के परिणमन में वीतरागता का वेदन होता है; राग के अभावरूप और वीतरागभाव के सद्भावरूप परिणमन वहाँ होता है। इसी का नाम धर्म है। यह समझे बिना व्रत-तपादि सभी व्यर्थ हैं।

अहा ! यह जीव स्व-स्वरूप, एक ज्ञायकभावरूप का अवलम्बन लेकर परिणमन करे – ऐसी आत्मा की तत्त्वशक्ति और विकाररूप परिणमन न करे – ऐसी अतत्त्वशक्ति भगवान आत्मा में है; उसकी यथार्थ पहचानकर स्वावलंबन करना ही हितरूप है, लाभरूप है।

इसप्रकार यहाँ अतत्त्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३१. एकत्वशक्ति

अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः।

अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयपने रूप एकत्वशक्ति है। अहा! आत्मा में एकत्व नाम का एक त्रिकाली गुण-स्वभाव है। अनेक गुणपर्याय में-भेद में व्यापक ऐसा एकद्रव्यमयतारूप एकपना आत्मा का स्वभाव है। कलशटीका में जो एक-अनेकपना बताया है, वह इससे भिन्न बात है। वहाँ तो मैं एक हूँ, अनेक हूँ – ऐसा विकल्प छुड़ाया है। यहाँ तो एक ज्ञायकमात्र आत्मवस्तु के आश्रय करने पर पर्याय में एकत्वशक्ति का परिणमन होता है – ऐसे एकत्वगुण की बात कही जा रही है। ४७ नयों में भी एक-अनेक नय आते हैं। इसप्रकार तीनप्रकार से शास्त्रों में एक-अनेक का वर्णन आता है।

१. यहाँ एकत्व, अनेकत्वशक्ति की बात है।

२. कलशटीका में एक-अनेक के विकल्प छोड़ने की बात है।

३. प्रवचनसार में नय अधिकार में एक-अनेक रूप अपेक्षित धर्म की बात है।

जिसप्रकार अंगारे में मात्र अग्निपना है; उसीप्रकार एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा में लोकालोक प्रमाणस्वरूप एकरूप ज्ञान अद्वैत है। अद्वैत अर्थात् एक। दो और अनेक नहीं। वेदान्ती जो अद्वैत-एक कहते हैं, वह तो विपरीत है; क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि जगत में कुछ भी द्वैत नहीं है। सभी अद्वैत है -एक है।

प्रवचनसार के नयप्रज्ञापन अधिकार में अद्वैत-द्वैतनय कहे हैं – वहाँ कहा गया है कि – "आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैत नय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से) ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है एवं "आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संयुक्त दर्पण की भांति, अनेक है अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतनय से अनेक है, जैसे

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है।

जिसप्रकार अग्नि ईंधन के साथ एकरूप हो जाती है; उसीप्रकार आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से एक है अर्थात् ज्ञेय का ज्ञान और ज्ञान का ज्ञान एक है। ज्ञेय तो ज्ञेय में रह गया; परन्तु ज्ञेय का ज्ञान – वह आत्मा का ज्ञान है – इसप्रकार अद्वैतपना है। ईंधन की वस्तु जलकर अग्निमय हो जाती है। ईंधन की अग्नि भी अग्नि की ही अग्नि है। इसप्रकार अद्वैत हैं; इसीप्रकार आत्मा एक है – यह जो 'एक है' वह अपेक्षित धर्म है। जिसप्रकार अग्नि ईंधनरूप हो जाती है; उसीप्रकार ज्ञेय का ज्ञान और अपना ज्ञान एकरूप हो जाता है। यह अद्वैतनय है।

द्वैतनय से आत्मा अनेक है। पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की तरह। पर के प्रतिबिम्बों से सहित दर्पण जिसप्रकार अनेक है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में ज्ञान में ज्ञेय के संग से अनेकरूप हैं। ज्ञान तो अपने से होता है। ज्ञेय तो उसमें मात्र निमित्त है। दर्पण में जब प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब दर्पण और प्रतिबिम्ब – ऐसा द्वैत हो गया। इसीप्रकार ज्ञेय का ज्ञान और अपना ज्ञान – ऐसा द्वैत हो गया।

भगवान को एक अपेक्षा से सर्वगत कहा जाता है। प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने आत्मा को कथंचित् सर्वगत कहा है। आत्मा में लोकालोक अर्थात् सर्व का ज्ञान हो जाता है – इस अपेक्षा से आत्मा को वहाँ सर्वगत कहा है। पूर्णज्ञान-केवलज्ञान सबको जानता है; अतः उसे सर्वगत कहा है; परन्तु सर्वगत अर्थात् पर में व्यापक हो जाता है, पसर जाता है – ऐसा इसका अर्थ नहीं है। बर्फ और अग्नि दर्पण के बाहर रहते हैं; उनका दर्पण में मात्र प्रतिबिम्ब दिखता है। दर्पण के अन्दर कुछ बरफ या अग्नि नहीं है। जो दिखाई देता है, वह तो दर्पण की स्वच्छ अवस्था है। वहाँ दर्पण और स्वच्छता में झलकनेवाला प्रतिबिम्ब – ऐसा द्वैत हुआ। इसीप्रकार ज्ञेय का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान – ऐसा द्वैत हुआ। इसप्रकार द्वैतनय से आत्मद्रव्य अनेक है।

कलशटीका में एक-अनेक शब्द आया है। नय-अधिकार में भी

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक-अनेक कहा है और यहाँ, शक्ति के अधिकार में भी एक-अनेक शक्ति कही जा रही है। इसप्रकार भाई! तत्त्व बहुत विशाल और गम्भीर है। यहाँ कहते हैं कि हैं कि अनेक गुण-पर्यायों में व्यापक – ऐसा एकद्रव्यमयतारूप आत्मा एक है। अहा! एकत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है। उसका स्वरूप यह है कि अनेक निर्मल-पर्यायों में व्यापक होने पर भी आत्मा द्रव्यरूप से एक ही रहता है; अनेक नहीं होता। सूक्ष्म बात है प्रभु! यह जो द्वैत-अद्वैत कहे, वे गुण नहीं हैं; बल्कि वस्तु के अपेक्षित धर्म हैं। इनका परिणमन नहीं होता है। इस एकत्वशक्ति का परिणमन होने पर द्रव्य के, भगवान ज्ञायक के एकपने का ज्ञान होकर आनन्द की अनुभूति होती है। अहो! यह अलौकिक बात है। आत्मद्रव्य के एकपने की अनुभूति, वेदन बिना जो कोई कायक्लेश करता है, व्रत पालता है, शास्त्र बाँचता है, वह सभी कुछ संसार है।

भगवान आत्मा अपनी एकत्वशक्ति से सर्व पर्यायों में व्यापनेवाला, पसरनेवाला एकरूप त्रिकाल एकद्रव्यमय वस्तु है। गजब बात है भाई! अहाहा! अपने सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक, ऐसा सर्वव्यापक एकद्रव्यमय, एकत्वरूप भगवान आत्मा है। अरे भाई! तेरा आत्मा, पर में व्यापक नहीं है और वह क्रोधादि विकार में भी व्यापक नहीं है और कभी अनेकरूप, भेदरूप हुआ नहीं, होता नहीं; अतः अनेक का, भेद का लक्ष छोड़कर एक ज्ञायक का लक्ष कर! ऐसा करने पर तुझे स्वभाव के साथ में एकमेक ऐसी सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट होंगी।

अहा! इस एकत्वशक्ति का परिणमन होने पर पर्याय में आत्मद्रव्य का एकपना प्रगट होता है। वेदान्त में जो अद्वैत-एकपना कहा है, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो अपने गुणपर्यायों में व्यापकपने की, एकमयपने की बात है। देखो! यहाँ क्या कहा है? 'अनेक पर्यायों में व्यापक .....' ऐसा कहा है। सर्वद्रव्यों में व्यापक यह बात नहीं है। आत्मा परद्रव्य में कभी भी व्यापक नहीं है। अपने अनेक पर्यायों-भेदों, अनन्तगुण की निर्मलपर्यायों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की कोई बात नहीं है; क्योंकि आत्मद्रव्य रागादिरूप मलिनपर्याय में व्यापक नहीं होता है। अहाहा ! अपनी अनेक, अनन्त निर्मलपर्यायों में व्यापक – ऐसी एक द्रव्यमय एकत्वशक्ति आत्मद्रव्य में है।

यह बात तो ठीक है; परन्तु इससे क्या धर्म हो जायेगा ?

अरे भाई ! मेरा आत्मा शरीरादि परद्रव्य में और विकार में व्यापक नहीं है। यह तो मात्र अपनी अनन्त निर्मलपर्यायों में ही व्यापक होता है – ऐसा जाननेवाले, निर्णय करनेवाले की दृष्टि विकार और परद्रव्य से खिसककर त्रिकाली निज आत्मद्रव्य के ऊपर स्थिर होती है और इसी का नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है। अरे भाई ! तेरे गुणपर्यायों से बाहर दूसरा कोई पदार्थ तेरा आत्मा नहीं है; अतः तू बाहर मत खोज, अन्तर में खोज, अन्तर्मुख होकर स्वरूप में एकमेक होकर ढल जा; क्योंकि धर्म धर्मी के साथ ही एकमेक है। भेद का लक्ष छोड़कर निज एकत्वरूप त्रिकाली आत्मद्रव्य की दृष्टि करेगा तो तुझे पर्याय में आनन्द का स्वाद आयेगा और इसी का नाम सम्यग्दर्शन है-सम्यग्ज्ञान है।

शास्त्रज्ञान जितना हो जावे उतना ही ठीक है; क्योंकि ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान हो जाने पर भी कोई लाभ नहीं है। अभव्य को भी ऐसा ज्ञान हो जाता है। एकबार यहाँ बात चली कि अभव्य को त्रिकाली ज्ञानशक्ति होती है; पर उसे ज्ञान की परिणति नहीं है। ज्ञानपरिणति अर्थात् क्या ? ज्ञानस्वभाव में एकत्वदृष्टिपूर्वक ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्पर्श करके जो ज्ञानपर्याय प्रकटती है; उसका नाम ज्ञानपरिणति है। उसे ज्ञानपरिणति कहो, सम्यग्ज्ञान कहो अथवा आत्मज्ञान कहो अथवा धर्मी का ज्ञान कहो सभी एक ही बात है।

प्रश्न – तो क्या इस बात को समझे बिना धर्म नहीं होता ?

उत्तर – नहीं, नहीं होता। समझ-विवेक बिना अन्य किसी भी प्रकार से धर्म नहीं होता।

प्रश्न – पशुओं को भी आत्मज्ञान हो जाता है तो क्या वे इसके लिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पढ़ने जाते हैं ?

उत्तर – पशुओं को भी ज्ञान में सबकुछ ख्याल आ जाता है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ; जो राग होता है, वह दुःख है – इसप्रकार ज्ञान और राग के बीच में भेदज्ञान पशुओं को होता है। उन्हें तत्त्वों के नाम बोलना भले न आवे; पर तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान उन्हें बिल्कुल ठीक हो जाता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में इसका खुलासा किया गया है। वहाँ कहा है कि तिर्यंच को नवतत्त्व के नाम भले ही न आवें; परन्तु उनका भावभासन उसे यथार्थ हो जाता है।

भाई ! मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ; भगवान आत्मा हूँ – ऐसा निश्चय करके निमित्त, राग और पर्याय का आश्रय छोड़कर, त्रिकाली निज ज्ञायकभाव का आश्रय करने पर अनाकुल आनन्द का स्वाद आता है – इसी का नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है। अहा ! ऐसी धर्मपरिणति पशु के भी होती है; उसे शास्त्र पढ़ने की क्या जरूरत है ?

जो शास्त्रज्ञान का, व्रतादि का अभिमान करता है; उसे अनुभवरस प्रगट नहीं होता है। इसमें व्रत करना चाहिए, तपस्या करना चाहिए, जीवों की दया पालना चाहिए – इसप्रकार मोहमद से जो मतवाला है; वह अनुभव से बाहर रह जाता है, बहिरात्मा हो जाता है एवं जो पर के ममत्व को छोड़कर अपने एक ज्ञायक का आश्रय करता है, उसे आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। वह अन्दर में बैठकर अनुभवरस पीता है, आनन्दरस पीता है।

जिसप्रकार पशुओं को खूंटे से बांधने पर वे कहीं भाग नहीं पाते हैं; उसीप्रकार जिसने आत्मा को एकत्वरूप त्रिकालीध्रुव के खूंटे से बांध दिया है; वह परिभ्रमण नहीं करता है। अहाहा ! भगवान आत्मा ज्ञायक प्रभु स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दमय ध्रुव खूंटा है। उस ध्रुव को ध्येय बनाकर जो उसका ध्यान करता है, उसे मात्र ज्ञान का स्वाद आता है। उसे स्वानुभवरस प्रगट हो जाता है तथा वह चारगति में परिभ्रमण नहीं करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'मैं ध्रुव हूँ' – इसप्रकार ध्येयसंबंधी विकल्प करने की यह बात नहीं है। ध्रुव की ओर लक्ष्य करके परिणमन करने की बात है। पर्याय पर-सन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुखता एक ध्रुव ज्ञायक की सन्मुखता करके परिणमित होती है। अहाहा! ध्रुव को लक्ष में लेनेवाली पर्याय ध्रुव के साथ एकमेक हो गई है। अब यह जीव परिभ्रमण नहीं करेगा। जो आत्मा के एकत्व से छूटकर यहाँ-वहाँ फिरता है, स्वद्रव्य से भिन्न होकर जो रागादि विकार के साथ में और परद्रव्य के साथ में एकमेक होकर परिणमन करता है, वह जीव चारगति में परिभ्रमण करता है; परन्तु राग से भिन्न अन्दर स्वयं आनन्दकन्द एक ज्ञायकप्रभु है; वहाँ दृष्टि लगाकर पर्याय को ध्रुव खूंटे के साथ बाँध देने पर, भव में भटकना नहीं होगा। विकार में वह जीव नहीं भटकेगा। वह अब निर्भय और निःशंक हो गया है। वह विकार और भव का नाशक है। अल्पकाल में ही वह मुक्ति पावेगा।

इस शक्ति के वर्णन में थोड़े शब्दों में बहुत रहस्य भर दिया है। देखो! यहाँ संत महाराज कहते हैं कि मैं एक हूँ, शुद्धज्ञायक हूँ – ऐसे विकल्प की चिन्ता में भी जब भगवान आत्मा व्यापक नहीं है तो फिर इस देह में कैसे व्यापक हो सकता है। अज्ञानी जीव को ऐसा लगता है कि आत्मा देह में नहीं रहता है तो कहाँ रहता है? क्या अधर में या आकाश में रहता है? उससे कहते हैं कि भाई! धैर्य रख। बापू! जिसप्रकार देह जड़ है; उसीप्रकार आकाश भी जड़ है; क्या जड़ में आत्मा रहता है? नहीं आत्मा तो निज चैतन्य की निर्मल-निर्मल पर्यायों में रहता है। अरे! जिसे ऐसा निश्चय होता है, उसे देह की क्या चिन्ता।

अहा! मेरा आत्मा मेरी पर्यायों में ही व्यापक है। दूसरा कोई मेरी पर्यायों में व्यापक नहीं है। जो ऐसा निर्णय करता है, उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। ऐसा निश्चय होने पर उसकी पराश्रयपने की बुद्धि मिट जाती है और स्वाश्रय की भावना जाग्रत हो जाती है और वह एक स्वद्रव्य का ही अवलंबन लेकर शुद्ध पर्यायों रूप निरन्तर परिणमन करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय-पर्याय में उसे एकत्वस्वरूप निज आत्मद्रव्य का ही अवलंबन वर्तता है और शुद्ध आत्मद्रव्य के अवलंबन से प्रगट होनेवाली निर्मल-निर्मल पर्याय ही प्रगट होती है। अहा! धर्मी पुरुष की सभी पर्यायें एक शुद्ध आत्म -द्रव्य को ही उपादेय मानकर परिणमित होती हैं। उसकी पर्याय में व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आदि दूसरा कोई उपादेय नहीं है।

पर मुनिराज को पंचमहाव्रतादि व्यवहारचारित्र तो होता है न?

हाँ; मुनिराज को पंचमहाव्रतादि व्यवहार आचरण होता है; परन्तु वह तो विकल्प है, राग है। मुनिराज को वह उपादेय नहीं है, हेय है। उपादेय तो एक शुद्ध आत्मद्रव्य ही है। अध्यात्मपंचसंग्रह में आता है कि –

दया, दान, पूजा, शील, संयमादि शुभभाव।
ये हु पर जानै नांहि, इनमें उमैया है।।

अज्ञानी जीव दया, दान, व्रत आदि शुभभाव पर हैं – ऐसा तो जानता नहीं है एवं उन्हीं में उल्लसित हो जाता है। मैं धर्म कर रहा हूँ – ऐसा वह मानता है। जबकि ज्ञानी पुरुष शुभाशुभ की परम्परा का त्याग करके जाग्रत हो गये हैं तथा ज्ञानवान चिदानन्दस्वरूप आत्मा में जम जाते हैं एवं ऐसा चिन्तन करते हैं कि भगवान परमात्मा की समस्त वाणी का यह सार है कि मैं समयसार हूँ एवं पुण्य-पाप मेरे नहीं हैं।

देखो! यह भगवान की वाणी का निचोड़! परन्तु अज्ञानी अपने स्वरूप को भूलकर भिखारी की तरह मुझे पैसा चाहिए, बंगला चाहिए, इज्जत चाहिए – ऐसा तृष्णावन्त होकर शुभाशुभ आचरण करता है; पर इससे क्या फायदा? ज्ञानदर्पण ग्रन्थ में दृष्टान्त देकर कहा है कि 'यदि जटा बढ़ाने से सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती हो तो बरगद के मोटी जटा होती है उसे सिद्धि क्यों नहीं मिल जाती एवं बाल तो भेड़ भी काटती है, नग्न तो पशु भी रहते हैं और वृक्ष भी वर्षा-गर्मी सहन करते हैं एवं पढ़ने से भी क्या फायदा? क्योंकि तोता मुख से पाठ करता है एवं बगुला भी ध्यान करता है; क्योंकि इसमें आत्मा का क्या है? कुछ भी नहीं है।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३२. अनेकत्वशक्ति

एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः।

एक द्रव्य से व्याप्त (व्यापनेयोग्य) जो अनेक पर्यायें हैं – उनमयरूप अनेकत्वशक्ति है अर्थात् द्रव्य में अनेक पर्यायों के व्यापनेयोग्यरूप जो शक्ति है, वह अनेकत्वशक्ति है।

त्रिकाल एकत्वस्वरूप भगवान आत्मा द्रव्य है, उससे व्याप्य अनेक पर्यायें हैं। उनमयपने रूप आत्मा की अनेकत्वशक्ति है। द्रव्यरूप से आत्मा एक होने पर भी अनेकपर्यायों रूप से स्वयं ही परिणमित होता है। – ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है। इसप्रकार एकत्व की तरह अनेकत्व भी आत्मा का गुण स्वभाव है। वेदान्तवादी सभी को मिलाकर एक मानते हैं। वे अनेक पदार्थ नहीं मानते; परन्तु उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। वे कहते हैं कि 'आत्मा का अनुभव करो' – उनका ऐसा कहने से ही दो चीज हो गईं। एक आत्मा और दूसरा अनुभव; फिर भी वे अनेकपने का निषेध करते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता गलत है। भक्तामर स्तोत्र के २४ वे श्लोक में आता है कि –

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं।
ब्रह्माणमीश्वरमनंत मनङ्गकेतुम्।।
योगीश्वरं–विदित योगमनेकं।
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।।

हे नाथ ! आप आद्य हो। कभी नष्ट न होने से आप अव्यय हो। विकल्पों के द्वारा आपका चिन्तन कर आपको जाना नहीं जाना जा सकता है; अतः आप अचिन्त्य हो, असंख्य हो, ब्रह्म हो। लौकिक में जिसे ब्रह्म कहा जाता है, आप वह ब्रह्म नहीं हो; बल्कि आपमें केवलज्ञान की ज्योति जगमगाती हुई प्रगट हुई है; अतः आप ब्रह्म हो, आप योगीश्वर हो, योग के जानकार हो, अनंत हो, अनंगकेतु हो, एक हो, अनेक हो।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो ! यहाँ भक्तामर में भी यही आया है कि – आप एक व अनेक भी हो । भाई ! एक पने और अनेकपने रूप – ऐसे दो गुण-शक्तियाँ आत्मा में त्रिकाल एकसाथ ही रहती हैं ।

आप विमलज्ञानस्वरूप हो – ऐसा संत-मुनिवर और गणधरदेव कहते हैं । अहाहा ! हे प्रभु ! आप मात्र ज्ञान के पुन्ज हो । ये सभी परमात्मा के गुण वस्तुतः आत्मा के ही हैं; क्योंकि जो अन्दर होता है, वही तो बाहर प्राप्त होता है । भाई ! इस स्तुति में प्राप्त की प्राप्ति होती है – इसी का वर्णन किया गया है । तत्त्वज्ञानतरंगिणी के प्रत्येक श्लोक में आता है कि 'चिद्रूपोऽहं' – मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ । भाई ! यह तो समझकर अन्दर ठहरने का, रमने का एवं सुखी होने का मार्ग है ।

भाव- दीपिका में लिखा है कि –

अचल अखण्ड अबाधित अनुपम महा,
आत्मिक ज्ञान का लखैया सुख करै है।

भाई ! आत्मा को जाननेवाला सुख पाता है, शेष सभी संसार दुःखों में वर्तते हैं ।

देखो ! यहाँ अनेकत्वशक्ति की बात चलती है । एक द्रव्य में व्यापनेवाली अनेकपर्यायों रूप आत्मद्रव्य परिणमित होता है । आत्मा की ऐसी अनेकत्वशक्ति यहाँ सिद्ध की है । जीव में एकत्वशक्ति की तरह अनेकत्व शक्ति भी त्रिकाल रहती है । एकरूप रहना और अनेकरूप रहना – ऐसे दोनों स्वभाव भगवान आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं । यदि मात्र एकत्व हो तो द्रव्य फिर किसमें व्यापेगा, पसरेगा ? एक पर्याय पलटकर दूसरी निर्मल -पर्यायरूप आत्मा किसप्रकार होगा? तथा यदि मात्र अनेकत्व हो तो अनेक पर्यायें किसके आधार से होंगी ? इसप्रकार आत्मा में एकसाथ एकत्व और अनेकत्व – दोनों शक्तियाँ त्रिकालसत्तारूप सिद्ध होती हैं ।

अहा ! आत्मा की सम्यग्दर्शनादि पर्यायों में कौन व्यापता है ? तो कहते हैं कि परद्रव्य, निमित्त तो व्याप्त होते ही नहीं, स्वयं परिणमित होकर सम्यग्दर्शनादि पर्यायों में आत्मा व्याप्त होता है । आत्मा उसरूप हो जाये – ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है; अतः हे भाई ! सम्यग्दर्शनादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मल- पर्यायों की सिद्धि के लिए तुम सिद्धसमान निज आत्मद्रव्य को देखो। शुद्ध एकस्वरूप का अवलंबन करो। एक आत्मा ही समस्त निर्मल पर्यायों में पसरता है – ऐसी अपनी अनेकत्वशक्ति को जानकर, निमित्त और भेद का लक्ष मिटाकर शक्तिवान ध्रुव एक आत्मद्रव्य का आश्रय करो, स्वसन्मुखता करो। ऐसा करने से ही आत्मा में क्रमशः निर्मल-निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। इसी का नाम धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

प्रवचनसार में नयप्रज्ञापन अधिकार में क्रियानय और ज्ञाननय से मोक्ष होता है – ऐसी बात आयी है। वह कथन मूलतः इसप्रकार है – "आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है, खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय, ऐसे अंधे की भांति एवं आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है; मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भांति।"

देखो ! क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से मोक्ष होता है – ऐसा कहा है; पर कौन-सा अनुष्ठान ? भाई ! राग के अभावरूप अनुष्ठान की यह बात है। इस अधिकार के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि –

"प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एकद्रव्य है; क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्तनय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से वह आत्मद्रव्य प्रमेय होता है, ज्ञात होता है।

देखो ! श्रुतज्ञानप्रमाण में एकसाथ अनन्त धर्म दिखते हैं; अतः क्रिया-नय के विषयरूप धर्म और ज्ञाननय के विषयरूप धर्म भिन्न-भिन्न काल में हैं – ऐसा नहीं है। ये तो अपेक्षित धर्म हैं। राग के अभावरूप अनुष्ठान से, क्रियानय से मोक्ष की सिद्धि होती है – ऐसा वहाँ कहा है; परन्तु उसी काल में ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से मोक्ष होता है – ऐसा धर्म भी साथ ही है। श्रुतज्ञानप्रमाण एकसाथ सभी धर्मों को देखता है। पहले ज्ञाननय और बाद में क्रियानय – ऐसा कुछ नहीं है। जहाँ क्रियानय से मोक्ष कहा गया हो, वहाँ राग के अभावरूप धर्म की अपेक्षा लेना। जहाँ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' – ऐसा कहा है, वहाँ भी वीतरागी क्रिया से मोक्ष होने की बात है।

नयों के विषयभूत धर्म द्रव्य में एकसाथ रहते हैं। श्रुतज्ञान को प्रमाण कहा है। वह श्रुतज्ञानप्रमाण एकसमय में द्रव्य में एकसाथ रहनेवाले सर्व धर्मों को जानता है। अतः किसी को क्रियानय से मोक्ष होता है और किसी को ज्ञाननय से मोक्ष होता है – ऐसा नहीं है। वस्तु ही ऐसी नहीं है; अतएव वहाँ 'श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह आत्मद्रव्य प्रमेय होता है' – ऐसा लिखा है।

भाई ! एक समय की योग्यता को ज्ञान जानता है। जिससमय मुक्ति होना हो, उसीसमय होती है। कालनय से मुक्ति और अकालनय से मुक्ति – ऐसा भी नयों के वर्णन में आता है। वहाँ मुक्ति तो अपने काल में ही होती है, आगे-पीछे नहीं; परन्तु कालनय में काल की अपेक्षा से बात है; अतः किसी को कालनय से मुक्ति होती है और किसी को अकालनय से – ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। अरे ! आजकल तो शास्त्र के अर्थ करने में बहुत गड़बड़ चलती है। भाई ! लोग कदाचित् तुम्हारी मिथ्या बातों को भी मान लेंगे; परन्तु तुम्हें उससे बहुत हानि होगी।

निश्चयनय का विषयरूप एकधर्म और व्यवहारनय का विषयरूप दूसरा धर्म – यह बात भी वहाँ है। ये सभी अपेक्षित धर्म एकसाथ गिनाये गये हैं। किसी को निश्चयनय से और किसी को व्यवहारनय से मुक्ति होती है – ऐसी बात नहीं है। शास्त्र में किस अपेक्षा से कहा है, यह अज्ञानी जीव उसे तो समझता नहीं है और अपनी मति-कल्पना से अर्थ करता है; अतः महाविपरीतता होती है; अतः अपेक्षा समझकर अर्थ करना चाहिए।

एकत्वशक्ति के वर्णन में एकद्रव्यमयता कही थी। यहाँ अनेकत्वशक्ति के वर्णन में एकद्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें हैं; उसरूपमय अनेकत्व शक्ति है। एकत्व और अनेकत्व – दोनों स्वभावरूप स्वयं आत्मा ही है; अतः आत्मसन्मुखता से ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है, राग से और परनिमित्त से नहीं होती; क्योंकि राग का और पर का शक्तियों में अभाव ही है।

इसप्रकार यहाँ अनेकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३३-३४. भावशक्ति और अभावशक्ति

भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः।

विद्यमान अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति तथा शून्य अवस्थायुक्तता-रूप अभावशक्तिः।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें जीवत्वशक्ति से प्रारम्भ करके अनेकत्वशक्ति तक की ३२ शक्तियों का वर्णन हो चुका है। अब ''भाव'' और ''अभाव'' आदि संयुक्त रूप से छह शक्तियों का वर्णन करते हैं।

भावशक्ति और अभावशक्ति, भाव-अभावशक्ति और अभाव-भाव शक्ति, भाव-भावशक्ति और अभाव-अभावशक्ति।

उनमें से प्रथम भावशक्ति तथा अभावशक्ति का वर्णन चलता है। ''ज्ञानस्वरूप आत्मा में विद्यमान अवस्थामयपनेरूप भावशक्ति है तथा शून्य-अविद्यमान अवस्थामयपनेरूप अभावशक्ति है।'' आत्मा त्रिकाल-स्थायी वस्तु है और उसमें कोई न कोई अवस्था वर्तती ही है। आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जिससे प्रतिसमय कोई अवस्था विद्यमान होती ही है। इसलिए दूसरे के कारण अवस्था होती है – यह बात नहीं रहती और भाव -शक्ति से वर्तमान में जो अवस्था विद्यमानरूप से वर्तती है, उसके अतिरिक्त अन्य सर्व अवस्थाएँ अविद्यमानरूप हैं – ऐसी अभावशक्ति आत्मा में है। यदि वर्तमान अवस्था विद्यमान न हो तो वस्तु ही न हो और यदि पूर्व-पश्चात् की अवस्थाओं का वर्तमान में अभाव न हो तो पूर्व का अज्ञान कभी (ज्ञानदशा में भी) दूर नहीं होगा तथा साधकपने में ही भविष्य की केवल-ज्ञानदशा हो जायेगी; किन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमानरूप से एक अवस्था वर्तती है, वह भावशक्ति का कार्य है और उस अवस्था में दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं – वह अभावशक्ति का कार्य है। देखो, इसमें पर्यायबुद्धि उड़ जाती है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य साथ ही

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साथ वर्तता है; किन्तु एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं वर्तती और ऐसी ही दृष्टि से जहाँ आत्मा निर्मलभावरूप परिणमित हुआ, वहाँ उस निर्मलभाव में विकार का अभाव है। पर्याय में विकार का विद्यमानपना ही भासित हो, विकार का अभाव भासित न हो तो उसने सचमुच आत्मा की भाव-अभाव शक्ति को नहीं जाना है।

आत्मा है, किन्तु उसकी कोई पर्याय नहीं है – ऐसा माने अथवा पर के कारण पर्याय का होना माने या पर्याय में आत्मा दिखलाई नहीं देता – ऐसा माने तो उस जीव ने सचमुच भावशक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना है। हे भाई ! पूर्व की पर्यायों का वर्तमान में अभाव है; भविष्य की पर्यायें भी वर्तमान में अविद्यमान हैं – ऐसी तेरी अभावशक्ति है; इसलिए पूर्व की पर्यायों को न देख, भविष्य की पर्यायों को देख, वर्तमान पर्याय को वर्तमान वर्तते हुए द्रव्य के साथ युक्त कर तो उस पर्याय में निर्मलता का भाव और मलिनता का अभाव होता है। यहाँ भावशक्ति के परिणमन में निर्मलदशा का विद्यमानपना लेना है; क्योंकि जिसने ऐसी शक्तिवाले आत्मा को लक्ष्य में लिया, उसे वर्तमानपर्याय निर्मलरूप से वर्तती है।

अहो ! त्रिकाल में जब देखो तब द्रव्य की अवस्था स्वयं से ही विद्यमान रूप वर्तती है – और उस-उस समय की अवस्था के अतिरिक्त अन्य आगे-पीछे की समस्त अवस्थाएँ अविद्यमान ही हैं। वर्तमान पर्याय का वर्तनपना सो 'भाव' और दूसरी पर्याय का अवर्तनपना सो 'अभाव' ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ वर्तती हैं।

द्रव्य सामान्य है और पर्याय उसका विशेष है। विशेषरहित अकेला सामान्य नहीं हो सकता। यदि आत्मा की अवस्था अपने से न हो तो सामान्य द्रव्य विशेषरहित हो जायेगा; इसलिए आत्मा का अभाव ही हो जायेगा। जड़ में भी ऐसा स्वभाव है; इसलिए जड़ की अवस्था का विद्यमान-पना भी उसके अपने से ही है।

भावशक्तिवाला भगवान आत्मा जब देखो तब वर्तमान विद्यमान निर्मल अवस्थावाला वर्त रहा है। अकेली मलिन अवस्था वर्ते, उसे सचमुच

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा की अवस्था नहीं कहते; क्योंकि उस अवस्था में आत्मा की स्वीकृति नहीं है।

द्रव्य-गुण त्रिकाल सत् हैं और उनकी प्रवर्तमान अवस्था वह वर्तमान सत् है। इसप्रकार द्रव्य-गुण और उनकी प्रवर्तमान अवस्था से आत्मा भावरूप है तथा दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं; इसलिए वह अभावरूप है। भूतकाल की अज्ञानदशा अथवा भविष्य की सिद्धदशा का वर्तमान साधकदशा में अभाव है। अज्ञानदशा भूतकाल में थी, सिद्धदशा भविष्य में होनवाली है; तथापि वर्तमान में उन दोनों का अभाव है – ऐसी अभावशक्ति आत्मा में है।

आत्मा की अवस्था में पर का तो अभाव है और उसकी वर्तमान अवस्था में दूसरी अवस्था का भी अभाव है। अज्ञानी तो पुकार करता है कि अरे ! आत्मा में कर्म का जोर है। उससे कहते हैं कि अरे मूढ़ ! तेरी पर्याय में कर्म का तो अभाव है तो वह तेरा क्या करेगा ? अपने में अपनी पर्याय के भाव को और कर्म के अभाव को देख ! तेरी पर्याय में कर्म का तो अभाव है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व की पर्याय का भी वर्तमान में अभाव है; इसलिए ऐसी हताशबुद्धि छोड़ कि पूर्वकाल में बहुत अपराध किये। अब आत्मा का विचार कैसे होगा ? और अपनी वर्तमान पर्याय को स्वभावोन्मुख कर तो उसमें कहीं पूर्व के दोष नहीं आते। अज्ञानी को भी अपनी वर्तमान विपरीतता से ही मलिनता है, कहीं पूर्व की मलिनता उसे वर्तमान में नहीं आती, पूर्व की पर्याय का तो अभाव हो गया है। अहो ! प्रतिसमय वर्तती हुई वर्तमान पर्याय का 'भाव' और उसमें दूसरी पर्यायों का 'अभाव' – इसमें तो प्रत्येक पर्याय की स्वतंत्रता बतलाई है।

वस्तु हो और उसका अपना कोई आकार-प्रकार विद्यमान न हो तो ऐसा नहीं हो सकता (यहाँ आकार वह व्यंजन पर्याय है और गुण का विकार-प्रकार वह अर्थपर्याय है।) जिसप्रकार सुवर्ण है तो उसका कोई न कोई आकार तथा पीलापन आदि प्रकार अपने आकार होता ही है; उसीप्रकार आत्मवस्तु में भी प्रकाररूपभाव वर्तते ही हैं। निमित्त आये तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आये – ऐसी जिसकी मान्यता है उसने आत्मा की भावशक्ति को नहीं माना है।

कोई कहे कि आत्मा और उसकी अवस्था अपने से विद्यमान है – ऐसा तो हम स्वीकार करते हैं; किन्तु हमारी पर्याय में मिथ्यात्व ही वर्तता है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! आत्मा के भाव अपने से ही हैं – ऐसा तूने किसकी ओर देखकर स्वीकार किया ? यदि तूने आत्मा की ओर देखकर स्वीकार किया हो तो पर्याय में मिथ्यात्व रह ही नहीं सकता और यदि पर की ओर देखकर ही तू कहता हो कि – 'आत्मा के भाव अपने से हैं' तो इसप्रकार पर की ओर देखकर आत्मा के स्वभाव का सच्चा स्वीकार हो ही नहीं सकता। यदि आत्मा के स्वभाव को स्वीकार करे तो उस स्वभाव का अनुसरण करके निर्मल अवस्था का विद्यमानपना होना चाहिए। यदि पर्याय अकेले पर का ही अनुसरण करे तो उसने स्वभाव को किसप्रकार स्वीकार किया ? इसलिए यदि निर्मल अवस्था का विद्यमानपना न हो तो उसने विद्यमान अवस्थावाले आत्मस्वभाव को प्रतीति में लिया ही नहीं है। जिसप्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना सचमुच क्रमबद्धपर्याय की या सर्वज्ञ की प्रतीति नही हो सकती, उसीप्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना उसकी किसी भी सन्मुखता से ही धर्म का आरम्भ होता है; वृद्धि होती है और स्थिरपना होता है।

भावशक्ति आदि शक्तियाँ तो समस्त आत्माओ में त्रिकाल हैं, किन्तु उनके निर्मल परिणमन बिना वे किस काम की ? अखण्ड शक्ति की ओर उन्मुख होकर जिसने उसे निर्मलरूप परिणमित न किया, उसे तो वह अभावसमान ही है; क्योंकि उसके वेदन में वह नहीं आती। जिसप्रकार मेरु पर्वत के नीचे शाश्वत सुवर्ण है, किन्तु वह किस काम का ? क्योंकि वह निकलकर कभी उपयोग में नहीं आता; उसीप्रकार सर्व आत्माओं में सर्वज्ञत्वादि शक्तियाँ होने पर भी जबतक वे निर्मल परिणमन में न आयें, तबतक तो वे अज्ञानी को मेरु के नीचे भरे सुवर्ण के समान हैं। स्वयं अपनी शक्ति के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता; इसलिए उसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो वह अभाव समान ही है। अपनी स्वभावशक्ति का स्वीकार करने से पर्याय में उसका निर्मल परिणमन होता है, उसकी यह बात है। मात्र विकार की रुचिवाला आत्मा की स्वभावशक्ति की प्रतीति नहीं करता और जो स्वभावशक्ति की प्रतीति नहीं करता, उसे पर्याय में मात्र विकार ही नहीं रहता, जिससे निर्मलता वर्तती है और विकार का अभाव होता जाता है। स्वभावोन्मुख होने पर निर्मलपर्याय हुई उसमें से विकार को दूर नहीं करना पड़ता; किन्तु उस पर्याय में विकार का अभाव ही वर्तता है। देखो, यह है विकार का अभाव ! जो पर्याय स्वभाव के साथ एकता करके निर्मलरूप परिणमित हुई है, वह पर्याय स्वयं ही विकार के अभावरूप है। निर्मलपर्याय का भाव और उसमें विकार का 'अभाव' ऐसी आत्मा की भावशक्ति तथा अभावशक्ति है। ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा के परिणमन में ऐसी शक्तियाँ परिणमित हो ही रही हैं – ऐसा बतला कर यहाँ शुद्ध आत्मा का लक्ष कराना है।

जिसे विकार की रुचि है, उसकी रुचि में 'स्वभाव का अभाव' है; इसलिए उसे अभावशक्ति का विपरीत परिणमन है और जिसे स्वभाव की रुचि है, उसकी रुचि में 'विकार का अभाव' है; इसलिए उसे अभावशक्ति का निर्मल परिणमन है।

और जिसे विकार की रुचि है उसकी पर्याय में निर्मलता के बदले मात्र विकार का ही विद्यमानपना है; इसलिए उसे भावशक्ति का विपरीत परिणमन है।

और जिसे स्वभाव की रुचि है, उसकी पर्याय में निर्मलता का विद्यमान पना है; इसलिए उसे भावशक्ति का निर्मल परिणमन वर्तता है।

देखो; इसमें द्रव्य के साथ पर्याय की सन्धि की अलौकिक बात है। जिसप्रकार करोड़ रुपये की पूँजीवाले को मोहवश तत्संबंधी उष्मा रहती है; उसीप्रकार यहाँ अनन्त शक्तिवान शुद्ध आत्मा को स्वीकार करे और पर्याय में उसकी उष्मा न आये – ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसपर्याय ने अंतरोन्मुख होकर चिदानन्द से भरपूर भगवान को स्वीकार किया, उस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय में निर्मलता प्रगट होकर ऐसी अपूर्व उष्मा आ गई है कि बस! मैं तो ऐसा शुद्धस्वरूप ही हूँ, विकारस्वरूप मैं नहीं हूँ – ऐसी उष्मा के बल से उसे निर्मलता बढ़ती जाती है और विकार दूर होता जाता है। इसका नाम धर्म और आराधक दशा है। जिसे ऐसी उष्मा (निशंकता) नहीं है, उसे धर्म का अंश भी नहीं है।

'मेरी वर्तमान पर्याय की विद्यमानता मेरे स्वभाव से ही है; बस, जिसने ऐसा निर्णय किया, उसने पराश्रयबुद्धि को उड़ा दिया तथा पूर्व-पश्चात् की पर्याय का वादा भी उड़ा दिया और हाजिर ऐसे अपने शुद्धस्वभाव के साथ पर्याय की संधि की – वह धर्म का सच्चा व्यापारी है।

निर्मलपर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार नहीं होता – इसमें तो महान रहस्य है। त्रैकालिक स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय द्रव्य के साथ तद्रूप हो जाती है; इसलिए वह पर्याय निर्मल है। स्वभावोन्मुख निर्मल अवस्था के बिना यथार्थरूप से स्वभाव का स्वीकार नहीं होता। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका स्वीकार करने से वह स्वयं निर्मलदशारूप परिणमित हो जाता है। यदि स्वभाव परिणमित होकर अवस्था में कुछ न आये तो उस अवस्था ने स्वभाव का स्वीकार किया ही नहीं। अकेले द्रव्य की शुद्धता कहे और पर्याय की शुद्धता किंचित् भासित न हो तो वह पर्याय शुद्धद्रव्य की ओर ढली ही नहीं है, इसलिए शुद्धद्रव्य का ही सचमुच स्वीकार नहीं किया है। आत्मा के शुद्धस्वभाव का स्वीकार करने से वह स्वभाव उल्लसित होकर पर्याय में आता है। पर्याय भी स्वभाव में अभेद होकर शुद्धरूप परिणमित होती है।

वस्तु में कोई न कोई एक अवस्था तो विद्यमान होती ही है – ऐसा तो सामान्यतः अनेक लोग कहते हैं; किन्तु यहाँ तो उसके अतिरिक्त विशेष बात यह है कि – 'मेरी अवस्था मुझसे ही विद्यमान है' – ऐसा स्वभाव जिसने स्वीकार किया उसे निर्मल अवस्था का ही विद्यमानपना है। स्वभाव की प्रतीति के बिना अज्ञानी को अनादि से विकार ही विद्यमान है। स्वभाव का विद्यमानपना उसे भासित नहीं होता। जहाँ निर्मलस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की विद्यमानता भासित हुई, वहाँ उस स्वभाव के आश्रय से हुई विद्यमान-पर्याय भी निर्मल हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो स्वभाव का ही अभाव हो जाये, ऐसे अपने स्वभाव को समझने का अभ्यास करना भी धर्म का प्रयत्न है।

यदि अन्तर में प्रेम करे तो चैतन्य प्रभु निकट ही विराजमान है। अन्तर की प्रीति के अभाव से चैतन्य प्रभु दूर भासित होता है; किन्तु यदि गुरुगम से चैतन्य का स्वरूप लक्ष्य में लेकर उसमें प्रीति लगाये तो प्रभु निकट ही है; स्वयं ही चिदानन्द प्रभु है, जैसी प्रीति पर में है वैसी ही प्रीति यदि आत्मा में करे तो आत्मा का अनुभव हुए बिना न रहे।

अशुद्धता की दृष्टि में आत्मा की विद्यमानता नहीं होती; यदि स्वभाव को देखें तो पर्याय में अन्तर पड़े बिना न रहे। जिसप्रकार पैसे की प्रीति वाला पच्चीस लाख रुपये कमा ले और उसकी रुचि में अन्तर न पड़े – ऐसा नहीं हो सकता, उसीप्रकार चैतन्य के लक्ष्य में अन्तर न पड़े – ऐसा नहीं होता; अर्थात् पर्याय में स्वभाव की निःशंकता तथा उस ओर का उल्लास आये बिना नहीं रहता। यदि निर्मल अवस्था न हो तो वहाँ वस्तु ही विद्यमान नहीं है अर्थात् अज्ञानी को वस्तुस्वभाव का निर्णय या निःशंकता नहीं है। चैतन्य स्वभाव में उतरकर जहाँ उसका निर्णय किया, वहाँ उस समय की विद्यमान पर्याय निर्मल हुई है। निर्मल पर्याय की विद्यमानता के बिना स्वभाव का निर्णय किसने किया ? कहीं मलिनता में ऐसी शक्ति नहीं है कि स्वभाव का निर्णय कर सके। देह सो मैं, राग का वेदन सो मैं – ऐसा स्वीकार करनेवाली पर्याय में स्वभाव का स्वीकार नहीं है; इसलिए वह पर्याय स्वयं स्वभावोन्मुख नहीं है। जहाँ स्वभावोन्मुख होनेवाली निर्मल पर्याय विद्यमान न हो वहाँ शुद्धस्वभाव के अस्तित्व का निर्णय भी नहीं होता। इसप्रकार शुद्धस्वभाव के अस्तित्व का निर्णय और शुद्धपर्यायरूप परिणमन – यह दोनों एक साथ ही हैं। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा विद्यमान अवस्था वाला है।

विद्यमान अवस्था सहित वस्तु का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभावी आत्मा पर जाती है और उस स्वभाव की दृष्टि से उसकी विद्यमान अवस्था निर्मल ही वर्तती है। आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करे और उसमें निर्मल पर्याय न आये – ऐसा नहीं होता। शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्याय – दोनों की एकरूपतामय ही आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा की निर्मल पर्याय का विद्यमानपना निमित्त के कारण तो है ही नहीं। पूर्व अवस्था के कारण भी वर्तमान निर्मल पर्याय का विद्यमानपना नहीं है तथा एक समय के विकार के कारण भी निर्मलता का विद्यमानपना नहीं है; किन्तु चैतन्यद्रव्य में एक भावशक्ति है, इसलिए उसी के आधार से निर्मल पर्याय की विद्यमानता है। आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय की विद्यमानता किसी पर के आधार से नहीं है, किन्तु आत्मा की अपनी भावशक्ति से उस अवस्था का विद्यमानपना है। आत्मा का जो त्रिकाल स्थायी भाव ध्रुव उपादान है और अवस्था की विद्यमानता क्षणिक उपादान है।

छट्ठे-सातवें गुणस्थान में जो नग्न मुनिदशा विद्यमान वर्तती है। वह शरीर की दिगम्बरदशा के आश्रित नहीं है, पंचमहाव्रत के विकल्प के आश्रित नहीं है, पूर्व पर्याय के आश्रित नहीं है, एकगुण के भेद के आश्रित नहीं है; वह मुनिदशा तो अनन्तशक्तिस्वरूप अभेद आत्मा के आश्रित भावशक्ति से ही विद्यमान वर्तती है। इसप्रकार अभेद आत्मा के सन्मुख देखकर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल पर्याय की विद्यमानता का निर्णय होता है और तभी ज्ञानी की, मुनि की या सर्वज्ञ की सच्ची पहिचान होती है।

आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूप विद्यमान वर्ते – ऐसी उसकी भावशक्ति है; किन्तु उस भावशक्ति का कार्य ऐसा नहीं है कि विकार को अपने में प्रवर्तमान करे। विकार तो विपरीत परिणमन है, उसे भावशक्ति का कार्य नहीं कहा जा सकता। कारण जैसा कार्य होता है; अतः निर्मल पर्याय को शक्ति का कार्य कहा जाता है। आत्मा की एक भी शक्ति नहीं जो विकार का कारण हो, इसलिए विकार सचमुच आत्मा की शक्ति का परिणमन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है। यदि आत्मा के स्वभाव को दृष्टि में लें तो आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूप परिणमित हो जाये – ऐसा ही उसका स्वभाव है। निर्मलतारूप परिणमित हो जाये और विकार का अपने में अभाव रखे – ऐसी आत्मा की अचिन्त्यशक्ति है।

सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की पर्याय है। उस पर्याय को यदि पर के या विकल्प के कारण माने तो उस समय श्रद्धा गुण की पर्याय विद्यमान न रही; इसलिए वहाँ सचमुच सम्यग्दर्शन ही नहीं रहा; मिथ्यात्व हो गया और मिथ्यात्व को वास्तव में श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं मानते।

स्वद्रव्य का आश्रय करके और परद्रव्य का आश्रय छोड़कर निर्मल पर्याय के भावरूप और विकार के अभावरूप परिणमित हो – ऐसा आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है और वही धर्म है।

अज्ञानी कहता है कि आत्मा में कर्मों का जोर है; किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में अभावशक्ति का इतना जोर है कि कर्म को अपने में आने ही नहीं देता। भावशक्ति के कारण वर्तमान निर्मल पर्याय वर्तती है और उसीसमय अभावशक्ति के कारण उस पर्याय में कर्मों का-विकार का तथा पूर्व-पश्चात् की पर्यायों का अभाव वर्तता है। यदि भावशक्ति न हो तो निर्मल पर्यायरूप भवन-परिणमन नहीं हो सकता और यदि अभावशक्ति न हो तो पूर्व की विकारी पर्याय के अभावरूप परिणमन नहीं हो सकता; इसलिए वे दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ परिणमित होती हैं। ऐसे आत्मा की पहिचान करके उसका अवलम्बन करने पर अनुक्रम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन होता है और विभाव-परिणाम का अभाव होता है। इसी में मोक्ष का पुरुषार्थ है।

चैतन्यस्वभावोन्मुख होते ही मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के सद्भावरूप परिणमन होता है। जो पर्याय अन्तरमुख होकर स्वभाव-सन्मुख हुई, उस पर्याय में स्वभाव का परिणमन हुए बिना नहीं रहता। स्वभाव पर दृष्टि जाने से स्वभाव की निर्मलता के भावरूप और विकार के अभावरूप जो पर्याय हुई, उस पर्याय की विद्यमानता में सम्यक्त्वी का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा वर्तता है; किन्तु रागादि में वह नहीं वर्तता; उसके तो अभाव में वर्तता है।

देखो, यह सम्यक्त्वी की पहिचान! सम्यक्त्वी का आत्मा कहाँ रहा है? स्वर्ग या नरकादि के संयोग में सम्यक्त्वी का आत्मा नहीं है; राग में भी सम्यक्त्वी का आत्मा नहीं है; आत्मा के आश्रय से जो निर्मल पर्याय विद्यमान वर्तती है, उसी में सचमुच सम्यक्त्वी का आत्मा है। इसके अतिरिक्त राग से या संयोग से पहिचानने जाये तो उसप्रकार सम्यक्त्वी के आत्मा की यथार्थ पहिचान नहीं होती।

अहो! आत्मा का स्वभाव तो विकार के अभावरूप है; उस स्वभाव के आश्रय से तो विकार का अभाव होता जाता है; उसके बदले विकार को रखना चाहें तो उसे आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

हे जीव! तेरा स्वभाव विभाव के अभाववाला है।

तेरा ज्ञान अज्ञान के अभाववाला है।

तेरी श्रद्धा विपरीतता के अभाववाली है।

तेरा आनन्द आकुलता के अभाववाला है।

तेरा चारित्र कषाय के अभाववाला है।

तेरी सर्वज्ञता अल्पज्ञता और आवरण के अभाववाली है।

तेरी स्वच्छता मलिनता के अभाववाली है।

तेरा जीवन भावमरण के अभाववाला है।

तेरा सुख, दुःख के अभाववाला है।

तेरी प्रभुता दीनता (पामरता) के अभाववाली है।

– इसप्रकार तेरी समस्त शक्तियाँ विभाव के अभाववाली हैं। ऐसे स्वभाव का स्वीकार होने से पर्याय में भी वैसा परिणमन हो जाता है; यही धर्म की रीति है। स्वभाव की शुद्धता को प्रतीति में लेकर उसके आश्रित परिणमन करने के अतिरिक्त जगत में अन्य कोई धर्म का उपाय है ही नहीं।

पहले विकल्प होता है, पर उस विकल्प के कारण कहीं मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन नहीं होता; किन्तु शुद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा के आश्रय से ही मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन होता है। निर्मल पर्याय की एकता अपने चैतन्यप्रभु के साथ है। अन्तर्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की जो परिणति अपने चैतन्यप्रभु के साथ एकता करे, वह चैतन्यपरिणति है और जो परिणति अपने चैतन्य-पति के साथ एकता न करके पर में और विकार में लाभ मानकर उनके साथ एकता करे, वह परिणति दुराचारिणी है, उसे चैतन्य प्रभु की परिणति नहीं कहते। वर्तमान पर्याय अन्तर्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य के साथ एकता करे उसका नाम अनेकान्त है और पर के साथ एकता करे वहाँ द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध, इसलिए द्रव्य-पर्याय की एकतारूप अनेकान्त नहीं हुआ; किन्तु एकान्त हुआ। यहाँ आचार्यदेव अनन्त शक्तिवाले आत्मस्वभाव के साथ एकता कराके अनेकान्त कराते हैं। साधक को पर्याय में अल्पराग होने पर भी शुद्धस्वभाव के साथ एकता की दृष्टि में राग का अभाव है। प्रथम ऐसे निर्मल स्वभाव का लक्ष करे तो उस लक्ष के अनुकरण से निर्मल परिणमन हो।

अहो! आत्मा कैसा है? – कि अपनी शुद्धपर्याय की विद्यमानता सहित है। शुद्ध पर्याय के बिना द्रव्य की सिद्धि नहीं होती। यह चैतन्यद्रव्य इच्छारहित होता है, रागरहित होता है, संगरहित होता है, कर्म और शरीर रहित होता है, किन्तु निर्मलदशा की विद्यमानता रहित नहीं होता।

प्रश्न – अज्ञानी को निर्मल अवस्था नहीं है; परन्तु आत्मा तो है न?

उत्तर – यहाँ अपने आत्मा का निर्णय करने की बात मुख्य है। अज्ञानी को अपने आत्मा के अस्तित्व का निर्णय है ही नहीं, इसलिए उसकी प्रतीति में तो द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, उसे तो राग का ही अस्तित्व है। मेरा शुद्ध द्रव्य है, किन्तु निर्मल पर्याय नहीं है – ऐसा कहनेवालों को सचमुच शुद्ध-द्रव्य का भी निर्णय नहीं हुआ है, शुद्धद्रव्य का निर्णय हुआ हो वहाँ शुद्ध-पर्याय होती ही है।

ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। यह भावशक्ति आत्मा का रागादि से और पर से भिन्नत्व तथा वर्तमान निर्मलपर्याय के साथ एकत्व बतलाती है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और वर्तमान द्रव्य के साथ अभेद हुई निर्मलपर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें तथा रागादि अविद्यमान है – ऐसा अभावशक्ति बतलाती है। ज्ञान स्वभाव को लक्ष में लेकर परिणमन करने में ऐसी भावशक्ति और अभाव-शक्ति भी निर्मलतारूप परिणमित होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकसाथ अनेक शक्तियों का परिणमन होने से वह स्वयमेव अनेकान्त स्वरूप है। ऐसे अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्मा को पहिचानना सो अपूर्व धर्म है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है और उस स्वभाव में एकाग्र हुई निर्मल पर्याय में भी विकार का अभाव है – ऐसी अभावशक्ति है; इसलिए 'विकार का अभाव करूँ' ऐसा नहीं रहता, क्योंकि निर्मलरूप वर्तती हुई पर्याय स्वयं विकार के अभावस्वरूप है। जैसे कि सम्यक्त्वपर्याय हुई वह स्वयं मिथ्यात्व के अभावस्वरूप ही है; इसलिए 'मिथ्यात्व का अभाव करूँ' ऐसा उस पर्याय में नहीं रहता। मिथ्यात्व का अभाव करूँ – ऐसे लक्ष्य में अटके, तबतक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दष्टि से जहाँ सम्यक्त्व परिणमित हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का ही अभाव वर्तता है। इसप्रकार निर्मलता के भाव में विकार का अभाव ही है; ऐसा आत्मा का स्वभाव है। इसप्रकार न्यायपूर्वक आत्मा के शुद्ध-स्वभाव का निर्णय करके अन्तर-अनुभव से उसकी प्रतीति करना वह सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन के अभिप्राय में शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त परभाव का त्याग ही वर्तता है।

जिसप्रकार मोची का थैला खोलने पर उसमें से तो चमड़े के दुर्गन्धित टुकड़े निकलते हैं; किन्तु चक्रवर्ती का करंड खोलने से उसमें से तो रत्न-मणि के हार निकलते हैं; उसीप्रकार यह शरीर तो दुर्गन्धित चमड़े जैसा है, उसकी क्रिया में से कहीं सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते; शरीर के लक्ष से तो राग-द्वेष के मलिनभाव होते हैं और चैतन्य चक्रवर्ती भगवान आत्मा की शक्ति का करंड खोलने से उसी में से निर्मल पर्याय की परम्परा रूप मालाएँ निकलती हैं। चक्रवर्ती का भी चक्रवर्ती ऐसे इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्य भगवान के भण्डार में सम्यग्दर्शन-मुनिदशा-केवलज्ञान-सिद्धदशा आदि निर्मल रत्नों की मालाएँ पड़ी हैं। भण्डार खोलकर उन्हें बाहर निकालने की इस रीति से अपनी चैतन्यशक्ति के भण्डार को खोल। तेरी चैतन्यशक्ति ऐसी है कि उसे खोलने पर उसमें से निर्मल पर्याय निकलेंगी – विकार नहीं निकलेगा, विकार से तो वह शून्य है।

एक समय की मलिन अवस्था में विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से निर्मल अवस्थारूप वर्तते हुए भगवान आत्मा में मिथ्यात्वादि का शून्यपना है।

इसप्रकार त्रिकाल में और त्रिकाल के आश्रय से वर्तती हुई वर्तमान अवस्था में – इन दोनों में विकार का अभाव है। साधक जीव को अल्प रागादि है, किन्तु उनके साथ एकतारूप परिणमन नहीं है, इसलिए स्वभाव में, एकतारूप परिणमन में उनका भी अभाव है। अभावशक्ति का भान होने पर विकार के अभावरूप परिणमन होता है। अज्ञानी जीव में भी यह सब शक्तियाँ होने पर भी उनका अस्वीकार करके और विकार का ही स्वीकार करके वह भटकता है। आत्मा के समस्त गुणों में निर्मल अवस्था-रूप वर्तने की 'भावशक्ति' है, किन्तु जो उसका आश्रय करे, उसे वैसा परिणमन होता है।

शुद्धस्वभाव की सन्मुखता होने पर विभाव से विमुखता हो जाती है। दो आदमी हों वहाँ एक के साथ बातचीत करने से दूसरे के साथ का संबंध छूट जाता है; उसीप्रकार चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसमें स्थिर होने से विकार का संबंध सहज ही छूट जाता है। शुद्धस्वभाव की ओर जितना जोर दे उतना विकार का अभाव हो जाता है। इसमें परमार्थ व्रत-तप-त्याग आदि समस्त धर्मों का समोवश हो जाता है। त्रिकाल स्वभाव की शुद्धता पर जोर न देकर जो उससे विरुद्ध विकार पर या निमित्त पर जोर देता है, उसकी पर्याय में शुभाशुभरूप विभाव का परिणमन होता है, जिसने चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसकी सम्यक्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रद्धा की, उसकी श्रद्धा में मिथ्यात्व का त्याग है, उसके सम्यग्ज्ञान में अज्ञान का त्याग है और उसकी लीनता में अव्रत का त्याग है। इसके अतिरिक्त धर्म होने का तथा अधर्म के त्याग का अन्य कोई उपाय नहीं है; अन्य कथन हों वे सब निमित्त के – व्यवहार के कथन हैं। आत्मस्वभाव में एकता होने पर कैसे-कैसे निमित्त का संबंध छूटा, उसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है कि आत्मा ने यह छोड़ा।

प्रथम यथार्थ भेदज्ञान करके अभिप्राय बदल जाना चाहिए। "चैतन्य स्वभाव ही मैं हूँ; देहादि या रागादि वे सब मुझसे पर हैं। जिसप्रकार कुँवारी कन्या पिता के घर की तथा सम्पत्ति को "यह मेरा घर और यह मेरी सम्पत्ति" ऐसा मानती है, किन्तु जहाँ उसकी सगाई हुई कि तुरन्त उसका अभिप्राय बदल जाता है कि पिता का घर अथवा पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, किन्तु पति का घर और पति की सम्पत्ति मेरी है। अभी तो पिता के घर में रहती है, फिर भी उसका अभिप्राय पलट जाता है; उसी-प्रकार अज्ञानी ने अनादि संसार से "देह और राग सो मैं' – ऐसा माना है; किन्तु जहाँ चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके सिद्धदशा के साथ संबंध जोड़ा, वहाँ उसकी दृष्टि पलट गई कि सिद्ध भगवान जैसी सम्पत्तिवाला स्वभाव सो मैं हूँ, राग और देहादि मैं नहीं हूँ। अभी तो अल्प रागादि तथा देहादि का संबंध होने पर भी उसका अभिप्राय पलट गया है और अभिप्राय पलट गया है अर्थात् सिद्धदशा की ओर का परिणमन होने लगा है और संसार की ओर का परिणमन छूटने लगा है। भले ही चाहे जितने व्रत, तप-त्याग करे, हजारों रानियों को छोड़कर वैराग्यपूर्वक द्रव्यलिंग मुनि हो, किन्तु इसप्रकार शुद्धस्वभाव के साथ का संबंध जोड़कर विकार के साथ का संबंध न तोड़े, तबतक किंचित् भी धर्म नहीं होता; वह अनादि संसाररूपी पीहर में ही रहता है।

धर्मी जानता है कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में कर्म का तो अभाव है और कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार का भी अभाव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल विकार नहीं है और पर्याय भी उस ओर उन्मुख है; इसलिए उसमें भी विकार नहीं है – इसप्रकार आत्मस्वभाव में विकार का अभाव है – ऐसी प्रतीति द्वारा साधक को क्रमशः विकार का पूर्ण अभाव होकर सिद्ध पद प्रगट होता है। विकार के अभावरूप स्वभाव की प्रतीति करे उसे पर्याय में विकार का अभाव हुए बिना नहीं रहता। पर्याय-बुद्धि से ही आत्मा विकारी भासित होता है; स्वभावबुद्धि से देखने पर आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों विकार से शून्य हैं; संसार उनमें है ही नहीं। संसार किसका ? कि जो उसे अपना माने उसका; अर्थात विकार में जिसकी दृष्टि है उसी को संसार है। स्वभाव की दृष्टिवाला साधक तो कहता है कि मुझमें संसार है ही नहीं – ऐसे शुद्धात्मा की दृष्टि करना ही संसार से छूटकर सिद्ध होने का उपाय है।

आत्मा का ऐसा अभाव-स्वभाव है कि वह पर से और विकार से शून्य है। भावशक्ति ज्ञान-आनन्दादि निजभावों से भरा हुआ और अभावशक्ति का कारण रागादि परभावों से रहित है। अभावशक्ति के कारण आत्म-स्वभाव में पर का और विकार का अभाव है; किन्तु ध्यान रहे, अभावशक्ति आत्मा में अभावरूप नहीं है; अभावशक्ति स्वयं तो आत्मा के स्वभावरूप है। पर के अभावरूप भाव भी आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा में पर का तो अभाव है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में विकार का अभाव है, उसका भी कभी भाव नहीं होता; किन्तु आत्मा की, भविष्य की केवल ज्ञानादिपर्यायें जो इस समय अभावरूप हैं, उनका भाव होता है। साधक को ऐसे अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति है, केवलज्ञानी की भी प्रतीति है, विकार के अभाव की भी प्रतीति है अतः उसे वर्तमान निर्मलता वर्तती है और अल्पकाल में विकार का सर्वथा अभाव होकर जगमगाता हुआ केवलज्ञान प्रगट होता है।

यहाँ तेतीसवीं भावशक्ति तथा चौंतीसवीं अभावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३५-३६. भाव-अभावशक्ति और अभाव-भावशक्ति

भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः। अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः।

''आत्मा में वर्तती हुई पर्याय के व्ययरूप भाव-अभावशक्ति है'' तथा ''पूर्व में न वर्तती हुई पर्याय के उदयरूप अभाव-भावशक्ति है।'' आत्मा में पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो, उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है और पहले समय जो पर्याय अविद्यमान हो, उसका दूसरे समय भाव (उत्पाद) होता है; इसप्रकार प्रतिसमय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय का उत्पाद अनादि-अनन्त होता ही रहता है – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है; किसी अन्य के कारण पर्याय के उत्पाद-व्यय नहीं होते।

''भाव का अभाव'' और ''अभाव का भाव'' इन दोनों का एक ही समय है, भिन्न-भिन्न समय नहीं है। जैसेकि साधक को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ पहले जो साधकदशा थी, उसका अभाव हुआ, वह ''भाव का अभाव'' है और पहले जो केवलज्ञानदशा नहीं थी, वह प्रगट हुई उसका नाम ''अभाव का भाव'' है। इसप्रकार भाव-अभाव शक्ति और अभाव-भाव शक्ति – यह दोनों शक्तियाँ एक ही समय में कार्य कर रही हैं। यदि भाव का अभाव न हो तो केवलज्ञान होने पर भी छद्मस्थ साधकदशा दूर न हो और अभाव का भाव न हो तो साधकदशा दूर होने पर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति न हो अर्थात् कोई पर्याय ही न रहे और पर्याय के बिना द्रव्य का भी अभाव ही हो। इसलिए इन दोनों शक्तियों से अपना स्वरूप समझना चाहिए।

द्रव्यरूप से आत्मा अखण्ड विद्यमान रहता है और उसकी पर्यायें स्वयमेव बदलती रहती हैं। पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है और पहले समय जो पर्याय न हो वह दूसरे समय नई उत्पन्न होती है। पहली पर्याय आगे बढ़कर दूसरे समय

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी चलती रहे – ऐसा कभी नहीं होता तथा एक पर्याय दूर होकर दूसरे समय नई पर्याय उत्पन्न न हो – ऐसा भी कभी नहीं होता।

अहो ! अभावरूप पर्याय का दूसरे समय भाव हो – ऐसा अपना स्वभाव है तो फिर सम्यग्दर्शन या केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट करने के लिए बाह्य में देखना कहाँ रहा ? बाह्य में देखना तो नहीं रहा, पर्याय की ओर देखना भी नहीं रहा; क्योंकि जिस पर्याय में केवलज्ञान का अभाव है, उस अभाव में से कहीं केवलज्ञान नहीं होता। जिस वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान का अभाव है तो उसमें से दूसरे समय केवलज्ञान का भाव कहाँ से होगा, नहीं होगा। द्रव्य में से ही अर्थात् अभाव का वर्तमान में अविद्यमान केवलज्ञान पर्याय का भाव होगा; अभाव का भाव करने की शक्ति द्रव्य के स्वभाव में है; इसलिए उस स्वभाव की ओर देखने से ही पहले अविद्यमान ऐसी निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है। जो जीवद्रव्य के सन्मुख दृष्टि नहीं करता उसे भी प्रति समय "अभाव का भाव" तो होता ही रहता है। साधक का तो स्वभाव के अवलम्बन से, निर्मलरूप से अभाव-भाव होता रहता है; प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल पर्याय होती रहती है। सिद्ध भगवान को यद्यपि अब पर्याय की निर्मलता में वृद्धि होना शेष नहीं रहा; तथापि उन्हें भी शुद्ध पर्याय के भाव-अभाव तथा अभाव-भाव होते ही रहते हैं; सिद्ध को एक की एक पर्याय नहीं रहती, किन्तु पहले समय की शुद्धपर्याय का दूसरे समय अभाव (भाव-अभाव) और पहले समय अविद्यमान ऐसी शुद्धपर्याय का दूसरे समय उत्पाद (अभाव-भाव) इसप्रकार पर्याय में भाव-अभाव तथा अभाव-भाव उन्हें भी होता ही रहता है।

रागादि मलिनता तो आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए वह तो आत्मा के साथ नित्य नहीं है; आत्मा के स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय भी दूसरे समय नहीं रहती। दूसरे समय उसका अभाव होकर नई निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसप्रकार निर्मल पर्याय में भी प्रतिसमय भिन्न-भिन्न अनुभव है। जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसका दूसरे समय विनाश और जो पर्याय अविद्यमान थी उसका उत्पाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

– इसप्रकार पर्याय का परिवर्तन सदा होता ही रहता है। एक-एक समय की पर्याय का परिवर्तन सदा होता ही रहता है। साधक का ज्ञान एक-एक समय की पर्याय को पृथक् करके नहीं पकड़ सकता; किन्तु वस्तुस्वभाव ही ऐसा है – ऐसा उसकी प्रतीति में आ जाता है और उस प्रतीति के बल से उसकी पर्यायों का परिणमन तो द्रव्य-स्वभाव का ही अवलम्बन लेने से निर्मल-निर्मलरूप से होता रहता है।

प्रवचनसार गाथा ११३ में कहते हैं कि – पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति के काल में ही सत् होने के कारण उससे अन्य कालों में असत् ही है तथा पर्यायों का "क्रमानुपाती स्वकाल में ही उत्पाद होता है।" देखो, इसमें बहुत सरस सिद्धान्त है। पर्याय अपने काल के अतिरिक्त अन्य काल में असत् है; इसलिए कोई भी पर्याय अपने समय को छोड़कर पहले या बाद के आगे-पीछे समय में नहीं होती। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों का क्रमानुपाती स्वकाल में उत्पाद होता है। शरीर हिले-चले-बोले या न हिले-चले-बोले, उन सबमें परमाणुओं का स्वकाल में उत्पाद है; जीव की उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण उसमें कुछ नहीं होता।

प्रत्येक द्रव्य में, प्रतिसमय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती ही रहती है। जो पर्याय थी वह गई और नहीं थी वह हुई – इसमें भाव-अभाव और अभाव-भाव दोनों आ जाते हैं। भाव का अभाव और अभाव का भाव – ऐसे परिणमन की अटूट धारा प्रत्येक वस्तु में चल रही है। जो वस्तु के ऐसे परिणमन को ही नहीं मानते वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें तो मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन नहीं होता। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल भावरूप रहते हैं और पर्याय तो एकसमय के ही भावरूप है, दूसरे समय उसका अभाव होकर नया भाव प्रगट होता है, वहाँ त्रिकाली एकरूप भाव के आश्रय से साधक की पर्याय में निर्मलता का भाव बढ़ता जाता है और मलिनता का अभाव होता जाता है। ऐसे परिणमन के बिना अज्ञानदशा एवं साधकदशा दूर होकर सिद्धदशा नहीं हो सकती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ जितनी शक्तियों का वर्णन करते हैं, वे सर्व शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में विद्यमान हैं; अनन्त शक्तियों का धारक एक आत्मा है; जहाँ एक शक्ति है, वहीं दूसरी अनन्त शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान हैं; इसलिए यदि एक शक्ति के द्वारा आत्मस्वभाव को जाने तो अनन्त शक्तिवान चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रतीति में आ जाता है।

प्रश्न – इतना सूक्ष्म समझकर क्या करना है ? अन्त में तो क्रोधादि कम करने का ही प्रयोजन है न ? इसे समझे बिना भी क्रोधादि कम करे तो धर्म हो जायेगा न ?

उत्तर – अरे भाई ! सांसारिक कार्यों में तो तू बुद्धि एवं रुचि लगाता है और यहाँ बिन समझे धर्म करना चाहता है – यह तो तेरी धर्म की अरुचि का द्योतक ही है। भाई ! आत्मा का स्वभाव समझे बिना किसी को धर्म नहीं हो सकता; क्रोधादि भी सचमुच दूर नहीं होते। क्रोध क्या ? क्रोध करनेवाला और उसे कम करनेवाला कौन ? तथा उसका क्रोध रहित स्वभाव कैसा है? यह सब जाने बिना किसके लक्ष्य से क्रोधादि का त्याग करेगा ? जिसप्रकार प्रकाश के भाव बिना अंधकार का अभाव नहीं होता; प्रकाश हो तभी अंधकार दूर होता है; उसीप्रकार क्रोधरहित ऐसे चिदानन्दस्वभाव की ओर का भाव प्रगट हुए बिना क्रोध का अभाव नहीं होता। ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव में एकता करके क्रोधादि का अभाव कर डालते हैं। ऐसे चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य बिना अज्ञानी क्रोध टालना चाहे तो क्रोध दूर नहीं होता। भले ही वह कषाय की मन्दता करे; तथापि उसको अनन्तानुबंधी कषाय तो विद्यमान ही है।

जैसे – दो व्यक्ति हैं; एक रत्नों का पारखी है, वह तो हाथ में चिन्तामणि रत्न रखकर जिसका चिन्तवन करे उसे प्राप्त करता है और दूसरा गड़रिये जैसा है; वह रत्न को पहिचाने बिना हाथ में सफेद पत्थर लेकर चिन्तवन करता है; किन्तु इसप्रकार चिंतवन करने से कहीं चिन्तित वस्तु प्राप्त करता है ? नहीं; क्योंकि उसने पत्थर को पकड़ रखा है; उसी-प्रकार धर्मी तो अपनी दृष्टि में चैतन्यचिन्तामणि अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा को लेकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसका चिन्तवन करता है और उसके चिंतन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करता है तथा कषायों का अभाव करता है; किन्तु अज्ञानी अनन्तशक्ति - सम्पन्न चैतन्यचिन्तामणि को पहिचाने बिना राग-द्वेष, पुण्य-पापादि कषायों को पकड़कर उनके चिन्तन से – "यह करते-करते हमें सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो सम्यग्चारित्र हो" – ऐसी इच्छा करता है; किन्तु इसप्रकार कहीं सम्यग्दर्शनादि नहीं हो सकते। इसप्रकार अपने शुद्धस्वभाव को समझ कर पकड़े बिना (अर्थात् उसी का अवलम्बन किये बिना) सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होते और कषायें दूर नहीं होतीं।

आत्मा में शरीरादि जड़ का तो त्रिकाल अभाव है।
रागादि विकार का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है।।

स्वभाव में से प्रगट हुई एक समय की निर्मल पर्याय का भी दूसरे समय अभाव हो जाता है और दूसरी पर्याय प्रगट होती है।

शुद्धद्रव्यस्वभाव त्रिकाल ज्यों का त्यों एकरूप बना रहता है और वही अवलम्बनभूत है।

साधकपर्याय हो या सिद्धपर्याय हो – सर्व पर्यायों के समय शुद्धद्रव्य स्वभाव तो सदैव एकरूप वर्तता है; किन्तु पर्याय में साधकपने के समय सिद्धपना नहीं होता। साधकपर्याय का अभाव हो, तब सिद्धपर्याय का भाव होता है। एक के अभाव बिना दूसरी का भाव करना चाहे अथवा एक के भाव बिना दूसरी का अभाव करना चाहे तो ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व के अभाव बिना सम्यक्त्व का भाव अथवा सम्यक्त्व का भाव बिना मिथ्यात्व का अभाव नहीं हो सकता; इसलिए पहले समय वर्तती हुई पर्याय का दूसरे समय अभाव होनेरूप भाव-अभावशक्ति तथा पहले समय न वर्तती हुई पर्याय का दूसरे समय उत्पाद होनेरूप अभाव-भावशक्ति – ऐसे शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा में विद्यमान हैं। ऐसे शक्तिवान आत्मा को पहिचानने से भगवान आत्मा का शुद्धरूप अनुभव होता है अर्थात् सम्यग्श्रद्धा-ज्ञान में अनन्त शक्तिवान भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है, यही धर्म है और यही मोक्ष का उपाय है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसे अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लिए बिना देह की क्रिया को या मंदराग को चारित्र मान ले तथा वह करते-करते सम्यग्दर्शन होगा – ऐसा मानले तो कैसी मूढ़ता है। उसमें तो चारित्र की तथा सम्यग्दर्शनादि की विराधना है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र क्या वस्तु है – उनकी महिमा की उसे गंध भी नहीं है।

सिद्धपर्याय वर्तमान अभावरूप होने पर भी उसका भाव होने की शक्ति द्रव्यस्वभाव में विद्यमान है; उसका विश्वास करने से सिद्धपर्याय प्रगट हो जाती है। अभावपर्याय का भाव करने की शक्ति चैतन्य में है; सिद्धपद का अभाव है, उसका भाव चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है, उसके लिए किसी पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मेरी वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान का अभाव होने पर भी, उसका सदैव अभाव ही रहे – ऐसा नहीं है; उसका भाव करने की शक्ति मेरे आत्मा में विद्यमान है – इसप्रकार साधक को स्वशक्ति का विश्वास है, इसलिए उसे स्वशक्ति की सन्मुखता से अल्पकाल में केवलज्ञान का भाव प्रगट हो जाता है।

वर्तमान में जिस पर्याय का अभाव है, वह भविष्य में अपने स्वभाव में से प्रगट होकर भावरूप होती है। यह स्वभाव शुद्ध अनन्तशक्तिसम्पन्न है; उस स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिए विकार प्रगट होने की बात न लेकर निर्मल पर्याय प्रगट होने की बात ही लेना चाहिए। इस समय आत्मा में सिद्धपर्याय का अभाव है; इसलिए वह कभी प्रगट ही नहीं होगी – ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा की अभाव-भावशक्ति ऐसी है कि भविष्य की जिस निर्मलपर्याय का इस समय अभाव है, वह बाद में भावरूप होती है। ऐसी निज शुद्धशक्ति की प्रतीति होने से साधक को ऐसा सन्देह नहीं होता कि भविष्य में मेरे स्वभाव से अशुद्धता प्रगट होगी; किन्तु उसे तो स्वभाव के विश्वासपूर्वक निःशंकता है कि मेरे स्वभाव में से शुद्धपर्याय का ही प्रवाह अनादि-अनन्तकाल तक प्रवाहित रहता है; भविष्य में मेरे आत्मा में से विकार का भाव नहीं होगा; उसका तो अभाव होगा और केवलज्ञान तथा सिद्धपद का भाव होगा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे जीव ! तेरी पर्याय में हित का अभाव है और तुझे हित प्रगट करना है तो वह हित कहाँ ढूँढना। पर में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे हित दे। अपने स्वभाव में ही हित ढूँढ; उसी में ऐसी शक्ति है कि हितरूप दशा अपने में प्रगट करे।

अपने शुद्धस्वभाव को प्रतीति में लेकर उसके अवलम्बन से पहले समय में विद्यमान ऐसी निर्मल-निर्मल पर्यायों को प्रगट करके धर्मी जीव उनका कर्ता होता है, किन्तु विकार का कर्ता नहीं होता; उसका तो अभाव करता जाता है तथा शरीरादि जड़ का तो आत्मा में अभाव ही है; इसलिए उसका भी कर्ता नहीं होता।

आत्मा में जड़ का त्रिकाल अभाव है; वह कभी आत्मा में भावरूप नहीं होता; शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है; इसलिए उस शुद्धस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को विकारी भाव भावरूप होकर प्रगट नहीं होते, निर्मल पर्यायें ही "भावरूप" होकर प्रगट होती हैं। ऐसा "अभाव-भावशक्ति" का सम्यक् परिणमन है। ऐसा सम्यक् परिणमन है, पर उसी को यह होता है, जिसकी दृष्टि शुद्धद्रव्य पर है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निर्मल पर्याय पहले समय अभावरूप थी और दूसरे समय वह पर्याय प्रगट होकर भावरूप हुई – तो उस भावरूप कौन परिणमित हुआ है ?

शरीरादि का तो आत्मा में अभाव है,

पहले समय के विकार का भी दूसरे समय में अभाव है;

पहले समय की निर्मलपर्याय का भी दूसरे समय में अभाव है;

ये तीनों तो अभावरूप हैं; इनमें से तो कोई दूसरे समय भावरूप होते नहीं; तो फिर दूसरे समय का शुद्धभाव कहाँ से आया ?

उत्तर – शुद्धद्रव्य में ही वैसे भावरूप होने की शक्ति है, इसलिये वह स्वयं ही दूसरे समय में वैसे भावरूप हुआ है। – इसप्रकार शुद्धद्रव्य को लक्ष्य में लेकर जो उसके सन्मुख परिणमन करे उसी ने अभाव-भाव शक्तिवाले आत्मा को जाना और माना है। वर्तमान पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दूसरी शक्ति को प्रगट करे; इसलिये पर्यायदृष्टि द्वारा "अभाव-भाव" शक्ति-वाले आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती। शुद्धद्रव्य पर जिसकी दृष्टि नहीं है, उसे आत्मा की शक्तियों का निर्मल परिणमन नहीं होता।

वर्तमान में जो निर्मलपर्यायें अभावरूप हैं, उनके प्रगट होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; इसलिये अपने आत्मा की शक्ति के सन्मुख होकर "अभाव का भाव" करूँ – ऐसा न मानकर अज्ञानी मानता है तो उसे निजशक्ति की प्रतीति नहीं है। धर्मात्मा को निजशक्ति की प्रतीति है, वे पर में से अपनी पर्याय का प्रगट होना नहीं मानते, इसलिये अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करने के लिये वे पर की ओर या विकार की ओर नहीं देखते, पर्याय -बुद्धि नहीं करते, किन्तु शुद्ध द्रव्योन्मुख होकर उसमें से निर्मल पर्याय प्रगट करते हैं। जहाँ निर्मल पर्याय की शक्ति भरी होगी, वहाँ से प्रगट होगी या बाह्य में से आयेगी? – जहाँ शुद्ध ज्ञान-आनन्द की शक्ति विद्यमान है उस ओर उन्मुख होने पर उसी में से ज्ञान-आनन्द की शुद्धपर्याय प्रगट होती है। स्वशक्ति की ओर उन्मुख हुये बिना बाह्य से प्रगट करना चाहे तो अनन्तकाल में भी प्रगट नहीं हो सकता।

अज्ञानी तो पर का अपने में "अभाव" है उसे "भाव" रूप करना चाहता है; आत्मा की अभाव-भावशक्ति की उसे खबर नहीं है।

ज्ञानी तो "अभावरूप" ऐसी निर्मल पर्याय को अपनी स्वशक्ति में अन्तर्मुख होकर "भाव" रूप करता है; इसलिये शुद्धता में से शुद्धता को ही प्रगट करता जाता है। जिसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर नहीं है, वह विकार को बढ़ाना चाहता है। जो शुभाशुभ परिणाम हैं उन्हें दूसरे ही क्षण प्रगट करूँ – इसप्रकार उसे आस्रव की ही भावना है; आत्मा की शुद्धशक्ति की भावना उसे नहीं है।

आत्मा जड़ की क्रिया करता है अथवा जड़ की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा माननेवाला अपने में जड़ का "भाव" करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

उसीप्रकार विकार से लाभ माननेवाला विकार को अपने में भावरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रखना चाहता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे प्रतिक्षण विकार का ही भाव होता है, किन्तु निर्मलता का भाव नहीं होता। दयादि के शुभ परिणामों को मैं भविष्य में टिका रखूँगा – ऐसी जिसकी भावना है उसे आस्रव की भावना है, इसलिये संसार की भावना है। सम्यग्दृष्टि की भावना स्वभाव पर है; वह तो शुद्धस्वभाव की भावना से शुद्धता का ही भाव करता जाता है। मैं अनंत शक्ति का पिण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ; मेरे स्वभाव में समस्त राग का अभाव है, मेरे स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि जो निर्मलपर्याय पहले अभावरूप हो उसे प्रगट करूँ – इसप्रकार अपने स्वभाव को जानकर उसी की भावना से धर्मी जीव निर्मल पर्यायरूप परिणमित होता जाता है।

अनादि काल के अज्ञानी जीव ने सत्समागम से बहुमानपूर्वक स्वभाव का श्रवण करके, फिर अन्तरोन्मुख होकर उस स्वभाव की प्रतीति की वहाँ अनादिकालीन मिथ्यात्व का अभाव हुआ (वह भाव-अभाव है) और अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ (वह अभाव-भाव) – ऐसा सम्यग्दर्शन हुआ उसी समय सिद्धदशा वर्तमान नहीं है; तथापि भविष्य की सिद्धपर्याय प्रगट होने की शक्ति मेरे द्रव्य में है – इसप्रकार सम्यक्त्वी को द्रव्यदृष्टि के बल से सिद्धदशा की निःशंकता हो गयी है। सिद्धदशा करूँ या सम्यग्दर्शनादि करूँ – ऐसे विकल्प से कहीं सिद्धदशा या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; किन्तु निर्विकल्प द्रव्यस्वभाव में एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है; इसलिये धर्मी की दृष्टि में ऐसे शुद्ध द्रव्य-स्वभाव की ही मुख्यता है।

"मोक्ष करूँ" – ऐसा विकल्प आये; किन्तु उस विकल्प की मुख्यता नहीं है, विकल्प की शरण नहीं है, शुद्धस्वभाव की ही शरण है। उसी की शरण से मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व होता है, उसी की शरण में अस्थिरता दूर होकर स्थिरता होती है; उसी की शरण से अल्पज्ञता दूर होकर सर्वज्ञता होती है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से शुद्ध परिणमन होता है; – उसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है और वही सम्यक् पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त एक पुरुषार्थ गुण को पृथक् करके पुरुषार्थ करने जाये तो उसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेद के आश्रय से राग ही होता है; किन्तु शुद्धता नहीं होती। "मैं पुरुषार्थ करूँ" – ऐसे विकल्प से सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। पुरुष अर्थात् शुद्ध आत्मा; उसके साथ परिणति एकाकार होकर शुद्धतारूप परिणमित हुई वही सच्चा पुरुषार्थ है; उसमें एकसाथ अनंतगुणों का निर्मल परिणमन उछलता है। शुद्ध चैतन्यतत्त्व के सम्मुख होकर उसमें सावधानी की, वहाँ अब विषयकषायरूपी चोर नहीं आ सकते।

इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के परिणमन में ऐसा भाव-अभावपना है कि पहले समय की अवस्था दूसरे समय अभावरूप हो जाती है; इसलिये प्रतिसमय उसकी अवस्था बदल जाती है। यदि एक ही अवस्था चलती रहे और भाव का अभाव न हो तो अज्ञानी का अज्ञान कभी दूर हो ही नहीं सकता; साधक की साधकता कभी दूर हो ही नहीं सकती; उसीप्रकार नवीन पर्याय प्रगट होने रूप "अभाव-भाव" यदि न हो तो अनादि से अभावरूप ऐसा सम्यग्ज्ञान कभी प्रगट हो ही नहीं सकता, केवलज्ञान प्रगट हो ही नहीं सकता; किन्तु ऐसा नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव ! तू आकुलित न हो......अरे रे ! चिरकाल से जिस अज्ञान का सेवन किया है वह कैसे दूर होगा ? और मुझे सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ? – इसप्रकार तू अकुलाना मत। अनादिकाल से अज्ञान का सेवन किया; इसलिये वह अज्ञान सदैव बना ही रहता है – ऐसा नहीं है और अनादिकाल से ज्ञान नहीं किया; इसलिये अब वह ज्ञान नहीं हो सकता – ऐसा भी नहीं है। अनादि से प्रतिसमय विद्यमान ऐसे अज्ञान का अभाव करके अपूर्व सम्यग्ज्ञान का भाव होता है – ऐसी शक्तियाँ तेरे आत्मा में विद्यमान हैं; उसका एक बार विश्वास कर तो तेरी आकुलता दूर हो जाये। जो-जो पर्याय आती है वह "अभाव" को साथ लाती है, इसलिये दूसरे समय अवश्य ही उसका अभाव हो जायेगा। जिसप्रकार जो जन्मता है वह मरण को साथ ही लाता है; उसीप्रकार जो पर्याय जन्मती है, वह दूसरे समय अवश्य ही नाश को प्राप्त होती है और दूसरे समय नई पर्याय उत्पन्न होती है। शुद्धद्रव्य का आश्रय करनेवाले को वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय शुद्ध होती है; इसलिये हे भाई ! तू अकुलाना नहीं; इस अपूर्ण पर्याय के समय ही उसके पीछे (अन्तरस्वभाव में) पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट होने की शक्ति तेरे आत्मा में भरी है, इसलिये उसके सन्मुख हो।

वर्तमान में आत्मा को संसारपर्याय का सद्भाव है, किन्तु उस "भाव का अभाव" कर दे ऐसी शक्ति भी साथ ही विद्यमान है। यदि उसे प्रतीति में ले तो संसार का अभाव हुये बिना न रहे।

और वर्तमान में इस आत्मा को सिद्धपर्याय का अभाव है, किन्तु उस "अभाव का भाव" करने की शक्ति भी साथ ही विद्यमान है। यदि आत्मा के ऐसे स्वभाव को प्रतीति में ले तो सिद्धदशा प्रगट हुये बिना न रहे।

इसप्रकार "भाव-अभाव" और "अभाव-भाव" शक्तिवाले आत्मस्वभाव को पहिचानने से संसार दूर होकर सिद्धदशा होती है, वह सिद्धदशा होने के बाद भी भाव-भाव और अभाव-भाव तो होता ही रहता है अर्थात् एक के बाद एक पर्याय बदलती ही रहती है; किन्तु वे समस्त पर्यायें एक समान शुद्ध ही होती हैं, प्रतिक्षण नई-नई पर्याय का अनुभव होता रहता है।

भाव का अभाव और अभाव का भाव ऐसे अखंड प्रवाह की धारा में साधक-धर्मी को शुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

जगत के चेतन या अचेतन समस्त पदार्थों में भी भाव का अभाव और अभाव का भाव ऐसा पर्याय का रूपान्तर अपने-अपने स्वभाव से हो ही रहा है। जो जीव ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने, उसे जगत के किसी पदार्थ में "वर्तमान चालू पर्याय का मैं अभाव करूँ अथवा न हो उसे उत्पन्न करूँ ऐसी भ्रमबुद्धि नहीं रहती; किन्तु मोहरहित ज्ञातापना ही रहता है।

चैतन्यस्वभाव की अतिशय विराधना करनेवाला जीव निगोददशा को (आत्मा की नीच से नीच दशा को) प्राप्त होता है; जीव के स्वभाव को भूलकर देह की अत्यन्त मूर्च्छा से वह निगोद का जीव एक अन्तर्मुहूर्त में उत्कृष्टरूप से ६६३३६ शरीर बदल लेता है; एक शरीर छोड़कर दूसरा और दूसरा छोड़कर तीसरा – इसप्रकार ६६३३६ भव ४८ मिनट में धारण करता है। देखो उसकी ममता का फल !! और प्रतिक्षण वह अनंतानंत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दुःख की वेदना भोग रहा है – ऐसा अपार दुःख कि जिसे केवली भगवान ही जाने और वह निगोद का जीव ही भोगे ! और सिद्ध भगवन्त शरीर रहित रूप से प्रतिसमय चैतन्य की पर्याय बदलकर परिपूर्ण आनन्द का ही अनुभव कर रहे हैं। देह की ममता तोड़कर देह से भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा की आराधना की उसके फल में सिद्धदशा प्रगट हुई; वहाँ प्रतिक्षण देहातीत अतीन्द्रिय आनन्द का ही वेदन है, एक आनन्दपर्याय बदलकर दूसरी और दूसरी बदलकर तीसरी – इसप्रकार सादि-अनन्तकाल तक आनन्द की ही धारा चलती रहती है। अहो ! वह आनन्द जगत के जीवों को इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है।

वर्तमान साधकदशा में सिद्धदशा का अभाव होने पर भी उस अभाव का भाव होने की शक्ति आत्मा में है। संसारपर्याय के समय सिद्धपर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह प्रगट होने की शक्ति तो आत्मा में विद्यमान ही है। अन्तर में शक्ति भरी है उसी में से वह पर्याय चली आती है। जिसप्रकार पानी का विशाल सरोवर भरा हो, उसमें से धारा प्रवाहित होती रहती है; उसीप्रकार चैतन्य सरोवर ऐसे आत्मा के स्वभाव में निर्मल पर्यायें प्रगट होने की शक्ति भरी है उसी में से निर्मलपर्यायों का प्रवाह चला आता है; लेकिन किसे ? कि जो अपने स्वभाव की ओर देखे उसे।

अहा ! अपने आनन्द के लिये मुझे कहीं पर की ओर देखना ही नहीं है........मेरा आत्मा ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ है; संतों ने उसी के अपार गीत गाये हैं। इसप्रकार स्वसन्मुख होकर अपने स्वभाव की प्रतीति करना ही इन शक्तियों के वर्णन का तात्पर्य है।

हे जीव ! सिद्धदशा आदि निर्मलपर्यायों का इस समय तुझमें अभाव है और उनका भाव करना है तो वह अभाव का भाव किसके आधार से होगा ? निमित्त के, विकार के या वर्तमान पर्याय के आधार से वह भाव नहीं होगा; एक पर्याय में दूसरी पर्याय को प्रगट करने का सामर्थ्य नहीं है; किन्तु वस्तु के स्वभाव में त्रिकाल शक्ति विद्यमान है, उसमें से प्रतिसमय अविद्यमान पर्यायों का उत्पाद होता रहता है; इसलिये अभावरूप ऐसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मल पर्यायों का भाव द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता से होता है। अभाव-भाव शक्ति की प्रतीति करनेवाला द्रव्यस्वभाव सन्मुख होता है और द्रव्य के आश्रय से उसे प्रतिक्षण विशेष-विशेष निर्मल पर्यायें प्रगट होती जातीं हैं। अल्पज्ञता के समय सर्वज्ञता का अभाव है; किन्तु वस्तु में सर्वज्ञता की शक्ति त्रिकाल भरी है – उसकी धर्मी को प्रतीति है और उस शक्ति के आधार से ही सर्वज्ञता का विकास हो जायेगा (अभाव-भाव हो जायेगा) ऐसी धर्मी को निःशंकता है। चौथे गुणस्थान में पर्याय में केवलज्ञान का अभाव होने पर भी सम्यक्त्वी को सर्वज्ञशक्तिवाला आत्मस्वभाव प्रतीति में आ गया है; इसलिये श्रद्धा-अपेक्षा से केवलज्ञान हो गया है। यदि सर्वज्ञ-शक्ति का निःशंक निर्णय न हो तो उस जीव ने आत्मा को जाना ही नहीं।

पूर्णता प्रगट होने से पूर्व जिसमें से पूर्णता प्रगट होना है – ऐसे स्वभाव की प्रतीति हो जाती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यदि आत्मा के स्वभाव को प्रतीति में ले तो, "अरे रे! अनादि का अल्पज्ञपना है वह कैसे दूर होगा?" – ऐसी शंका या आकुलता न रहे। विद्यमान ऐसी अल्पज्ञता का अभाव कर डाले और अप्रगट ऐसी सर्वज्ञता प्रगट करे – ऐसी शक्ति आत्मा में विद्यमान है – ऐसा साधक को आत्मविश्वास जागृत हो गया है; इसलिये अब उस शक्ति के अवलम्बन से अल्पकाल में अल्पज्ञता दूर हो जायेगी और सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी – उसमें साधक को सन्देह नहीं रहता। अहो! अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य भगवान प्रतिसमय विराजमान है, उसके सन्मुख होकर सेवन करते-करते साधक को अविद्यमान ऐसे केवलज्ञानादि भाव प्रगट हो जाते हैं। पर्याय के आधार से पर्याय नहीं है; इसलिए धर्मी की दृष्टि में पर्याय का अवलम्बन नहीं है; किन्तु अखंड आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन है। जहाँ अखण्ड आत्मा का अवलंबन लिया, वहाँ मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्दर्शन हुआ है और उसके बाद भी उसी के अवलम्बन से साधक को निर्मल-निर्मल पर्यायों के ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होते रहते हैं। यह समझने जैसी बात है कि स्वभाव दृष्टि में साधक को विकार का भाव-अभाव या अभाव-भाव नहीं है, किन्तु निर्मलता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का ही भाव-अभाव और अभाव-भाव है; एक निर्मल पर्याय हुई उसका दूसरे समय अभाव और दूसरी निर्मलपर्याय का भाव; पुनश्च दूसरे समय उस निर्मलपर्याय का अभाव और तीसरी निर्मलपर्याय का भाव – इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से निर्मलता का ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होता है। स्वभाव की दृष्टि में विकार का तो अभाव ही है, उस दृष्टि में विकार का परिणमन ही नहीं है; इसलिये विकार के भाव-अभाव की अथवा अभाव-भाव की इसमें मुख्यता नहीं है। यहाँ तो स्वभावोन्मुख होकर स्वभाव के अवलम्बन से निर्मल-निर्मल क्रमबद्ध पर्यायों के भाव-अभावरूप से तथा अभाव-भावरूप से परिणमित साधक आत्मा की बात है; निर्मलपर्याय सहित आत्मा की बात है। मात्र विकाररूप परिणमित हो; उसे वास्तव में आत्मा का परिणमन नहीं कहते। शुद्धस्वभाव के आश्रय से आत्मा निर्मल पर्याय-रूप परिणमित हो ही रहा है, वहाँ "इस पर्याय को इधर पलट दूँ" – ऐसी पर्यायबुद्धि ज्ञानी को नहीं है, वह तो स्वभाव के साथ एकता करके निर्मल-रूप परिणमित होता जाता है।

भाव का अभाव और अभाव का भाव – इस रूप प्रतिसमय परिणमित होता रहे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है, इसलिये आत्मा के सर्वगुण भी इसीप्रकार परिणमित हो रहे हैं। जहाँ अनन्त गुणों के पिंडरूप आत्मस्वभाव के लक्ष से परिणमन हुआ, वहाँ समस्त गुणों में निर्मल परिणमन का प्रारम्भ हो जाता है। द्रव्य के अनन्त गुणों में ऐसी शक्ति (अभाव-भाव शक्ति) है कि वर्तमान में जिस निर्मल पर्याय का अभाव है, उसका दूसरे समय भाव होगा; और इसप्रकार अनन्तानन्त काल तक नई-नई निर्मल पर्यायों का भाव आता ही रहेगा – ऐसी आत्मा में शक्ति है। वह भाव कहाँ से आयेगा ? – तो कहते हैं द्रव्य के स्वभाव में से। इसप्रकार द्रव्य-स्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति करना है। इसप्रकार अनेकान्तमूर्ति आत्मा की प्रतीति करे, तभी उसकी शक्तियों की प्रतीति होती है और उसी को स्वभावोन्मुखता से निर्मल-निर्मल पर्यायें होती हैं। ऐसा अनेकान्त का फल है। जो जीव स्वभावोन्मुख नहीं होता उसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की प्रतीति नहीं होती, तथा अनेकान्त के फलरूप निर्मल पर्याय भी उसे नहीं होती।

''अनेकान्त भी सम्यक्‌एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।'' – ऐसा श्रीमद्‌रायचन्द्रजी ने कहा है, उसमें भी दोनों पक्ष जानकर शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होने का ही रहस्य बतलाया है। जो जीव शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर नहीं ढलता, उसे अनेकान्त नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

जिसमें निर्मल पर्यायों की शक्ति विद्यमान है उसी के लक्ष और आलम्बन से निर्मल पर्यायों का विकास होता है। भविष्य की जो निर्मल पर्याय प्रगट करना चाहता है वह कहाँ से आयेगी ? पर के या विकार के आश्रय से निर्मल पर्याय नहीं होगी, किन्तु अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय करने से आत्मा स्वयं निर्मल-पर्यायरूप परिणमित हो जायेगा। पर्याय में जो कमी है उसे पूरी करना है (अर्थात् केवलज्ञान का अभाव है उसका भाव करना है) तो वह कहाँ से आयेगी ? द्रव्य की शक्ति में पूर्णता भरी है उसके अवलम्बन से पर्याय में भी पूर्णता प्रगट हो जायगी। इसप्रकार द्रव्य की शक्ति ही पर्याय की कमी को दूर करनेवाली है – अन्य कोई नहीं; इसलिये साधक की दृष्टि में निज सामान्यद्रव्य का ही अवलम्बन है। ज्ञानशक्ति में केवलज्ञान प्रदान करने की शक्ति है; श्रद्धाशक्ति में क्षायिक सम्यक्त्व देने की शक्ति है; आनन्दशक्ति में पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द देने की शक्ति है। इसके अतिरिक्त किन्हीं संयोगों में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द प्रदान करे। स्वभाव में ही ऐसी शक्ति है, इसलिये अपना चैतन्यद्रव्य ही श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द देनेवाला है। ऐसे द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका सेवन करने से वह श्रद्धा-ज्ञान और आनन्द की पूर्णता प्रदान करता है।

इसप्रकार यहाँ ३५वीं भाव-अभावशक्ति का तथा ३६वीं अभाव-भाव शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३७-३८. भाव-भावशक्ति और अभाव-अभावशक्ति

भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः। अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के भवनरूप भावभावशक्ति। नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के अभवनरूप अभावाभावशक्ति।

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनन्त शक्तियों का वर्णन चल रहा है। आत्मा में कोई भी एक पर्याय विद्यमान वर्तती है – ऐसा भावशक्ति में कहा। आत्मा में वर्तमान पर्याय वर्तती है, उसके अतिरिक्त आगे-पीछे की पर्यायें उसमें अविद्यमान हैं – ऐसा अभावशक्ति में कहा।

वर्तमान में जो पर्याय वर्तती है वह दूसरे समय अभावरूप हो जाती है – ऐसा भाव-अभाव शक्ति में कहा।

दूसरे समय की जो पर्याय वर्तमान में अविद्यमान है वह दूसरे समय प्रगट होती है – ऐसा अभाव-भाव शक्ति में कहा।

अब त्रिकाली भाव के आधार से वर्तमान भाव का अस्तित्व भाव-भाव शक्ति में कहते हैं; उसमें त्रिकाली के आधार से वर्तमान कहकर द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाते हैं।

और द्रव्य-पर्याय की जो एकता हुई उसमें पर का और विकार का अत्यन्त अभाव है तथा "न भवति पर्याय के अ-भवनरूप अभाव-अभाव शक्ति है।"

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक-एक शक्ति के वर्णन में समयसार का भण्डार भर दिया है। प्रत्येक शक्ति में शुद्ध-आत्मा का रस झर रहा है। किसी भी शक्ति द्वारा यदि आत्मा के स्वरूप को पहिचानने जायें तो अनन्त गुण के पिण्ड ऐसे भगवान आत्मा की सन्मुखता होकर अपूर्व आनन्द रस का अनुभव होता है।

मेरा स्वभाव अनन्त गुणों का भण्डार है – ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वहाँ

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

त्रिकाली शुद्धभाव के आश्रय से उस पर्याय में स्वसंवेदन भाव वर्तता है। उसका नाम ''भाव-भाव'' है। त्रिकाली भाव और वर्तमान भाव दोनों एक होकर वर्तते हैं। ऐसी भाव-भाव शक्ति है। आत्मा त्रिकाल भावरूप रहकर प्रतिसमय भावरूप वर्तता है – इसप्रकार भवते भाव का भवन है और आत्मा कभी पररूप नहीं होता; आत्मा में पर का अभाव है और वह सदैव अभावरूप ही रहता है –ऐसी अभाव-अभाव शक्ति है। इसप्रकार ये शक्तियाँ आत्मा का स्व में एकत्व और पर से विभक्तपना बतलाती हैं। भाव-भाव अर्थात् गुण का भाव और पर्याय का भाव – ऐसे दोनों भाव सहित आत्मा वर्तता है और अभाव-अभाव अर्थात् अपने से भिन्न ऐसे पर द्रव्य-गुण-पर्यायें सदैव अपने में अभावरूप से ही वर्तते हैं। ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा लक्ष में लेने से उसमें ये सब शक्तियाँ साथ आ जाती हैं।

जहाँ शुद्ध चिदानन्द आत्मा का स्वसंवेदन हुआ वहाँ ज्ञानादि गुण उस गुणरूप से नित्य रहकर वर्तमान निर्मल पर्यायरूप से वर्तते हैं और उसीप्रकार निर्मलतारूप वर्तते रहेंगे। त्रिकाल भावरूप गुण का भवन-परिणमन होकर वर्तमान पर्यायरूप निर्मलभाव वर्तता है और अब गुण के परिणमन में वैसा ही भाव वर्तता रहेगा। साधक को शुद्धता की वृद्धि होती है वह अलग बात है; किन्तु अब निर्मलभाव में बीच में दूसरा विकारी भाव नहीं आयेगा; गुणों का ज्यों का त्यों निर्मल परिणमन होता रहेगा – ऐसी यह बात है।

ज्ञान त्रिकाल ज्ञानभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; प्रभुता का भाव त्रिकाल प्रभुतारूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; श्रद्धा त्रिकाल श्रद्धाभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमान रूप परिणमित होती है; आनन्द सदैव आनन्दभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; वीर्य त्रिकाल वीर्यशक्तिरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है – इसप्रकार समस्त गुण अपने-अपने त्रिकालभावरूप रहकर अपनी-अपनी पर्याय के वर्तमानरूप परिणमित होते हैं। इसप्रकार त्रिकालभावरूप और वर्तमान भावरूप ऐसा वस्तु का स्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, उसका नाम ''भाव-भाव शक्ति'' है। अहो! मेरे ज्ञान-दर्शनादि के त्रिकाली भाव जो पहले वर्तते थे; वे ही वर्तते रहेंगे। शक्तिरूप भाव है उसमें से व्यक्ति प्रगट होगी; ज्ञान-दर्शनरूप स्थिर रहकर अपनी–अपनी पर्याय में परिणमित होंगे। ऐसे स्वभाव की जिसने प्रतीति की उसे अब ज्ञान-दर्शनमय निर्मल परिणमन ही होता रहेगा; बीच में अज्ञानभाव आये और भटकना पड़े – ऐसा नहीं होता वर्तमान में जो जानता है वह भविष्य में भी ज्ञातारूप ही रहेगा; वर्तमान में श्रद्धा करता है वह भविष्य में भी श्रद्धा करेगा; क्योंकि ज्ञानादि का जो वर्तमान है। वह ''त्रिकाल का वर्तमान'' है। त्रिकाली भाव के आश्रय से जो परिणमन हुआ वह त्रिकाली भाव की ज़ाति का शुद्ध ही होता है और पर का आत्मा में अत्यन्त-अभाव है वह सदैव अभावरूप ही रहता है; रागादि का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है और उस स्वभाव के आश्रय से वर्तमान में भी उस राग के अभावरूप परिणमन हो जाता है। ऐसी आत्मा की ''अभाव-अभाव शक्ति है।'' राग को जानते हुए ज्ञान स्वयं रागरूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है।

जिसप्रकार एक सुवर्ण की खान हो और दूसरी कोयले की तो जिस ओर उन्मुखता करे उसी की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त ज्ञानादि निर्मल शक्तियों का भण्डार है; उसके सन्मुख दृष्टि करने से पर्याय में निर्मलता की प्राप्ति होती है और शरीरादि जड़ हैं, उनकी सन्मुखता से विकार की उत्पत्ति होती है। भाई! अपने आत्मा की शक्ति को पहचान तो उसमें से निर्मलता की प्राप्ति हो।

वर्तमान में जो आत्मा वर्तता है वही भूतकाल में वर्तता था और भविष्य में वही वर्तेगा – इसप्रकार एकसमय में त्रिकाल स्थित रहने की शक्ति आत्मा में विद्यमान है; त्रिकाल भावरूप रहकर वह उस-उस समय के भाव-रूप परिणमित होता है। परिणमित होने से वस्तुस्वभाव में कोई फेरफार नहीं हो जाता अथवा उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। आत्मा त्रिकाल एक-रूप स्वभाव में वर्तता है और उस त्रिकाली एकरूप स्वभाव के साथ एकता करके वर्तमान भाव भी एकरूप (शुद्धतारूप) ही वर्तता है। जहाँ शुद्धस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का आश्रय वर्तता है, वहाँ ऐसी शंका नहीं है कि मुझे अशुद्धता होगी अथवा में पिछड़ जाऊँगा; क्योंकि आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिए आत्मस्वभाव के आश्रय से जिसका परिणमन है उसे विकार होने की शंका नहीं होती। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को शुद्ध परिणमनपूर्वक शुद्धात्मद्रव्य की प्रतीति होती है। पहले जब ऐसे शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं था, तब विपरीत दृष्टि से विकार का ही परिणमन होता था; किन्तु अब शुद्धात्मा की दृष्टि में विकार की अधिकता नहीं रही, शुद्धता की ही अधिकता रही। ऐसी शुद्ध-आत्मा की दृष्टि में सम्यक्त्वी को विकार का अभाव ही है।

आत्मा की शक्तियाँ अनन्त हैं, किन्तु अनन्तशक्तियों के भावों से अभेद है। आत्मा की किसी भी एक शक्ति के भाव को यथार्थरूप से लक्ष में लेने पर अनंत शक्तिसम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा ही लक्ष में आ जाता है। सम्यक्त्वी की दृष्टि पूर्ण आत्मा को स्वीकार करती है, उस अखण्ड आत्मा की दृष्टि में उसके समस्त गुणों का निर्मलभाव प्रगट होता है। इसप्रकार "सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व है।" शुद्धस्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ ज्ञान भी स्वसंवेदन से सम्यक् हुआ, चारित्र में भी आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का वेग भी स्वोन्मुख हुआ – इसप्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सर्व गुणों में निर्मलता प्रारम्भ हो जाती है, किसी गुण में निर्मलता भले ही कम-अधिक हो, किन्तु प्रतीति में तो पूर्ण निर्मलता आ ही गई है। सम्यग्दर्शन स्वयं तो श्रद्धा-गुण की पर्याय है, किन्तु उसके साथ ज्ञानादि अनन्त गुणों का भी निर्मल अंश वर्त ही रहा है। कोई कहे कि सम्यग्दर्शन तो हुआ; किन्तु आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का वेदन नहीं हुआ, सम्यग्दर्शन तो हुआ; किन्तु आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान न हुआ, सम्यग्दर्शन तो हुआ; किन्तु वीर्य का वेग आत्मा की ओर नहीं ढला तो ऐसा कहनेवाले ने अनंत गुणों से अभेद आत्मा को माना ही नहीं है; द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप आत्मा के भावों को उसने जाना ही नहीं है और अपने को सम्यक्त्वी मानकर वह सम्यग्दर्शन के नाम से अपने स्वच्छन्द का पोषण कर रहा है।

आत्मा की भाव-भावशक्ति है; इसलिए उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय सदैव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भावरूप ही हैं; जहाँ द्रव्यभाव है वहीं गुण का भाव है; जहाँ द्रव्य-गुण का भाव है वहीं पर्याय का भाव है। द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों का भाव एकसाथ ही है; एक ही पर्याय भले नित्य न रहे; किन्तु पर्यायरहित द्रव्य-गुण कभी नहीं होते। कोई कहे कि आत्मा में ज्ञान-आनन्दशक्ति तो है, किन्तु वर्तमान में उसका कोई भाव भासित नहीं होता तो ऐसा कहनेवाले ने आत्मा की भावशक्ति को नहीं जाना है, निर्मलभाव के भवनसहित ही त्रिकाल भाव की प्रतीति होती है। निर्मलपर्याय हुए बिना ''भवती पर्याय'' वाले आत्मा की प्रतीति कहाँ से होगी ? जहाँ आत्मा के स्वभाव का भान हुआ, वहाँ निर्मल-पर्यायरूप भवन (परिणमन) होता है। भाव-भावशक्ति के बल से द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायें तीनों अभेद होकर शुद्धरूप से वर्तते हैं और उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में विकार का अभाव है। आत्मा की अभाव-अभाव शक्ति का ऐसा बल है कि अपने से भिन्न शरीरादि पदार्थों को, कर्मों को या विकार को वह अपने स्वभाव में प्रवर्तमान नहीं होने देता। आत्मा के द्रव्य में, गुण में और उस ओर उन्मुख हुई शुद्ध पर्याय में-तीनों में विकार का, कर्म का और शरीरादि का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा। द्रव्य-गुण- पर्याय की एकता में अब कभी टूट नहीं पड़ेगी और विकार के साथ एकता नहीं होगी। विकार आत्मा के साथ नहीं वर्तेगा; किन्तु पृथक् हो जायेगा। ऐसी आत्मशक्ति को प्रतीति में लेकर उसमें एकता करना सो मोक्ष का उपाय है।

आत्मा में एक ऐसी ''अभाव-अभाव'' शक्ति है कि उसके द्रव्य-गुण-पर्याय पर के अभावरूप ही है; आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणों में तथा उसकी पर्यायों में पर का तो अभाव वर्तता ही है; इसलिए कोई निमित्त प्राप्त करूँ तो मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विकास हो यह बात नहीं रहती। देव-गुरु-शास्त्रादि के निमित्त भले हों, किन्तु आत्मा में तो उनका अभाव है। यहाँ तो तदुपरान्त विकार के भी अभाव की सूक्ष्म बात लेना है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर का त्रिकाल अभाव है, उसका तो यह अर्थ हुआ कि पर के आश्रय से होनेवाले परभावों का भी आत्मा में अभाव है तथा ज्ञानादि में जो अल्पता है, उसे दूर करके पूर्णता

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करूँ – ऐसा भेद भी नहीं रहता। एकरूप शुद्धद्रव्य की सन्मुखता ही होती है और उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुई पर्याय शुद्ध ही होती जाती है; उसमें विकार का अभाव ही है। ऐसा अभाव-अभाव शक्ति का तात्पर्य है।

जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर हो, उसी को इन शक्तियों का रहस्य समझ में आता है। आत्मा में कर्मों का त्रिकाल अभाव है, वे कर्म कभी आत्मा में भावरूपपने से नहीं वर्तते। अज्ञानी पुकार करते हैं कि अरे ! कर्म मार्ग नहीं देते। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! अपने आत्मा की ओर तो देख ! तेरे आत्मा में कर्म तो अनादि से अभावरूप ही वर्त रहे हैं; वे तेरे आत्मा में आये ही नहीं। कर्म का अभाव करने से कर्म की ओर के विकारी भाव का भी आत्मा के स्वभाव में अभाव है – ऐसा लक्ष में आता है और शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि जाती है, वहाँ पर्याय में भी विकार का अभाव हुआ – ऐसा अभाव-अभाव शक्ति का निर्मल परिणमन है। ऐसे आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले, तब जीवतत्त्व को यथार्थ माना कहा जाये। ऐसे जीवतत्त्व का आश्रय करते ही निर्मलपर्यायरूप संवर-निर्जरा तत्त्व प्रगट होते हैं और उसी के आश्रय से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा होती है; तथा पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धरूप मलिन तत्त्वों का अभाव हो जाता है; शरीरादि अजीव का तो जीव में अभाव ही था। इसप्रकार इसमें नव तत्त्वों की स्वीकृति आ जाती है तथा उनमें से उपादेय तत्त्वों का अंगीकार तथा हेय तत्त्वों का त्याग भी हो जाता है। इसका नाम धर्म है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो यह भगवान आत्मा अनादि से कभी विकाररूप प्रवर्तित ही नहीं हुआ। एकसमय की पर्याय के विकार को ही सम्पूर्ण आत्मा मान लेना तो अशुद्धदृष्टि-क्षणिकदृष्टि हो गई। शुद्ध द्रव्यस्वभाव को जानते हुए उसके सन्मुख होने से पर्याय भी शुद्ध हो जाती है – इसप्रकार शुद्धद्रव्य तथा शुद्धपर्याय की एकतारूप आत्मा प्रतीति में आये वह सम्यक्श्रद्धा है। यदि अकेले द्रव्य को शुद्ध माने और द्रव्य के साथ शुद्धपर्याय न माने तो वह वेदान्त जैसा हो गया; उसने वास्तव में शुद्धद्रव्य को भी नहीं जाना। शुद्ध पर्याय के बिना शुद्धद्रव्य को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाना किसने ? शुद्ध द्रव्य को जानते हुए पर्याय स्वयं शुद्ध न हो – ऐसा नहीं होता; क्योंकि द्रव्य के साथ पर्याय की एकता हुए बिना उसका यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। इसप्रकार विकार का आत्मा में अभाव है – ऐसा स्वीकार करनेवाला शुद्धद्रव्य की दृष्टि से निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर तदनुसार स्वीकार करता है। शुद्धद्रव्य के आश्रय से पर्याय में शुद्धता प्रगट हुए बिना विकार के अभाव का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता। यह मुख्य रहस्य है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में कर्म का और विकार का अभाव है; कर्म और विकार के अभावस्वरूप आत्मस्वभाव की जिसे दृष्टि हुई है, उसे ऐसा भय नहीं रहता कि कर्म मुझे हैरान करेंगे अथवा ऐसा सन्देह नहीं होता कि मेरे आत्मा में विकार प्रगट होगा। वह तो शुद्ध स्वभाव की सन्मुखता के बल से निःशंक और निर्भय वर्तता है।

"वर्तमान में तो हमें मिथ्यात्वादि नहीं हैं; किन्तु भविष्य में हुये तो कौन जाने ? ऐसी जिसे शंका है उसे तो वर्तमान में ही मिथ्यादृष्टि जानना। अरे भाई ! क्या मिथ्यात्वादि भाव तेरे स्वभाव में भरे हैं ? स्वभाव में तो उनका अभाव है। यदि ऐसे स्वभाव पर दृष्टि हो तो मिथ्यात्वादि होने की शंका नहीं हो सकती। स्वभाव के बल से वर्तमान में मिथ्यात्वादि का अभाव हुआ और त्रिकाल में भी उनका अभाव ही है। रागादि के अभावरूप स्वभाव है; इसलिए उसमें से रागादि हों – यह बात ही नहीं रहती।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल परभाव के त्यागस्वरूप ही है; परभाव का उसमें अभाव ही है। राग है और उसका अभाव करूँ – ऐसा भी स्वभाव दृष्टि में नहीं है। पर्याय में राग का अभाव अवश्य होता जाता है; किन्तु राग का कुछ अभाव है और सम्पूर्ण अभाव करूँ – ऐसे भेद के अवलम्बन रहित ज्ञानी की दृष्टि तो शुद्ध एकरूप स्वभाव पर ही है कि जिसमें रागादि का सदैव अभाव ही है। इसप्रकार राग के अभावरूप चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि ही राग के अभाव का उपाय है। सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में स्वभावबुद्धि में सम्पूर्ण संसार का अभाव हो गया है। ऐसे पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लेकर उसका आश्रय किया, वहाँ पर्याय में राग का अभाव ही है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में राग का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा।

''सिद्ध को विकार क्यों नहीं होता ? तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव में ऐसी अभाव-अभाव शक्ति है कि विकार का अपने में अभाव ही रखता है। सिद्ध भगवान को वह स्वभाव विकसित हो गया है; इसलिए उन्हें विकार नहीं होता – ऐसा कहना वह तो निमित्त का कथन है। वास्तव में तो विकाररूप होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है, इसलिए सिद्ध को विकार नहीं होता।

आत्मा की ऐसी शक्ति है कि उसके ज्ञानगुण की पर्याय सदैव ज्ञान रूप ही हो; श्रद्धा का परिणमन श्रद्धारूप ही हो; आनन्द का परिणमन आनन्दरूप ही हो; इसप्रकार समस्त गुण अपने-अपने भावरूप रह कर ही परिणमित हों – ऐसा स्वभाव है। ऐसा आत्मा लक्ष्य है और लक्ष्य के आश्रय से निर्मलपर्याय होती रहती है। ज्ञान अज्ञानरूप परिणमित हो, श्रद्धा मिथ्यात्वरूप परिणमित हो अथवा आनन्द दुःखरूप परिणमित हो तो वह परिणमन स्वद्रव्य के आश्रय से नहीं हुआ है। गुण के साथ एकत्व होकर निर्मल परिणति हो, उसी को वास्तव में गुण का परिणमन कहा जाता है। विकार वास्तव में गुण की परिणति नहीं, वह तो अन्दर से (ध्रुव के आधार बिना) होनेवाला क्षणिक परिणाम है। यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुव के आधार से जो निर्मलपरिणमन हो वही सच्चे भाव का भवन है। शक्तिवान शुद्ध आत्मा के सन्मुखपरिणमन होने से ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान दोनों शुद्धरूप परिणमित होते हैं। दोनों की एकता होती है और बीच में से विकार की अड़चन निकल जाती है। ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान इन दोनों रूप वस्तुस्वभाव है।

आत्मा ध्रुव रहकर वर्तमान-वर्तमान निर्मल भावरूप परिणमित हो – ऐसी भाव-भावशक्ति है तथा त्रिकाल में और वर्तमान में दोनों में पर का तथा विकार का अभाव ही रखे – ऐसी अभाव-अभाव शक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप में आत्मा में एकसाथ वर्तती हैं। ऐसा इस ३७ तथा ३८ वीं शक्ति में बतलाया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार ३३-३४-३५-३६ तथा ३७-३८ इन छह शक्तियों में भाव– अभाव संबंधी कुल छह बोल कहे। मिथ्यात्व का अभाव होकर वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय प्रगट होती है, उसमें यह छह बोल निम्नानुसार लागू होते हैं –

१. सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान विद्यमान वर्तती है वह "भाव" (३३)

२. वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय में पूर्व की मिथ्यात्व पर्याय अविद्यमान है, तथा भविष्य की केवलज्ञानपर्याय भी अविद्यमान है, वह "अभाव" (३४)

३. पहले समय मिथ्यात्व भावरूप था वह वर्तमान में अभावरूप हुआ वह "भाव-अभाव" (अथवा जो सम्यग्दर्शनपर्याय वर्तमान भावरूप है वह दूसरे समय अभावरूप हो जायेगी वह "भाव-अभाव।") (३५)

४. पूर्व समय में सम्यक्त्व का अभाव था वर्तमान समय में वह प्रगट हुआ, वह "अभाव-भाव" (अथवा दूसरे समय की जो सम्यक्त्वपर्याय वर्तमान अभावरूप है वह दूसरे समय भावरूप होगी – यह "अभाव-भाव।") (३६)

५. श्रद्धा गुण नित्य श्रद्धाभावरूप रहकर सम्यक्त्वपर्याय के भावरूप हुआ है वह "भाव-भाव।" (३७)

६. श्रद्धा के सम्यक् परिणमन में पर का तथा मिथ्यात्वादिका अभाव है और अभाव ही रहेगा वह "अभाव-अभाव।" (३८)

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा के परिणमन में वे छहों धर्म एकसाथ ही वर्तते हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्वपर्याय की भांति केवलज्ञान, सिद्धदशा आदि में भी वे छहों प्रकार एक साथ लागू होते हैं, उन्हें समझना चाहिए।

"अभाव-भाव" कहने से वर्तमान में जो पर्याय हुई वह पहले अभावरूप थी; इसप्रकार उसमें "प्राक्-अभाव" आ जाता है। तथा "भाव-अभाव" कहने से वर्तमान में जो पर्याय विद्यमान है वह बाद के समयों में अभावरूप हो जायेगी; इसप्रकार उसमें "प्रध्वंस-अभाव" आ जाता है तथा जीव में अपने से भिन्न ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का त्रिकाल अभाव ही है; इसप्रकार उसमें "अत्यन्त-अभाव" भी आ जाता है और "अन्योन्य अभाव" तो पुद्गलों की वर्तमान पर्यायों में ही परस्पर लागू होता है।

भाव-अभाव संबंधी जो छह शक्तियाँ कहीं, वे एक-सी नहीं हैं; किन्तु प्रत्येक में अन्तर है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – ३३ वीं "भाव" शक्ति कही और ३७ वीं 'भाव-भाव' शक्ति कही, इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर – "भावशक्ति" में तो वर्तमान पर्याय की बात थी वह तो भविष्य में अभावरूप हो जायेगी; जबकि भाव-भावशक्ति में तो जो ज्ञानादिभाव हैं वे त्रिकाल ज्ञानादि भावरूप ही रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। इसप्रकार दोनों में अन्तर हैं।

प्रश्न – ३४ वीं "अभावशक्ति" कही और ३८ वीं " अभाव-अभाव शक्ति" कही, उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर – जो "अभावशक्ति" कही उसमें तो वर्तमान पर्याय में भूत–भविष्य की पर्यायों के अभाव की बात है और इस "अभाव-अभाव शक्ति" में तो त्रिकाल अभाव की बात है। जैसे कि साधक को भविष्य की केवलज्ञान पर्याय का वर्तमान में जो अभाव है, वह अभावशक्ति में आता है; किन्तु "अभाव-अभाव शक्ति" में वह नहीं आता; क्योंकि यदि वह केवलज्ञान-पर्याय अभाव-अभावरूप हो तब तो वह सदैव अभावरूप ही रहेगी; इसलिए भविष्य में भी कभी केवलज्ञान प्रगट ही नहीं होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। केवलज्ञानपर्याय का वर्तमान में अभाव है; किन्तु भविष्य में वह भावरूप हो सकती है और पद का आत्मा में त्रिकाल अभाव है, वह तो त्रिकाल अभावरूप ही रहता है। भविष्य में भी वह आत्मा में भावरूप नहीं वर्तेगा; इसलिए वह अभाव-अभावशक्ति में आता है।

प्रश्न – ३५ वीं "भाव-अभावशक्ति" कही और ३६ वीं "अभाव- भाव-शक्ति" कही उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर – "भाव-अभाव" में विद्यमान पर्याय का व्यय होने की बात है और "अभाव-भाव" में अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होने की बात है। इसप्रकार एक ही समय में दोनों होने पर भी उसमें विवक्षाभेद है।

एक साथ अनन्त शक्तिमान चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को प्रतीति में लेकर उसके साथ ज्ञान की एकता करना सो मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार यहाँ ३७ वीं भाव-अभावशक्ति का तथा ३८ वीं अभाव-अभाव शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३९. भावशक्ति

कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः।

कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति।

आत्मा ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध होता है; तथापि वह एकान्त ज्ञानस्वरूप ही नहीं है, ज्ञान के साथ अन्य अनंत शक्ति स्थित हैं; इसलिये भगवान आत्मा अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन अनेकप्रकार से अलौकिक रीति से आ गया है। अभी तक ३८ शक्तियों का वर्णन हुआ। अब ३९वीं "भावशक्ति" में विकारी छह कारकों का अभाव बतलाते हैं; फिर ४०वीं "क्रियाशक्ति" में स्वभावरूप छह कारक बतलायेंगे और उसके बाद कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण तथा सम्बन्ध – इन सातों शक्तियों का आत्मा के स्वभावरूप से वर्णन करके आचार्य भगवान ४७ शक्तियों का कथन समाप्त करेंगे।

कैसी है आत्मा की भावशक्ति ? कर्त्ता-कर्म-करण आदि षट्कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी (होनेमात्रमय) भावशक्ति है। पहले तेतीसवें बोल में भावशक्ति का कथन किया था, वहाँ तो अवस्था की विद्यमानता बतलाई थी और यह भावशक्ति भिन्न है। इस भावशक्ति में कारकों से निरपेक्षपना बतलाते हैं।

सुखी होने के लिये दुःख दूर करके सुख कहाँ ढूँढें ? उसकी यह बात है। भाई, तेरा सुख तुझमें है और तू ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के स्वभाववाला है; पर को कारक बनाकर उससे सुखी होना चाहेगा तो कभी सुख प्राप्त नहीं होगा। अपने सुखादि भावों के लिये पर को कारक बनाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय अपने से भिन्न अन्य किसी कारक के आधार से स्थित रहे, आत्मा का ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है; किन्तु अन्य कारकों से रहित स्वयं अपने भावरूप परिणमित होने का स्वभाव है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसप्रकार किसी ने हीरों का हार अपने गले में पहिना हो और उसे अपने गले में ही देखे तो उसे मिल सकता है; किन्तु बावला बनकर अन्यत्र बाह्य में ढूँढे तो नहीं मिल सकता और उलझन दूर नहीं हो सकती; उसीप्रकार सुख अपने में जहाँ भरा है, वहाँ ढूँढे तो मिलता है। आत्मा में सुखस्वभाव भरा है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढे तो सुख नहीं मिल सकता और दुःख दूर नहीं हो सकता। सुख और सुख के कारक आत्मा में ही हैं, बाह्य में नहीं हैं; इसलिये जिसे वास्तविक सुख एवं आनन्दमय जीवन जीना हो उसे अन्तर्मुख होकर आत्मा में ढूँढना है, पर में सुख नहीं है, राग में भी सुख नहीं है; इसलिए पर में या राग में ढूँढने से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा में भरपूर सुख है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढे तो सुख का अनुभव हो। सुख, प्रभुता, सर्वज्ञता आदि समस्त शक्तियाँ आत्मा में भरी हैं, उसमें ढूँढे तो मिल सकती हैं।

प्रश्न – ढूँढे कैसे ? उसके लिए क्या करें ?

उत्तर – संतों के उपदेशानुसार आत्मा की शक्तियों को पहिचान कर प्रतीति करना, अन्तरोन्मुख होकर उनमें एकाग्र होना। उनमें एकाग्रता से ज्ञान-आनन्द-प्रभुता प्रगट होती है. आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

जहाँ अन्तर्दृष्टिपूर्वक चैतन्यस्वभाव का सेवन किया, वहाँ अपना चैतन्य भगवान ही प्रसन्न होकर स्वयं से अपनी वर्तमान पर्याय से कहता है कि माँग..माँग !! तुझे क्या चाहिये ? जो चाहिये हो माँग ले ! केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द देने की शक्ति मुझमें है। जो कुछ चाहिये हो वह आत्मा की शक्ति में भरा ही है; इसलिये आत्मा की शक्ति का विश्वास करके जो कुछ चाहिये हो वह उससे माँग..! आत्मा में एकाग्र हो..बाह्य में न ढूँढ.. सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के समस्त पद प्रदान करने की शक्ति इस चैतन्यराजा में है; इसलिए इस चैतन्यराजा की सेवा करके उसे प्रसन्न कर. ! दूसरों के पास भीख न माँग..बाह्य में न देख; अंतर-अवलोकन कर !

आत्मा कहाँ है ? जहाँ आत्मा है वहीं ढूँढ तो मिलेगा। आत्मा अपने से बाहर कहीं नहीं है; इसलिए बाह्य में ढूँढने से आत्मा के गुणों की प्राप्ति नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो सकती। आत्मा के गुण आत्मा से बाहर नहीं हैं, आत्मा में ही हैं। भाई! तेरी प्रभुता तुझमें है...बाह्य में न ढूँढ...अपनी प्रभुता के लिये बाह्य सामग्री को ढूँढने की व्यग्रता न कर; क्योंकि बाह्य सामग्री से तुझे तेरी प्रभुता प्राप्त नहीं हो सकती। बाह्य सामग्री से निरपेक्षरूप स्वयं अकेला छह कारकरूप (कर्त्ता-कर्म-करण आदि) होकर केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित हो जाये यह आत्मा ऐसा स्वयंभू भगवान है। आत्मा को ही ''प्रभु'' कहा है, आत्मा को ही ''भगवान'' कहा है। अहो! अपनी प्रभुता छोड़ कर पर को कौन ढूँढे? ऐसा स्पष्ट स्वभाव होने पर भी पामर जीव अपनी प्रभुता को पर में ढूँढते हैं। उन्हें आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीवो! तुम्हारी प्रभुता तुममें ही भरी है, अन्तर अवलोकन करके उसे ढूँढो! अन्तर्मुख होकर अपनी प्रभुता को धारण करो और पामरबुद्धि छोड़ो!

अहो! अपनी प्रभुता को भूले हुए पामर जीव निमित्त और राग के पास जाकर अपनी प्रभुता की भीख माँगते हैं और भिखारी रूप से चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हैं। आचार्यदेव उन्हें उनकी प्रभुता का दान देते हैं, उनकी प्रभुता बतलाते हैं। अरे जीव! तेरे स्वभाव में प्रभुता का कल्पवृक्ष है; यह आत्मा ही चैतन्य कल्पवृक्ष है, उसके पास जाकर प्रभुता की याचना कर तो तुझे अवश्य अपनी प्रभुता मिलेगी। प्रभुता से भरे हुए अपने चैतन्य-चिन्तामणि का चिन्तवन कर! उसके चिंतवन से सम्यग्दर्शन आदि प्रभुता प्रगट हो। प्रभुता का निधान अपने में भरा है, उसे बाह्य में ढूँढे तो कहाँ से मिलेगा? अहो! तुम्हें तुम्हारी प्रभुता के निधान बतला रहे हैं, उन्हें एक बार तो देखो...आत्मा की प्रभुता को देखने का कुतूहल-रुचि-उमंग करो और तुम्हें अपनी प्रभुता प्राप्त न हो – ऐसा नहीं हो सकता। जो अपने अन्तरस्वभाव में ढूँढे, उसे प्रभुता अवश्य प्राप्त होगी ही।

आत्मा ज्ञानादि अनंत गुणों की प्रभुतावाला है। यहाँ विविध शक्तियों द्वारा उसकी प्रभुता बतलाते हैं। यदि इन शक्तियों द्वारा आत्मा यथार्थ स्वरूप समझ ले तो पर से निराले परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति हो जाये। आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का जो वर्णन किया है, उस प्रत्येक शक्ति के वर्णन में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विविधता है। आत्मा की अनंत शक्तियाँ परस्पर विलक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षणवाली हैं; इसलिए समस्त शक्तियों में एक ही एक बात नहीं; किन्तु नई-नई बात है। आत्मा की विशालता की ओर जिसका लक्ष न हो, ज्ञान का रस न हो उसे नये-नये पक्षों से समझने में अरुचि उत्पन्न होती है; किन्तु यदि अनेक पक्षों से समझे तो ज्ञान की निर्मलता और दृढ़ता बढ़ती जाये और अंतर में चैतन्य के प्रति रस तथा उल्लास प्रगट हो तथा स्वयं को अनुभव हो कि मेरी पर्याय में नये-नये भाव प्रगट होते जा रहे हैं और सूक्ष्मता बढ़ रही है। अंतर में ज्यों-ज्यों गहराई तक उतरे त्यों-त्यों सूक्ष्म रहस्य समझ में आयेंगे। इसलिए अन्तर में इस बात की अपूर्वता लाकर समझने के लिये अपूर्व प्रयत्न करने योग्य हैं।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों में से इस समय ३६वीं भावशक्ति का वर्णन हो रहा है। कर्त्ता-कर्मादि कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित शुद्धभावरूप आत्मा की भावशक्ति है। राग-द्वेष का या शुभभाव का (राग का) अनुसरण करके शुद्धभावरूप हो, आत्मा का ऐसा स्वभाव नहीं है। आत्मा के शुद्धभाव का कर्त्ता राग नहीं है, राग कर्म भी नहीं है, राग करण नहीं है, राग सम्प्रदान नहीं है, राग अपादान नहीं है या राग अधिकरण नहीं है। इसप्रकार वह शुद्धभाव कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित है तथा आत्मा स्वयं भी स्वभाव से राग का कर्त्ता नहीं है, राग का कर्म नहीं है, करण नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है तथा अधिकरण भी नहीं है;उसीप्रकार राग का और स्वभाव का स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है। आत्मा राग करे और उसके फल को भोगे – ऐसा आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान-आनंदमय है; आनंद का उपभोग करना ही आत्मा का स्वभाव है; आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह पर के या विकार के कारकों का अनुसरण करे।

प्रश्न – शुभराग या शरीरादि की क्रिया क्या किसीप्रकार भी आत्मा के धर्म के कारण हैं ? किसीप्रकार आत्मा के धर्म के आधार हैं ?

उत्तर – नहीं; 'उन रागादि की क्रिया के अनुसार न हो' – ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा का स्वभाव है। पर्याय में मात्र एक समय की विकार की योग्यता हो उसे आत्मा की त्रैकालिक शक्ति नहीं कही जाती; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा में विकाररूप होने की योग्यता भी नहीं है। आत्मा की किसी शक्ति के स्वभाव में रागादि का कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान अथवा अधिकरणपना नहीं है और उस त्रिकाली स्वभाव का अनुसरण करके जो निर्मलभाव हुआ, वह भाव भी रागादि कारकों का अनुसरण नहीं करता। इसप्रकार आत्मा का स्वभाव कारकों के अनुसार होनेवाली रागादि क्रिया से रहित परिणमित होने का है।

प्रश्न – आत्मा राग-द्वेष और अज्ञानरूप परिणमित तो होता है न?

उत्तर – एक समय की अवस्था के विकार को अज्ञानी ही अपने कार्यरूप से स्वीकार करता है और उसका फल संसार है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है तो उसे आत्मा कैसे कहा जायेगा? आत्मा के स्वभाव में कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि जिससे वह पर के साथ कारकों का सम्बन्ध रखे! पर का अनुसरण करने से जो विकाररूप परिणमित होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उसे आत्मा नहीं कहते। एक-एक समय मिलकर अनंतकाल विकारी परिणमन में व्यतीत हुआ; तथापि दो समय का विकार आत्मा में एकत्रित नहीं हुआ तथा एक समय का जो विकार है वह भी आत्मा के स्वभावरूप नहीं हो गया है; इसलिए स्वभावदृष्टि में राग को आत्मा के साथ कर्त्ता-कर्मपना नहीं है; वह करण नहीं है – साधन नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, आधार नहीं है, और उसके साथ आत्मा को स्वस्वामित्वपने का सम्बन्ध भी नहीं है।

प्रश्न – तो फिर राग-द्वेष किसने किए?

उत्तर – जिसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं है उसने! जिसने एक समय की विपरीत मान्यता से आत्मा को राग-द्वेषरूप ही मानकर उन रागादि को अपना माना है, वही राग-द्वेष का कर्त्ता है। सम्यक्त्वी तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को ही अपना मानता है। सम्यक्त्वी ने सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् परमार्थतः राग-द्वेष का कर्तृत्व माना ही नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्वी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपने शुद्धात्मस्वरूप के साथ रागादि को एकमेक नहीं करता।

जैनदर्शन में तो अनंतशक्तिसम्पन्न अनेकान्तस्वरूप शुद्ध आत्मा की ही मुख्यता है और विकार के समय उसे निमित्तरूप से कर्म होते हैं – ऐसा भगवान ने बतलाया है। कर्मरूप होने की शक्ति पुद्गल की है। आत्मा जड़-कर्मों का बंध करे या उन्हें दूर करे अथवा जड़कर्म आत्मा को हैरान करें – ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा पर की अवस्था नहीं करता और पर पदार्थ आत्मा की अवस्था नहीं करते, अपने-अपने छह कारकों से ही प्रत्येक द्रव्य की अवस्था होती है। पर्याय में जो विकार और उसके निमित्तरूपकर्म हैं, वे जानने योग्य हैं; किन्तु उतना ही आत्मा को मानकर उसके आश्रय में रुके तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता; इसलिए व्यवहारनय ज्ञान में जानने योग्य है; किन्तु वह आदरणीय नहीं है – ऐसा जिनशासन में आचार्यदेव ने ढिंढोरा पीटकर कहा है।

जीव और पुद्गल दोनों एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमन करते हैं। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि निश्चय से अभिन्नकारक होने से जीव को तथा कर्म को स्वयं अपने-अपने स्वरूप का ही कर्तृत्व है। "स्वयमेव षट्कारंकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते" पुद्गलद्रव्य स्वयं ही छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना ही कर्मरूप से परिणमित होता है तथा जीव भी अपने औदयिकादि भावोंरूप से "स्वयमेव षट्कारकी रूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकांतरमपेक्षते" स्वयमेव छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा बिना ही परिणमित होता है। इसका भावार्थ सिद्ध करते हुए श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं कि – जिसप्रकार अशुद्ध छह कारक रूप से परिणमित होता हुआ अशुद्ध आत्मा को करता है, उसीप्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप से अभेद छह कारक स्वभाव से परिणमित होता हुआ शुद्ध आत्मा को करता है। इसप्रकार अशुद्धता में तथा शुद्धता में अन्य कारकों से निरपेक्षपना है।

दूसरा निमित्त हो भले, किन्तु उस समय उससे निरपेक्षरूप से ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु परिणमित होती है।

व्यवहार से अन्य जितने कारक कहे जाते हों, उन सबसे निरपेक्षरूप ही जीव-पुद्गल का परिणमन है। ऐसा निरपेक्षपना जान ले तो पराश्रय छूटकर स्वाश्रय से शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे।

प्रवचनसार की १२६वीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि संसार दशा में या साधकदशा में भी आत्मा अकेला ही स्वयं कर्त्ता-कर्म-करण और कर्मफल है; अन्य कोई उसका सम्बन्धी नहीं है। तथा प्रवचनसार की १६वीं गाथा में कहा है कि शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये "स्वयंभू" है। निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है।

स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होकर ऐसा जानता है कि पूर्वकाल में रागादिरूप भी मैं ही अकेला परिणमित होता था; मेरा वह परिणमन किसी पर के कारण नहीं था और अब स्वभावरूप परिणमित होने से ऐसा भी भान हुआ कि पूर्वकाल में जो रागादिरूप परिणमन था, वह मेरा स्वभाव नहीं था – इसप्रकार ज्ञानी द्रव्य-पर्याय दोनों को यथार्थरूप से जानता है।

यहाँ आचार्यदेव द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कहते हैं कि – आत्मा में विकार के छह कारकानुसार क्रिया होने का अभाव है; आत्मा भेदरूप छह कारकों की क्रिया से रहित है।

राग को कर्त्ता बनाकर आत्मा उसके अनुसार धर्मरूपी कार्य करे ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।

रागकर्म बनाकर आत्मा उसका कर्त्ता हो – ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार राग को साधन बनाकर आत्मा उससे धर्म को साधे – ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

पहले पर्याय में रागादि का कर्त्ता-कर्मपना था, किन्तु जहाँ पर्याय अन्तरोन्मुख होकर अभेदस्वभाव का अनुसरण किया, वहाँ भेदरूप कारकों का अनुसरण करने की क्रिया ही नहीं रही। इसप्रकार अपने स्वभाव का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुसरण करे और भेदरूप कारकों का अनुसरण न करे – ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। जो शुद्धभाव हुआ वह अपने स्वभाव का ही (अभेदरूप छह कारकों का ही) अनुसरण करता है और भेदरूप कारकों का – राग का या पर का अनुसरण नहीं करता।

निमित्त के अनुसार होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे विलक्षण निमित्त आयें वैसा ही विलक्षण परिणमन होता है – ऐसा माननेवाला निमित्त का ही अनुसरण करता है; किन्तु आत्मा का अनुसरण नहीं करता; इसलिये जो निमित्त का अनुसरण नहीं करता ऐसे आत्मस्वभाव की-आत्मा की (भावशक्ति की) उसे खबर नहीं है; किन्तु अपने स्वभाव से भिन्न अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना निरपेक्षरूप से स्वयं अपने निर्मलभावरूप से परिणमित होता है – ऐसी आत्मा की भावशक्ति है।

प्रवचनसार की १६वीं गाथा में सर्वज्ञ हुए आत्मा का स्वयंभूरूप से वर्णन करते हुए आचार्य भगवान ने अद्भुत बात कही है; वहाँ स्पष्ट कहते हैं कि –

"शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्म नष्ट हो जाने के कारण जिसने शुद्ध अनंत शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है – ऐसा आत्मा –

१. शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्त्तापने का अधिकार ग्रहण किया है ऐसा,

२. शुद्ध अनंतशक्तिवाले ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से (स्वयं ही प्राप्त होता है इसलिए) कर्मपने का अनुभव करता हुआ,

३. शुद्ध अनंतशक्तिवाले ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होने से करणपने को धरता हुआ,

४. शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होता है; इसलिये (अर्थात् कर्म स्वयं को ही दिया जाता है इसलिये) सम्प्रदानपने को धारण करता हुआ,

५. शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्वकाल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में प्रवर्तित विकलज्ञानस्वभाव का नाश हो जाने पर भी सहज-ज्ञान-स्वभाव द्वारा स्वयं ही ध्रुवत्व का अवलम्बन करता है; इसलिये अपादानपने को धारण करता हुआ और

६. शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होनेवाले स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणपने को आत्मसात करता हुआ;

– इसप्रकार स्वयमेव छह कारकरूप होता है; इसलिए "स्वयंभू" कहलाता है।"

इससे ऐसा कहा कि – निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।

पर से निरपेक्ष रहकर ज्ञान-आनन्दरूप परिणमित होने के अपने स्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता और बाह्य कारणों को ही ढूँढता है; इसलिए वह व्यर्थ ही दुःखी-व्याकुल होता है, कहीं स्थिर नहीं होता। स्थिरता तो अन्तर में करना है, किन्तु उसे तो वह जानता नहीं है। आतम-राम को जाने बिना कहाँ आराम करेगा ?

यहाँ कहते हैं कि बाह्य कारण तो दूर रहो; किन्तु विकार के कर्त्ता-कर्म-करण आदि छह कारक जो आत्मा की पर्याय में होते हैं, उनके अनुसार परिणमित होने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर के कारण विकार होता है या पर के कारण गुण होता है – ऐसा जो माने उसने तो बाह्य कारकों को आत्मा में माना है और वह तो मिथ्यात्वी है तथा भेदरूप कारकों से विकाररूप परिणमित होता है – ऐसा ही आत्मा को माने और शुद्ध आत्मा को न जाने तो उसने भी आत्मा के वास्तविकस्वभाव को नहीं जाना है, वह भी मिथ्यात्वी है। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव हुए वे द्रव्य के साथ अभेद हुए, वहाँ कर्त्ता और कर्म तथा आधार आदि समस्त कारक अभेद हुए; कर्त्ता अलग, कर्म अलग और साधन कोई दूसरा – ऐसा भेद वहाँ नहीं रहा। ज्ञाता स्वयं ही छह कारकरूप होकर शुद्धभावरूप परिणमित हुआ है वहाँ भेदरूप कारकों की क्रिया अस्त हो गई है।

देखो, इसमें निमित्त आदि कारक तो निकाल दिये; क्योंकि उनका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो आत्मा में अभाव है–१. विकारी कारक भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है इसलिए द्रव्यदृष्टि में उन्हें भी निकाल दिया–२, और निर्मल छह कारकों के भेद की दृष्टि भी निकाल दी–३, इसप्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से भेदरूप कारकों की क्रियारहित शुद्धभावरूप से आत्मा परिणमित होता है। आत्मा निर्मल छह कारकरूप से अभेद परिणमित होता है; छह कारकों के भेद पर लक्ष रहे तो राग होता है और अभेद आत्मा के आश्रय से शुद्ध-भावरूप से आत्मा का परिणमन हो जाता है, उसमें भेदरूप कारकों का अवलम्बन नहीं है, इसलिए अभेद का ही अवलम्बन है – ऐसा इस भावशक्ति में बतलाया।

१॰ शुद्धभावरूप सम्यक्त्वादि कार्य हुआ वह आत्मा का कर्म;

२॰ आत्मा स्वतंत्ररूप से उसरूप परिणमित होता है, इसलिए उसका कर्त्ता;

३॰ आत्मा द्वारा ही वह भाव किया गया है; इसलिए आत्मा साधकतम करण;

४॰ आत्मा में से ही वह भाव प्रगट हुआ है; इसलिए आत्मा सम्प्रदान;

५॰ वह भाव प्रगट होकर आत्मा में ही रहा है; इसलिए आत्मा अपादान है;

६॰ वह भाव आत्मा के ही आधार से हुआ है; इसलिए आत्मा ही अधिकरण है।

इसप्रकार शुद्धभाव में अपने ही छह कारक अभेदरूप हैं; परन्तु भेदरूप कारकों का आत्मा अनुसरण नहीं करता; वह इसप्रकार –

१॰ सम्यक्त्वादि शुद्धभावरूप कार्य हुआ वह राग का कार्य नहीं है, क्योंकि रागभाव उस रूप परिणमित नहीं हुआ है।

२॰ सम्यक्त्वादि शुद्धभाव का कर्त्ता राग नहीं है।

३॰ उस शुद्धभाव का साधन राग नहीं है, इसलिये राग उसका करण नहीं है;

४॰ वह शुद्धभाव प्रगट होकर राग में नहीं रहा; इसलिए राग उसका सम्प्रदान नहीं है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५. वह शुद्धभाव राग में से नहीं आया; इसलिए राग उसका अपादान नहीं है।

६. वह शुद्धभाव राग के आधार से नहीं है; इसलिए राग उसका अधिकरण नहीं है।

इसप्रकार रागादि कारकों का अनुसरण किए बिना ही स्वयं शुद्ध भावरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है, उसे यह भावशक्ति बतलाती है। भाव अर्थात् शुद्धभावरूप से भावना-परिणमित होना; उस शुद्धभावरूप से स्वयं भवने की (स्वयं परिणमित होने की) आत्मा की शक्ति है; उसमें आत्मा से भिन्न अन्य किन्हीं कारकों का अवलम्बन नहीं है।

अहो ! निरालम्बी चैतन्य की अपूर्व बात है ! किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन कभी नहीं किया है। एक बार आत्मा की अचिन्त्यशक्ति को पहिचाने तो बाह्य में कहीं मोह न रहे और अन्तर्मुख होने पर अल्पकाल में मुक्ति हो जाये। ऐसा आत्मस्वभाव समझने के लिये अन्तर से प्रेम आना चाहिये; अंतर में अत्यन्त रुचिपूर्वक, अत्यन्त जिज्ञासा पूर्वक, अत्यन्त पात्रतापूर्वक, अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अपनी मानकर यह बात समझना चाहिये।

जिसने एकबार भी भावभासनपूर्वक अपने आत्मा में इस बात के संस्कार जमा लिये उसे वे संस्कार फलित होकर सिद्धदशा हो जाएगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो यह बात समझ ले उसके आत्मा में से संसार की ओर के (मिथ्यात्वादि के) छहों कारकों का परिणमन छूटकर मोक्ष की ओर के कारकों का परिणमन (स्वभाव के आश्रय से) होने लगे।

"स्वतंत्र परिणमित हो वह कर्त्ता।" रागभाव कहीं सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता; किन्तु आत्मा स्वयं ही स्वतंत्ररूप से सम्यग्दर्शन आदिरूप परिणमित होता है; इसलिए आत्मा ही उन सम्यग्दर्शनादि का कर्त्ता है, राग उनका कर्त्ता नहीं है।

"कर्त्ता का इष्ट सो कर्म।" सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप परिणमित होना ही आत्मा का इष्ट है और आत्मा उसका कर्त्ता है। इसके अतिरिक्त निमित्त को या राग को इष्ट मानकर उसी के अनुसार जो मिथ्यात्वभावरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से परिणमित होता है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते, वह तो आस्रव तत्त्व में जाता है।

उसीप्रकार कर्त्ता का साधकतम साधन वह करण है। आत्मा को सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्यरूप परिणमित होने में पर या रागादि सच्चे साधन नहीं हैं; किन्तु अपना स्वभाव ही साधकतम होने से उसका साधन है, इसलिए आत्मा ही करण है। निमित्तों को या राग को साधन मानकर जो उसके आश्रय से परिणमित होता है, उनके सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्य नहीं होता; किन्तु मिथ्यात्वादि होता है।

उसीप्रकार कर्त्ता अपना कार्य जिसे दे वह सम्प्रदान; आत्मा अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य राग को या निमित्त को नहीं देता, इसलिए राग या निमित्त उसके सम्प्रदान नहीं हैं; आत्मा अपने स्वभाव में ही अभेदरूप से उसे रखता है; इसलिए आत्मा ही उसका सम्प्रदान है।

जिसमें से कार्य लिया जाए अथवा कार्य में जो ध्रुवरूप स्थित रहे वह अपादान है। संयोग और राग तो छू जाते हैं; इसलिए वह अपादान नहीं है। सम्यग्दर्शनादि कार्य में आत्मा ही अखण्डरूप से स्थित रहनेवाला है और उसी में से वह कार्य लिया जाता है, इसलिए वही अपादान है।

उसीप्रकार राग या निमित्त उस सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का आधार भी नहीं है; राग के या निमित्त के आधार से वह कार्य नहीं होता; इसलिए राग उसका अधिकरण नहीं है; किन्तु स्वभाव ही उसका आधार होने से अधिकरण है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्धभावरूप परिणमन में पर के कारका-नुसार होनेवाली क्रिया से रहित है; पर के कारकानुसार होनेवाली जो विकारी क्रिया उससे रहित शुद्धभावरूपभवनमात्र शक्तिवाला आत्मा है, उसमें अन्तरोन्मुख होने से ही कल्याण है।

आत्मा का स्वभाव क्या है उसकी यह बात चल रही है। पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूप विकार करता है, वह भी जीव स्वयं ही उलटे पुरुषार्थ से करता है; किन्तु वह जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। विकार को हितरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मानने से जीव संसार में दु:ख भोग रहा है। विकाररहित अपना वास्तविक स्वरूप क्या है उसे पहिचाने तो सच्चे अनुभव द्वारा दु:ख दूर होकर मुक्ति हो; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव, भिन्न कारकों के अनुसार विकाररूप से या हीनतारूप से परिणमित होने का तेरा स्वभाव नहीं है; किन्तु उससे रहित शुद्धतारूप तथा पूर्णतारूप परिणमित होने का तेरा स्वभाव है। पर से निरपेक्षता होने पर अपने स्वभाव से पूर्णता ही है। बस! पूर्णता...पूर्णता और पूर्णता ही है – ऐसे स्वभाव का स्वीकार वह सम्यग्दर्शन है और ऐसे स्वभाव से च्युत होकर पर को कारक मानकर अज्ञानदशा में विकाररूप भी स्वयं अपने कारकों से परिणमित होता है, कोई दूसरा उसे परिणमित नहीं करता।

प्रवचनसार की १८६वीं गाथा में कहते हैं कि – "यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्यागरहित होने पर भी अभी संसारावस्था में, परद्रव्य के परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए (पराश्रय करने में निमित्त बनाते हुए) ऐसे केवल स्वपरिणाममात्र का वह स्वपरिणाम द्रव्यत्वभूत होने से उसका कर्तृत्व अनुभवता हुआ, अपने उसी स्वपरिणाम को निमित्तमात्र करके कर्म परिणाम को प्राप्त करती हुई ऐसी पुद्गल रज द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण होता है और कदाचित् छूटता है।" "स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स" – ऐसा मूल सूत्रकार भगवान ने ही कहा है उसमें से यह स्पष्ट अर्थ टीकाकार आचार्यदेव ने खोला है। विकारी परिणाम भी आत्मा के अस्तित्व में होते हैं, स्वकृत होने से आत्मा के आश्रय से, अपने कारण से होते हैं; इसलिए उन्हें "दव्वजादस्स" कहा है और उन स्वपरिणामों का कर्त्ता आत्मा ही होता है – ऐसा बतलाया है; किन्तु जहाँ शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को दृष्टि में लेकर उसके सन्मुख हुआ, वहाँ वह अशुद्ध परिणमन नहीं रहता और गौणरूप से अल्परागादि रहे उसका कर्तृत्व भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में नहीं रहता। साधकदशा में विकारी कारकों की क्रियारहित निर्मलभावरूप से स्वयं ही परिणमित होता है। इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस सम्बन्ध में प्रवचनसार गाथा १२६ में कहते हैं कि – "जो पुरुष इसप्रकार 'कर्त्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' – ऐसा निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप से परिणमित नहीं होता वही पुरुष, परद्रव्य के साथ सम्पर्क जिसका रुक गया है और द्रव्य के भीतर पर्यायें जिसके प्रलीन हुई हैं ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है; किन्तु अन्य कोई ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता।"

पुनश्च, यह बात विशेष स्पष्टरूप से समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि – "जब मैं संसारी था तब भी (अज्ञानदशा में भी) मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं था; उस समय भी मैं अकेला था, कारण कि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनरूप से करता था) मैं अकेला ही करण था; क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम (उत्कृष्ट साधन) था; मैं अकेला ही कर्म-कार्य था; क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला "दुःख" नाम का कर्मफल था – कि जो (फल) उपरोक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता था।"

"इस समय भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) सचमुच मेरा कोई भी नहीं है। इससमय भी मैं अकेला ही कर्त्ता हूँ; कारण कि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र हूँ (अर्थात् स्वाधीनरूप से करता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्त हूँ और मैं अकेला ही अनाकुलता लक्षणवाला "सुख" नाम का कर्मफल हूँ – कि जो (फल) सुविशुद्ध चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता है।"

"इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है – ऐसा भानेवाला यह पुरुष परमाणु की भाँति एकत्व भावना में उन्मुख होने से (अर्थात् एकत्व के भाने में तत्पर लगा हुआ होने से), उसे परद्रव्यरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणति बिल्कुल नहीं होती और परमाणु की भाँति (अर्थात् जिसप्रकार एकत्वभावरूप परिणमित होनेवाला परमाणु पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार), एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंपृक्तता के कारण वह सुविशुद्ध होता है और कर्त्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण (खण्डित) नहीं होता और इसलिए पर्यायों द्वारा संकीर्ण न होने के कारण सुविशुद्ध होता है।''

विकारदशा के समय भी उसके छहों कारक यद्यपि आत्मा में हैं; किन्तु उन अशुद्ध छह कारकों के अनुसार परिणमित होने का आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है – ऐसा यहाँ बतलाना है। आत्मा में एक ऐसा अनादि-अनंत भाव है कि जो पर का या विकार का कर्त्ता नहीं होता। आत्मा की अनंत शक्तियों में विकार की कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान या अधिकरण हो – ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है, वह तो मात्र क्षणिक पर्याय का धर्म है; इसलिए अनंतशक्तिवान अखण्ड आत्मा की दृष्टि में तो उसका अभाव ही है – ऐसे स्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्धभावरूप से परिणमित होने पर धर्मी को भान हुआ कि – अहो ! विकारी कारकों की क्रिया के अनुसार परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है। अभेदस्वभाव में एकत्वरूप से शुद्ध-भावरूप परिणमित होने का ही मेरा स्वभाव है। शरीर-मन-वाणी का, परजीव का या पुण्य-पाप का कर्त्ता होकर परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में एकसमयपर्यंत की विकार की अमुक योग्यता है उसे धर्मी जानते हैं; किन्तु उसे शुद्धस्वभाव में नहीं लेते, उसे आदरणीय नहीं मानते। इसलिए शुद्धस्वभाव के आदर की दृष्टि में विकार का अभाव ही वर्तता है। यदि विकार के अभावरूप त्रिकाल निर्दोषस्वभाव की दृष्टि छोड़कर अकेले विकारभाव को ही जानने में रुके तो वहाँ एकान्त पर्यायबुद्धि रूप मिथ्यात्व होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इन ४७ शक्तियों में सम्पूर्ण समयसार का दोहन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। यह सूक्ष्म अंतर का विषय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। संक्षेप में बहुत रहस्य भर दिया है। अंतर की गहराई में उतरकर समझे वह उसकी गम्भीरता की महिमा समझ सकता है।

इस भगवान आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; वे सब शक्तियाँ कैसी हैं ? (१) आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि शरीरादि पर का कार्य करे; इसलिए जो पर का कर्तृत्व मानता है उसने आत्मा की शक्ति को नहीं पहिचाना है। (२) पर्याय में एकसमयपर्यंत का जो विकार है वह शक्ति में नहीं भरा है; इसलिए उस विकार के कर्तृत्व में ही जो रुके उसे आत्मा की शक्ति की प्रतीति नहीं है। (३) अनंत शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी उन सब शक्तिस्वरूप आत्मा तो एक है, इसलिए भिन्न-भिन्न शक्ति के भेद के लक्ष से भी सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति में नहीं आता। इसप्रकार पर, विकार और भेद – इन तीनों से पार एकाकार चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से ही अनंतशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा प्रतीति तथा अनुभव में आता है और ऐसे आत्मा की प्रतीतिवाला जीव भेद के आश्रय से होनेवाली विकारी क्रिया को या जड़ की क्रिया को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करता; इसलिए उसे अभेदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि परिणमन होते हैं वह धर्म है और वही धर्म की क्रिया है। इसप्रकार स्वाश्रय अभेदरूप कारकों में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया की नास्ति है और अभेदरूप कारक के आश्रय से होनेवाली निर्मल क्रिया की अस्ति है। उसमें से भेद कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया का नास्तिपना इस ३६वीं शक्ति में बतलाया और अभेदाश्रित निर्मलभाव होनेरूप क्रिया का अस्तिपना अगली शक्ति में बतलायेंगे।

जिसे रागादि व्यवहार के आश्रय की भावना है अथवा वह करते-करते निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होगी – ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, वह रागरहित आत्मस्वभाव को नहीं मानता। सम्यक्त्वी की दृष्टि में अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन है और उसी की भावना है; साधकपने में व्यवहार रत्नत्रयादि का राग भले हो; किन्तु उसकी उसे भावना नहीं है। अहो ! अपने चैतन्यतत्त्व को वास्तविकरूप से जानकर जीव ने उसकी भावना पूर्वकाल में कभी नहीं की है। एक क्षण भी जिसकी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावना करने से अनंतकाल के जन्म-मरण छूट जायें – ऐसे चैतन्यतत्त्व की यह अपूर्व बात है। अपूर्व रुचिपूर्वक बारम्बार इसका श्रवण-मनन और भावना करने योग्य है।

देह से भिन्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा त्रिकाल स्थायी होने पर भी प्रतिक्षण पलटनेरूप क्रिया भी उसमें होती है। यदि ऐसी क्रिया न हो तो वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। कहा है कि –

"करता परिणामी दरब, करमरूप परिणाम,
किरिया परजय की फिरनी, वस्तु एक त्रय नाम।" (नाटकसमयसार)

परिणमित होनेवाला द्रव्य वह कर्त्ता है, जो परिणाम होता है वह उसका कर्म है और एक पर्याय से दूसरी पर्याय में परिवर्तित होने रूप क्रिया है। यह तीनों वस्तुरूप से एक है अर्थात् कर्त्ता एक वस्तु और उसका कर्म दूसरी वस्तु में – इसप्रकार भिन्न-भिन्न वस्तु में कर्त्ता-कर्मपना नहीं होता। यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कर्त्ता होकर शरीरादि के कार्य को करे – ऐसा तो नहीं है और आत्मा कर्त्ता होकर रागादि को करे – ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा कर्त्ता होकर अपने निर्मल परिणाम को करे वही उसका स्वभाव है।

आत्मा परिवर्तित होकर अपनी ज्ञानादि पर्यायोंरूप होता है; किन्तु वह बदलकर कभी जड़ शरीररूप नहीं होता; इसलिए आत्मा शरीर के कार्यों का कर्त्ता नहीं है। शरीर की क्रियारूप से तो जड़ परमाणु बदलते हैं। जो वस्तु जिस कार्यरूप परिणमित हो उसी को उसका कर्त्ता कहा जाता है। आत्मा कहीं शरीर के कार्यरूप परिणमित नहीं होता और वास्तव में राग में अभेद होकर भी परिणमित नहीं होता; आत्मा तो अपने निर्मल ज्ञानदर्शनादि पर्यायरूपी कार्य में अभेद होकर परिणमित होता है, इसलिए उसी का वह कर्त्ता है और वही उसका कर्म है। इसके बदले जो विकार में तन्मयता मानकर परिणमित हो वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो, यह आत्मा की क्रिया का वर्णन ! इसमें क्रिया का उत्थापन नहीं होता; किन्तु वास्तविक धर्म की क्रिया की स्थापना होती है। हाँ !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जगत जड़ की और विकार की क्रिया में धर्म मान रहा है उस बात की उत्थापना होती है और शुद्धभावरूप धर्म की क्रिया की सम्यक्‌रूप से स्थापना होती है। जितने तीर्थंकर, संत, मुनि, धर्मात्मा हुए हैं और होंगे, उन सबने इसी क्रिया से धर्म किया है और कहा है। भगवान ने और सन्तों ने तीन प्रकार की क्रिया स्थापित की है –

१. शरीरादि की क्रिया को जड़ की क्रिया के रूप में स्थापित किया है।

२. राग-द्वेष-मोहरूप विकार को अधर्म की क्रिया के रूप में स्थापित किया है।

३. आत्मा के सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव को धर्म की क्रिया के रूप में स्थापित किया है।

इसके अतिरिक्त शरीरादि जड़ की क्रिया से या पुण्यादि की विकारी क्रिया से धर्म हो–इस बात की भगवान ने स्थापना नहीं; किन्तु उत्थापना की है।

जिसप्रकार कुलीन पिता अपने पुत्र को सीख देता है; उसीप्रकार इस आत्मा के धर्मपिता सर्वज्ञ भगवान और संत सीख देते हैं कि – हे वत्स ! हे भाई ! शरीर की क्रिया में या राग में धर्म मानना तो बाह्य वृत्ति है, उस बाह्य वृत्ति में तेरी शोभा नहीं है; इसलिए तू उस बाह्यवृत्ति को छोड़। बाह्य भावों से चिदानन्दस्वभाव को लाभ मानना और उनमें रमण करना तो कुचाल है, उसमें तेरा कुल, तेरा चैतन्यस्वरूप लज्जित होता है, तेरे चैतन्यस्वभाव की कुलीनता में वह शोभा नहीं देता; इसलिए तू उसे छोड़ दे। तू हमारे कुल का है; इसलिए हमारी भाँति सर्वज्ञ-वीतराग होने का तेरा स्वभाव है; तुझमें सर्वज्ञ-वीतराग होने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसे तू सँभाल ! देखो, यह सर्वज्ञ पिता की सीख ! सर्वज्ञ प्रभु की सीख सर्वज्ञ-वीतराग होने की ही है। जो स्वयं वीतराग हुए वे राग रखने की सीख क्यों देंगे ? जो जीव राग को रखने योग्य मानता है उसने सर्वज्ञ प्रभु की सीख नहीं मानी है; इसलिए वह सर्वज्ञदेव की आज्ञा से बाहर है, मिथ्यादृष्टि है।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४०. क्रियाशक्ति

कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः।

षट्कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति है।

देखो! पहले ३९वीं शक्ति में कारकों के अनुसार जो विकृत अवस्थारूप क्रिया होती है, उससे रहित परिणमने की बात थी। यहाँ निर्मल अभेद-कारक अनुसार अविकृत निर्मलक्रिया से सहित परिणमने की बात है। अहाहा! कर्त्ता, कर्म, करण आदि निर्मल अभेदकारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव, उसमयी भावशक्ति है। अन्दर में त्रिकाल निर्मल षट्कारक पड़े हैं, उनके अनुसार निर्मल परिणति होना – आत्मा की क्रिया है, आत्मा का गुण है।

मैं चेतनेवाला चेतक हूँ, मैं अपने को चेतता हूँ, मैं अपनी चेतना द्वारा चेतता हूँ – इसप्रकार स्वसंवेदन में अभेदरूप से छहों कारक समा जाते हैं। उसमें कारकभेद का विकल्प नहीं होता है। निर्मल, निर्विकारक्रिया में छहों कारकरूप आत्मा परिणम जाता है, उसमें कारकभेद का विकल्प नहीं है। अहा! विकल्प की क्रिया की अपेक्षा बिना ही उसके भाव का भवन (परिणमन) होता है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है, गुण है और अपने निर्मल अभेद षट्कारक अनुसार निर्मलक्रियारूप से भवन हो, ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है, गुण है। भाई! अपने निर्मल अभेद षट्कारकों के अनुसार निर्मलपरिणति का होना आत्मा का स्वभाव है और रागपने नहीं होना भी आत्मा का स्वभाव है। यह अनेकान्त है। अहाहा! पररूप से न हो, विकार-रूप से न हो, भेद के आलंबन से न परिणमे; परन्तु अभेद, निर्मल षट्-कारकों के अनुसार निर्मल, निर्विकार परिणतिरूप से परिणमे – ऐसा दिव्य शक्तिमान चैतन्यचिंतामणि प्रभु आत्मा स्वयमेव देव है। जब वह आत्मा भेदरूप-व्यवहाररूप क्रिया को अनुसरता ही नहीं है; तब वह व्यवहार, निश्चय का साधन कैसे हो सकता है? भाई! व्यवहार निश्चय

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का यथार्थ साधन है ही नहीं, उसे साधन कहना तो उपचारमात्र है।

भाई ! ज्ञान की क्रिया और राग की क्रिया – इसप्रकार दोनों मोक्ष का मार्ग हैं – ऐसा नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् आत्मा का संवेदन ज्ञान है और रागरहित वीतरागीभाव क्रिया है – इसप्रकार ज्ञान और क्रिया मिलकर मोक्ष होता है। इसका नाम ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः है; परन्तु अपना ज्ञान और राग की क्रिया – ऐसा कोई मोक्षमार्ग या मोक्ष नहीं है। अहा ! निर्मल षट्कारकों के अनुसार निर्मल शुद्धरत्नत्रय की परिणति होना मोक्ष का कारण है। इस निर्मलपरिणतिरूप से परिणमनेरूप क्रियाशक्ति है।

शक्ति अर्थात् गुण। एक-एक गुण – इसप्रकार अनन्त गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। वहाँ यह गुण और यह गुणी – ऐसे भेद की दृष्टि छोड़-कर त्रिकाली शुद्ध अभेद एक द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने पर द्रव्य निर्मलरूप से परिणम जाता है और उसमें गुणों का परिणमन एकसाथ ही समा जाता है। गुणों का कोई जुदा परिणमन होता है, ऐसा नहीं है। ध्यान से समझना प्रभु !

शक्ति का एकत्वरूप या एकपना द्रव्य है। द्रव्य के परिणमन में समस्त गुण परिणमते हैं। यही इसमें रहस्य है। गुणों के ऊपर दृष्टि रखने से गुणों का परिणमन नहीं होता है; परन्तु गुणों का आश्रय जो एकद्रव्य है, उस द्रव्य के ऊपर दृष्टि देने से द्रव्य का परिणमन होता है और उसमें समस्त गुणों का परिणमन समा जाता है। द्रव्य से अलग गुणों का स्वतंत्र परिणमन नहीं होता है अर्थात् द्रव्य तो न परिणमे और गुण परिणम जायें – ऐसा बनता नहीं है।

गुणभेद की दृष्टि करने से गुणों का परिणमन सिद्ध नहीं होता है। गुणों के लक्ष्य से गुण निर्मल नहीं परिणमते हैं। भेद के लक्ष्य से तो राग ही होता है। प्रवचनसार में ज्ञान का आश्रय –यह बात आती है; परन्तु वहाँ ज्ञानशब्द से अभेद एकरूप आत्मा – यह अर्थ लिया है।

चिद्विलास में परिणमनशक्ति का वर्णन है। वहाँ कहा है कि यह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणमनशक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। इसकी साक्षी सूत्रजी में दी है कि **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** अर्थात् गुणपर्यायवाला द्रव्य है – ऐसा भी कहा है। देखो ! पर्यायवाला द्रव्य को ही कहा, गुण को नहीं अर्थात् द्रव्य की परिणमनशक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। शक्ति या गुण तो द्रव्य की त्रिकाली विशेषता है और उस विशेषतारूप द्रव्य परिणम जाता है। विशेषता या गुण स्वतंत्र परिणमते हैं – ऐसा नहीं है।

द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं; अतः द्रव्य के परिणमने पर शक्ति परिणमी – ऐसा कहा जाता है। अभेद, एक, त्रिकाली, शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से, द्रव्य के सन्मुख होकर परिणमने से पूरा द्रव्य निर्मल परिणमता है। गुण का स्वतंत्र परिणमन नहीं होता है; परन्तु द्रव्य की परिणति समस्त गुणों की परिणतिरूप होती है। इसप्रकार गुण-गुणी के भेद की दृष्टि छोड़ने का प्रयोजन सिद्ध होता है।

भाई ! तेरे चैतन्यनिधान में अनन्त गुणनिधान भरे हैं, उसे जानकर अनन्तगुणनिधानस्वरूप शुद्ध चैतन्यनिधान में दृष्टि कर, जिससे तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल-निर्मल परिणति प्रगट होगी। यह मार्ग है और यही धर्म है; शेष सभी व्यर्थ है।

प्रश्न – जब द्रव्य-गुण में निर्मल षट्कारक हैं तो पर्याय में विकार कहाँ से आया ? पंचास्तिकाय की ६२ वीं गाथा में पर्याय के षट्कारक की बात की है अर्थात् पर्याय में पर्याय के अशुद्ध षट्कारक के अनुसार विकार होता है; उसमें पर की अपेक्षा नहीं है और उसमें द्रव्य-गुण भी कारण नहीं हैं। एकसमय की राग की पर्याय में वह पर्याय कर्त्ता, वह पर्याय कर्म, वह पर्याय करण, वह पर्याय संप्रदान, वह पर्याय अपादान और वही पर्याय अधिकरण है – इसप्रकार एक ही पर्याय में उसके षट्कारक के परिणमन से विकृत अवस्था उत्पन्न होती है। कारकों के अनुसार जो क्रिया.........'' – ऐसा कहकर ३६वीं शक्ति में भी यह बात सिद्ध की है; परन्तु वस्तु का, चैतन्यवस्तु का गुण ऐसा है कि कारक अनुसार विकार की जो क्रिया है उससे रहितपने वह परिणमता है। कारक अनुसार पर्याय में जो मलिन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणमन हुआ है, वह तो ज्ञान का ज्ञेय रहता है। जिसप्रकार परद्रव्य ज्ञेय है; उसीप्रकार पर्याय की विकृतदशा भी ज्ञानी के ज्ञान का ज्ञेय है और उससे रहित भवनमात्रमयी जो भावशक्ति है, उसका परिणमन उससे सिद्ध होता है।

यहाँ ४० वीं क्रियाशक्ति में कारक के अनुसार होनेरूप कहा – इसमें त्रिकाली निर्मल कारक लेना है। ३९वीं क्रियाशक्ति में पर्याय के (अशुद्ध) षट्कारकों की बात थी। यहाँ द्रव्य-गुण के निर्मल कारकों की बात है। 'कारकों के अनुसार' अर्थात् त्रिकाली निर्मल कारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव उस मयी शक्ति है। भाई ! आत्मा स्वयं षट्कारकरूप होकर निर्मल-निर्मल भावरूप से परिणमित हो – ऐसी उसकी क्रियाशक्ति है। अहो ! स्वयमेव छह कारकरूप होकर केवलज्ञानादिरूप से परिणमित होना भगवान आत्मा का स्वभाव है। अहा ! आत्मा को अपने निर्मलभावरूप से परिणमने में किसी परकारक की गरज, अपेक्षा नहीं है। इसीतरह आत्मा कारक होकर जड़ की क्रिया करे अथवा विकार करे – ऐसा भी इसका स्वभाव नहीं है। अपने ही निर्मल कारकों का अनुसरण करके अपनी वीतराग भावरूप से परिणमने की क्रिया करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है, यह क्रियाशक्ति है।

भाई ! धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है; पर इन व्यापारियों को यह समझने की फुरसत कहाँ है ? पूरा दिन कमाने-खाने में चला जाता है। अरे भाई ! निवृत्ति लेकर समझने का यह मार्ग है।

पहले (३९वीं शक्ति में) जो कारक अनुसार क्रिया कही, वह एकसमय की पर्याय के अशुद्ध षट्कारक की बात थी। यहाँ जो कारक अनुसार क्रिया कही है, वह त्रिकाली पवित्र कारक की बात है। निर्मल कारकों का आश्रय एक अभेद द्रव्य है अर्थात् 'कारकों अनुसार' ऐसा जो कहा है, उसमें एक अभेद द्रव्य का ही आश्रय है, पर के साथ अथवा राग के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। राग से रहितपने निर्मल-निर्मल परिणमे – ऐसा ही भगवान आत्मा का स्वभाव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ क्रियाशक्ति में जो कारकों की बात की है, वह द्रव्य में जो निर्मल कारक त्रिकाल स्वरूप हैं, उनकी बात है। अहा ! त्रिकाली द्रव्य में जो निर्मल अभेद षट्कारक पड़े हैं; इन कारकों के अनुसार होनेरूप, परिणमने-रूप क्रियाशक्ति त्रिकाल जीवद्रव्य में पड़ी है। तेरी पर्याय में द्रव्य-गुण के आश्रय बिना, पर्याय के षट्कारक से जो विकृतभावरूप क्रिया होती है, उससे रहित होना, तेरा गुण है और निर्मल-निर्मल रत्नत्रय रूप से होनेरूप तेरा क्रियागुण है। मलिन परिणाम सहित होने का कोई गुण तेरे में है ही नहीं; अतः जहाँ द्रव्य के ऊपर दृष्टि डाली नहीं कि तुरन्त ही मलिन परिणाम से रहित निर्मल-निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमन होता है।

अहा ! आचार्यदेव ने शक्तियों का वर्णन करके निर्मल मोक्षमार्ग कैसे प्रगट होता है – यह सिद्ध कर दिया है। मलिन परिणति हो; फिर भी मलिनता रहित परिणमन, निर्मल ज्ञानभावमय परिणमन होता है, यही ज्ञानी की परिणति है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति इत्यादि के परिणाम होते हैं; पर वे ज्ञानी का मूलस्वरूप नहीं हैं; क्योंकि वे तो राग-विकल्प हैं, पुण्य बंध के कारण हैं। ज्ञानी उन्हें परज्ञेयरूप से जानता है। बस ! यही मार्ग है। अरे ! जिसने सत्यार्थ मार्ग को सुना नहीं और उसका कभी परिचय भी नहीं किया, मात्र बाहर ही बाहर भटकता रहता है; उसे अपनी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है; क्योंकि अपनी वस्तु बाहर में है ही नहीं तो मिलेगी कहाँ से ?

अरे भाई ! तू अपने हित के लिए अंदर में ही देख। बाह्य कारणों को मत देख; क्योंकि तेरे हित के कारण बाहर में नहीं हैं। अपने निर्मल छह कारकों का अनुसरण करके अपनी परमात्मदशारूप से परिणम जाने का भगवान तेरा स्वभाव है। तुम भगवान स्वरूप ही हो प्रभु ! तेरी प्रभुता के लिए बाह्य सामग्री खोजने की व्यग्रता मत कर। बाह्य सामग्री बिना ही स्वयं अकेले अपने निर्मलकारकों रूप परिणमित होकर केवलज्ञानरूप हो जाने वाले स्वयंभू भगवान तुम स्वयं ही हो; अतः दीन होकर बाहर में शोर क्यों मचा रहे हो ? अंतर्दृष्टि का बल तेरे अंतर के चैतन्यनिधान को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खोल देगा। तेरी दीनता टलकर परमानन्द की प्राप्ति होगी।

अहा! कारकों के अनुसार जो भाव हैं, तदनुसार सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होते हैं उसके अनुसार चारित्र होता है। पंचमहाव्रत के आश्रय से चारित्र होता है – ऐसा नहीं है। लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय है अर्थात् यह निश्चयनय की बात है। हाँ, यह निश्चय है; परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य। भाई! जो बात सत्य है, वही निश्चय है।

व्यवहार के पक्षवाले लोग मानते हैं कि सामायिक करो, व्रत करो, सुबह-शाम प्रतिक्रमण करो तो धर्म हो जायेगा; पर भाई! ये सब क्या हैं – इसकी तुझे खबर नहीं है। ये तो सभी विकल्प हैं, राग हैं बापू! यद्यपि इनका परिणमन षट्कारक से धर्मी की पर्याय में होता है; परन्तु धर्मी राग के परिणमन का स्वामी नहीं है। जो यह व्यवहाररत्नत्रय पालनेरूप राग का विकल्प उठता है, उससे रहित धर्मी के निर्मल-निर्मल परिणमन होता है। अहाहा! त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण के आश्रय से हुआ शुद्ध परिणमन धर्मी का स्व है और धर्मी उसका स्वामी है; परन्तु राग का स्वामी धर्मी नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का स्वामी धर्मी नहीं है। यह परमसत्य है। भाई! भगवान सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से निकली यह बात है। जिसे द्रव्य का आश्रय वर्तता है, उसे निर्मल कारकों के अनुसार निर्मलभावमयी क्रिया-शक्ति का परिणमन हुआ है तथा जो रागसहित परिणमन होता है, ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है।

चार घातिकर्मों के नाश होने से केवलज्ञान होता है, ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में आता है; परन्तु यह निमित्त की अपेक्षा कहा गया है। यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरे में निर्मलकारकों के अनुसार होनेरूप निर्मलभावमयी क्रिया-शक्ति है, जिससे तू स्वयं ही स्व-आश्रय से निर्मल-निर्मलभावरूप परिणमित होता हुआ केवलज्ञानरूप से परिणम जाता है। बाह्य कारकों की तुझे क्या गरज है? कर्म का अभाव तो रजकण की दशा है, उसमें चैतन्यद्रव्य का क्या है? अहा! कर्म के अभाव से नहीं, व्यवहाररत्नत्रय से नहीं और केवलज्ञान होने के पहले मोक्षमार्ग की दशा से भी नहीं; परन्तु त्रिकाली शुद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कारकों के अनुसार स्व-आश्रय से केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है।

अनन्त गुणभण्डार प्रभु आत्मा है, उसके प्रत्येक गुण में क्रियाशक्ति का रूप है, जिससे त्रिकाली शुद्धद्रव्य का आश्रय करने पर द्रव्य के साथ में प्रत्येक गुण की पर्याय स्वयं स्वतः निर्मल परिणमित हो जाती है। कर्म का अभाव होने से वह पर्याय प्रगट होती है, ऐसा नहीं है और पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय का अभाव हुआ; अतः केवलज्ञान प्रगट हुआ, ऐसा भी नहीं है। यह बात लोगों को कहाँ सुनने मिलेगी। किसीतरह वे जिन्दगी व्यतीत करते रहते हैं; पर इससे क्या होगा ? मार्ग तो बहुत स्पष्ट है। भाई! इसे समझकर अपना कल्याण कर। इसप्रकार यहाँ क्रियाशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

यह भेद-विज्ञान की बात है

उपादान अपनी शक्ति से कार्य करता है तब कहाँ निमित्त होता है किन्तु वह उपादान में कुछ भी कर नहीं सकता यह भेद-विज्ञान की बात है। स्व और परद्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, एक का दूसरे में नास्तित्व है तब फिर वह क्या कर सकता है ? यदि खरगोश के सींग किसी पर असर कर सकते हों तो निमित्त का असर भी दूसरे पर हो सकता है, किन्तु जैसे खरगोश के सींग का अभाव होने से वह किसी पर असर मानना झूंठ है उसीप्रकार निमित्त का परद्रव्य में अभाव होने से निमित्त का कोई असर परद्रव्य में मानना मिथ्यात्व है। इसप्रकार वस्तुस्वभाव का भेदज्ञान किसी विरले सत्य पुरुषार्थी जीव के ही होता है। उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता को ज्ञानी ही जानते हैं। ज्ञानीजन वस्तुस्वभाव को देखते हैं, इसलिए वे जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु की पर्याय उस वस्तु के अपने स्वभाव से होती है। वस्तु स्वभाव में ही अपना कार्य करने की शक्ति है, उसे पर वस्तु के निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानी वस्तु स्वभाव को नहीं जानते इसलिए वे संयोग को ही देखते हैं और वस्तु का कार्य स्वतंत्र नहीं मानकर उसे संयोगाधीन-निमित्ताधीन मानते हैं; इसलिए उनके संयोग की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती और स्व-परं भेदज्ञान नहीं होता। – **आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – १२३**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४१. कर्मशक्ति

प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः।

प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूपभाव उसमयी कर्मशक्ति है।

देखो! यह सत्य की पुकार! यहाँ अन्दर से प्रगट होनेवाले सत्य को कहते हैं। असत्‌रूप विकार की शरण की कोई जरूरत नहीं है अर्थात् निर्मल परिणति की प्राप्ति में व्यवहाररत्नत्रय की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि अपने आत्मद्रव्य में ही कारकों के अनुसार होनेरूप निर्मलभावमयी क्रियाशक्ति होने से द्रव्य के आश्रय से आत्मा स्वयं ही निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है। व्यवहाररत्नत्रय से अन्दर भावचारित्र प्राप्त होता है – ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार अज्ञानी की प्रत्येक बात में बहुत अन्तर है।

यहाँ कहते हैं कि प्राप्त किया जाता, ऐसा सिद्धरूपभाव अर्थात् आत्मा के कर्मरूप , प्रगट निर्मलभाव, निर्मलपर्याय। आत्मा स्वयं ही कर्मरूप होता है, ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यहाँ सिद्धपर्याय की बात नहीं है; परन्तु निर्मलपर्यायरूप से जो भाव प्रगट होता है, उसे यहाँ सिद्धरूपभाव कहा है। स्वद्रव्य का आश्रय प्राप्त करता जो भाव है, वह सिद्धरूपभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और केवलज्ञान की पर्याय – इस प्रकार क्रमवर्ती प्रगट होनेवाली निश्चित निर्मलपर्यायें सिद्धरूपभाव हैं।

अनन्तगुण-स्वभाव का पिण्ड प्रभु आत्मा है। उसकी अन्तर्दृष्टि करके परिणमने पर निर्मलपर्यायरूप कर्म प्राप्त होता है। यह आत्मा का कर्म है। 'कर्म' कहने से यहाँ जड़ द्रव्यकर्म अथवा रागादि भावकर्म की बात नहीं है। वे आत्मा के कर्म नहीं हैं; परन्तु चैतन्यस्वभाव में से जो सम्यग्दर्शन आदि निर्मलपर्यायों की प्राप्ति होती है, वे आत्मा के कर्म हैं। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से क्षण-क्षण में जो निर्मल-निर्मलभाव प्रगट होता है, वह प्राप्त होनेवाला सिद्धरूपभाव है। वस्तु में शक्तिरूप से त्रिकालभाव है, वह व्यक्त पर्यायरूप से प्रगट होने पर उसे सिद्धरूपभाव कहा है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन आदि सभी पर्यायें इस अपेक्षा से सिद्धरूपभाव हैं। यह प्राप्त होनेवाला सिद्धरूपभाव आत्मा का कर्म है और आत्मा अपनी शक्ति से उसरूप होता है, ऐसी उसकी कर्मशक्ति है।

जिससमय जो पर्याय होने योग्य होती है; उससमय वही पर्याय उत्पन्न होती है। उसे यहाँ प्राप्त किया जाता सिद्धरूपभाव कहा है। पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता, ऐसा जो सिद्धरूपभाव, उसमयी एक कर्म-शक्ति जीवद्रव्य में है। अनन्त गुण-शक्ति का आश्रय आत्मद्रव्य है और द्रव्य के आश्रय से पुरुषार्थ होता है। इसप्रकार स्वद्रव्य के आश्रय से प्राप्त किया जाता ऐसा जो सिद्धरूपभाव, उसमयी कर्मशक्ति है। वर्तमान निर्मल-पर्याय की प्राप्तिरूप कर्म कर्मशक्ति का कार्य है, वह व्यवहाररत्नत्रय का कार्य नहीं है और वह पूर्व पर्याय का भी कार्य नहीं है; अन्य भिन्न कारकों की बात तो दूर ही रही। सूक्ष्म बात है भाई ! कहते हैं कि कर्म नाम की जीव में एक शक्ति है, जिससे द्रव्य के आश्रय से सहज ही निर्मलपर्याय की प्राप्ति होती है। देखो ! कर्म् शब्द चार अर्थ में आता है –

१. ज्ञानावरणादि जड़द्रव्यकर्म को कर्म कहते हैं। २. राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावकर्म को कर्म कहते हैं। ३. सम्यग्दर्शनादि निर्मलपरिणति को कर्म कहते हैं और ४. यहाँ जिसका वर्णन चल रहा है ऐसी जीव की कर्मशक्ति को भी कर्म कहते हैं।

इनमें से द्रव्यकर्म निज चैतन्यवस्तुरूप आत्मा से भिन्न चीज है। वह आत्मा की चीज नहीं है, अज्ञानीजन कर्म जगत में परेशान करते हैं, इसप्रकार कर्म-कर्म चिल्लाते हैं; परन्तु भाई ! यह कर्म आत्मा की चीज नहीं है, अतः इससे आत्मा को कोई परेशानी भी नहीं है।

राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विकारीभाव भी आत्मा के वास्तविक कर्म नहीं हैं। ये भाव भले ही अज्ञानियों के कार्य हों; क्योंकि इनमें वे तन्मय होते हैं; परन्तु ज्ञानीजन इनमें तन्मय नहीं होते हैं। क्या कहा ? दया, दान, व्रत, तप आदि व्यवहाररत्नत्रय का राग भी ज्ञानी का कर्म नहीं है। हाँ, हाँ; व्यवहाररत्नत्रय का राग भी ज्ञानी का कर्म नहीं है; क्योंकि ज्ञानी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के ज्ञानमयभाव से वह भिन्न ही है।

स्वद्रव्य अर्थात् शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मल-निर्मल पर्यायों की प्राप्ति होती है। वे पर्यायें आत्मा का प्राप्त, कर्म हैं; क्योंकि आत्मा उनमें तन्मय है। आत्मा स्वयं उनरूप होकर उन्हें प्राप्त करता है। देखो, यह प्राप्त किया जाता सिद्धरूपभाव आत्मा का, धर्मात्मा का वास्तविक कर्म है।

जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन, आनन्द आदि गुण हैं; उसीप्रकार आत्मा में कर्म नाम का एक गुण है। इस कर्म नामक गुण से आत्मा स्वयं अपनी सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों को प्राप्त करता है। ऐसे सिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति है। अहा, जो आत्मा के ऐसे स्वभाव को जानकर अन्तर्मुखप्रतीति करता है, उसे द्रव्यकर्म, भावकर्म का संबंध छूट जाता है।

प्रश्न – इस बात को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर – भाई, इस बात को समझकर अन्तर्मुख होकर द्रव्य पर दृष्टि देना है; जिससे अतीन्द्रिय आनन्द आयेगा। वर्तमान सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य को द्रव्य स्वयं ही प्राप्त करता है, ऐसा ही द्रव्य का, भगवान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं – ऐसा यथार्थ निर्णय करो। भाई, व्यवहाररत्नत्रय के राग से अथवा देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से सम्यग्दर्शनादिरूप निर्मल कार्य होता है – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। बाहर में निमित्त भले हों; पर निमित्त से कार्य होता है – ऐसा तीन काल में नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी मोक्षमार्ग की परिणति आत्मा में प्राप्त होता हुआ सिद्धरूपभाव है और उसमें तन्मय है। तात्पर्य यह है कि वह कर्मशक्ति का कर्म है।

सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा त्रिकालध्रुवस्वभावी वस्तु है। इस ध्रुव में एक कर्म नाम की शक्ति है, जिससे आत्मा का वर्तमान कार्य सुधरता है। आत्मद्रव्य अनन्तगुणमय गुणी है। उसमें कर्म नाम का एक गुण है। कर्म अर्थात् कार्य हो – ऐसा उसमें गुण है। यह आत्मा कर्म गुण के कारण से वीतरागी निर्मलपर्याय प्राप्त करता है। अतः परद्रव्यों में मत देख, अन्दर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जहाँ शक्ति है, वहाँ देख और वहीं ठहर जा।

अन्दर देखो तो अनन्त-अनन्त शक्तियों का अकूत अक्षय भण्डार भरा है। प्रभु ! तुझमें एक जीवत्वशक्ति है। उस जीवत्वशक्ति में इस कर्म-शक्ति का रूप है, जिससे ज्ञान-दर्शन-आनन्द सत्ता – ऐसे जो शुद्धप्राण, उनके निर्मलकार्यरूप वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है। यह जीव का जीवन है। निर्मलरत्नत्रय की प्राप्ति होना जीव का जीवन है। शरीर द्वारा जीना,जीव का जीवन नहीं है। बाहर में मन-वचन-काय इत्यादि दस प्राणों द्वारा जीना जीव का जीवन नहीं है। अहाहा ! दस प्राणों से भिन्न और अन्दर भावेन्द्रिय के कार्य से भिन्न ज्ञान-दर्शन, आनन्द और सत्ता का, शुद्ध चैतन्यप्राणों का निर्मलकर्मरूप से परिणमन होता है, वही जीव का वास्तविक जीवन है। भाई ! ऐसा जीवन ही सच्चा जीवन है, बाकी तो चार गति की रखड़पट्टी है।

भाई ! तेरे कार्यरूप से निर्मलरत्नत्रय का कार्य होता है – उसका क्या कारण है ? यहाँ इसकी चर्चा की जा रही है। यहाँ कहते हैं कि तुझमें कर्म नाम का गुण है, वह गुण इस निर्मलपर्याय का कारण है। मोहनीय आदि कर्म नष्ट हो जायें तो निर्मल रत्नत्रय प्रकट हो – ऐसा नहीं है और पूर्व की निर्मलपर्याय भी वर्तमान निर्मलपर्याय का वास्तविक कारण नहीं है। आत्मद्रव्य ही निजशक्ति से क्षण-प्रतिक्षण निर्मलकार्यरूप से परिणत होता है। भाई ! निर्मलरत्नत्रयरूप कर्म कहीं बाहर से नहीं आता है, आत्मा में ही उसरूप होने की शक्ति है। निजस्वभाव के सन्मुख होने पर आत्मा स्वयं ही उस कार्यरूप से परिणत होता है। अहाहा ! देखो यह कर्मशक्ति ! अपना ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि कार्य आत्मा स्वयं प्राप्त करे, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है, परन्तु आत्मा जड़ का काम करे, विकार को करे – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जड़कर्म अथवा विकार आत्मा के कर्म (कार्य) नहीं हैं।

निर्मल ज्ञान-श्रद्धान, आनन्द की शुद्ध पर्यायरूप से परिणमना, उस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाव को प्राप्त करना, उस भावतक पहुँचना आत्मा के कर्म गुण का कार्य है, अपनी निर्मल वीतरागी पर्याय को स्वयं प्राप्त करे – ऐसा स्वयं आत्मा का गुण है। इसका नाम कर्मशक्ति है। यह कर्मशक्ति ध्रुव उपादान है और उसकी निर्मल परिणति क्षणिक उपादान है। कर्मशक्ति ध्रुव होने से पारिणामिकभाव है और उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणमन की प्राप्तिरूप जो भाव है, वह उपशम-क्षयोपशम और क्षायिकभावरूप है। जड़कर्म का उपशम हुआ; अतः यहाँ निर्मल उपशमभाव की पर्याय प्रकटी – ऐसा नहीं है। वस्तुतः तो जीव का त्रिकाली कर्म-गुण-स्वभाव ऐसा है, जिससे उपशमभावरूपी कार्य सिद्ध होता है। अहो ! ऐसा जैन-दर्शन का सूक्ष्मस्वरूप है, उसका आचार्य भगवंतों ने स्पष्ट खुलासा किया है।

भाई ! तुम भगवान हो और भगवान का अर्थ होता है ज्ञान एवं आनन्दवाला 'भग' अर्थात् ज्ञान एवं आनन्द और 'वान' अर्थात् युक्त, इस प्रकार तुम ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मीस्वरूप हो। अहाहा ! यह धूल की लक्ष्मी भी तेरी चीज नहीं है; तेरे अन्दर चैतन्यलक्ष्मीरूप भण्डार है, उसमें तेरी एक कर्मशक्तिरूप लक्ष्मी भी है। तेरे में सम्यग्दर्शन आदि निर्मल रत्नत्रयरूप धर्म का कार्य प्रगट हो, उस कारणरूप से तेरे अन्दर वह कर्मशक्तिरूप लक्ष्मी पड़ी है; अतः व्यवहार का आश्रय छोड़कर, जहाँ वह लक्ष्मी पड़ी है, अपने उस चैतन्यनिधान को देख, तुझे अद्भुत आनन्द आल्हाद आयेगा। प्रदेश-प्रदेश में अनाकुल आनन्द उछलेगा। इसी का नाम समकित है, धर्म है।

अरे ! सुनो भाई !! व्यवहार सम्यक्त्व कोई वास्तविक सम्यक्त्व नहीं है। वह तो विकल्प है, राग है। द्रव्यदृष्टि होने पर निर्विकल्प निश्चय समकित प्रगट होता है और उसके सहचररूप से देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी शुभराग भी होता है, उसे उपचार से व्यवहार समकित कहा जाता है। वास्तव में सम्यग्दर्शन का उत्पाद होने में श्रद्धागुण कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रद्धागुण में कर्मशक्ति का रूप है न; अतः उस भाव की प्राप्ति होती है। भाई! श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द – इसप्रकार प्रत्येक गुण में अपनी निर्मलपर्यायरूप कर्म प्रगट होता है और जो प्राप्त किया जाता सिद्धरूप-भाव है, उसमयी कर्मशक्ति है।

स्वाध्याय का विकल्प आता है; पर उस विकल्प से सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है – ऐसा नहीं है। यह तो आत्मा का ऐसा ज्ञानस्वभाव है कि जिससे वह अपने सम्यग्ज्ञानरूप कर्म को प्राप्त करता है।

इसीप्रकार पंचमहाव्रतादि के विकल्प होते हैं; परन्तु उन विकल्पों से सम्यक्चारित्ररूप निर्मल कार्य होता है, ऐसा नहीं है। यह तो आत्मा का ऐसा चारित्रस्वभाव है कि जिससे वह अपने सम्यक्चारित्ररूप कर्म को प्राप्त करता है।

इसप्रकार श्रद्धा, आनन्द इत्यादि आत्मा के सभी गुणों में समझना। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि सभी गुणों में कर्मशक्ति का रूप है। जिससे आत्मा स्वयं अपने निर्मलस्वभावरूप कर्म को प्राप्त करता ही है। जब निजस्वरूप के लक्ष्य से अन्तर-एकाग्र होता है, तब स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनंद इत्यादि का निर्मल-निर्मल कार्य प्रगट होता ही है और जब ऐसा होता है, तब 'मैं यह निर्मल कार्य प्राप्त करूँ' – ऐसी भेदवासना नहीं रहती है; क्योंकि अपनी कर्मशक्ति से स्वयमेव निर्मल कार्यरूप हो जाता है।

व्यवहार सम्यक्त्व में संवेग, निर्वेद, आस्था, अनुकंपा ये सभी विकल्प होते हैं। इन विकल्पों से रहित कर्मगुण के कारण से सम्यग्दर्शनरूपी वीतरागी पर्याय का कार्य प्रगट होता है। पुण्य और विकल्प से इसकी सिद्धि नहीं होती है। बाहर में अनुकूल निमित्त से कार्य हुआ – इसप्रकार निमित्त की मुख्यता से कहा जाता है; परन्तु ऐसा है नहीं।

प्रश्न – कोई कहता है कि अहो भगवान! आपकी कृपा से कार्यसिद्धि हुई; क्या व्यवहार से ऐसा मानना सच नहीं है?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – नहीं, ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि वीतरागी भगवान के कृपा नहीं होती। कृपा का भाव तो राग है न!

देखो! बैंगलोर में एक सेठ ने भव्य जिनालय बनाया, उसकी प्रतिष्ठा का बड़ा उत्सव हुआ। सेठ १५ दिन तक इस काम में लगा रहा, जिससे उसकी दुकान १५ दिन तक बन्द रही और माल ज्यों का त्यों रखा रहा। फिर कुछ ऐसा बनाव बना कि बाजार में माल का भाव बढ़ गया और सेठ को बहुत पैसा मिला; परन्तु यह तो पूर्व के पुण्य के कारण हुआ है। भाई! इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? वह लक्ष्मी तो धूल है, उसमें आत्मा का क्या लाभ है ? भगवान! वीतरागी निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना ही तेरा कर्म है और यही वास्तविक लाभ है। बाकी तो सब धूल ही धूल हैं। उनके लक्ष्य से चार गति की रखड़पट्टी ही होती रहती है।

अहा! धर्मी जीव ऐसा जानता है कि सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद-पर्यन्त जो परमपद है; उन्हें प्राप्त करने की शक्ति मुझमें है और वे ही मेरे कर्म हैं। इसके अलावा बाहर में बड़े राजपद या देवपद इत्यादि प्राप्त होते हैं, वे कोई मेरे कर्म नहीं हैं। कर्त्ता को जो इष्ट है, वह कर्म है। अहा! मुझे मेरे ज्ञान-आनन्द स्वभाव में से प्राप्त होती हुई जो निर्मल रत्नत्रयरूप अवस्था होती है, वही मेरा इष्ट कर्म है। इसके अलावा पुण्य अथवा पुण्य के फलरूप प्राप्त संयोग मेरे कुछ भी नहीं हैं। देखो ! यह धर्मी की अन्तर्दृष्टि !

धर्मी को पहले पर्याय में शुद्धि अल्प थी, बाद में क्रम से विशेष शुद्धि हुई। शुद्धि की वृद्धि होना ही निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है – द्रव्य-निर्जरा और भावनिर्जरा। जड़कर्म का खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है और उस काल में अशुद्धता का व्यय होकर शुद्धि की वृद्धि होना भावनिर्जरा है। धर्मी के जो शुद्धि की वृद्धि का कार्य हुआ, उसका कारण यहाँ कहते हैं। द्रव्य में कर्मशक्ति है। पूर्वपर्याय निर्मल थी; अतः पीछे की पर्याय विशेष निर्मल हुई, ऐसा नहीं है। पूर्व में मोक्षमार्ग की पर्याय थी; अतः वर्तमान में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, ऐसा कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान केवलज्ञान की प्राप्ति स्वतंत्र द्रव्य के आश्रय से होती है। यह सूक्ष्म बात वीतराग के मार्ग के अलावा और कहीं नहीं है। अहो ! इसमें तो सभी क्रमबद्ध ही है – यह समझाया जा रहा है।

आत्मा त्रिकाल ध्रुवस्वरूप है। उस स्वरूप की अस्ति का स्वीकार निर्मलपर्याय में होता है। पर्याय में ध्रुव की स्वीकृति करके जो निर्मलता हुई, वह निर्मल क्रमवर्ती पर्याय और अक्रमवर्ती गुण – इन दोनों का एक समुदाय आत्मा है। यहाँ राग गुणों का कार्य या कर्म नहीं है; अतः उसकी कोई गिनती नहीं है।

अहाहा ! एक-एक शक्ति पारिणामिकभावरूप है और उसका कार्य उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभावरूप है। उदयभाव शक्ति का कर्म नहीं है। द्रव्य शुद्ध, उसके गुण शुद्ध और उसका कार्य भी शुद्ध ही है। उदयभाव उसका कार्य है ही नहीं। वह तो पर्याय की योग्यता से होनेवाला भाव है; धर्मी उसे अपना कर्म मानता ही नहीं है। धर्मी के लिये तो वह परज्ञेयरूप से है।

अरे ! अज्ञानी रात-दिन संसार की मजदूरी करके मर जाता है। इसी में यदि किसी पुण्योदय से दो-पाँच करोड़ का धन मिल जाये तो मानता है कि बड़ी बादशाही मिल गयी। अरे भाई ! निराकुलतारूप सच्ची बादशाही तो तेरे अन्दर पड़ी है। तुम स्वयं अन्दर अनाकुल ज्ञानानन्द स्वरूप बादशाह हो। वहाँ न देखकर बाहर में यहाँ से सुख मिलेगा, वहाँ से सुख मिलेगा, ऐसा मानता है; परन्तु यह तो तेरा भिखारीपन है। अरे ! अनन्तगुणों के समूह का स्वामी, बड़ा चक्रवर्ती, बादशाह होकर भी तू भिखारी की तरह रखड़ रहा है। अरे भाई ! बाहर से, कहीं से तुझे सुख नहीं मिलता है। अन्तर्मुख होकर देख। उसमें बादशाही शक्तियाँ पड़ी हैं; उनका निर्मल परिणमन होने पर तुझे बादशाही प्राप्त होगी। जो स्वभाव में प्राप्त हो, वही सुख है, शेष तो सभी आकुलता की भट्टी है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्पूर्ण समयसार का सार यह है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा कारण समयसार है। यह कारण समयसार की अन्तर्दृष्टि करने से शुद्धकर्म की प्राप्तिरूप कार्य समयसार के रूप में प्रकट होता है। अरे रे ! अनादिकाल से तेरा कार्य तू बिगाड़ता आया है। पर्याय में शुभाशुभराग होता है – 'यह कार्य मेरा है' – ऐसा मानता हुआ बहिर्मुखरूप से तू तेरा जीवन बिगाड़ता आया है; परन्तु भाई ! विकार होना तेरे द्रव्य-गुण का कार्य नहीं है; जिसप्रकार पुद्गल में आठ कर्म की पर्याय होती है, वह तेरे द्रव्य-गुण का कार्य नहीं है; उसीप्रकार तेरी पर्याय में पुण्य-पापरूप विकार होता है, वह भी तेरे द्रव्य-गुण का कार्य नहीं है। पर्याय में उसके षट्कारक के परिणमन से अधर से विकल्परूप मलिनता होती है; परन्तु मलिन विभावरूप परिणमने का तुझमें कोई गुण नहीं है। विभावरूप से नहीं परिणमना तो गुण है; परन्तु विभावरूप से होने का आत्मा में कोई गुण नहीं है। ऐसा तत्त्व क्या है ? उसके कौन-कौनसे गुण हैं ? और उसका कर्म क्या है ? – अरे ! अज्ञानी जीवों को इसकी कोई खबर नहीं है।

सत्साहित्य के प्रचार में एक मुमुक्षु ने एक लाख रुपया दिया है। इसीप्रकार अन्य लोगों ने भी हजारों रुपये दिये हैं; परन्तु भाई ! मैं तो कहता हूँ कि इसमें भी शुभभाव ही है, धर्म नहीं; इससे भी पुण्यबंध होगा। वास्तव में तो इस शुभभावरूप से नहीं परिणमना ही आत्मा का गुण है। अरे ! अपने स्वघर की-स्वभाव की खबर न मिले और परघर के, परभाव के आचरण में कोई धर्म मान ले तो भले मान ले, पर इससे कुछ नहीं होगा। यह तो मिथ्याशल्य है। जो लोग व्यवहारसम्यक्त्व को सम्यक्त्व और द्रव्यचारित्र को चारित्र मानते हैं, उन्हें धर्म के वास्तविक स्वरूप की खबर नहीं है। उनकी दृष्टि झूठी-विपरीत है। उसके अन्तर में मिथ्यात्व की शल्य पड़ी है। अरे भाई ! वह तुझे भारी नुकसान करेगी, अनन्त जन्म-मरण करायेगी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्त गुणरत्नाकर प्रभु आत्मा है, उसमें एक कर्म नाम का गुण है। इस कर्म गुण के कारण द्रव्यदृष्टिवंत को अपने सम्यग्दर्शनादिरूप निर्मल-कर्म की प्राप्ति होती है। इसप्रकार धर्मी का अपना कार्य समय-समय सुधरता है; परन्तु यह जो समय-समय पर्याय की उत्पत्ति का काल है, वह उसका जन्मक्षण है। गुण के कारण से पर्याय उत्पन्न हुई – ऐसा कहना तो उपचार है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब व्यवहार के राग से निश्चय वीतराग परिणति होती है – यह बात ही कहाँ रही ? भाई ! यदि तेरी दृष्टि नहीं पलटी तो यह रखड़ने का तेरा रास्ता नहीं मिटेगा। अरे रे ! मर-मरकर नरक निगोद में जाना पड़ेगा..तब क्या होगा ?

भाई ! वस्तुस्थिति ही ऐसी है। इसप्रकार एक शरीर में अनन्त आत्मायें, उन अनन्तों की एक श्वांस, अनन्तों की एकसाथ आयु; परन्तु दुःख की पर्याय बिल्कुल जुदी। अहाहा ! ऐसे दुःखमय स्थान में तेरा अनन्तकाल गया है प्रभु ! अहा ! दुःख के इस पारावार का क्या कहना ? भाई ! यदि इस दुःख से मुक्त होना हो तो जिसमें अनन्तशक्ति भरी है – ऐसे अपने द्रव्य की सम्भाल कर, ऐसे अपने चैतन्यद्रव्य की रक्षा कर। मैं शुद्ध, एक, चिदानन्दस्वरूप हूँ – इसप्रकार अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रतीति करना और उसमें रमणता करना – यही उसकी रक्षा है। इसके अलावा सब हिंसा ही हिंसा है, आत्मघात है।

भाई ! तेरी चिद्घन चैतन्यवस्तु त्रिकाल ध्रुव है। उसकी एक कर्मशक्ति भी त्रिकाल ध्रुव है। स्व-आश्रय से शक्ति का परिणमन होने पर जो निर्मल-पर्यायरूप कर्म उत्पन्न होता है, वह प्राप्त किया जाता सिद्धरूपभाव है। अहा ! उस भाव के कारणरूप कर्मशक्ति है – ऐसा जानकर द्रव्यदृष्टि करने पर पर्याय में निर्मलतारूप सुधार होता है। यही मार्ग है। इसके अलावा सब उन्मार्ग है।

इसप्रकार यहाँ कर्मशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४२. कर्तृत्वशक्ति

भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृत्वशक्तिः।

होनेपनरूप और सिद्धरूपभाव के भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति।

निर्मल कार्यरूप या कर्मरूप आत्मा स्वयं होता है – ऐसा कर्मशक्ति में बतलाया। अब, निर्मल कार्य या कर्म जो हुआ, उस कार्य का कर्त्ता कौन ? उस कार्य का कर्त्ता कोई दूसरा नहीं; किन्तु आत्मा स्वयं ही उसका कर्त्ता होता है – यह बात कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं – 'होनेरूप ऐसा जो सिद्धरूपभाव उसके भावकपनेमयी कर्तृत्वशक्ति है।' आत्मा में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह अपने निर्मलभाव का कर्त्ता स्वयं ही होता है। पहले २१वीं अकर्तृत्वशक्ति में ऐसा बतलाया था कि ज्ञातास्वभाव से भिन्न जो समस्त विकारी परिणाम उनके कर्त्तापने से निवृत्तस्वरूप आत्मा है; और अब, ज्ञातास्वभाव के साथ एकमेक जो अविकारी परिणाम उनका कर्त्ता आत्मा है – ऐसा इस कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा विकार का अकर्त्ता और शुद्धता का कर्त्ता – ऐसे स्वभाववाला अनेकान्त मूर्ति है।

कर्तृत्वशक्ति राग के आधार से नहीं है; किन्तु आत्मद्रव्य के आधार से है; इसलिए राग कर्त्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं करता; किन्तु आत्मद्रव्य स्वयं कर्त्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य करता है। ऐसे आत्म-स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह स्वयं कर्त्ता होकर अपने सम्यग्दर्शन आदिरूप परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सिद्धरूपभाव है और आत्मा उसका भावक है। भवनरूप भाव में तन्मय होकर, उसका भावक होकर आत्मा स्वयं उसे भाता है अर्थात् उसे करता है – ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है।

कर्मरूप से आत्मा ही परिणमित होता है, कर्त्तारूप से भी आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है; साधनरूप से भी स्वयं ही परिणमित होता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्त्ता-कर्म-करण आदि छह कारक भिन्न-भिन्न नहीं हैं; किन्तु अभेद हैं। आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण-रूप होता है; छह कारकोंरूप तथा ऐसी अनन्त शक्तियों का परिणमन ज्ञानमूर्ति आत्मा में उछल रहा है; इसलिए वह अनेकान्तमूर्ति भगवान है।

अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधक भी अपने में ही है। पहले २९४वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि "आत्मा और बन्ध को द्विधा करनेरूप कार्य में (अर्थात् भेदज्ञानरूप कार्य में) कर्ता जो आत्मा उसके करणसंबंधी मीमांसा (गहरी जाँच, विचारणा) की जाने पर,निश्चय से अपने से भिन्नकरण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है........" देखो, भेदज्ञानरूप कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपने में ही है। कर्ता का साधन वास्तव में कर्ता से भिन्न नहीं होता; कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये वह वास्तव में साधन नहीं है। "अपने से भिन्न करण का अभाव है" – इसमें तो महानियम भर दिया है। अरे जीव ! अपने साधन की गहरी जांच अपने में ही कर...... अपने में ही साधन को शोध। जो बाह्य में साधन को शोधते हैं, वे साधन की गहरी जाँच करनेवाले नहीं; किन्तु उथले ज्ञान -वालेबाह्य दृष्टिवाले हैं। जो आत्मा के ज्ञान के साधन की यथार्थ मीमांसा करें – गहरी जाँच करें – अन्तर में अन्तर उतरकर खोज करें उन्हें तो अपनी पवित्र प्रज्ञा ही अपना साधन भासित होती है, इसके अतिरिक्त राग या परद्रव्य उसे अपने साधनरूप से भासित नहीं होता है। साधन-संबंधी विशेष स्पष्टीकरण अब ४३ वीं शक्ति में आयेगा; इस समय कर्तृत्व-शक्ति का वर्णन चल रहा है।

आत्मा की ऐसी कर्तृत्वशक्ति है कि अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता स्वयं ही होता है। क्या भगवान की दिव्यध्वनि इस आत्मा के ज्ञान की कर्ता है ? – नहीं; केवली-श्रुतकेवली के निकट ही क्षायिक सम्यक्त्व हो – ऐसा नियम है, तो क्या केवली-श्रुतकेवली इस आत्मा के क्षायिक सम्यक्त्व के कर्ता हैं? नहीं; उसरूप होकर उसके कर्ता होनेरूप कर्तृत्व-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्ति आत्मा की ही है, उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं।

शरीरादि जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्मा के कार्य के कर्ता हों। राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्यों का कर्ता हो। आत्मा के स्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जो भजे उसे सम्यग्दर्शनादि कार्य हुए बिना नहीं रहता।

लोग पूछते है कि हम किसे भजें ? तो कहते है कि शक्तिमान को भजो। वास्तव में शक्तिमान कौन है ? उसका स्वरूप क्या है यह जानना चाहिए। सच्चा शक्तिमान अपना आत्मा ही है; इसीलिए उसी का भजन (श्रद्धा-ज्ञान और लीनता) करने योग्य है। यहाँ आचार्यदेव शक्तिमान आत्मा की पहिचान कराते हैं। आत्मशक्ति को जाने बिना दूसरों को (लौकिक देव, देवी, आदि को) शक्तिमान मानकर भजता है वह तो महामूढ़ है। अरे मूढ़ ! तेरी शक्ति पर में नहीं है कि वह तुझे कुछ दे दे। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना मात्र राग से पंचपरमेष्ठी को भजता रहे तो वह भी वास्तव में शक्तिमान को नहीं भजता; किन्तु राग को ही भजता है; पंच- परमेष्ठी को वह पहिचानता नहीं है और न वास्तव में पंचपरमेष्ठी का भजन ही उसे आता है। यदि पंचपरमेष्ठी की शक्ति को जाने तो उस शक्तिमान की ओर उन्मुख हुए बिना न रहे। अपना आत्मा ही ऐसा शक्तिमान है कि उसका भजन करने से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अनन्त निधान देता है; केवलज्ञान और सिद्धदशारूपी कार्य एक क्षण में कर देने की उसकी शक्ति है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा का भजन ही परमार्थ भक्ति है; उसका फल मुक्ति में है।

"शक्तिमान को भजो।" – ऐसा कहने से जीवों की दृष्टि बाह्य में दूसरों की अदृश्य शक्तियों की ओर जाती है; परन्तु 'मैं स्वयं ही शक्तिमान हूँ – इसप्रकार अपनी ओर दृष्टि नहीं करते। इस सम्बन्ध में एक लौकिक दृष्टान्त है; एकबार एक मनुष्य ने साधु के पास जाकर पूछा कि – 'हे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वामी ! मुझसे अधिक कठिन प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं हो सकता; इसलिए मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बतलाइये कि जिससे मेरी मुक्ति हो जाये !' साधु ने कहा ''भाई ! यदि तुमसे और कुछ नहीं हो सकता तो जो दुनिया में सबसे शक्तिमान हो उसका भजन करो। – बस यही धर्म का संक्षिप्त सिद्धान्त है।'' वह मनुष्य घर पहुँचकर सोचने लगा कि सबसे शक्तिमान कौन है ? विचार करते-करते वह सो गया। सबेरे उठकर देखा तो उसके कीमती कपड़े चूहे ने काट डाले थे। उसे बड़ा क्रोध आया... किन्तु उसी समय साधु का वचन याद आ गया और निर्णय कर लिया कि बस ! यह चूहा ही शक्तिमान है; इसलिए इसी का भजन करूँ – ऐसा सोच ही रहा था कि एक बिल्ली आकर चूहे पर झपटी और चूहा भागा। तुरन्त उस आदमी का विचार बदला कि चूहे की अपेक्षा बिल्ली अधिक शक्तिमान है, इसलिए उसका भजन करूँ। – इसीप्रकार बिल्ली के बाद कुत्ते का, कुत्ते के बाद अपनी स्त्री का और अन्त में स्वयं अपनी शक्ति का बल देखकर अपना भजन करने लगा। – यह तो सिद्धान्त समझाने के लिए एक कल्पित दृष्टान्त है। उसीप्रकार तीव्र अज्ञानवश अज्ञानी जीव धरणेन्द्र-पद्मावती– शीतला आदि अनेक रागी-द्वेषी, देवी-देवताओं का भजन करने लगते हैं; वहाँ से कुछ आगे बढ़े तो निमित्त को और कर्म प्रकृति को ही बलवान मानकर उसे भजने लगते हैं। कदाचित् इससे भी कुछ आगे बढ़े तो अन्तर के शुभराग से लाभ मानकर उसके भजन में अटक जाते हैं; किन्तु जब श्रीगुरु के निकट जाकर पूछते हैं कि प्रभो ! अभीतक मैंने अनेक देवी-देवताओं का भजन किया, निमित्तों को माना, पूजा-भक्ति कर-करके शुभराग की उपासना की; तथापि मेरी मुक्ति क्यों नहीं हुई ? तब श्रीगुरु कहते हैं कि – भाई, सुन ! अभीतक तूने जिन-जिनका भजन किया है, उनमें किसी में ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे मुक्ति दे सकें। ऐसी शक्ति तो तेरे आत्मा में ही है; इसलिए उस शक्तिमान को पहिचानकर उसका भजन कर तो अवश्य मुक्ति होगी। शक्तिमान को भूलकर अन्य को मत भज। तेरे आत्मा में ही ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह तेरी मुक्ति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का साधन हो।

जगत के छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य महान है; जीवों में भी पंचपरमेष्ठी महान हैं; पंचपरमेष्ठी में भी सिद्ध महान हैं, इसलिए उन्हें भजो; किन्तु अरे! वह सिद्धपद प्रगट होने की शक्ति तो अन्तरंग में नित्य प्रत्यक्ष ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में भरी है; इसलिए अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का ही भजन करो। ऐसा संतों का उपदेश है। प्रवचनसार की टीका में श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि –"पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय उपादेय है; उसमें भी पंचपरमेष्ठी उपादेय हैं; उन पंचपरमेष्ठी में भी अर्हंत और सिद्ध उपोदय हैं, उनमें भी सिद्ध उपादेय हैं और वस्तुतः (परमार्थतः) रागादि रहित अन्तर्मुख होकर, सिद्ध जीवों के सदृश परिणमित स्वकीय आत्मा ही उपादेय है।

होनेरूप जो सिद्धरूपभाव अर्थात् निर्मलपर्यायरूप भाव वह कार्य है, उसका कर्ता कौन ? आत्मा स्वयं भावक होकर उसे करता है; इसलिए आत्मा स्वयं ही कर्ता है। अपनी श्रद्धाशक्ति द्वारा सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही होता है; आत्मा स्वयं ही ज्ञानशक्ति द्वारा केवलज्ञान का कर्ता होता है। आत्मा स्वयं ही चारित्रशक्ति द्वारा चारित्र का कर्ता होता है। इसप्रकार अपनी अनन्तशक्ति के कार्य के कर्तारूप आत्मा स्वयं ही होता है – ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है। पर्याय में जो-जो नया-नया कार्य सिद्ध होता है। उस-उस कार्यरूप से परिणमित होकर आत्मा स्वयं कर्ता होता है, यह कर्तापना आत्मा का स्वभाव है। जहाँ ऐसा कहा है कि "कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है," वहाँ तो विकार के तथा जड़कर्म के कर्तृत्व की बात है और यहाँ तो निर्मलपर्यायरूप कार्य के कर्तृत्व की बात है – यह कर्तृत्व तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है। ज्ञानानन्दस्वभावी अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा को जानकर, जहाँ उसका आश्रय किया वहाँ आत्मा ने कर्तृत्वशक्ति के कारण ज्ञानगुणपने कर्ता होकर, ज्ञानभावरूप कार्य किया; श्रद्धागुण ने कर्ता होकर सम्यग्दर्शनरूपी कार्य किया, आनन्दगुण ने कर्ता होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन किया –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार अनन्तगुणों ने कर्ता होकर अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप कार्य को किया। कर्तृत्वशक्तिवाले आत्मा को पहिचानने से आत्मा अपने निर्मल-भाव का ही कर्ता होता है और विकार का कर्तृत्व उसे नहीं रहता। कर्तृत्व-शक्तिवाला आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप है; उस एकरूप स्वभाव में एकता से निर्मलभावों का ही कर्ता होता है। जहाँ मात्र विकार का कर्तृत्व है, वहाँ आत्मा की कर्तृत्वशक्ति की प्रतीति नहीं होती है।

"आत्मा में तो अनन्तशक्ति हैं; इसलिए वह पर के कार्य कर सकता है" – ऐसा अनेक मूढ़ जीव मानते हैं। यहाँ आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे! मूढ़! जगत के एक परमाणु या स्कन्ध को भी आत्मा करे – ऐसी कर्तृत्वशक्ति उसमें नहीं है। हाँ, एक क्षण में समस्त विश्व को साक्षात् जानने का कार्य करे – ऐसी कर्ताशक्ति आत्मा में है। आत्मा की शक्ति का कार्य आत्मा में होगा या बाहर? आत्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं, उन समस्त शक्तियों का कार्य आत्मा में ही होता है; एक भी शक्ति ऐसी नहीं है कि आत्मा से बाहर कोई कार्य करे। अहो! मेरा आत्मा, मेरी समस्त शक्तियाँ और समस्त शक्तियों का कार्य – इन सबका मेरे अन्तर में ही समावेश होता है – ऐसी अन्तर्दृष्टि करना सो अपूर्व कल्याण है।

जिसप्रकार यह आत्मा और अन्य सर्व आत्मा जगत में स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त सत् हैं; कोई उनका कर्ता नहीं है; उसीप्रकार अपनी पर्यायरूप कार्य का कर्ता होने की शक्ति भी आत्मा में स्वयमेव है; पर्याय का कार्य नवीन उत्पन्न होता है; इसलिए उसका कर्ता कोई दूसरा होगा – ऐसा नहीं है; आत्मा ही उसरूप परिणमित होकर कर्ता होता है। धर्मी जानता है कि मेरा जो साधकभाव है उसका मैं स्वयं कर्ता हूँ; मेरे आत्मा में ही उसका कर्ता होने की शक्ति है। अपने कार्य के लिए अन्य किसी कर्ता की आवश्यकता हो – वस्तुस्वरूप ऐसा पराधीन नहीं है। कार्य से भिन्न कोई कर्ता नहीं है और कर्ता का कार्य अपने से भिन्न नहीं है। इसीप्रकार साधन आदि भी भिन्न नहीं हैं। इसप्रकार अनन्तशक्ति से अभेद आत्म-स्वभाव की प्रतीति करके परिणमित होने पर सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दशातक के निर्मल कार्य सिद्ध हो जाते हैं। द्रव्य की एक कार्यशक्ति में उसके समस्त गुणों के कार्यों का कर्तृत्व समा जाता है। अखण्ड आत्मद्रव्य के सन्मुख देखते ही उसकी परिपूर्ण शक्तियाँ प्रतीति में आती हैं और वीतराग श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

वीतरागभाव निरपेक्ष आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ आत्मा के ही आश्रित हैं; मैं जो कार्य (सम्यग्दर्शनादि) करना चाहता हूँ, वह मेरे (आत्मा के) ही आश्रय से होता है – ऐसा निर्णय करके स्वभाव का आश्रय करने से वीतरागभाव होता है, वह धर्म है वह जैनशासन का सार है।

अनन्त शक्तिवान शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा को देखें तो उसमें किसी परवस्तु को ग्रहण करने, छोड़ने या बदलने का कर्तृत्व नहीं रहता है तथा विकार का कर्तृत्व भी उसमें नहीं रहता है; उस समय स्वभाव में अभेद हुई निर्मलपर्याय का ही कर्तृत्व है। पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणिक विकार का कर्तृत्व है; किन्तु उतना ही आत्मा को माने तो उसने आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना है।

आत्मा भावक होकर किसे भायेगा ? अथवा आत्मा कर्ता होकर किसे करेगा ? आत्मा भावक होकर (कर्ता होकर) विकार को अपने कार्यरूप से भाये – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु आत्मा भावक होकर अपने स्वभाव में से प्राप्त होनेवाले निर्मलभाव को ही भाये – ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा निर्मलभावरूप से परिणमित होकर उसी का कर्ता होता है।

साधक अपने अखण्ड आत्मस्वभाव को साथ ही साथ रखकर उसी में एकत्वरूप से परिणमन करता है; इसलिए उसे निर्मल-निर्मल पर्यायें ही होती हैं। यह अन्तर्दृष्टि का विषय है और ऐसी अन्तर्दृष्टि से ही धर्म होता है।

आत्मा स्वयं अपने स्वभाव को जाने वह मोक्ष का कारण है और आत्मा आत्मा को नहीं जान सकता – यह मान्यता संसार का कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी जानता है कि स्वपर को जाननेरूप सम्यग्ज्ञानरूप से परिणमित होना ही मेरा कार्य है; अज्ञानरूप से परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव को जानकर जब उसमें ज्ञान एकाग्र हुआ, अपने स्वभावरूप से परिणमित हुआ, तभी मोह-राग-द्वेषादि शत्रु विलीन हो जाते हैं।

यह भगवान आत्मा वचन-गोचर या विकल्पगोचर नहीं है; किन्तु ज्ञानगोचर है। वह भी अन्तरोन्मुख ज्ञान द्वारा ही गोचर है।

मेरी जो पर्याय होती है, उसरूप होनेवाला मेरा द्रव्य ही कर्ता है – ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाती है और सामान्य द्रव्य में तो विकार है नहीं। इसलिए द्रव्यस्वभाव विकाररूप होकर विकार का कर्ता हो ऐसा नहीं होता; इसलिए द्रव्यदृष्टिवाला जीव विकार का कर्ता नहीं होता; वह तो निर्मल पर्यायरूप होकर उसी का कर्ता होता है। जिसप्रकार स्वर्णद्रव्य स्वयं कर्ता होकर स्वर्ण की पर्यायरूप होता है; किन्तु स्वर्ण कर्ता होकर लोहे की पर्यायरूप नहीं होता; उसीप्रकार आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि वह कर्ता होकर अपनी स्वभावदशा को करता है; कर्ता होकर विकार करे – ऐसा आत्मा का द्रव्यस्वभाव नहीं है।

कर्ता का इष्ट सो कर्म है; कर्ता ऐसे आत्मा में रागादि विकारीभाव इष्ट नहीं हैं, वे तो उससे विपरीत हैं, इसलिए वह वास्तव में कर्ता का कर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्यायें ही आत्मस्वभाव के साथ एकमेक होने से वे ही आत्मा का इष्ट हैं और वही कर्ता का कर्म है। ऐसे कार्य का कर्ता होना आत्मा का स्वभाव है।

देखो, धर्म कैसे होता है उसकी यह रीति कही जा रही है। धर्म की यह रीति समझने के साथ उच्चप्रकार का पुण्य भी बंधता है और उसके फल में स्वर्गादि का संयोग प्राप्त होता है; किन्तु धर्म के रुचिवान जीव को उस पुण्य की या संयोग की रुचि नहीं होती। जिसे पुण्य की या संयोग की रुचि, उत्साह है, उसे धर्म की रुचि-उत्साह या उल्लास नहीं है। जिसे पुण्य की रुचि होगी, वह पुण्यरहित आत्मा की ओर क्यों उन्मुख होगा ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसे संयोगों की रुचि हो वह असंयोगी आत्मा की ओर क्यों ढलेगा ? जिसे चैतन्यस्वभाव की ही रुचि है, वही चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर मुक्ति की साधना करता है और जिसे संयोग की या राग की रुचि है वह असंयोगी-वीतरागी चैतन्यस्वभाव का अनादर करके संसार की चारों दुर्गतियों में भटकता है।

मेरी समस्त पर्यायोंरूप होनेवाला मेरा शुद्धद्रव्य ही है; अन्य कोई नहीं। जहाँ ऐसा निर्णय किया वहाँ समस्त पर्यायों में शुद्धद्रव्य का ही अवलम्बन रहा; इसलिए समस्त पर्यायें निर्मल होने लगीं। ऐसा निर्णय करनेवाले को शुद्ध आत्मा के आश्रय से एकाग्रता होने के कारण पर की चिन्ता छूट जाती है; इसलिए एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान होने लगता है। जो पर का मैं कर्ता और मेरी पर्याय पर से होती है – ऐसा माने उसे पर की चिन्ता दूर होकर स्व में एकाग्रता नहीं होती; इसलिए उसे आत्मा का ध्यान नहीं होता और आत्मा के ध्यान बिना वीतरागभावरूप धर्म नहीं होता। इसलिए शुद्ध आत्मा का आश्रय करना ही समस्त शास्त्रों का सार है। इस समयसार की सुप्रसिद्ध १५ वीं गाथा में आचार्यदेव ने यही बात स्पष्ट बतलाई है कि जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है और जो शुद्धात्मा को जानता है वह समस्त जिनशासन को जानता है। यह महान सिद्धान्त और जैनशासन का रहस्य है।

अहो ! कुन्दकुन्द स्वामी ने और अमृतचन्द्राचार्य ने महान आश्चर्य जनक कार्य किये हैं। अहो ! आकाश जैसे निरावलम्बी मुनि तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी संतों का, चैतन्यपद को प्राप्त करानेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊपर ले आना अर्थात् अन्तुर्मख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है।

प्रभो ! तेरी प्रभुता तुझमें विद्यमान है। तू पर से अपनी प्रभुता माने, उसमें तो तेरी पामरता है। अपनी प्रभुता की भीख दूसरों से मांगना उसमें तेरी प्रभुता नहीं है; किन्तु दीनता है। उस दीनता को छोड़ और अपनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रभुता को धारण कर। जो जीव अपने आत्मा की प्रभुता को स्वीकार नहीं करता और मात्र बाह्यदृष्टि से भगवान के निकट जाकर कहता है कि हे भगवान! आप प्रभु हैं .... हे भगवान मेरा हित करो......... मुझे प्रभुता दो!" तो भगवान उससे कहते हैं कि रे जीव! तेरी प्रभुता हमारे पास नहीं है। तुझमें ही तेरी प्रभुता है; इसलिए अन्तरोन्मुख हो..... अन्तर्दृष्टि करके अन्तर में ही अपनी प्रभुता को ढूँढ! जिसप्रकार हमारी प्रभुता हममें है; उसीप्रकार तेरी प्रभुता तुझमें है; तेरा आत्मा ही प्रभुता से परिपूर्ण है। अपने आत्मा को सर्वथा मानकर बाहर से तू अपनी प्रभुता ढूँढेगा तो तुझे अपनी प्रभुता नहीं मिलेगी। "दीन भयो प्रभुपद भजे, मुक्ति कहाँ से होय?" जो अपने में प्रभुता तो देखता नहीं है और बाह्य में भटकता है, उसे तो मिथ्यात्व के कारण पामरता होती है।

राग होने पर भी मैं राग जितना तुच्छ-पामर नहीं हूँ; किन्तु मैं तो प्रभुत्वशक्ति से परिपूर्ण हूँ – इसप्रकार राग का उल्लंघन करके अपनी प्रभुता को स्वीकार करना ही अपूर्व पुरुषार्थ है। अपनी प्रभुता को भूलकर जीव संसार में भटका है और अपनी प्रभुता की सम्हाल करने से जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है। जबतक देह से और राग से पार आत्मा की प्रभुता को अपूर्व प्रयत्न द्वारा न पहिचाने तबतक भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञानी को धर्म कैसे होगा ? इसलिए जिसे वास्तव में धर्म करना हो-धर्मी होना हो उसे अपूर्व उद्यम करके अपने आत्मस्वभाव की पहिचान से भेदज्ञान करना चाहिए। भेदज्ञानी जीव अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर उसी का कर्ता होता है और विकार का कर्ता नहीं होता; इसका नाम धर्म है।

अहो! आत्मा की ये शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्रदेव ने अमृत बहाया है; अरे जीव! ऐसी-ऐसी शक्तियाँ तुझमें ही हैं तो अब तुझे बाह्य में कहाँ रुकना है ? अन्तर में अपनी शक्तियों से परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न अपने आत्मा का ही अवलम्बन कर.........जिससे तेरा भव दुःखों से छुटकारा हो. ..... और तुझे मोक्षसुख की प्राप्ति हो।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४३. करणशक्ति

भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः।

प्रवर्तमान भाव के होने के साधकतमपनेमयी करणशक्ति है।

आत्मा ने स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों को किया; किन्तु उनका साधन क्या है ? कर्ता ने किस साधन द्वारा अपना कार्य किया – यह बात इस करणशक्ति द्वारा बतलाते हैं।

"स्वयं होते हुए अर्थात् परिणमते हुए भाव के होने के साधकतमरूप मयी करणशक्ति है।" इस शक्ति से आत्मा स्वयं ही अपने भाव का साधन होता है। वर्तमान वर्तता हुआ भाव ही कार्य है; वह कार्य होने का उत्कृष्ट साधन आत्मा स्वयं ही है। साधक के आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं उनका 'साधकतम' आत्मा स्वयं ही है। आत्मा को 'साधकतम' कहा; इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'साधक' और 'साधकतम' कोई दूसरा होगा। यहाँ 'साधकतम' शब्द अनन्यपना बतलाता है अर्थात् निर्मलभाव का साधन एक आत्मा स्वयं ही है, उससे भिन्न अन्य कोई साधन है ही नहीं।

अहो ! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक जो-जो भाव मुझमें होते हैं, उनका साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में हैं; बाहर के कोई पदार्थ मेरे साधन हैं ही नहीं। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने कार्य के लिए (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए) बाह्य साधन ढूंढने की व्यग्रता नहीं करता; वह तो अन्तरस्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा को ही सम्यग्दर्शनादि का साधन बनाता है।

"शरीर धर्म का साधन है; अच्छे निमित्त धर्म के साधन हैं, शुभराग धर्म का साधन है" – ऐसा मानकर अज्ञानी तो इन्हीं के अवलम्बन में रुक जाता है। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे जीव ! तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति तेरे आत्मा में ही है; इसलिए अन्तरमुख होकर अपने आत्मा को ही

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साधनरूप से अंगीकर कर ! इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों में या राग में तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति नहीं है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों वे सब उपचार से ही हैं; वह उपचार भी तब लागू होता है, जबकि वास्तविक साधनरूप आत्मस्वभाव अवलम्बन द्वारा निर्मल कार्य प्रगट करे तब निमित्त राग-व्यवहारादिक को उपचार साधन कहा जाता है; किन्तु कोई सच्चे साधन को न जानकर उपचार साधन को ही सच्चा साधन मान ले तो उसे निर्मल कार्य नहीं होता और कार्य हुए बिना उसके साधन का उपचार भी कहाँ से लागू होगा ? जहाँ निश्चय साधन द्वारा कार्य हो वहीं दूसरों को (गुरु उपदेश आदि को) व्यवहार साधन कहा जाता है।

धर्म का जो सच्चा साधन अपना शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है, उसका तो आश्रय नहीं लेता और व्यवहार के शुभराग आदि को ही साधन मानकर उसके अवलम्बन में रुक जाता है, उस जीव को स्वभाव की रुचि नहीं है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म कहाँ से होगा ? जिसे आत्मा के वीतरागी धर्म का प्रेम हो वह उससे विरुद्धभावों का आदर नहीं करता। राग तो आत्मस्वभाव से विपरीत एवं हानिकारक है; तथापि जो उसे लाभकारी मानता है वह राग को ही साधन मानता है, उसे राग का ही प्रेम है, रागरहित स्वभाव का प्रेम नहीं है; जिसे राग का प्रेम है वह रागरहित स्वभाव की साधना कैसे कर सकेगा ? जो सम्यग्ज्ञानी है, वह राग को अपने स्वभाव से विरुद्ध जानता है ,उसे धर्म के साधनरूप से नहीं मानता, किन्तु बाधकरूप ही मानता है; इसलिए उसमें तन्मय नहीं होता। अपने शुद्धस्वभाव को ही साधन जानकर उसमें एकता द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। किसी बाह्य साधन के अवलम्बन बिना आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही साधन होकर सिद्धि को साधता है।

आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का उत्कृष्ट साधन होने के लिए शक्तिमान है। जिसप्रकार अग्नि की उष्णता का साधन अन्य कोई नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अपने स्वभाव से उष्णता का साधन है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा को अपने ज्ञान-आनन्द का अन्य कोई साधन नहीं है, वह स्वयं ही साधन होकर ज्ञान-आनन्द रूप से परिणमित होता है। एकबार आत्मा की ऐसी शक्ति का विश्वास तो कर ! आत्मा के ऐसे साधन का विश्वास करे तो बाह्यसाधन (निमित्तादि) ढूंढने की पराश्रयबुद्धि छूट जाये और स्वभाव के साधन से अनन्त शांति हो जाये।

प्रश्न – इन्द्रियाँ, पुस्तकें, चश्मा आदि तो ज्ञान के साधन हैं न ?

उत्तर – ज्ञान का ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है कि उसे अपने से भिन्न साधन का आश्रय लेना पड़े। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है; इसलिए स्वयं ही ज्ञान का साधन है। इन्द्रियादि जड़ हैं वे ज्ञान के साधन नहीं हो सकते। ज्ञान का साधन ज्ञान से पृथक् नहीं होता; इन्द्रियाँ तो ज्ञान से पृथक् हैं।

प्रश्न – व्यवहाररत्नत्रय तो निश्चय धर्म (रत्नत्रय) का साधन है न ?

उत्तर – निश्चयरत्नत्रय का साधन होने की शक्ति अपने द्रव्यस्वभाव में ही है; क्योंकि करणशक्ति द्रव्य की है। व्यवहाररत्नत्रय में ऐसी शक्ति नहीं है कि साधक होकर निश्चयरत्नत्रय को साधे। एक स्वभाव को ही साधन बनाकर जिसने निश्चयरत्नत्रय की साधना कर ली, उसे व्यवहार रत्नत्रय उपचार से साधन कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मद्रव्य के लिए देव-शास्त्र -गुरु ही साधकतम हैं; इसके अतिरिक्त बाह्यवस्तु कुछ भी साधन नहीं है।

इस समयसार में गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में प्रश्न किया है कि "यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ?" उसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि "उससे कुछ भी साध्य नहीं है।" देखो, आचार्यदेव ने ऐसा नहीं कहा कि भेद द्वारा अभेद साध्य है या व्यवहार द्वारा निश्चय साध्य है; किन्तु उससे कुछ भी साध्य नहीं है – ऐसा कहा है। जहाँ अन्तर के गुण-गुणी भेदरूप सूक्ष्म व्यवहार से भी कुछ साध्य नहीं है वहाँ अन्य स्थूल रागादि तो सिद्धि का साधन कहाँ से होंगे ? राग द्वारा अर्थात् राग को साधन बनाकर आत्मा के स्वभाव में नहीं पहुँचा जाता है; इसलिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा स्वय ही अपना साधन बनता है। जहाँ आत्मस्वभाव का अलवम्बन ले वहाँ सम्यग्दर्शनादि अवश्य होते ही हैं; आत्मस्वभाव के बिना सम्यग्दर्शनादि होते ही नहीं।.इसप्रकार आत्मस्वभाव ही अबाधित साधन है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों वे उपचार से हैं, नियमरूप नहीं हैं – ऐसा जानना।

शुद्ध अनन्त चैतन्य शक्तिवान यह आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभावाला होने से स्वयं ही साधकतम है; स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमित होने के कारण पर से ''स्वयंभू'' पने का संबंध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन ढूंढने की व्यग्रता करनी पड़े। आचार्य तो कहते हैं कि अज्ञानी जीव व्यर्थ ही परतन्त्र होते हैं। इसप्रकार शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने के कारण अत्यन्त आत्माधीन है। (देखो, प्रवचनसार गाथा –१६) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी अन्य कारकों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आदि की प्राप्ति भी अन्य साधनों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है।

अपनी पर्यायों का साधन मैं ही हूँ और अन्य मेरा साधन नहीं है – ऐसा निश्चय करके धर्मात्मा बाह्य साधनों का आश्रय नहीं लेते; किन्तु अपने आत्मा का ही आश्रय लेते हैं। आत्मा का आश्रय लेने से आत्मा स्वयं साधन होकर परिणमता है। ''प्रवचनसार'' गाथा १२६ में कहा है कि –

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।१२६

लोगों ने स्थूलरूप से-बाह्यदृष्टि से साधनों को स्वीकार कर लिया है; किन्तु सूक्ष्मरूप से-अन्तर्दृष्टि करके अपने धर्म का यथार्थ साधन कभी नहीं ढूंढा। अरे! बाह्य में अपने हित का साधन मानकर मैं अनन्तकाल से प्रयत्न कर रहा हूँ; तथापि मुझे अपने हित की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए अन्तर में कोई अन्य साधन होना चाहिए – इसप्रकार गहराई से विचार करना चाहिए। अरे! विकार से भिन्न मेरे आत्मा का अनुभव किस साधन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से होगा ? – इसप्रकार जिसके अन्तर में गहरी जिज्ञासा जागृत हुई है, उसे साधन बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के करण (साधन) संबंधी गहरी मीमांसा की जाने पर, निश्चय से अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है – ऐसा निर्णय हो जाता है, प्रज्ञा द्वारा परकारणों का छेदन किया जाने पर वे अवश्य ही पृथक्त्व को प्राप्त होते हैं; इसलिए प्रज्ञारूपी साधन द्वारा ही उनका भेदज्ञान होता है।

आत्मा के स्वभाव को एवं रागादि बन्धभावों को प्रज्ञा द्वारा किसप्रकार छेदा जा सकता है ? – ऐसा प्रश्न शिष्य की ओर से होने पर आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि ''आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तरसंधि में प्रज्ञा छैनी को सावधान होकर पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है – ऐसा हम जानते हैं।

देखो, यह साधन ! आचार्यदेव स्वानुभव सहित कहते हैं कि हमने ऐसे अन्तरंग साधन से ही आत्मा को बन्धभावों से पृथक् जाना है। कर्ता का साधन अपने में ही है। कर्ता का साधन सचमुच कर्ता से भिन्न नहीं होता; इसलिए कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये वह कोई सचमुच साधन नहीं है। ''अपने से भिन्न करण का अभाव है'' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महासिद्धान्त बतलाया है। अरे जीव ! अपने साधन की गहरी खोज अपने में कर, अपने अन्तर में ही साधन को ढूंढ। जो अपने साधन को बाह्य में ढूंढते हैं, वे उसकी गहरी खोज करनेवाले नहीं हैं; किन्तु उथली बुद्धिवाले बाह्यदृष्टिवंत हैं। जो आत्महित के साधन की सच्ची मीमांसा करते हैं, उन्हें तो अपने आत्मा में ही अपना साधन भासित होता है; राग या बाह्यद्रव्य अपने साधनरूप से किंचित् भासित नहीं होते।

अहो ! अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों का साधकतम होने की शक्ति आत्मा में त्रिकाल है; स्वयं ही कारण होकर अपने सम्यग्दर्शनादि की साधना करे ऐसी शक्ति स्वयं में ही है; किन्तु उसे भूलकर साधन के लिए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यर्थ ही बाह्य में दौड़-धूप करता है। अन्तर के निज साधन को भूलकर अनन्तकाल से बाह्य में दौड़-धूप की; किन्तु कुछ भी जीव के हाथ नहीं लगा; तथापि सत्यसाधन क्या है, उसका गहरा विचार भी नहीं करता।

प्रभो ! मेरे हित का साधन क्या ? – ऐसा पूछने पर श्रीगुरु कहते हैं कि उसका विश्वास करके उसी को साधन बना। तेरा शुद्ध आत्मा ही साध्य है और उस शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना ही साधन है – इस-प्रकार तेरे साध्य और साधन दोनों का तुझमें ही समावेश हो जाता है।

आत्मा की अनन्तशक्तियों में एक ऐसी करणशक्ति है कि जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें होती हैं, उनका साधन आत्मा स्वयं ही होता है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का उत्कृष्ट साधन आत्मा ही है। निमित्तादि परवस्तुओं में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्मा की निर्मलपर्याय का साधन हों और आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि अपने निर्मल कार्य के लिए वह किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखे। आत्मा का स्वभाव स्वयं ही साधकतम होने के कारण उसकी सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, किन्तु निमित्तादि परद्रव्य कहीं आत्मा के कार्य का साधकतम नहीं हैं; इसलिए निमित्तों की सन्मुखता से आत्मा के सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप कार्य नहीं होता।

पुनश्च, जिसप्रकार आत्मा अपने कार्य के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता, उसीप्रकार वह साधनरूप होकर किसी अन्य का कार्य भी नहीं करता। अपनी निर्मल पर्यायों का साधन होने की आत्मा में परिपूर्ण शक्ति है, किन्तु शरीर, वाणी आदि की क्रिया में साधन हो – ऐसी किंचित् भी शक्ति आत्मा में नहीं है और सचमुच विकारी भावों का साधन होना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करनेवाला जीव विकार के साधकतमरूप से परिणमित नहीं होता; किन्तु अपनी निर्मल पर्याय के ही साधकतमरूप से परिणमित होता है। आत्मा अपने स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं ही साधन होकर अपनी मुक्ति को साधता है; मुक्ति के लिए बाह्य में अन्य कोई साधन नहीं ढूँढना पड़ता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन ही निश्चयरत्नत्रय का साधन है। व्यवहाररत्नत्रय को साधन कहना तो कथन मात्र है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मोक्ष का या मोक्षमार्ग का साधन बन जाये। यहाँ तो साधन (साधकतम) कार्य के साथ अभेद है; इसलिए आत्मा ही उसका साधन है; किन्तु राग की मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ अभेदता न होने से राग उसका साधन नहीं है और आत्मा के स्वभाव की राग के साथ अभेदता न होने से आत्मा राग का साधन नहीं है।

प्रश्न — तो फिर राग का साधन कौन है ?

उत्तर — राग का कोई ध्रुवसाधन नहीं है। राग तो ऊपर की क्षणिक वृत्ति है और उसका साधन भी क्षणिकपर्याय ही है। पर्याय में अन्तर्मुख होकर जहाँ ध्रुवस्वभाव को अपना साधन बनाया, वहाँ विकार का साधन रहता ही नहीं, वहाँ विकार होता ही नहीं। वहाँ तो निर्मलता ही होती है। इसप्रकार अपनी निर्मलपर्याय का साधन होना ही आत्मा का स्वभाव है। चारित्र में भूमिकानुसार रागादि होते हैं; पर वे यहाँ गौण हैं।

प्रश्न — सुख का साधन क्या है ?

उत्तर — हे भाई ! तू चिन्ता न कर, तेरा आत्मा ही स्वयं तेरे सुख का साधन है; उसका अवलम्बन करते ही तू सुखी हो जायेगा; इसलिए अपने आत्मा को ही सुख का साधन जानकर उसमें अन्तर्मुख हो। अन्तर्मुख होने पर तेरा आत्मा ही तेरे सुख का साधन बन जायेगा, दूसरा कोई साधन तुझे नहीं ढूँढना पड़ेगा।

समाधान पाकर शिष्य कहता है — अहो ! मुझमें ही मेरा सुख भरा था, किन्तु अभीतक मैं उसे बाहर ढूंढता रहा, इसलिए दुखी रहा। 'स्वभाव में ही मेरा सुख है' — ऐसा सम्यक्भान होने पर अब मेरी बाह्य में सुखबुद्धि छूट गई और अपने स्वभाव में मग्न होकर आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हो गया यह समझ में आ गया।

अन्य किसमें ऐसी शक्ति है कि जिसका अवलम्बन करने से वह आत्मा की निर्मलपर्याय का साधन हो ? निमित्तों में ऐसी शक्ति नहीं है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है, अकेली पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है तथा एक-एक गुण के आश्रय में भी ऐसी शक्ति नहीं है, इसलिए उन निमित्तों को राग की, पर्याय की या गुणभेद की – किसी की सन्मुखता से निर्मलपर्याय नहीं होती। अनन्तगुणों से अभेद आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति (करणशक्ति) है कि उसका अवलम्बन करने से वह निर्मलपर्याय का साधन होता है, इसलिए उसकी सन्मुखता होने से ही निर्मलपर्याय होती है। गुणों के भेद करके एक गुण के लक्ष से साधकपना नहीं होता; यदि एक गुण के लक्ष्य से ही साधकपना माने तो उसने एक गुण जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को माना है; इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणों सहित सम्पूर्ण आत्मा उसकी मान्यता में नहीं आया। अनन्त गुणों से परिपूर्ण आत्मा को माने बिना कभी साधकपना हो ही नहीं सकता।

जीव विकल्प द्वारा एक गुण को पृथक् करके लक्ष्य में लेता है, किन्तु वस्तु में कहीं एक गुण पृथक् नहीं होता; इसलिए उस विकल्प द्वारा वस्तु प्रतीति में नहीं आती। जिसप्रकार जड़-चेतन में अत्यन्त प्रदेशभेद है, दोनों वस्तुओं के प्रदेश ही भिन्न हैं; उसीप्रकार कहीं वस्तु और वस्तु की अनन्तशक्तियों में प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञान के प्रदेश अलग, दर्शन के प्रदेश अलग, आनन्द के अलग – ऐसा प्रदेशभेद गुणों में नहीं है तथा अनन्त शक्तियों से भिन्न दूसरा कोई शक्तिमान नहीं है। शक्तिमान वस्तु स्वयं ही अनन्तशक्तिस्वरूप है; इसप्रकार शक्तिमान और शक्तियों में स्वरूपभेद नहीं है, मात्र समझाने के लिए अभेद में भेद उत्पन्न करके एक गुण की मुख्यता से 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा कहा जाता है। वहाँ भेदसन्मुख देखने से आत्मा समझ में नहीं आता; किन्तु अनन्त धर्मस्वरूप एक अखण्ड चैतन्यवस्तु आत्मा के सन्मुख देखने से ही आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ में आता है। यह बात कुछ सूक्ष्म तो है, किन्तु समझ में न आये – ऐसी कठिनता नहीं है, समझने योग्य है। इस बात को समझने पर ही भवभ्रमण से छुटकारा होगा।

श्री 'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय में एक सूत्र है कि – 'द्रव्याश्रया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्गुणा गुणाः' समस्त गुण द्रव्य के आश्रय से विद्यमान हैं अर्थात् द्रव्य स्वयं ही अनन्तगुण स्वरूप है; इसलिए उस द्रव्य के आश्रय से परिणमित होने पर समस्त गुणों का निर्मल परिणमन हो जाता है; परन्तु गुण स्वयं निर्गुण है अर्थात् एक गुण का भेद करके उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करना चाहे तो वह नहीं हो सकता; क्योंकि एक गुण को श्रद्धा-ज्ञान में लेते हुए दूसरे गुण शेष रह जाते हैं। इसलिए सम्पूर्ण वस्तु जैसी है वैसी प्रतीति में या ज्ञान में नहीं आती और प्रतीति में तथा ज्ञान में सम्पूर्ण वस्तु आये बिना उसमें एकाग्रता भी कहाँ से होगी? एक ज्ञानगुण के आश्रय से केवलज्ञान प्रगट करना चाहे तो उसे केवलज्ञान नहीं होता; क्योंकि केवलज्ञान यद्यपि ज्ञानगुण की पर्याय है; तथापि वह गुण कहीं वस्तु से पृथक् होकर परिणमित नहीं होता। अखण्ड वस्तु का आश्रय करके परिणमित होने पर आत्मा के समस्त गुण निर्मलरूप से परिणमित हो जाते हैं। श्रद्धागुण सम्यक्त्वरूप से, ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप से, चारित्र-गुण स्वरूप में एकाग्रतारूप से तथा आनन्दगुण आनन्दरूप से परिणमित हो जाता है। वहाँ प्रत्येक गुण का भिन्न-भिन्न अवलम्बन नहीं है, एक अखण्ड चैतन्यवस्तु का ही अवलम्बन है और वही समस्त गुणों की निर्मल-पर्याय का साधन है।

भाई! तेरे आत्मा में और प्रत्येक आत्मा के स्वरूप में जो वस्तुस्थिति है, उसी का यह वर्णन है। तुझे तेरे आत्मा का वैभव बतलाया जा रहा है। यह शक्तियाँ कहीं नवीन उत्पन्न नहीं करना है, शक्तियाँ तो तुझमें सदैव हैं ही; किन्तु तूने उनकी प्रतीति नहीं की है; इसलिए अन्तर्मुख होकर प्रतीति करना है। इन शक्तियों की प्रतीति करने से आत्मा स्वयं निर्मलरूप से परिणमित होता है और उसकी शक्तियाँ पर्याय में प्रगट हो जाती हैं, निर्मल रूप से विकसित हो जाती हैं। इसका नाम मोक्षमार्ग है और इन शक्तियों के सम्पूर्ण विकसित हो जाने का नाम मोक्ष है।

यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ बतलाने का प्रयोजन नहीं है; किन्तु आत्म वस्तु अनन्तशक्ति सम्पन्न है यह बतलाना है; अनन्तधर्मस्वरूप अनेकान्त-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मूर्ति आत्मद्रव्य की पहिचान कराना है। जैसे कि – जीवत्वशक्ति; आत्मद्रव्यमयी और आत्मद्रव्य ज्ञानादि अनन्तधर्ममय है। ऐसे आत्मद्रव्य को प्रतीति में लिए बिना उसकी कोई भी शक्ति निर्मलरूप नहीं परिणमती; और शुद्धद्रव्य को प्रतीति में लेकर उसके आश्रय से परिणमित होने पर समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित हो जाती हैं। अज्ञानी का आत्मा भी परिणमित होता तो अवश्य है; किन्तु वह स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमित न होकर पर के आश्रय से विकाररूप परिणमित होता है; इसलिए आत्मा की शक्ति का कार्य शक्ति जैसा ही निर्मल हो तथा शक्ति के साथ अभेद हो। आत्मा अपनी करणशक्ति द्वारा साधकतम होकर अपने अनन्तगुणों की निर्मलपर्याय के साधनरूप से परिणमित होता है।

इसप्रकार भगवान आत्मा ही अपना साधन है – ऐसा जो जाने उसे बाह्य साधन ढूंढने की व्यग्रबुद्धि, आकुलता नहीं रहती; किन्तु स्वाश्रय करके अन्तरस्वभाव में ही एकाग्र होना शेष रहता है। उसके श्रद्धा-ज्ञान में द्रव्य स्वभाव ही मुख्य रहता है और वह जीव निःशंकरूप से स्वभाव-साधन द्वारा मोक्ष को साधता है।

निमित्त से या विकार से मेरी पर्याय निर्मल होती है – ऐसा जो मानता है, उसे स्वाश्रय का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है; किन्तु पराश्रय का विपरीत पुरुषार्थ है, अपने स्वभाव के साधन से ही मेरी पर्याय निर्मल होती है; – ऐसा जो वास्तव में जानता है वह तो स्वसन्मुख होकर स्वभाव का पुरुषार्थ करता है और उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं।

यह एक नियम है कि जिससे लाभ हो, उसके साथ उसकी एकता-बुद्धि होती है। जिसे अपने से भिन्न जानता हो उससे कोई अपने को लाभ नहीं मानता और जिससे लाभ मानता हो उसे अपना माने बिना नहीं रहता। शरीर से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा माननेवाला शरीर तथा आत्मा को एकरूप ही मानता है; राग से आत्मा को लाभ माननेवाला राग को और आत्मा के स्वभाव को एकरूप ही मानता है; पुण्य से धर्म होता है – ऐसा माननेवाला पुण्य को और धर्म को एकरूप ही मानता है; व्यवहार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से निश्चय होता है – ऐसा माननेवाला निश्चय-व्यवहार दोनों को एकरूप ही मानता है; एक गुण के भेद के आश्रय से लाभ होता है – ऐसा माननेवाला एक ही गुण के साथ आत्मा की एकता मानता है; किन्तु अनन्तगुणों के साथ आत्मा की एकता को नहीं जानता; इसलिए गुणभेद के विकल्प को ही वह आत्मा मानता है। यह सब मिथ्यादृष्टि जीव की मान्यता के प्रकार हैं। जहाँ अन्तरंगचिदानन्दस्वभाव में एकता हुई नहीं कि वहाँ अन्यत्र कहीं न कहीं एकता माने बिना रहता ही नहीं। धर्मी जानता है कि मेरा चिदानन्दस्वभाव ही मुझे लाभ का कारण है और जिससे लाभ माने उसके साथ एकता माने बिना रहता ही नहीं – इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मी अपने स्वभाव से ही लाभ मानकर उसी में एकता करते हैं और स्वभाव में एकता से उन्हें सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है।

पर्यायरूप से यद्यपि गुण ही परिणमित होता है; किन्तु गुण के भेद के आश्रय से गुण का निर्मल परिणमन नहीं होता; अभेदद्रव्य के आश्रय से ही गुणों का निर्मल परिणमन होता है। एक ज्ञानगुण के चिन्तन से केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी अखण्ड आत्मा के चिन्तन से केवलज्ञान होता है; उसीप्रकार एक गुण के चिन्तन से सम्यक्त्व नहीं होता; किन्तु अखण्ड चिदानन्दस्वभाव के चिन्तन से ही सम्यक्त्व होता है; उसीप्रकार एक आनन्दगुण को लक्ष में लेकर चिन्तवन करने से आनन्द का अनुभव नहीं होता, किन्तु आनन्दादि अनन्तगुणों से अभेद आत्मा के चिन्तवन से ही आनन्द का अनुभव होता है। इसप्रकार अभेदद्रव्य के आश्रय से ही समस्त गुणों का निर्मल परिणमन होता है; इसलिए निर्मलता का साधन आत्मा स्वयं ही है। गुणभण्डार आत्मा स्वयं ही अपनी करणशक्ति से साधकतम होकर रत्नत्रय धर्म को साधता है।

देखो, यह साधक होने की रीति। यह धर्म को साधने का उत्कृष्ट साधन! अपने स्वभाव को ही साधन बनाकर अनन्त जीवों ने सिद्धपद को साधा है; वर्तमान में अनेक जीव उसीप्रकार सिद्धपद को साध रहे हैं और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भविष्य में भी साधेंगे। स्वभावसाधन से बाहर अन्य साधन को जो ढूंढेगा उसे सिद्धपद की सिद्धि नहीं होगी, वह तो संसार का ही साधक रहेगा अर्थात् संसार में ही भटकेगा। यहाँ तो स्वभावसाधन समझकर साधक होकर सिद्धपद को साधें – ऐसे जीवों के लिए बात है।

अनन्तगुणमूर्ति आत्मस्वभाव को ही जो अपना साधन मानता है वह जीव निमित्त को, राग को, व्यवहार को अपना साधन नहीं मानता; इसलिए उससे लाभ नहीं मानता। जिसप्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा अन्य पुरुष का संग स्वप्न में भी नहीं करती; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने चैतन्यस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वप्न में भी अपने साधनरूप से स्वीकार नहीं करते। यही साध्य की सिद्धि का साधन है; अन्य किसी साधन से साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि – "अनन्त चैतन्य जिसका चिह्न है – ऐसी इस आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि उसके अनुभव बिना अन्यप्रकार से साध्य की (आत्मा की) सिद्धि नहीं है।

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिन्हम्
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।

(समयसार कलश 20)

भगवान आत्मद्रव्य में अन्य साधनों के बिना स्वयं से ही निर्मलपर्याय रूप परिणमित होने की शक्ति है; द्रव्य स्वयं परिणमित होकर समस्त गुणों का कार्य करता है। वर्तमान वर्तते हुए परिणाम के साधकतम होने की आत्मा की शक्ति है – ऐसा कहो, उसमें जो वर्तमान परिणाम लिए वे निर्मल परिणाम हैं; क्योंकि साधक की दृष्टि त्रैकालिक शक्तिमान ऐसे द्रव्य पर गई है और उस द्रव्य के आश्रय से निर्मल परिणाम ही होता है; उस निर्मल परिणाम का ही साधन होना द्रव्य का स्वभाव है। व्यवहार-सम्यग्दर्शन में ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह निश्चयसम्यग्दर्शन का साधन हो। निश्चयसम्यग्दर्शन तो शुद्धद्रव्य को ही साधन बनाकर होता है और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसी में साधन से वह टिकता है। इसप्रकार समस्त निर्मल पर्यायों में शुद्धद्रव्य को ही साधन समझ लेना।

साधकपने के समय निमित्तरूप से बाह्य वस्तुएँ हों तो भले हों, भूमिकानुसार राग हो तो भले हो; परन्तु साधक धर्मात्मा उनमें से किसी को भी अपने साधकत्व के साधनरूप से स्वीकार नहीं करते; साधकत्व के साधन रूप से तो अपने आत्मा को ही स्वीकार किया है। उस अखण्ड साधन में से ही मोक्षमार्ग की ओर मोक्ष की निर्मलपर्यायों का प्रवाह चला आता है।

राग में और निमित्तों में ज्ञान का ज्ञेय होने की शक्ति है; किन्तु ज्ञान का साधन होने की शक्ति नहीं है। ज्ञान का ज्ञेय होने पर भी जो उन्हें ज्ञान का साधन मानते हैं वे बौद्धमती के समान मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञान का साधन तो सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है; उसे साधन न बनाकर परज्ञेयों को साधन मानता है अर्थात् ज्ञानस्वभाव में एकता न करके परज्ञेयों के साथ एकता मानता है, उसके ज्ञान का कार्य नहीं होता; किन्तु अज्ञान होता है। जातिस्मरण, जिनप्रतिमादर्शन, वेदना आदि जो सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण कहे हैं, वे सब उपचार से उन-उन निमित्तों का ज्ञान कराने के लिए कहे हैं, परमार्थ साधन तो अपना चिदानन्द भगवान ही है। यह एक ही साधन है। "एक औषधि सौ रोगों को नष्ट कर देती है"; उसीप्रकार इस एक ही स्वभावसाधन का स्वीकार अन्य समस्त बाह्य साधनों के रोग को नष्ट कर देता है अर्थात् स्वभावसाधन का स्वीकार करने से किन्हीं भी बाह्य साधनों की मान्यता छूट जाती है।

तीर्थंकर प्रकृति जड़ होने पर भी शास्त्र में कहीं-कहीं उसे भी अरिहंतपद का कारण कहते हैं; वहाँ तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाना है कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव तीसरे भव में अवश्य ही अरिहंतपद प्रगट करके तीर्थंकर होता है; वह तीर्थंकर प्रकृति के साधन से नहीं, किन्तु नित्यस्वभाव के साधन से ही होता है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार अचेतन वाणी को भी ज्ञान का साधन कहा जाता है, वह भी उपचार से ही है; वह वास्तव में ज्ञान का साधन नहीं है। ज्ञान होने का सच्चा साधन तो ज्ञानस्वभाव ही है। जो उस परमार्थ साधन को लक्ष में ले, उसी को सम्यग्दर्शनादि कार्य की सिद्धि होती है। परमार्थ साधन की प्रतीति का फल मोक्ष है और बाह्यसाधन को माने उसका फल संसार है।

भगवान आत्मा अनन्तशक्तिस्वरूप है; उसकी ४३ वीं ''करणशक्ति'' का यह वर्णन चल रहा है। करण अर्थात् साधन; आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपने निर्मलपर्यायरूप कार्य को करता है; किन्तु उसका साधन करण-शक्ति है। उसके कारण आत्मा स्वयं ही उत्कृष्ट साधन है। साधक को अपना आत्मा ही निर्मलता का साधन है। आत्मा में साधन होने की शक्ति तो त्रिकाल है; किन्तु स्वयं स्वसन्मुख होकर कभी उस साधन को ग्रहण नहीं किया है। यदि स्वसन्मुख होकर स्वभावसाधन को ही ग्रहण कर ले तो साधकदशा हुए बिना न रहे। त्रिकाली द्रव्य को अंगीाकर करने पर ज्ञानादि अनंतगुण अपनी-अपनी निर्मल पर्यायरूप से परिणमित करने पर ज्ञानादि अनंतगुण अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हो जाते हैं। प्रवचनसार की २१ वीं गाथा में भी कहते हैं कि – ''केवली भगवान स्वयमेव अनादि-अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करते हैं; इसलिए तुरन्त प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं ....देखो, कितनी स्पष्ट बात है ! केवलज्ञान का कारण अन्य कोई है ही नहीं; अपना त्रिकाली ज्ञानस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है; जिस क्षण निजद्रव्य स्वभाव के उत्कृष्ट आलम्बन द्वारा उस ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करे, उस क्षण केवलज्ञान होता है। इस केवलज्ञान की भांति समस्त निर्मलपर्यायों में भी समझ लेना।

आत्मा को धर्म के साधनरूप से मात्र स्वद्रव्य का ही अवलम्बन है; अन्य कोई साधन नहीं है। स्वद्रव्य में अन्तर्मुख होने पर द्रव्य स्वयं ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मलपर्याय का साधन होता है – ऐसी शक्ति आत्मा में है।

ज्ञान का साधन शास्त्र नहीं; किन्तु ज्ञान का साधन आत्मा ही है।

चारित्र का साधन शरीर नहीं; किन्तु चारित्र का साधन आत्मा ही है। आत्मा के ही ग्रहण से ज्ञानचारित्रादि निर्मलपर्यायें होती हैं; इसलिए आत्मा ही उनका साधन है। समयसार गाथा २७७ में कहा है कि अभेदरूप से आत्मा स्वयं ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप आदिरूप है।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।२७७

आत्मा ही अपनी दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल पर्यायों में अभेदरूप से परिणमित होता है; इसलिए वे पर्यायें आत्मा ही हैं, उनका साधन भी आत्मा ही है। त्रिकाली द्रव्य सो कारण और उसकी निर्मलपर्याय सो कार्य; ऐसे कारण-कार्य एकसाथ अभेद हैं; अन्य कोई भिन्न कारण नहीं हैं।

प्रश्न – यदि कारण-कार्य दोनों साथ ही हों तो शुद्धद्रव्यकारण तो त्रिकाल है; तथापि कार्य क्यों नहीं है?

उत्तर – शुद्धकारण को स्वीकार करे और निर्मलकार्य न हो – ऐसा हो ही नहीं सकता; "कारण त्रिकाल है"" ऐसा स्वीकार किसने किया? कारण को स्वीकार करनेवाला स्वयं ही निर्मल कार्य है। अज्ञानी ने तो शुद्धद्रव्य को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं; उसने तो पर को कारणरूप माना है अर्थात् शुद्धकारण उसकी दृष्टि में आया ही नहीं। शुद्धकारण को स्वीकार करे और सम्यग्दर्शनादि कार्य न हो – ऐसा हो ही नहीं सकता। "कारण है किन्तु कार्य नहीं है" ऐसा जो कहता है उसने वास्तव में कारण को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं। यदि कार्य नहीं है तो द्रव्य को कारणरूप से स्वीकार करनेवाला कौन है? शुद्धद्रव्य के अवलम्बन से जहाँ शुद्धकार्य हुआ वहाँ भान हुआ कि अहो! मेरा स्वभाव ही मेरे कार्य का कारण है। ऐसा कारण मुझमें पहले भी था; किन्तु मैंने उसका अवलम्बन नहीं लिया; इसलिए कार्य नहीं हुआ। अब उस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्धकारण के स्वीकार से सम्यग्दर्शनादि शुद्धकार्य हुआ।

तीर्थंकर भगवन्तों के मार्ग में तो मोक्षमार्ग का साधन शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग को साधा जा सकता है और वही तीर्थंकर भगवन्तों का बतलाया हुआ मुक्ति का मार्ग है। भाई! तुम भी इसीप्रकार चिदानन्दस्वभाव को ही साधनरूप से अंगीकार करो. ......उसे साधन करने से ही सिद्धि होती है'' – ऐसा भगवान का उपेदश है। इसके सिवा अन्य किसी साधन से मोक्ष नहीं होता – ऐसा भगवान ने कहा।

देखो, यह धर्म का साधन बतलाया जा रहा है। कहते हैं कि –

–देह की क्रिया धर्म का साधन नहीं है;

–पुण्य धर्म का साधन नहीं है;

अनन्तशक्तिसम्पन्न धर्मी आत्मा ही धर्म का साधन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म हैं और आत्मा का स्वभाव ही उसका साधन है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि – **''न धर्मो धार्मिकैर्विना''** धर्म धार्मिक के बिना नहीं होता। परमार्थतः धर्म को धारण करनेवाला आत्मा ही धर्मी है और उसी के आधार से धर्म है। आत्मा स्वयं साधक होकर धर्म को साधता है; इसलिए आत्मा साधु है अथवा आत्मा के गुण अपनी-अपनी निर्मल पर्यायों का जतन (रक्षा) करते हैं; इसलिए यति है; पुनश्च सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्रादि निज ऋद्धिसहित होने से वही ऋषि है। इसप्रकार आत्मा स्वभाव से सर्वसाधनसम्पन्न है।

हे जीव! तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है, जो तू बाह्य साधनों को ढूंढता है ? साधन होने की परिपूर्ण शक्ति तुझमें है; तेरा आत्मा सर्व-साधन सम्पन्न होने पर भी तू बाह्य में अपना साधन क्यों ढूंढता है ? जैसे – किसी के यहाँ कड़ाही आदि साधन न हों तो वह पड़ौसी के यहाँ माँगने जाता है, किन्तु जिसके घर में सर्वसाधन हों, वह दूसरों के यहाँ माँगने क्यों जायेगा? उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव स्वयं सर्वसाधनसम्पन्न है; उसमें ऐसी अपूर्णता नहीं है कि उसे दूसरों से साधन माँगना पड़े।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – वीतरागता प्रगट करने के लिए वीतरागता के निमित्त तो ढूंढना पड़ेंगे न ? पूर्वकाल में अन्य जीवों के लिए जो वीतरागता के निमित्त हुए हैं, उन निमित्तों को हम प्राप्त कर लें तभी तो वीतरागता होगी न ?

उत्तर – अरे भाई ! ऐसा नहीं है; यह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर अपने स्वभावसाधन को ढूंढ ! जहाँ तू स्वभावसाधन कर लेगा वहाँ तुझे निमित्तों को नहीं ढूँढना पड़ेगा। स्वभाव में साधनशक्ति की ऐसी अपूर्णता नहीं है कि अन्य साधन प्राप्त करना पड़े। "अन्य जीवों को जो वीतरागता के निमित्त हुए उन पदार्थों को मैं प्राप्त कर लूँ तो उनके निमित्त से मुझे वीतरागता हो" – यह दृष्टि ही विपरीत है; उसे स्वभाव की ओर नहीं ढलना है; किन्तु अभी तो उसे निमित्त प्राप्त करना है। इसलिए साधन होने की शक्तिवाले अपने स्वभाव को यह वास्तव में मानता ही नहीं है। ज्ञानी तो अपने स्वभावसामर्थ्य को जानकर, उसका अवलम्बन लेकर उसी को साधन बनाता है।

जैसे – विशाल मन्दिर का निर्माण कराना हो तो पहले इस बात को लक्ष्य में लेना पड़ता है कि उसकी सामग्री कहाँ मिलेगी; उसीप्रकार इस आत्मा का सिद्धमन्दिर मुक्तिमन्दिर बनाने के साधन कौन-से हैं ? उसकी यह बात है। भाई ! तेरे सिद्धमन्दिर का साधन हो ऐसी सामग्री (साधन शक्ति, करणशक्ति) तेरे स्वभाव में ही भरी है। उसी साधन का उपयोग करके अर्थात् उपयोग को स्वभावोन्मुख करके अपने सिद्धमन्दिर को तैयार कर ! अपनी सिद्धि को साधने के लिए अपना स्वभावरूप एक ही साधन काफी है; अन्य किसी साधन को मत ढूंढ ! अन्तरंग में निश्चय साधन प्रगट किए बिना अन्य किसी को व्यवहार साधन नहीं कहा जाता - यह नियम है।

इसप्रकार यहाँ ४३ वीं करणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४४. सम्प्रदानशक्ति

स्वयंदीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः।

अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय सम्प्रदानशक्ति है।

कर्ता, कर्म और करणशक्ति का वर्णन किया; अब आत्मा की सम्प्रदान शक्ति बतलाते हैं। अपने से अपने को ही दिए जानेवाले भाव के उपेयपने-मय सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है। यद्यपि आत्मा को 'ज्ञानस्वरूप' कहकर उसकी पहिचान कराई; तथापि उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि अपने भाव को स्वयं यही झेलता है; निर्मलभाव प्रगट करके स्वयं अपने को ही देता है। द्रव्य-स्वभाव में से दिये जानेवाले केवलज्ञानादि निर्मलभाव को झेलकर अपने में ही रखने की आत्मा की शक्ति है। जैसे लोकव्यवहार में कुम्हार घड़ा बनाकर राजा को दे तो वहाँ उस घड़े को सम्प्रदान कहा जाता है; उसी-प्रकार आत्मा की निर्मलपर्याय का सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अंगीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करके किसी अन्य को नहीं देता; किन्तु अपने में ही रखता है; स्वयं अपने को ही निर्मलपर्याय का दान देता है; ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।

चिदानन्द आत्मा दातार होकर निर्मलपर्याय-सम्यग्दर्शनादि का दान दे, उस दान को लेने की आत्मा की पात्रता है; किन्तु राग को या पर को ले – ऐसी पात्रता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। **सम्यग्दर्शनादि भावों का स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला है – ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।** आत्मा अपनी वस्तु किसी अन्य को नहीं देता और अन्य की वस्तु स्वयं नहीं लेता। आत्मा में आहार ग्रहण करने की पात्रता है ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्वयं अपने से दिये जानेवाले निर्मलभाव को ही लेने की पात्रता है – ऐसा कहा है। आहार तो जड़ परमाणुओं से बना है, वह कहीं आत्मा से दिया गया भाव नहीं है और उसे ग्रहण कर सके –

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसी पात्रता आत्मा में नहीं है। आत्मा में ऐसी पात्रता है कि निर्मलभाव ही उसमें रहता है। विकार को या पर को ग्रहण करने की पात्रता प्रगट नहीं हुई; अतः अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले निर्मलभाव को ही वह उपेयरूप से स्वीकार करता है, रागादि को उपेयरूप से अपने में ग्रहण नहीं करता। मैं देनेवाला और दूसरा लेनेवाला अथवा मैं लेनेवाला और दूसरा देनेवाला – ऐसा धर्मी नहीं मानते। मैं ही सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों का देनेवाला और मैं ही लेनेवाला – इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा को ही अपने सम्प्रदान-रूप से जानता है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक संत-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है.....अहो ! इन मोक्ष के साक्षात् साधक संत-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ !! किसप्रकार इनकी सेवा करूँ !! किसप्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ !! – इसप्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है और जहाँ ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारे तथा आहार-दान का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ तो मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे....साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया ! – इसप्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहार देनेवाला साधक मुनि को तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है – उसका यह वर्णन है। उस समय इन दोनों के अन्तर में ऐसा सम्यक् भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहार का देनेवाला या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभावों को ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं। इसप्रकार हमारा आत्मा ही हमारा सम्प्रदान है। ऐसी अन्तर्दृष्टि दाता व पात्र दोनों को वर्तती है – ऐसी अन्तर्दृष्टि बिना मात्र शुभराग से आहारदान दे या ले उसकी मोक्षमार्ग में कोई गिनती नहीं है। महात्मा मुनि और धर्मात्मा सम्यक्त्वी दोनों प्रतिक्षण अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने स्वभाव में से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मलपर्याय का दान देते हैं और स्वयं ही पात्र होकर उसे लेते हैं – ऐसा दान मोक्ष का कारण है और धर्म है। आत्मा पर का या विकार का देनेवाला है – ऐसा जो मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव तो व्यवहार में भी कुपात्र माना जाता है।

मुनियों को या धर्मात्मा श्रावकों को आहारदान देने का भाव तो शुभराग है, वह पुण्यास्रव का कारण है और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि यह चारों भिन्न-भिन्न हैं। सम्यक्त्वी गृहस्थ दाता है, मुनि उत्तम पात्र है, अपनी आहारादि वस्तुओं का देना वह दान है और नवधा भक्ति आदि विधि है और यहाँ आत्मा जो स्वयं ही दान का दाता होकर अपने स्वयं को ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान देता है; स्वयं अपने को अतीन्द्रिय आनन्दरूपी आहार देता है वह धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि – यह चारों अभेद हैं। भगवान आत्मा स्वयं दाता है, उस दाता द्वारा दी जानेवाली रत्नत्रयपर्याय को लेनेवाला पात्र भी स्वयं ही है; देने योग्य जो निर्मलपर्याय वह भी अपने से अभिन्न है और अपने में एकाग्रतारूप विधि द्वारा स्वयं यह दान देता है; इसलिए उसकी विधि भी अपने में ही है। जो आत्मा के ऐसे सम्प्रदानस्वभाव को जान ले उसमें ऐसी पात्रता प्रगट होती है कि अपने स्वभाव के पास से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान लेता है। अपने स्वभाव द्वारा दिया जानेवाला ऐसा दान लेने का ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बाह्य में आहार देने-लेने की क्रिया तो परमाणुओं के परिवर्तन के नियमानुसार होती रहती है और उस-उस समय की भूमिकानुसार उस-उसप्रकार का शुभभाव भी धर्मी को आता है; किन्तु धर्मी अपने को उस राग का या आहार का सम्प्रदान नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों के सम्प्रदानरूप से ही परिणमित होता है और वही धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान बिना आहार की क्रिया को तथा राग को आत्मा का स्वरूप मानकर, शुभभाव से आहार दे तो वहाँ मिथ्यात्वसहित

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्यबन्ध होता है। यहाँ तो उस धर्म की बात है जिससे संसार का अन्त होकर मोक्ष प्राप्त हो। अज्ञानी क्षण-क्षण में (पर्याय-पर्याय में) अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यात्वभाव से विकार को ही प्राप्त करता है; धर्मात्मा ज्ञानी तो अपने स्वभाव को पहिचानकर उसमें से क्षण-क्षण पर्याय-पर्याय में निर्मलभाव को ही लेता है। निर्मलपर्याय देने की तथा उसी को लेने की आत्मा की सम्प्रदान शक्ति है; परवस्तु का कुछ भी लेने या पर को कुछ देने की शक्ति आत्मा के द्रव्यगुणपर्याय में नहीं है तथा राग का देनेवाला या लेनेवाला भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में क्षणिक रागादि होते हैं उन्हीं को ग्रहण करनेवाला जो अपने को माने वह अपने सम्प्रदानस्वभाव को नहीं जानता है। भाई ! तेरा स्वभाव परिणमित होकर तुझे केवलज्ञान प्रदान करे और तू उसे ले – ऐसे सम्प्रदान की शक्तिवाला तेरा आत्मा है। अज्ञानी ने अपने आत्मा को ऐसा माना है कि मानो वह राग का ही पात्र हो। उसे समझाते हैं कि अरे भगवान ! तेरे आत्मा में तो ऐसी शक्ति है कि राग को तोड़कर स्वयं केवलज्ञान का पात्र हो .....तू उसे पहिचान !

जैसे – किसी निर्धन मनुष्य को बड़ा भारी राज्य मिलने का प्रसंग आ जाये और उस समय वह कहे कि 'अरे ! हम तो गरीब आदमी हैं, हममें राज्य लेने या राजा बनने की पात्रता कहाँ से हो सकती है ?" – तो वह पुण्यहीन है और जो पुण्यवान है वह तो तुरन्त स्वीकार करेगा कि हम राजा होने के योग्य हैं; हम अपनी शक्ति से राज्य का संचालन करेंगे। उसीप्रकार यहाँ निर्धन अर्थात् अज्ञानी जीव को आचार्यदेव उसका चैतन्य राज्य प्राप्त होने की बात सुनाते हैं कि 'अरे जीव ! तुझमें केवलज्ञानपद का सम्प्रदान होने की शक्ति है; ज्ञान सम्प्रदान को प्राप्त करके उसे संभालने की तेरी शक्ति है।" वहाँ जो ऐसा कहे कि अरे ! हम तो अज्ञानी पाप में डूबे हुए हैं, हममें केवलज्ञान लेने या परमात्मा होने की पात्रता कहाँ से हो सकती है ?" – तो वह जीव पुरुषार्थहीन है और जो पुरुषार्थवान है, जिसे आत्मा का उल्लास है वह तो इस बात को सुनकर तुरन्त स्वीकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता है कि अहो ! हमारा आत्मा केवलज्ञान के योग्य है, हमारी पर्याय में केवलज्ञान साम्राज्य प्राप्त करने की शक्ति है; हम अपनी शक्ति से केवलज्ञान लेंगे। – इसप्रकार आत्मस्वभाव का विश्वास करके, उसमें लीन होकर धर्मी अपने आत्मा को केवलज्ञानादि सम्प्रदानरूप से परिणमित करता है। समस्त जीवों में ऐसी शक्ति है; जो उसे स्वीकार करता है, उसका तद्रूप परिणमन होता है– "**सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे सो होय**" की भांति।

यह बात तो उस जीव को समझ में आ सकती है जिसे किसी भी प्रकार आत्मा का हित करना है। चाहे जितना उच्च प्रकार का भोजन हो, किन्तु उसे भूख न लगी हो तो उसे वह कैसे भायेगा ? जिसे भूख लगी हो उसको भा सकता है; उसीप्रकार जिसे भव से थककर आत्मा की भूख नहीं लगी है, उसे तो आत्मा के आनन्द की अपूर्व बात सुनने-समझने में भी रसप्रद नहीं लगती; किन्तु जो जीव भवदुःख से थक गया है वह तो अपूर्व रुचि से श्रवण करके अवश्य यह बात समझ जाता है और इसे समझने से उसके भव की थकान उतर जाती है और आत्मा की अपूर्व शांन्ति का अनुभव उसे होता है। जिसे भव से थकान लगी हो आत्मा के सुख की भूख जाग्रत हुई हो, उसकी इस मिष्ठान्न से अनन्तभव की भूख भग जाती है और अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि वह स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है।

प्रश्न – आत्मा दाता होकर क्या देता है ?

उत्तर – जो उसके स्वभाव में हो वही देता है। आत्मा के स्वभाव में कहीं विकार नहीं भरा है कि वह विकार को दे। आत्मा के स्वभाव में तो ज्ञान-आनन्द ही भरा है; इसलिए वह ज्ञान-आनन्द का ही देनेवाला है और आत्मा स्वयं ही उसका लेनेवाला है। सन्त-मुनि आत्मा के उस आनन्द स्वभाव की पहिचान कराते हैं, इसलिए वे संत निमित्तरूप से आनन्ददाता कहे जाते हैं। वीरसेनाचार्य कहते हैं कि इन महान परमागमों द्वारा श्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वज्ञदेव ने जीवों को आनन्द की भेंट दी है...... सर्वज्ञ के शास्त्र में आनन्द की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है; इसलिए कहा है कि भगवान ने ही आनन्द की भेंट दी है। जो भगवान् के कहे हुए शास्त्रों का अन्तर-आशय समझ ले उसे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।

आत्मा को आनन्द की आवश्यकता है। वह आनन्द देने की शक्ति आत्मा में ही है; राग में आनन्द देने की शक्ति नहीं है; वह तो दुःखस्वरूप है। आइस्क्रीम, गुलाबजामुन, चाय, स्त्री, सुगंध आदि में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा के आनन्द को प्राप्त करा सकें। मूढ़ जीवों ने मूर्खता से ही उनमें आनन्द माना है। जो आत्मा के आनन्द को जान ले वह अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मानता और जिसमें आनन्द न माने उसे लेता भी नहीं है। इसप्रकार आत्मा पात्र होकर राग का या पर का लेनेवाला नहीं है; किन्तु अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले आनन्द का ही लेनेवाला है। इसलिए ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान-आनन्दमय ही होते हैं। रागादि सचमुच ज्ञानभाव नहीं हैं, वे तो ज्ञान से भिन्न ज्ञेय हैं; ज्ञानी उनका ज्ञाता है; किन्तु अपने आत्मा को उस राग का सम्प्रदान नहीं बनाता; ज्ञान-आनन्द का ही सम्प्रदान बनाता है, उसी को लेता है; उसीरूप परिणमित होता है। इस प्रकार सम्प्रदानशक्ति से आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि का दाता तथा स्वयं ही उनका ग्रहण करनेवाला पात्र है, अन्य कोई साधन उसका सम्प्रदान नहीं है तथा वह किसी का सम्प्रदान नहीं है। आत्मा की ऐसी शक्ति को जानने से आत्मा समझने में आता है और धर्म होता है।

जैसे – यदि कहीं ब्याज पर रुपये रखना हों तो ऐसी पेढ़ी ढूँढता है जहाँ से रुपये बढ़कर ब्याज सहित वापिस मिल सकें। उसीप्रकार आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान को कहाँ रखें – कहाँ एकाग्र करें कि जिससे उनमें वृद्धि होकर वापिस मिल सकें! "शरीर सो मैं, रागादि सो मैं" – इसप्रकार यह श्रद्धा-ज्ञान को पर में या विकार में रखे तो वे नष्ट हो जाते हैं – मिथ्या हो जाते हैं। अपना चिदानन्दस्वभाव ही ऐसा समर्थ है कि उसमें श्रद्धा-ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को रखने से वे सम्यक् होते हैं और उसके आश्रय से प्रतिक्षण निर्मलता बढ़ती जाती है; इसलिए धर्मी अपने श्रद्धा-ज्ञान पर को समर्पित नहीं करते; किन्तु अपने आत्मा को ही समर्पित करते हैं।

हे जीव! तुझे आनन्द की आवश्यकता हो तो अपने स्वभाव से ही मांग। जो जिसके पास हो वही वह देता है। तेरा आनन्द तेरे स्वभाव के पास ही है; इसलिए वही उसका दाता है; अन्य कहीं तेरा आनन्द नहीं है। आत्मा में एकाग्र होकर अपने पास से ही अपना आनन्द ले। स्वभाव में एकाग्र होने से पर्याय स्वयं आनन्दरूप परिणमित हो जाती है; इसलिए आत्मा ने आनन्द लिया – ऐसा कहा जाता है; किन्तु दाता और ग्रहण करनेवाला पृथक् नहीं है।

आत्मा एक परम महिमावंत पदार्थ है। उसमें ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। अपने से भिन्न पदार्थों का वह मात्र दृष्टा ही है और वे पदार्थ मात्र उसके दृश्य ही हैं; दृष्टा आत्मा उन दृश्य पदार्थों को मात्र देखनेवाला है; किन्तु उनका लेने-देनेवाला नहीं है – जिसप्रकार आँखें बाह्य दृश्यों को मात्र देखनेवाली हैं, उन्हें लेने या देनेवाली नहीं हैं।

अब कहते हैं कि दृष्टा स्वभाव में एकाग्रता द्वारा रागादि की उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिए दृष्टा भगवान रागादि का भी देने या लेनेवाला नहीं है।

दृष्टास्वभाव में एकाग्रता से तो वीतरागी ज्ञान-दर्शन-आनन्द की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए दृष्टा भगवान ज्ञान-दर्शन-आनन्द का ही देनेवाला है और उसी का लेनेवाला है।

इतना रहस्य इस सम्प्रदानशक्ति में भरा है। अनन्तशक्तिसम्पन्न एकस्वरूप आत्मा में एक गुण का या पर्याय का भेद करके लक्ष में लेने से राग का विकल्प होता है और उसमें स्वरूप का दान नहीं मिलता। स्वरूप का दान लेने के लिए स्वरूपसन्मुख होना चाहिए। चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर लीन होने से स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि का दान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिलता है और उस दान का लेनेवाला आत्मा ही है; इसलिए आत्मा स्वयं ही उस स्वरूप हो जाता है। ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्न – आत्मा कहाँ होगा ?

उत्तर – जहाँ से यह प्रश्न उठता है वही आत्मा है। ''आत्मा कहाँ होगा ?'' – ऐसा प्रश्न पूछनेवाला स्वयं ही आत्मा है। आत्मा के बिना यह प्रश्न कौन पूछेगा ? आत्मा की भूमिका में ही यह प्रश्न उठता है।

और ''आत्मा कहाँ होगा ?'' – ऐसा प्रश्न किया; उसी में यह बात आ जाती है कि प्रश्नकर्ता में उसका उत्तर समझने की शक्ति है।

''आत्मा कहाँ होगा ?'' इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि ''यह जो ज्ञाता-दृष्टा है वही आत्मा है'' – और प्रश्नकर्ता को जहाँ से ऐसा प्रश्न लक्ष में आता है उस ज्ञान में ही आत्मा है; इसलिए हे भाई ! तू स्वयं ही आत्मा है; इसलिए अपने ज्ञान में ही आत्मा को ढूँढ। यह शरीर तू नहीं है, शरीर में ढूँढ़ने से आत्मा नहीं मिलेगा। देह तो जड़, रूपी है और दृश्य है, उससे भिन्न आत्मा चेतन, अरूपी और दृष्टा है। देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है; देह संयोगी कृत्रिम वस्तु है आत्मा असंयोगी स्वाभाविक वस्तु है। सबको जाननेवाला ''यह ज्ञाता मैं स्वयं ही हूँ'' – इसप्रकार अपने को नहीं जानता – यह आश्चर्य है। ज्ञाता स्वयं अपने को नहीं जानता, स्वयं अपने को भूल जाता है; यह एक महान मिथ्या भ्रम है और इसी भ्रम के कारण संसार-दुःख है।

एक बार दस मूर्ख एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। रास्ते में एक नदी आई। नदी पार करके दूसरे किनारे पहुँचे। वहाँ एक आदमी बोला कि हममें से कोई डूब तो नहीं गया ? चलो गिनकर देख लें। ऐसा कहकर वह गिनने लगा – ''एक, दो, तीन, चार पाँच, छह, सात, आठ और नौ !'' तुरन्त वह आदमी चौंक पड़ा कि अरे रे ! हममें से एक आदमी डूब गया है! फिर दूसरे मूर्ख ने गिना तो भी नौ हुए – इसप्रकार हर एक मूर्ख ने गिन लिया फिर भी नौ के नौ, क्योंकि गिननेवाला स्वयं अपने को भूल जाता था। सब लोग बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाये ? वे लोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उलझन में थे, उसीसमय एक बुद्धिमान आदमी उधर से निकला; उसने इन मूर्खों की उलझन समझ ली और बोला "भाईयो ! शांत होओ...... धीरज रखो...........तुममें से कोई डूबा नहीं है.........चलो, सब एक पंक्ति बनाकर खड़े हो जाओ.....देखो, यह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और यह दस ! तुम लोग पूरे दस के दस हो। – यह जानकर मूर्खों का भ्रम दूर हो गया और उन्हें शांति हुई। फिर ध्यान आया कि अरे ! हम स्वयं को गिनना भूल जाते थे, इसलिए नौ होते थे और एक आदमी खो जाने का भ्रम हो जाता था। कहा भी है कि "अपने को आप भूल के हैरान हो गया।"

उन दस मूर्खों की भांति अज्ञानी जीव स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर हैरान होते हैं। यह शरीर, यह राग – इसप्रकार लक्ष्य में लेते हैं, किन्तु उन्हें जाननेवाला मैं स्वयं ज्ञायक हूँ – इसप्रकार स्वयं अपने को स्वसंवेदन से लक्ष्य में नहीं लेते; इसलिए रागादि और शरीरादि में ही अपनत्व की भ्रान्ति से वे हैरान होते हैं। ज्ञानी उनका स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि अरे ! जीव तू शांत हो........धैर्य रख.......धैर्यपूर्वक अपने अन्तर में देख..... तेरा स्वरूप तो राग से और देह से अत्यन्त भिन्न ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही है। इसप्रकार अन्तर्मुख होकर आत्मा को जानते ही भ्रम दूर हो जाता है और जीव को आनन्द का अनुभव होता है। उस समय ऐसा लगता है कि अरे ! अभीतक मैं स्वयं के अस्तित्व को भूलकर भ्रम से दुःखी हुआ।

अज्ञानी अपने आत्मा को भूलकर पर में आत्मा ढूँढता है; किन्तु पर में तो आत्मा का अभाव है। यहाँ तो कहते हैं कि राग में भी आत्मा का अभाव है, क्योंकि निर्मलपर्याय ही आत्मा के स्वभाव के साथ अभेद होती है, राग या शरीर के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। राग सम्प्रदान् होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि को धारण कर रखे अथवा आत्मा सम्प्रदान होकर राग को धारण कर रखे – ऐसा नहीं है। उसीप्रकार आत्मा सम्प्रदान होकर आत्मा को धारण कर रखे – ऐसा भी नहीं है। आत्मा सम्प्रदान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर अपनी निर्मलपर्याय को धारण करता है। ऐसे आत्मा को समझे बिना सुख नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को समझना ही जन्म-मरण के दु:खों से छूटकर सुखी होने का उपाय है। ज्ञानियों ने अन्तर का अचिन्त्य मार्ग प्रकट किया है..........अहो ! संतों ने मुक्ति का मार्ग सुगम कर दिया है। संतो की बलिहारी है।

जिसप्रकार तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि को झेलनेवाले उत्कृष्ट पात्र गणधरदेव हैं, उसीप्रकार चैतन्यप्रभु के केवलज्ञानादि निर्मलभावों को झेलने की पात्रता आत्मा में ही है। आत्मा स्वयं ही अपने निर्मलभावों को ग्रहण करनेवाला पात्ररूप सम्प्रदान हैं। आत्मा के धर्म को रहने के लिए रागादिक या शरीर सम्प्रदान नहीं है तथा आत्मा उन रागादिक का सम्प्रदान नहीं है। जिसप्रकार आम्रवृक्ष आम ही देता है, उसमें आक के फल पैदा नहीं हो सकते; क्योंकि आमवृक्ष तो आमों का सम्प्रदान है आक फलों का नहीं; उसीप्रकार आत्मा में एकाग्र होने से आत्मा तो निर्मल पर्यायें ही देता है कहीं विकार नहीं देता; क्योंकि आत्मा में निर्मल पर्यायों का ही सम्प्रदान होने का स्वभाव है; विकार का सम्प्रदान होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार ज्ञान-आनन्दादि समस्त गुणों में ऐसा ही स्वभाव है कि अपने-अपने स्वभाव से निर्मलपर्याय ही देते हैं और उसी को स्वयं ग्रहण करते हैं।

जिस ज्ञान का विकास मात्र परलक्ष्य से ही कार्य करे वह ज्ञान मिथ्या है; वह मिथ्याज्ञान सचमुच ज्ञानस्वभाव ने नहीं दिया है तथा ज्ञानस्वभाव उसका पात्र (लेनेवाला-ग्रहण करनेवाला) भी नहीं है। जो स्वज्ञेय को ग्रहण करके केवलज्ञानादिरूप से परिणमित हो वह सम्यग्ज्ञान है; ऐसा ज्ञान देने और उसी को लेने का आत्मा के ज्ञानगुण का स्वभाव है। वाणी तो जड़ है, उस वाणी द्वारा ज्ञान नहीं दिया जाता ओर न ज्ञान उसे लेता है तथा उस वाणी की ओर के विकल्प द्वारा भी ज्ञान नहीं दिया जाता और न वह ज्ञान उस विकल्प को लेता है। आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञानस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में से ज्ञान देता है और उस निर्मल ज्ञान को ही लेने का ज्ञानगुण का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के साथ ज्ञानस्वभाव का कुछ भी लेन-देन नहीं है। आत्मा के साथ अभेदता करके जो ज्ञान प्रगट हुआ उसी के साथ आत्मा को लेन-देन है, वह ज्ञान स्थिर रहकर केवलज्ञान हो जायेगा। मात्र पराश्रय से वर्तता हुआ ज्ञान आत्मा के साथ स्थिर नहीं रह सकेगा, वह तो नष्ट हो जायेगा। इसलिए हे भाई ! यदि तुझे अपने ज्ञान को टिकाना हो– विकसित करना हो तो उसे आत्मा में समर्पित कर। जिसप्रकार सर्वज्ञ भगवान के निकट जाकर "अर्घं समर्पयामि स्वाहा" करता है, उसीप्रकार इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के निकट जाकर – उसी में अन्तर्मुख होकर "ज्ञानं समर्पयामि स्वाहा" कर, तो तुझे सर्वज्ञता प्रकट हो जायेगी। उस सर्वज्ञता को देना तथा उसे लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरे ज्ञानगुण का स्वभाव है।

ज्ञान की भांति श्रद्धागुण में भी ऐसा स्वभाव है कि सम्यग्दर्शनरूप भाव को दे और स्वयं ही उसे ग्रहण करे-यानि उसका सम्प्रदान हो। किन्तु मिथ्याश्रद्धान को दे या ले – ऐसा श्रद्धागुण का स्वभाव नहीं है। स्वभाव सन्मुख होकर आत्मस्वभाव की श्रद्धा की, उसे देने-लेने का स्वभाव होने से वह आत्मा के साथ सदैव स्थिर रहेगा अर्थात् श्रद्धागुण सदैव सम्यक्त्व पर्याय देता ही रहता है और स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे लेता रहेगा।

इसीप्रकार ज्ञान और श्रद्धा की भांति चारित्रगुण का भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शांतभाव को दे और उसी को स्वयं ग्रहण करे। शांति से विपरीत आकुलता राग-द्वेषरूप भावों को देने या लेने का चारित्रगुण का स्वरूप नहीं है। वे रागादिभाव आत्मा के साथ अभेद होकर स्थिर नहीं रहते और शांत-अरागभाव तो आत्मा में लीनता करके टिकता है।

पुनश्च, आनन्द का भी ऐसा ही स्वभाव है कि स्वयं अपने को आनन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दे तथा स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे ले; किन्तु परवस्तु में से आनन्द ले – ऐसा आनन्दगुण का स्वरूप नहीं है तथा आनन्दगुण का ऐसा भी स्वरूप नहीं है कि वह दुःख दे या ले। दुःख का सम्प्रदान होना उसका स्वभाव ही नहीं है।

इन ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र और आनन्द की भांति पुरुषार्थ आदि समस्त गुणो में समझ लेना चाहिए।

"अहो ! मैं ही दाता होकर अपने आत्मा को सदैव आनन्द देता ही रहूँ तथा मैं ही सम्प्रदान होकर सदैव आनन्द लेता ही रहूँ – ऐसा मेरा स्वभाव है।" – इसप्रकार जहाँ श्रद्धा हुई वहाँ अपने स्वभाव के आनन्द का वेदन हुआ और बाह्य में कहीं भी आनन्द की किंचित्मात्र कल्पना नहीं रही। स्वयं ही दाता होकर अपने को आनन्द दिया और स्वयं ही पात्र होकर अपना आनन्द लिया, इसलिए वह आनन्द सदैव बना रहेगा अर्थात् आत्मा सदैव अपने को आनन्द देता ही रहेगा और स्वयं सदा लेता रहेगा। इसलिए हे जीव ! यदि तुझे आनन्द की आवश्यकता हो तो आनन्ददाता ऐसे अपने आत्मा के ही निकट जा; वहीं से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी; इसके अतिरिक्त जगत में तुझे कहीं से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मा स्वयं ही निर्मल पर्याय का दाता है और स्वयं ही उसका पात्र है; ऐसा आत्मा का सम्प्रदान स्वभाव है। उसे समझाने के लिए यहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र तथा आनन्द गुण की भिन्न भिन्न बात ली है; किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि **एक-एक गुण के भेद के लक्ष से निर्मलता नहीं होती। आत्मा तो एकसाथ अनन्त गुण का पिण्ड है, उसी के लक्ष से समस्त गुणों की निर्मलदशा होती है; एक शक्ति को पृथक् करके उसके लक्ष से विकास करना चाहे तो उसका विकास नहीं होता,** वहाँ किसी गुण की निर्मल दशा प्रदान कर सके। अखण्ड आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है वह अनन्त गुणों से परिपूर्ण परमात्मदशा प्रदान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता है।

अहो! मेरा आत्मा अनन्तानन्त शक्ति का भण्डार अनादि-अनन्त है। वह ऐसा उदार दाता है कि जब मैं पात्र बनकर लेना चाहूँ, उसीसमय परमात्मदशा मुझे दे सकता है। हे जीवो! ऐसे निजस्वभाव की तुम प्रतीति करो..........उसकी पहिचान तो करो......उसके प्रति उल्लास तो प्रगट करो! जिसने ऐसे चैतन्यस्वभाव को लक्ष में लिया उसका जीवन सफल है; दूसरों की तो क्या कहें?

आत्मा स्वयं ही अपने को सुख का दाता है। यदि वह स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला न हो तथा उसे दूसरे से सुख की याचना करना पड़ती हो, तब तो पराधीनता हो गई; पराधीनता में तो स्वप्न में भी सुख कहाँ से हो सकता है? आत्मा स्वाधीनरूप से स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला है और स्वयं ही पात्र होकर लेता है।

(१) "पात्र को दान देना चाहिए" – पात्र कौन है जगत में? मैं आत्मा स्वयं ही अपना सुख लेने का पात्र हूँ।

(२) "दाता है कोई?" हाँ, अनन्तशक्तिसम्पन्न मैं स्वयं ही दाता हूँ।

(३) "दाता दान में क्या-क्या देगा?" – मेरा आत्मा दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप निर्मलपर्यायों का दान देगा।

(४) "किस विधि से दान देगा?" – अपने से ही देगा अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप में एकाग्र रहकर स्वरूप-भण्डार में से ही निर्मल पर्यायें निकाल -निकालकर उनका दान देगा।

दान देने का अवसर आने पर दाता छिपता नही है; उसीप्रकार हे जीव! तेरे लिए यह दान का अवसर आया है, उसे तू मत मुकरना। तू स्वयं पात्र होकर तथा स्वयं ही दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्द की निर्मल पर्यायों का दान अन्तर में एकाग्र होकर दे और सम्प्रदान होकर तू ही वह दान ले। अनन्तशक्ति से परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव जैसा महान दाता मिला है तो अब उसकी सेवा (श्रद्धा और एकाग्रता) करके परमात्मदशा का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान माँगे तो तुझे अपनी परमात्मदशा का दान अवश्य मिल जाये। वह परमात्मदशा लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरा स्वभाव है।

"अपने स्वभाव को साधकर मैं परमात्मा होऊँ," – ऐसी भावना के बदले "मैं समझकर फिर दूसरों को समझा दूँ" – इसप्रकार जो दूसरों को समझाने के अभिप्राय से समझना चाहता है वह पर को अपनी समझ का सम्प्रदान मानता है; इसलिए वह अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को नहीं साध सकता। जो आत्मार्थी हैं वे तो अपने-अपने हित के लिए ही समझना चाहते हैं।

अहो! अनन्तकाल में बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो – ऐसा यह अवसर आया है; उसमें गुरुगम से सत् स्वभाव का श्रवण मिलना तो महान दुर्लभ है। ऐसे अवसर में अपूर्वभाव से श्रवण, ग्रहण तथा धारण करके स्वभाव में प्रवेश करने की यह बात है; वही करने योग्य है। इसके सिवा और सब तो घूरा खोदने के समान व्यर्थ है।

भगवान आत्मा का यथार्थ स्वरूप बतलाने के लिए यह उसकी शक्तियों का वर्णन चल रहा है, उसमें इस (४४ वीं) सम्प्रदानशक्ति में आत्मा को सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का सुपात्र सिद्ध किया। उस सम्यग्दर्शन का दाता भी आत्मा ही है और पात्र होकर उनका लेनेवाला भी वही है। देखो, यह दाता ने सुपात्रदान दिया। अहो! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का दान! इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ दान और कौन होगा? निर्मल ज्ञान-आनन्दमय पर्याय प्रगट हो उसका दाता भी स्वयं और उसे लेनेवाला – पात्र भी स्वयं – ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

वाह! मेरा आत्मा ही महान दाता है और वही महान पात्र है। केवलज्ञान प्रदान करे और उसे ग्रहण करे – ऐसी शक्ति मेरे आत्मा की है। मेरा द्रव्य ही दाता......और द्रव्य ही स्वयं लेनेवाला पात्र। ऐसा निर्णय करके हे जीव! अपने द्रव्य की ओर देख.........तो तुझे आनन्द के निधान का दान मिलेगा।

आहार, औषधि, पुस्तकें या पैसा आदि परवस्तुओं का दाता या उन्हें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ग्रहण करनेवाला आत्मा नहीं है; रागादि विकारभावों को दे या ले – ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो वीतरागी-आनन्द का ही देने-लेने का है। ऐसे स्वभाव को साधनेवाले साधक को कषायों की अत्यन्त मंदता सहज ही हो जाती है; किन्तु उस मंदकषाय के भाव को भी जो देने या लेने का अपना स्वभाव नहीं मानते; स्वभाव के आश्रय से जो अकषायी-वीतरागी भाववाले होते हैं, उन्हीं का दाता एवं पात्र अपना आत्मा है ऐसा साधक धर्मी जानते हैं। त्रिकाल स्वभाव तो राग का सम्प्रदान नहीं है और उस स्वभाव के आश्रय से होनेवाली पर्याय भी राग का सम्प्रदान नहीं होती – इसप्रकार द्रव्य तथा पर्याय से दोनों प्रकार से आत्मा विकार का सम्प्रदान नहीं है; किन्तु वीतरागी भाव का ही सम्प्रदान है। जहाँ शुद्ध द्रव्य का आश्रय किया वहाँ पर्याय में से विकार की योग्यता दूर हो गई और अविकारी आनन्द की योग्यता हुई; वह आनन्द का ही पात्र है। जिस -प्रकार उत्तम वस्तु रखने का पात्र भी उत्तम होता है; सिंहनी का दूध सुवर्ण-पात्र में ही रहता है; उसीप्रकार जगत में महान उत्तम ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द का पात्र भी उत्तम ही है – कौन सा पात्र है ? तो कहते हैं कि आत्म- स्वभावोन्मुख परिणति ही उस आनन्द का पात्र है। आत्मा में ही ऐसी उत्तम पात्र शक्ति (सम्प्रदान शक्ति) है कि स्वयं परिणमित होकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द को स्वयं झेल सके – ग्रहण कर सके।

जिस जीव में ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द झेलने की पात्रता जागृत हो उसमें गुरु के प्रति विशिष्टि प्रकार की विनय भी प्रगट होती है। ज्ञानी के गुरु के प्रति अन्तर से जैसा बहुमान आयेगा वैसा अज्ञानी को नहीं आ सकता। यद्यपि निश्चय से गुरु अपने आत्मा में से ज्ञान या आनन्द निकालकर कहीं शिष्य को नहीं दे देते और शिष्य का आत्मा कहीं अपने ज्ञान या आनन्द गुरु के पास से नहीं ले लेता; गुरु देते हैं और पात्र शिष्य लेता है – यह बात तो व्यवहार की है; तथापि श्रीगुरु के उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझकर जहाँ शिष्य को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हुई वहाँ रोम-रोम में गुरु के प्रति अपार विनय से उसका आत्मा उछल पड़ता है..

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

..निश्चय प्रगट होने से उसका व्यवहार भी लौकोत्तर बन जाता है और श्रीगुरु के अनन्त उपकार को व्यक्त करते हुए कहता है कि अहो प्रभो ! आपने ही इस पामर को आनन्द का दान दिया.... मैं अपने आनन्द को भूलकर अनन्त संसार में भटक रहा था, उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया...घोर भवभ्रमण से आपने ही मुझे बचाया...हे नाथ ! आपके अनन्त उपकार का बदला हम कैसे दें ? – इसप्रकार अपार विनयपूर्वक गुरु के चरणों में अर्पित हो जाता है। निश्चय से साधकदशा में देव-गुरु के प्रति ऐसा विनय आदि का व्यवहार सहज ही होता है। यदि आत्मा में से ऐसी विनय न आये तो उस जीव को निश्चय का परिणमन भी नहीं हुआ है ऐसा समझना चाहिए। गुरु से ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहकर जो गुरु की विनय छोड़ देता है वह महान स्वच्छन्दी है, उसमें आनन्द को झेलने की पात्रता जागृत नहीं हुई है। अहो ! यह तो निश्चय-व्यवहार की संधि सहित अचिन्त्य लोकोत्तम मार्ग है। साधकदशा क्या वस्तु है उसकी लोगों को खबर नहीं है। साधक को तो सभी पक्षों का विवेक वर्तता है। सम्यग्दृष्टि को गणधर जैसा विवेक प्रगट होता है। कहा है कि –

जाके घट प्रगट विवेक गणधर को सो,
हिरदे हरखि महामोह को हरतु है;
साचों सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपुही में आपनो सुभाउ ले धरतु है।
जैसे जलकर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव-अजीव विलछनु करतु है;
आतमसकति साधे ज्ञान को उदौ आराधे;
सोई समकिती भवसागर तरतु है।।

(नाटक समयसार – ८)

देखो, यह साधक सम्यक्त्वी की अद्‌भुत दशा ! जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मा के अनुभव से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आनन्दित होकर मिथ्यात्वादि महामोह को नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुख को सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को अपने में ही धारण करता है; जिसप्रकार कतकफल जल और कीचड़ को पृथक् कर देता है; उसीप्रकार जो जीव और अजीव को विलक्षण जानकर पृथक् करता है, जो आत्मशक्ति को साधता है और ज्ञान के उदय की (केवलज्ञान की) आराधना करता है; ऐसा सम्यक्त्वी जीव भवसागर से पार होता है।

सम्यक्त्वी जीव की यथार्थ पहिचान करे तो जीव का लक्ष बदल जाये और अपने स्वभाव की ओर ढले। सम्यक्त्वी तो अपने स्वभाव को ही साधते हैं। अरे जीव ! तू ही अपना दाता और तू ही अपना पात्र। तू दाता होकर अपनी पर्याय में चाहे जितना दान दे; तथापि तेरी स्वभावशक्ति में कुछ भी कम नहीं होगा – ऐसा तेरा स्वभाव है। ऐसे दाता को छोड़कर अब तुझे बाह्य में कौन-सा दाता ढूँढना है ? इस दाता की ओर देखकर तू उससे निर्मलपर्याय का दान लेने की पात्रता अपने में प्रगट कर....दूसरों के पास भीख न मांग !

दूसरे के पास दान माँगने जाये तो वह नहीं भी देता, किन्तु यहाँ तो तुम स्वयं पात्र हो वहाँ आत्मा सम्यग्दर्शनादि दान दिये बिना नहीं रहता – ऐसा महान दाता है। जब स्वयं ही दाता है तब चिन्ता कैसी ? स्वभाव में एकाग्र होकर तुझे जितना चाहिए दान ले....तुझे जितने ज्ञान-आनन्द की आवश्यकता हो उतने देने की शक्ति तेरे स्वभाव में भरी है। लौकिक में दान देनेवालों की पूंजी तो कम होती है, किन्तु यहाँ तो आत्मा स्वयं ऐसा लोकोत्तर दाता है कि प्रतिक्षण (प्रतिसमय) परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का दान अनन्तकाल तक देता ही रहे; तथापि उसकी पूंजी जरा भी कम नहीं होती।

आत्मा स्वयं पूर्ण शक्तिमान है; स्वयं अपने में लीन होकर अपने स्वभाव में से निर्मलता का दान करता है और स्वयं ही वह दान लेता है; ऐसा दान लेने की पात्रतारूप सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है। जिसप्रकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा में ज्ञानशक्ति है, आनन्दशक्ति है, उसीप्रकार यह सम्प्रदानशक्ति भी है। यदि आत्मा में ज्ञानशक्ति न हो तो आत्मा जानेगा कहाँ से ? यदि आत्मा में सुखशक्ति न हो तो आत्मा को अनाकुलतारूप सुख कहाँ से होगा ? यदि आत्मा में श्रद्धाशक्ति न हो तो स्वयं अपना विश्वास कहाँ से करेगा ? यदि आत्मा में जीवनशक्ति न हो तो आत्मा जी कैसे सकेगा ? यदि उसमें वीर्यशक्ति न हो तो अपने स्वरूप की रचना की सामर्थ्य कहाँ से लायेगा ? यदि प्रभुत्वशक्ति न हो तो अखण्डित प्रतापवाली स्वतंत्रता से किसप्रकार शोभायमान होगा ? यदि उसमें कर्तृत्वशक्ति न हो तो अपने निर्मलकार्य को कैसे करेगा ? उसीप्रकार यदि आत्मा में सम्प्रदान-शक्ति न हो तो स्वयं अपना दाता और स्वयं ही निर्मलता का ग्रहण करने-वाला पात्र कैसे हो सकेगा ? अपने स्वभाव से आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्द का देनेवाला तथा स्वयं ही उसका लेनेवाला है–ऐसे भान बिना परवस्तु के लेन-देन का मिथ्या विकल्प कभी नहीं छूटेगा और अन्तर में एकाग्रता नहीं होगी। "ज्ञानी तो मैं ही दाता और मैं ही अपना पात्र" – ऐसे निर्णय के बल से अंतरस्वभाव में एकाग्र होकर ज्ञान-आनन्द के निधान को प्राप्त कर लेता है। आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि एकसमय में स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है; देने या लेने का समयभेद नहीं है तथा दाता या पात्र पृथक् नहीं हैं। अहो! अपने स्वभाव में से ही केवलज्ञान और सिद्धपद का दान लेने की मेरी शक्ति है – ऐसी प्रतीति करके, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान कभी नहीं किया है; स्व को चूककर पराश्रय द्वारा अनादि से विकार का ही दान लिया है। यदि पात्र होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान ले तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये; इसलिए हे जीव ! अपनी स्वभावशक्ति को सम्हाल .... और उस स्वभाव द्वारा दिये जानेवाले निर्मल ज्ञान-आनन्द का दान ले।

इसप्रकार यहाँ ४४वीं सम्प्रदानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४५. अपादानशक्ति

उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः।

उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय (नाश) होने से हानि को प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति।

यह धर्म की बात है; धर्म के बिना कभी किसी जीव को सुख, शान्ति या मुक्ति नहीं होती। धर्म आत्मा में होता है; आत्मा से भिन्न अन्य किसी पदार्थ में धर्म नहीं होता; इसलिए जिसे धर्म करना हो उसे आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप जानने के लिए उसमें त्रिकाली धर्मों का यह वर्णन चल रहा है; आत्मा के त्रिकाली धर्मों को जानने से उसके आश्रय से मोक्षमार्गरूप धर्म प्रगट होता है।

चैतन्यमात्रभाव से लक्षित आत्मा अनन्तशक्ति का भण्डार है; उसकी कुछ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। अनन्त शक्तियों का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता; वाणी में तो कुछ प्रयोजनभूत शक्तियों का वर्णन आता है। यहाँ ४१ से ४६ तक की छह शक्तियों में कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – इन छह कारकों का वर्णन है; उनमें से चार कारकशक्तियों का वर्णन हो गया है; अब अपादानशक्ति कहते हैं – **उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय-नाश होने पर हानि को प्राप्त न होनेवाली ध्रुवतत्त्वमयी अपादानशक्ति है।"** उत्पाद-व्ययरूप भाव क्षणिक हैं उनका नाश हो जाता है; तथापि आत्मा का ध्रुवस्वभाव कहीं नाश को प्राप्त नहीं होता, वह तो ज्यों का त्यों स्थित रहता है और उस ध्रुव स्थायी भाव में से ही नया-नया कार्य होता है। इसप्रकार **ध्रुवरूप में स्थिर रहकर नया-नया कार्य करने की आत्मा की अपादानशक्ति है।** उत्पाद-व्ययरूप क्षणिकभाव में से नया-नया कार्य नहीं होता, किन्तु ध्रुव स्थायी भावों में से नया-नया कार्य होता है। ऐसे निर्णय में ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मल कार्य ही होता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं हो जाता, वह तो ध्रुव अपादानरूप से स्थित रहकर नई-नई पर्यायरूप होता रहता है। अनन्त पर्यायें नष्ट हो गईं; इसलिए द्रव्य के स्वभाव में से कुछ कम हो गया – ऐसा नहीं है। अज्ञानी को अपने ध्रुवस्वभाव की दृष्टि न होने से उन संयोगों में कमी आने पर मानो मैं कम हो गया अथवा पर्याय का नाश होने पर मानों मेरे आत्मा का नाश हो गया – इसप्रकार भय और आकुलता बनी ही रहती है; इसलिए मृत्यु का भय उसे बना ही रहता है; ज्ञानी तो जानता है कि मेरा मरण नहीं है। मैं तो ध्रुव रहने वाला हूँ; संयोग के कम होने से मेरा कुछ कम नहीं होता और पर्याय का नाश होने से मेरा नाश नहीं हो जाता। संयोग में या नष्ट होती हुई पर्याय से मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं लेता; इसलिए वह कोई मेरा अपादान नहीं है; ध्रुवस्थायी अपने स्वभाव में से ही मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य लेता हूँ; इसलिए मेरा आत्मा ही मेरा अपादान है।

कोई भी संयोग ध्रुव नहीं रहते; विकारीभाव भी ध्रुव नहीं रहते; वे सब बदल जाने पर भी मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ही ध्रुव रहता है; इसलिए मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। मेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव होने से मुझे वही शरणभूत है – ऐसा जानकर धर्मी शुद्ध आत्मा का ही आश्रय करते हैं। शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब अध्रुव होने से अशरण हैं, इसलिए वह आश्रय करने योग्य नहीं है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं –

देहा वा द्रविणानि वा सुख दुःखमेवाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा।।१९३।।

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रुमित्रजन यह कुछ भी जीव के ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। ऐसा होने से मैं अध्रुव शरीरादिक को उपलब्ध नहीं करता अर्थात् उनकी शरण नहीं लेता; अपने शुद्ध आत्मा को ही उपलब्ध करता हूँ – उसी की शरण लेता हूँ। इसप्रकार ध्रुव शुद्ध आत्मा को ध्रुव जानकर उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है और मोह का नाश हो जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो ध्रुव नहीं रहते वे शरणरूप कैसे हो सकते हैं ? और उनके आधार से सुख कैसे होगा ? संयोग और विकार तो अध्रुव हैं; वे अध्रुव शरणभूत कैसे होंगे ? वे किसी जीव को शरणभूत नहीं हैं। ध्रुवरूप तो अपना उपयोगस्वभावी आत्मा ही है; उसका कभी वियोग या नाश नहीं होता, इसलिए वह शरणभूत है तथा उसी की शरण में सुख है। इसलिए समयसार में कहा भी है –

जीवणिबद्धा एदे अध्रुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने आत्मस्वभाव को ध्रुव, शरणरूप, नित्य, सुखरूप और अबन्ध जानकर निर्भयरूप से अपने में एकाग्र होते हैं और पुण्य-पापादि को अपने स्वभाव से भिन्न, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य, दुःखरूप तथा बन्धनरूप जानकर उनसे विमुख होते हैं।

विकार में तथा किसी भी शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि दूसरे क्षण वह ध्रुवरूप से स्थिर रह सके। अरे ! निर्मलपर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ध्रुवरूप से स्थित रहे। वह पर्याय स्वयं ही दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है; उनमें से दूसरी पर्याय नहीं आती। एक पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्य स्वभाव से ध्रुव स्थित रहकर आत्मा स्वयं अन्य-अन्य पर्यायरूप से परिणमित होता है; इसलिए ध्रुव में से पर्याय आती है। ऐसे ध्रुव-अपादान-स्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसकी शरण लेना ही धर्म है।

पुण्य-पाप और शरीर तो नष्ट हो जाते हैं; फिर भी ध्रुवरूप से रहनेवाला एक स्वभाव ही शरण है। विकार का अथवा क्षणिकभाव का नाश होने पर, बौद्ध मान्यताकी भांति आत्मा कहीं सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। क्षणिक भावों का नाश होने पर वह किंचित् हानि को भी प्राप्त नहीं होता – ऐसा एक ध्रुवस्वभाव आत्मा में है। जो उत्पाद-व्यय होता है वह भाव भी आत्मा का ही है और यह ध्रुव, स्थितभाव भी आत्मा का है। एकसाथ उन दोनों भाववाले आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है।

मात्र पर्याय पर ही जिसकी दृष्टि है और ध्रुवभाव पर दृष्टि नहीं है तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे तो आत्मा की क्षणिकता ही भासित होती है; इसलिए वह तो क्षणिक के आश्रय से अशरणरूप वर्तता है, उसे निर्मलता या शांति का अनुभव नहीं होता। यदि अपने ध्रुवस्थायी स्वभाव को जाने तो वह ध्रुव में एकाग्र होकर उसमें से निर्मलपर्यायें निकाले। जिसप्रकार रत्नों की खान से रत्न निकलते हैं; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यरत्न की ध्रुव खान है; इसमें से सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्ररूप रत्न निकलते हैं। विकार की खान खोदे तो उसमें से सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते। अपादानशक्ति के वर्णन द्वारा आचार्य देव तुझे तेरी ध्रुव खान बतलाते हैं ......उसकी गहराई में उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्नों को निकाल। पर्याय तो प्रतिक्षण बदल जाती है, वह बदलता हुआ क्षणिकभाव शरण नहीं देता तथा उसमें से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं होती। क्षणिक पर्यायों का नाश होने पर भी जिसे किंचित् आँच नहीं आती – ऐसा ध्रुवस्वभाव ही सम्यग्दर्शनादि का कारण है और उसी में से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होते हैं। जिसप्रकार कोई स्थिर वस्तु पर दृष्टि लगाये तो वहाँ एकाग्रता हो सकती है; किन्तु अस्थिर वस्तु पर दृष्टि की एकाग्रता नहीं रह सकती। अपने स्वरूप में उपयोग की एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है।

क्षणिक पर्यायें तो उत्पाद-व्यय से आलिंगित हैं; वे कहीं ध्रुव से आलिंगित नहीं है; त्रिकाली द्रव्यस्वभाव ध्रुव से आलिंगित है; उसका उत्पाद या विनाश नहीं होता। नष्ट होनेवाले भाव में से अर्थात् पर्याय में से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ध्रुवस्थायी भाव में से अर्थात् द्रव्य में से धर्म की उत्पत्ति होती है और शुद्ध द्रव्य की ध्रुवता के आश्रय से जो धर्मभाव प्रगट हुआ वह भी ध्रुव के साथ सदैव बना रहता है; यद्यपि उसमें उत्पाद-व्ययरूप परिणमन तो होता ही रहता है; तथापि उसमें बीच में अशुद्धता नहीं आती। इसप्रकार ध्रुवरूप से स्थित रहकर प्रतिक्षण अपनी शुद्धपर्याय का अपादान हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। विकार आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से नहीं निकलता, इसलिए उस विकार का अपादान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवों को प्रश्न होता हैं कि हम धर्म कहाँ से लें ?

उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि – ध्रुव में से धर्म लो ! धर्म की खान तुम्हारा ध्रुव आत्मा ही है; वही धर्म का स्थान है; उसी में से तुम्हारा धर्म आता है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया में से, राग में से बाह्य स्थानों में से या अन्यत्र कहीं से तुम्हारा धर्म नहीं आ सकता।

उत्पाद-व्ययरूप पर्याय तो दूसरे क्षण हानि को प्राप्त हो जाती है – उसका नाश हो जाता है, इसलिए अकेली पर्याय को देखने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता; किन्तु पर्याय का नाश होने पर भी जिसकी हानि नहीं होती, जो ध्रुवरूप से स्थित रहता है – ऐसे स्वभाव को देखने पर आत्मा का यथार्थरूप दिखाई देता है। आत्मा ऐसा अपरिमित शक्ति का भण्डार है कि उसमें से सदैव निर्मल पर्याय लेते ही रहो; तथापि उसमें किंचित् हानि या अपूर्णता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से निकालोगे ? – अपरिमित शक्ति के भण्डार में से क्योंकि द्रव्य-स्वभाव ही अपरिमित शक्ति का भण्डार है, उसका आश्रय करने से पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हो जाती है। इसके अलावा पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि उसमें से सम्यग्दर्शनादि दूसरी पर्याय प्रगट हो।

जिसप्रकार बीता हुआ कल वापिस नहीं आता, किन्तु भविष्य काल वर्तमानरूप होकर आता है; उसीप्रकार बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती, किन्तु त्रिकाली स्थायी द्रव्य ही वर्तमान पर्यायरूप होकर आता है अर्थात् द्रव्य में से ही पर्याय आती है; इसलिए जिसे धर्म करना हो उसे ध्रुवस्वभाव में एकता करके जो पर्याय प्रकट होती है वह पर्याय भी सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्द स्वरूप होती है और वही धर्म है।

आत्मा का ध्रुवस्वभाव ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है; उसमें से विकार नहीं आता; विकार तो पर्याय का क्षणिकभाव है और वह भी पराश्रय से उत्पन्न हुआ भाव है। आत्मा का ध्रुवस्वभाव तो ऐसा है कि उसमें से ज्ञान-आनन्द ही निकलता रहे; चाहे जितना ज्ञान-आनन्द निकालने पर भी वे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

घट नहीं जाते या कम नहीं होते। आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से आनन्द प्रगट करके करोड़ों-अरबों असंख्य वर्षों से उसका उपभोग किया; तब आत्मा में उनका अभाव तो नहीं हो जायेगा ? ऐसी शंका धर्मी को नहीं होती। धर्मी तो अपने ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करके आनन्द के उपभोग में लगे हैं, स्वभाव की दृष्टि में वे निःशंक हैं, उन्हें यह पक्का निर्णय है कि मैं सिद्धदशा में सादि अनन्तकाल तक परिपूर्ण आनन्द का प्रतिसमय उपभोग करूँगा; तथापि मेरे स्वभाव का आनन्द कम नहीं होगा; ऐसी मेरी ध्रुवस्वभाव की अचिन्त्य शक्ति है। अहो ! मेरे द्रव्य में ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है कि प्रतिसमय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे; तथापि अनन्तकाल में भी उसमें किंचित् न्यूनता नहीं आती।

देखो, यह आत्मा की अपादानशक्ति है। इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों बतला दिये हैं। अकेले उत्पाद-व्यय जितना ही आत्मा नहीं है; किन्तु ध्रुवरूप से स्थित रहकर उत्पाद-व्यय करनेवाला है। अपादानशक्ति से आत्मा ऐसा ध्रुव है कि उसमें से जब निर्मलता निकालना हो तब निकल सकती है और जितनी निकलना हो उतनी निकलती है। अनादिकाल से विकार किया; इसलिए ध्रुव में से निर्मलता प्रदान करने की शक्ति का घात हो गया – ऐसा नहीं है; ध्रुवस्वभाव की शक्ति तो ज्यों की त्यों परिपूर्ण वर्त ही रही है; जब अन्तर्मुख होकर उसे ग्रहण करे, तब उसमें से निर्मलता प्रगट होती है और उसमें जितना एकाग्र हो उतनी निर्मलता प्रगट होती है। अपने में से निर्मलता दे-देकर द्रव्य कभी थक जाये अथवा निर्मल पर्याय का देना बन्द कर दे – ऐसा नहीं होता; द्रव्य की शक्ति रंच-मात्र कम नहीं होती। एक पर्याय बदलकर दूसरी, दूसरी बदलकर तीसरी, तीसरी बदलकर चौथी, चौथी बदलकर पाँचवीं – इसप्रकार अनन्तकाल तक ध्रुव में से निर्मल पर्यायें आती ही रहती हैं; तथापि ध्रुवशक्ति का भण्डार किंचित् भी कम नहीं होता। अहो ! ऐसे ध्रुवस्वभाव को जो प्रतीति में ले वह साधक हो जाये और उसे ध्रुव में से निर्मलपर्यायों का ही अटूट प्रवाह चलता रहे। राग में से या पर में से मैं कुछ लाभ लूँ – ऐसी बुद्धि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसे स्वप्न में भी नहीं रहेगी। मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का अपादान (जिसमें से इनकी प्राप्ति होती है वह) मेरा आत्मा ही है, अन्य कोई रागादिक मेरे धर्म का अपादान नहीं है तथा मेरे आत्मा का स्वभाव निर्मल पर्यायों का ही अपादान होना है; रागादि का अपादान होना मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसे स्वभाव के भान में उसमें से रत्नत्रयरूप निर्मलपर्याय प्रगट करके, उस निर्मलपर्याय के अपादानरूप से धर्मी परिणमित होता है। इसप्रकार धर्मी जीव को ज्ञानमात्र परिणमन में "अपादानशक्ति" भी निर्मलरूप से साथ ही उल्लसित होती है; इसलिए "ज्ञानमात्र" होने पर भी भगवान आत्मा को अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित हो रहा है।

कोई जीव अनन्तकाल पूर्व सिद्ध हुए और कोई वर्तमान में सिद्ध हुए। जो पहले सिद्ध हुए उन्हें परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की अनन्तपर्यायें प्रगट हुईं और नष्ट हो गईं; तथापि ध्रुवस्वभाव में किंचित् न्यूनता नहीं आई है; अनन्त काल पूर्व मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध तथा वर्तमान में मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध – दोनों के ध्रुवस्वभाव का सामर्थ्य समान ही है और इस आत्मा में भी उतना ही सामर्थ्य है। जब प्रगट करेगा, तब इस ध्रुवशक्ति में से ही निर्मल पर्याय प्रगट होगी, अन्यत्र कहीं से आनेवाली नहीं है। ऐसी अपादानशक्ति आत्मा में है। परमाणु जड़ है; तथापि उसमें ऐसी अपादानशक्ति है कि अनादिकाल से विविध पर्यायें होने पर भी उसकी ध्रुवशक्ति कम नहीं हुई है कि अब पर्याय न हो। अनन्तकाल तक उसके ध्रुव अपादान में से पर्याय होती ही रहेगी – ऐसी उसमें शक्ति है। किन्तु इस समय परमाणु की बात नहीं है; अभी तो जीव की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। जीव के स्वभाव को जानने से सम्यक्ज्ञान विकसित हो जाता है, वह स्व-पर को यथार्थ जानता है। जीव के स्वभाव को जाने बिना पर का स्वभाव भी नहीं जाना जा सकता; इसलिए जीव के स्वभाव को जानने की ही प्रधानता है। यदि एक भी शक्ति को यथार्थरूप से जान ले तो अखण्ड आत्मस्वभाव लक्ष में आये बिना नहीं रहता; क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शक्ति-शक्तिमान से पृथक् नहीं है। शक्ति और शक्तिमान दोनों की प्रतीति एकसाथ ही होती है। कोई कहे कि आत्मा को तो पहिचान लिया; किन्तु आत्मा की शक्तियाँ प्रतीति में नहीं आयीं तो उसने वास्तव में आत्मा को जाना ही नहीं है। तथा कोई कहे कि हमने आत्मा की शक्ति को तो जान लिया; किन्तु आत्मा को नहीं जाना तो उसने वास्तव में आत्मा की शक्ति को जाना ही नहीं। अनन्त शक्तिमान ऐसे आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना उसकी किसी शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

यद्यपि संसारी जीवों की संख्या इतनी विशाल (अक्षय-अनन्त) है कि उनमें से अनन्त जीव सिद्ध हो जाने पर भी वह संख्या कम होती नहीं; तथापि जितने जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं उतने संसार में से तो कम होते ही हैं। किन्तु आत्मा में तो ऐसी अपादानशक्ति है कि उसमें अनन्तानन्त पर्यायें नष्ट हों; तथापि उसके ध्रुव सामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं होता; ध्रुव अपादान शाश्वत ज्यों का त्यों है, उसमें से पर्यायें परिणमित होती ही रहती हैं। जिसप्रकार लोकव्यवहार में कहा जाता है कि विद्या देने से उसमें वृद्धि होती है; उसीप्रकार यहाँ आत्मा ज्ञानविद्या का ऐसा लोकोत्तर ध्रुव भण्डार है कि उसमें से चाहे जितनी पर्याय में आये; तथापि उसकी शक्ति में किंचित् न्यूनता नहीं आती; उसीप्रकार श्रद्धा गुण में से सम्यग्दर्शन की पर्यायें सादि अनन्तकाल तक प्रगट होती ही रहें; तथापि उसकी शक्ति कम नहीं होती; आनन्दशक्ति में आनन्द का उपभोग करते ही रहो; तथापि उसकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। ऐसे अपने ध्रुव सामर्थ्य की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता से धर्मात्मा निर्मल पर्यायरूप से परिणमित होता ही रहता है। ध्रुव सामर्थ्यवान आत्मा की पहिचान होने पर उसकी दृष्टि से साधक का जहाज मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। जिसप्रकार समुद्र में ध्रुव तारे के लक्ष से जहाज पार हो जाता है; उसीप्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि के ध्येयरूप रखकर साधक आत्मा का जहाज निःशंकरूप से सिद्धपुरी में पहुँच जाता है। शरीर-मन-वाणी,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्य-पाप या पर्याय – इन सबका नाश होने पर भी तेरा स्वभाव ध्रुव है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता और न उसमें से कुछ कम होता है, इसलिए हे जीव ! उस ध्रुव का आश्रय कर और अध्रुव का आश्रय छोड़। ध्रुव के आश्रय से उस स्वभाव में से सदैव ज्ञान-आनन्दमय निर्मलपर्यायें प्रगट होती रहेंगी। इसप्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभाव के विश्वास से ही आत्मा का जहाज संसार-समुद्र से पार होकर मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। अन्य कोई संसार से पार होने का उपाय नहीं है।

आत्मा का स्वभाव ऐसे अपादानरूप है कि उसमें से निर्मलपर्यायों की पूर्ति होती ही रहती है। आत्मा में शुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव है; परन्तु अशुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव नही है। अशुद्धता आत्मा के ध्रुव द्रव्य-गुण के साथ अभेद होती ही नहीं; इसलिए द्रव्य-गुण उसका अपादान नहीं हैं।

यह कर्ता, कर्म आदि सात विभक्तियाँ हैं वे आत्मा के स्वरूप को पर से विभक्त तथा स्व से एकत्व को बतलाती है। कर्ताशक्ति अन्य के कर्तृत्व से भिन्नता बतलाती है, कर्मशक्ति विभावकर्म तथा जड़कर्म से भिन्नता बतलाती है, करणशक्ति अपने स्वभाव को ही साधन बतलाकर अन्य साधनों से भिन्नता बतलाती है, सम्प्रदानशक्ति भिन्न सम्प्रदान का अभाव बतलाती है, अपादानशक्ति अपने से भिन्न अन्य अपादान से पृथक्त्व बतलाती है और संबंधशक्ति पर के आश्रय से रहितपना बतलाकर स्व में एकता कराती है। इसप्रकार आत्मा की यह शक्तियाँ आत्मा को पर से भिन्न बतलाकार स्वभाव में एकता कराती हैं। श्री आचार्यदेव ने समयसार के प्रारम्भ में ही कहा था कि –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेतव्वं।।५।।

जीवों ने जिसे अनादिकाल से नहीं जाना है – ऐसा आत्मा का एकत्वविभक्त्व स्वरूप मैं अपने समस्त आत्मवैभव से दर्शाऊँगा और तुम अपने आत्मवैभव से उसे प्रमाण करना। इसप्रकार आचार्यदेव ने आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को अनेकप्रकार से स्वभाव से एकत्वरूप तथा परभावों से अत्यन्त विभक्त रूप बतलाकार भव्य जीवों पर महान उपकार किया है।

यहाँ आत्मा के ज्ञानादि का अपादान आत्मा स्वयं ही है, आत्मा से भिन्न अन्य कोई अपादान नहीं है – ऐसा कहकर आत्मा का एकत्वविभक्त स्वरूप बतलाया है।

जिसमें से आये उसे अपादान कहा जाता है; ज्ञान कहाँ से आता है?

क्या शरीर में से ज्ञान आता है ? – नहीं; इसलिए शरीर ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या वाणी या शास्त्र में से ज्ञान आता है ? – नहीं; इसलिए वाणी या शास्त्र ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या राग में से ज्ञान आता है ? – नहीं; इसलिए राग ज्ञान का अपादान नहीं है।

आत्मा में से ज्ञान आता है; इसलिए आत्मा ही ज्ञान का अपादान है।

देखो, यह महान स्वामित्व ! अपना ध्रुवस्वभाव ही महान स्वामी है। अन्तर्दृष्टि ने अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभाव का ही स्वामित्व स्वीकार किया है; उसी में से शक्ति की सामर्थ्य प्रगट होती है जो कि सम्यग्दर्शनादि का रक्षण और पोषण करती है। अपने में से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह अपने में से देता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपना महान स्वामी है स्वयं ही अपने योग-क्षेम का कर्ता है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव से हटकर वृत्ति का बाह्य में भटकना वह संसार की खान है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव वह मोक्ष की खान है। इसलिए बाह्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्नता जानकर अपने चिदानन्द ध्रुवस्वभाव में एकता कर, वही धर्म है और वही मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार पर से विभक्त और स्वभाव से एकत्वरूप ऐसा आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का अपादान है – ऐसा इस ४५ वीं शक्ति में बतलाया है।

इसप्रकार यहाँ ४५वीं अपादानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४६. अधिकरणशक्ति

भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः।

अब अधिकरण शक्ति में यह बतलाते हैं कि आत्मा के धर्म का आधार क्या है। ''भाव्यमान भाव के आधारपने अधिकरणशक्ति आत्मा में है;'' इसलिए आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का आधार है; अन्य कोई आधार नहीं है।

प्रश्न – जिसप्रकार लोक में बालक को माता का आधार, शिष्य को गुरु का आधार, प्रजा को राजा का आधार, स्त्री को पति का आधार, रोगी को वैद्य का आधार, छत को स्तम्भ का आधार – इसप्रकार विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा में धर्म का आधार क्या है?

उत्तर – आत्मा में ऐसी अधिकरणशक्ति है कि वह स्वयं ही अपने धर्म का आधार होता है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव वह धर्म है और उस भाव का भवन (परिणमन) आत्मा के ही आधार से होता है; किसी अन्य के आधार से नहीं होता; इसलिए आत्मा ही उसका अधिकरण है।

प्रश्न – आत्मा के सम्यग्दर्शन का आधार कौन है?

उत्तर – अधिकरणशक्ति ही सम्यग्दर्शन का आधार है; परमार्थतः आत्मा स्वयं ही अपने को ज्ञान देता है, इसलिए ज्ञानपर्याय का गुरु आत्मा स्वयं है; स्वयं ही अपना गुरु है; निर्मलपर्यायरूपी जो प्रजा उसका आधार चैतन्यराजा स्वयं ही है। निर्मल परिणतिरूपी जो स्त्री उसे अपने स्वभावरूप चैतन्यपति का ही आधार है; राग-द्वेष-मोहरूपी रोग चैतन्य-स्वभाव के आधार से ही मिटता है; इसलिए आत्मा स्वयं ही अपना वैद्य है और मोक्ष दशारूपी जो छत उसे स्थिर रहने के लिए स्तम्भ भी अपना आत्मा स्वयं ही है; आत्मा के स्वभाव के आधार से ही मोक्षदशा होती है– इसप्रकार अपने भाव का आधार आत्मा स्वयं ही है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरीर-मन-वाणी या राग आत्मा के धर्म का आधार नहीं है तथा आत्मा उन शरीर-मन-वाणी का या राग का आधार नहीं है; वास्तव में आत्मा अपनी निर्मलपर्याय का ही आधार है। जिसने अपने स्वभाव को ही अपना आधार बनाया, उसे स्वभाव के आधार से निर्मलपर्यायें ही होती हैं; स्वभाव के आधार से मलिनपर्याय नहीं होती, इसलिए निर्मलपर्याय का ही आधार होना आत्मा का स्वभाव है; मलिनता का आधार होना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके आधार से दुःख की उत्पत्ति होती ही नहीं; उसके आश्रय से तो आनन्द की ही उत्पत्ति होती है। धर्मी की श्रद्धा में अपने शुद्ध आत्मा का ही आधार है और उसके आधार से उसे निर्मलपर्यायें ही होती रहती हैं।

देखो, आचार्यदेव ने छह शक्तियों में आत्मा का ही छह कारकों रूप से वर्णन किया है। आत्मा ही अपना कर्म, आत्मा ही अपना कर्ता, आत्मा ही अपना करण, आत्मा ही अपना सम्प्रदान, आत्मा ही अपना अपादान और आत्मा ही अपना अधिकरण – इसप्रकार छहों कारण आत्मा से अभिन्नरूप हैं। निमित्तरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल अभाव है और इन स्वभावरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल सद्भाव है। इसप्रकार छह कारकों की छह विभक्तियाँ और एक संबंध विभक्ति–यह सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त बतलाती हैं।

देखो, यह आत्मा के धर्म का आधार बतलाते हैं। "निरोगी शरीर हो, आँख-कान आदि इन्द्रियाँ स्पष्ट हों, पैसा मकान आदि की सुविधा हो तो उसके आधार से धर्म होता है" – ऐसा कोई माने तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि तू मूढ़ है; क्या तेरे आत्मा में तेरे धर्म का आधार हो – ऐसी अधिकरणशक्ति नहीं है जो तुझे दूसरों का आधार लेना पड़े ? भाई, तेरा आत्मा ही तेरे धर्म का आधार है; तेरा असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही तेरे सम्यग्दर्शनादि धर्म का आधार है; इसके सिवा बाह्यक्षेत्र के आधार से तेरा धर्म नहीं है। "अहो ! महाविदेहक्षेत्र में तो धर्म का स्रोत बह रहा है;" – इसप्रकार जहाँ महाविदेहक्षेत्र की बात आये वहाँ मानो उस क्षेत्र के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आधार से ही धर्म होगा – इसप्रकार अज्ञानी की दृष्टि बाह्य में जाती है; किन्तु उस महाविदेहक्षेत्र में विचरनेवाले धर्मात्मा स्वयं तो ऐसा जानते हैं कि हमारा असंख्यप्रदेशी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही हमारे धर्म का आधार है, यह बाह्यक्षेत्र कहीं हमारे धर्म का आधार नहीं है। – ऐसा जानने के पश्चात् व्यवहार से धर्म का बहुमान करने के लिए ऐसा कहा जाता है कि "अहो ! महाविदेहक्षेत्र तो धर्म की भूमि है........उस भूमि के आधार से सीमंधरादि तीर्थंकर तथा लाखों केवली भगवन्त और करोड़ों सन्त साक्षात् विचर रहे हैं।

उसीप्रकार मोक्षगामी सन्तों का स्मरण करने के लिए भक्ति से ऐसा कहा जाता है कि –"अहो ! इस सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र के आधार से तो अनन्त तीर्थंकरों और सन्तों ने मोक्ष प्राप्त किया है....यह तो शाश्वत तीर्थ है और इसका प्रत्येक रजकण पूज्य है।" – ऐसी भक्ति को कब सच्चा व्यवहार कहा जाता है ? जब तीर्थंकर और सन्त चैतन्यस्वभाव को अधिकरण बनाकर जिस भाव से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं उस भाव को जानकर अपने में भी वैसा भाव प्रगट करे। ज्ञानी को ऐसी भावना होती है कि अहो ! ऐसा स्वावलम्बी भाव प्रगट करके पूर्वकाल में अनन्त तीर्थंकरों और सन्तों ने यहाँ से मोक्ष प्राप्त किया है। इसप्रकार इसमें तो स्वावलम्बी भाव की प्रधानता आती है। ऐसे स्वावलम्बी भाव को जाने बिना मात्र बाह्य क्षेत्र को ही अपनी मुक्ति का आधार मानकर उसी का बहुमान करता रहे तो उसे मात्र पुण्यबंध होगा; किन्तु धर्मलाभ नहीं हो सकता। धर्म तो चैतन्यस्वभाव के आधार से ही होता है।

जिसप्रकार लकड़ी के मुलायम टुकड़े पर गहने नहीं गढ़े जाते; उसके लिए तो लोहे की एरन का आधार होना चाहिए; उसीप्रकार शरीर-इन्द्रियाँ या रागादि तो मुलायम हैं उनके आधार से धर्म की गढ़ाई (धर्म का निर्माण) नहीं हो सकती। कठिन चैतन्यघन आत्मस्वभाव के आधार से ही धर्म की गढ़ाई – धर्म का निर्माण होता है।

इन छह कारक शक्तियों के वर्णन द्वारा तो आचार्यदेव ने स्वपर को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकदम विभक्त बतलाकर भेदज्ञान कराया है। आत्मा स्वयं ही अपनी शक्ति से छहकारणरूप होता है; अन्य कारकों की उसे अपेक्षा नहीं है।

निमित्त आत्मा का कर्ता नहीं है।

निमित्त आत्मा का कर्म नहीं है।

निमित्त आत्मा का साधन नहीं है।

निमित्त आत्मा का सम्प्रदान नहीं है।

निमित्त आत्मा का अपादान नहीं है।

निमित्त आत्मा का अधिकरण नहीं है।

आत्मा स्वयं स्वभाव से ही अपने भाव का कर्ता है; स्वयं ही कर्म है, स्वयं ही करण है, स्वयं ही सम्प्रदान है, स्वयं ही अपादान है और स्वयं ही अधिकरण है। अपनी शक्ति से स्वयमेव छह कारकरूप होकर सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन का आधार कौन ?

उत्तर – शरीर, लक्ष्मी या इन्द्रियाँ सम्यग्दर्शन का आधार नहीं हैं, शुभभाव भी उसका आधार नहीं है और मात्र पर्याय का आधार लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; अधिकरणशक्ति से परिणमित आत्मा सम्यग्दर्शन का आधार होता है। सम्यग्दर्शन भाव्यमान भाव है और आत्मा उसका आधार है। धर्मी जीव अपने आत्मस्वभाव को ही आधाररूप से भाता है; अपने स्वभाव का ही आधार लेकर सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित होता है; इसके अतिरिक्त व्यवहार का, राग का या निमित्त का आधार धर्मी नहीं मानते।

एक ओर कहे कि आत्मस्वभाव के आधार से धर्म होता है और फिर कहे कि व्यवहार के, राग के या निमित्त के आधार से भी धर्म होता है तो यह दोनों बात परस्पर विरोधी हैं। आत्मस्वभाव के आधार से ही धर्म होता है – ऐसा जो जानता है, वह व्यवहार-राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता ही नहीं और जो व्यवहार, राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता है, उसने धर्म के सच्चे आधाररूप आत्मस्वभाव को माना ही नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यवहार का-राग का या निमित्त का आधार लेने से तो विकार की ही उत्पत्ति होती है और यदि उसे धर्म का कारण माने तो मिथ्यात्व होता है और आत्मस्वभाव के आधार से निर्मलपर्याय की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए आत्मा ही निर्मल पर्याय का आधार है। यहाँ आधार और आधेय (द्रव्य और पर्याय) दोनों भिन्न नहीं; किन्तु अभेद हैं। जिसप्रकार स्वर्ण के आधार से जितने गहने गढ़ना हों उतने तथा जैसे गढ़ना हों वैसे गढ़ जाते हैं; उसीप्रकार आत्मस्वभाव के आधार से जितनी निर्मल पर्याय करो उतनी तथा जैसी करना हो वैसी होती हैं। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की समस्त निर्मल पर्यायों का आधार होने की शक्ति आत्मस्वभाव में है। आत्मा स्वयं आधाररूप से ध्रुव रहकर अपने ही आधार से सम्यग्दर्शन आदि पर्यायरूप होता है। ऐसा आत्मा ही परम शरणभूत-परम आधारभूत है। जो जीव ऐसे आत्मस्वभाव का आधार लेता है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है और जो जीव आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर पर का आधार लेने जाता है, वह निराधाररूप से संसार में परिभ्रमण करता है।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है; विभाव क्षणिक हैं और संयोग अभाव रूप हैं।

अब, यदि आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर संयोग का आश्रय लेने जाये तो वे संयोग कहीं उसे आधारभूत नहीं होते; मात्र आकुलता और विभाव की उत्पत्ति होती है और यदि संयोग का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसके आधार से निराकुल शान्ति होती है। धर्मात्मा जानता है कि प्रत्येक प्रसंग में और सभी क्षेत्रों में मुझे अपने आत्मा का ही आधार है......महल में या जंगल में मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। देखो, सीताजी धर्मात्मा थीं......जब चरमशरीरी लव और कुश उनके गर्भ में आये तो उनके मन में आकांक्षा जाग्रत हुई कि मैं सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा करूँ और ठीक उसीसमय नगरजनों ने आकर रामचन्द्रजी से लोकापवाद की बात कही। रामचन्द्रजी ने सेनापति को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

बुलाकर आदेश दिया कि – "सीता को सम्मेदशिखर आदि तीर्थों तथा जिनबिम्बों की वंदना कराओ और उनकी इच्छा पूर्ण होने पर फिर सिंहनाद नामक भयानक वन में अकेली छोड़ दो।" सीताजी ने हर्ष सहित भक्तिभाव से तीर्थ वंदना की.....सिंहनाद वन आने पर रथ को रोककर सेनापति एकदम रो उठते हैं....तब सीताजी पूछती हैं –"अरे सेनापति! क्या हो गया तुम्हें ? तीर्थ वन्दना के इस शुभ अवसर पर तुम शोक क्यों कर रहे हो?" सेनापति की आँखों से आँसू बह रहे हैं। वे कहते हैं "हे माता! जिसप्रकार मुनिवर राग परिणति का त्याग कर देते हैं; उसीप्रकार श्री रामचन्द्रजी ने लोकापवाद के भय से आपको वन में अकेली छोड़ देने का आदेश दिया हैं" सेनापति के शब्द कानों में पड़ते ही सीताजी मूर्छित हो गईं....देखो, उस मूर्छा के समय भी धर्मात्मा सीताजी के अंतर में भान है कि चाहे जिस प्रसंग पर अपने धर्म के लिए मुझे अपने आत्मा का ही आधार है फिर सचेत होने पर श्री रामचन्द्रजी को संदेश पहुँचाती हैं कि – "हे सेनापति! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से जैसा मेरा त्याग कर दिया वैसा ही किसी के कहने से जिनधर्म को मत छोड़ना। अज्ञानी लोग तो जिनधर्म की भी निन्दा करेंगे तो उस निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ देना ....! मुनियों एवं अर्जिकाओं को भक्तिपूर्वक आहार दान देना....देखो, ऐसे दुःखद प्रसंग पर भी सीताजी को अंतरस्वभाव के आश्रय से धर्मोल्लास उत्पन्न हुआ है......अन्तर में धर्म के आधारभूत स्वभाव का आश्रय है उसी के आधार से यह उल्लास पैदा हुआ है......... अहो! मैं भले ही वन में अकेली रह गई; किन्तु मेरे अन्तर में धर्म का आधार विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती.....और मेरे राम से कहना कि वे भी धर्म को न छोड़ें। इसप्रकार धर्म को ही शरणभूत जानकर धर्मात्मा उसी का आश्रय लेते हैं। अज्ञानी तो संयोग में और आकुलता में एकाकार होकर अन्तर के आधार को भूल जाते हैं। धर्मात्मा को भी किंचित् आकुलता और शोक हो जाता है; किन्तु वे आत्मा के आधार को भूलकर शोक में या संयोग में एकाकार नहीं हो जाते। संयोग को अपने धर्म का आधार स्वप्न

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में भी नहीं मानते; इसलिए सभी प्रसंगों पर स्वभाव के आधार से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म तो वर्तता ही रहता है। साधारण जीवों के लिए धर्मात्मा के हृदय की पहिचान करना कठिन है।

जहाँ शेर, चीते घूम रहे हैं – ऐसे भयानक वन में सीताजी अकेली बैठी हैं। उदर में लव और कुश जैसे दो चरमशरीरी पुत्र पड़े हैं....शेर, चीतों की दहाड़े सुनाई देती हैं। अरे ! यह शेर आया...चीता आया......! ऐसी आशंका से किंचित् भय भी लगता है; तथापि स्वभाव में तो उस समय भी निःशंक हैं। ''अरे ! मैंने तो अपने चैतन्य का आधार लिया है.......यह जंगल, यह शेर, चीतों की गर्जनाएँ – कोई भी संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है। ऊपर आकाश और नीचे धरती..........भले ही कोई सगे- संबंधी नहीं हैं; किन्तु मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तर में मेरा चिदानन्द स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। देखो, सीताजी कहाँ हैं ? क्या जंगल में हैं ? – नहीं, क्या संकट में है ? – नहीं, अपनी आत्मा में हैं? अन्तर में चैतन्यस्वभाव की शरण लेने से जो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के परिणाम होते हैं, उन्हीं में सीताजी का आत्मा वर्त रहा है। आधारभूत ऐसे अपने स्वभाव की शरण को प्रतिक्षण दृढ़ करती हैं। बाह्य में जो कुछ होना हो सो हो; किन्तु अन्तर में जो चैतन्य का महान आधार है, वह नहीं छूट सकता; उस चैतन्य के आधार से हमें दुःख नहीं; किन्तु आनन्द है। आँखों से आँसू बह रहे हैं; फिर भी भान है कि – मेरा आत्मा इन आँसुओं का आधार नहीं है; किंचित् खेद के परिणाम होते हैं उनका आधार भी आत्मा नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द का ही आधार है। यह स्त्री का शरीर मैं नहीं हूँ; इस भयानक जंगल में या विशाल राजमहल में रहनेवाले हम नहीं हैं। महल हमें शरणभूत थे और जंगल में हम अशरण हो गये – ऐसा नहीं है। अपने आत्मा के सिवा सारा जगत हमारे लिए अशरण ही है।

देखो, यह मात्र ऐसे विकल्प या विचार की बात नहीं है; किन्तु आत्मबल से, चैतन्यस्वभाव के आधार से अन्तर में ऐसे अभिप्राय का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्विकल्प परिणमन हो गया है; वह प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रसंग पर वर्तता ही रहता है; उसकी यह बात है ;चैतन्यस्वभाव के आधार से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान- चारित्ररूप परिणमन हुआ वही धर्म है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों में भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रय से शान्ति मिलती है। सातवें नरक की घोर प्रतिकूलता में पड़े हुए नारकियों में भी कोई-कोई जीव पूर्वकाल की देशनालब्धि के संस्कारों का आधार लेकर अन्तर में अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन करते हैं कि स्वर्ग में मिथ्यादृष्टि देवों को भी उसकी गंध नहीं होती। आत्मा का आधार लिए बिना बाह्य में किसी के आधार से सुख या शान्ति लेना चाहे तो वह तीन काल-तीनलोक में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगों में किसी भी क्षण अपने स्वानुभव की ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है।

आत्मा भाव्यमान भाव का आधार बने – ऐसी आत्मा की शक्ति है। ज्ञानी भावक होकर निर्मलभाव को भाता है और अज्ञानी भावक होकर विकार की भावना करता है। ज्ञानी तो स्वभाव के आधार से निर्मलभाव प्रगट करके उन्हीं के आधार से परिणमित होता है। अज्ञानी अपने आत्मा को विकार का ही आधार मानकर मात्र विकाररूप से परिणमित होता है; निर्मल पर्याय के आधाररूप अपने शुद्धस्वभाव को वह नही जानता; इसलिए बाह्य आधार से निर्मलता प्रगट करना चाहता है यह उसकी बाह्य दृष्टि है। चैतन्य का आधार छोड़कर जो बाह्य में अपना आधार ढूँढ़ता है वह भले ही महान सम्राट हो; तथापि भिखारी ही है; क्योंकि वह दूसरों से अपने ज्ञान-आनन्द की भीख मांगता है और मैं ही अपने आनन्द का आधार हूँ, अपने ज्ञान-आनन्द के लिए मुझे अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं है" – ऐसी स्वभावदृष्टि करनेवाला सम्यक्त्वी कदाचित् नर्क में हो; तथापि वह महान सम्राट है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरीर या राग आत्मा के धर्म का आधार नहीं है; क्योंकि शरीर और राग छूट जाने पर भी सम्यग्दर्शनादि बने रहते हैं; इसलिए वे कोई धर्म के आधार नहीं हैं; तथा आत्मा शरीर का या राग का आधार नहीं है, संसार का आधार भी आत्मा नहीं है; वह तो मोक्ष का ही आधार होता है– ऐसा उसका स्वभाव है।

जिसका जो आधार हो वह उससे अभिन्न होता है; भिन्न नहीं होता। यदि वस्तु में अपना आधार होने की शक्ति न हो तथा भिन्न आधार हो तो अनवस्था दोष आ जाये; आधार की परम्परा कहीं न रुके। जैसे – कोई ऐसा कहे कि – आत्मा का आधार यह शरीर, शरीर का आधार मकान, मकान का आधार ? यह जम्बूद्वीप; जम्बद्वीप का आधार ? मध्यलोक; मध्यलोक का आधार ? लोक और लोक का आधार ? अलोक तो अलोक का आधार कौन होगा ? अलोक से विशाल तो कोई है ही नहीं जिसे उसका आधार कहा जाये। इसलिए अलोक का आधार अलोक ही है, कोई भिन्न आधार नहीं है; तो फिर अलोक की भांति जगत के अन्य पदार्थों को भी निश्चय से अपना-अपना ही आधार है, पर का आधार नहीं है।

समयसार संवर अधिकार गाथा १८१, १८२, १८३ में आकाश का उदाहरण देकर भेदज्ञान की अद्‌भुत बात समझाई है। वहाँ कहते हैं कि –"जब अकेले आकाश को ही लक्ष में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये तब आकाश को अन्य किसी द्रव्य का आधार नहीं कहा जा सकता; इसलिए कोई भिन्न आधार लक्ष में नहीं आता। एक आकाश ही आकाश में है – ऐसा भलीभांति समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को भी पर के साथ आधार-आधेयपना भासित नहीं होता; उसीप्रकार मात्र ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये तो ज्ञान से भिन्न अन्य किसी द्रव्य का आधार दिखाई नहीं देता; एक ज्ञान ही स्वयं अपने में ही है – ऐसा भलीभांति समझ में आता है और ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समझनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न अन्य किन्हीं पदार्थों के साथ अपना आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होने से स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञानरूप ही परिणमित होता है और राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती। यह संवर होने का उपाय है।"

देखो, निरालम्बी आकाश का उदाहरण देकर आत्मा का ज्ञानस्वभाव समझाया है। अहो! समस्त लोक निरालम्बी है। चारों ओर तथा ऊपर-नीचे अनंतानंत अलोकाकाश के मध्य में ३४३ घनराजूप्रमाण यह लोक शाश्वत विद्यमान है। अनंतानंत जीव-पुद्गलों से वह परिपूर्ण है। इस लोक के नीचे कोई आधार नहीं है। किसी ने इसे धारण नहीं कर रखा है; तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर पड़ता। लोक के नीचे बिलकुल रिक्तस्थान ही है तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर पड़ता। ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है। जिसप्रकार लोक ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है; उसीप्रकार लोक के समस्त पदार्थ भी निरालम्बीरूप से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं; उन्हें किसी भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं है। अहा! देखो तो यह वस्तुस्वभाव।

भगवान आत्मा तो अपने स्वभाव के आधार से परिपूर्ण वीतरागी निरालम्बी हो गया है और वहाँ शरीर का स्वभाव भी निरालम्बी हो गया है। किसी भी बाह्यपदार्थ के अवलम्बन बिना भगवान आत्मा परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित हो रहा है। समस्त आत्माओं का ऐसा निरालम्बी स्वभाव है; किन्तु मूढ़-अज्ञानी जीवों को बाह्य अवलम्बन की मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती और वे आत्मा का अवलम्बन नहीं लेते। इसलिए इस अधिकरणशक्ति में आचार्यदेव ने समझाया है कि हे जीव! स्वयं ही अपने धर्म का आधार हो – ऐसी तेरे आत्मा की शक्ति है; इसलिए तू अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन ले.........दूसरों के अवलम्बन की बुद्धि छोड़।

इसप्रकार यहाँ ४६वीं अधिकरणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४७. सम्बन्धशक्ति

स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः।

स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी संबंधशक्ति आत्मा में है। यह भगवान आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया में अनन्तशक्ति से उल्लसित हो रहा है; उसके ज्ञानमात्र भाव में अनन्त धर्म एकसाथ परिणमित हो रहे हैं, इसलिए आत्मा अनेकान्तमूर्ति है। ऐसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा की ४७ शक्तियों का श्री अमृत-चन्द्राचार्यदेव ने अद्‌भुत वर्णन किया है। उनमें से ४६ शक्तियों का भावपूर्ण सरस विवेचन हो चुका है; अब यह अन्तिम सम्बन्धशक्ति की चर्चा है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप जो अपना भाव है, वही आत्मा का स्व-धन है और उसी का आत्मा स्वामी है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा का स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं है। देखो, यह सम्बन्ध-शक्ति! सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ संबंध नहीं बतलाती; किन्तु पर के साथ का संबंध तुड़वाकर स्व में एकता कराती है; इसप्रकार आत्मा के एकत्व-विभक्त्व स्वरूप को बतलाती है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि –

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!

यह एक शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय सदा अरूपी आत्मा ही मैं हूँ; वही मेरा स्व है, इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ-एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। स्वयं अपने आत्मस्वभावभाव की ओर उन्मुख होकर स्व में एकतारूप से परिणमित हुआ, वहाँ किसी भी प द्रव्य के साथ किंचित् संबंध भासित नहीं होता।

ऐसे परसंबंध से रहित शुद्ध आत्मा को देखना ही धर्म है, वही जैनशासन है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं कि – जो पुरुष आत्मा को अबद्ध-स्पृष्ट (अर्थात् कर्मबन्धन रहित तथा सम्बन्ध रहित) अनन्य, अविशेष

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा नियत देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है; जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं.पस्सदि जिणसासणं सव्वं.....''जो यह अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे पाँच भावों स्वरूप आत्मा की अनुभूति है वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है...। देखो, आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि – पर के संबंध रहित शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही जैनधर्म है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव राग के भी संबंध से रहित है। जो जीव अपने आत्मा को कर्म के संबंध से रहित तथा रागादि रहित ऐसे अपने शुद्धस्वभाव को नहीं देखता उसने जिनशासन को नहीं जाना है और उसके आत्मा में जैनधर्म प्रगट नहीं हुआ है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मैं हूँ तथा ज्ञान-दर्शन स्वभाव में एकत्वरूप से तथा अन्य समस्त पदार्थों के विविक्तरूप से अपने आत्मा का अनुभव करना सो जैनधर्म है। ऐसे आत्मा को जाने बिना सचमुच जैनत्व नहीं होता।

इस जगत में मेरा क्या है और किसके साथ मेरा परमार्थ संबंध है? इसके भान बिना, पर को ही अपना मानकर जीव संसार में भटक रहा है। परद्रव्य कभी अपना हो ही नहीं सकता; तथापि पर को अपना मानकर जीव मोह के कारण दु:खी होता है। जो पर को पररूप जाने और स्व को ही स्वरूप से जाने वह नि:शंकरूप से अपने स्वरूप में एकाग्रता से सुखी ही होगा।

दु:ख का मूल परद्रव्य को अपना मानना है। सुख का मूल स्व-पर का भेदज्ञान करना है। कहा भी है –

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा: बद्धा: ये किल केचन।।

जो जीव सिद्ध हुए हैं वे भेदज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं; जो जीव बद्ध हुए हैं वे भेदज्ञान के अभाव से ही बद्ध हुए हैं।

भेदज्ञान का वर्णन चल रहा है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं भी स्वामित्व मानना भेदज्ञान नहीं; किन्तु अज्ञान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी अपने आत्मा को कैसा ध्याते हैं – यह बात प्रवचनसार के अनुसार कहते हैं –

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।१६१।।

"मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं" – इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामित्व संबंध को छोड़कर, "शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ" – इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर एक आत्मा को ही अग्र करता है। ध्येय में चिन्तन को रोकता है....वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्मा होता है।" देखो, धर्मी जीव अपने आत्मा में से परद्रव्य के संबंध को हटा देता है और एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप से ही अपने आत्मा को ध्याता है। "प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; मात्र ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंध ही है; परन्तु अन्य स्वस्वामित्वलक्षणादि संबंध नहीं है; इसलिए मुझे किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।" मोक्षाधिकारी जीव ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा का निर्णय करके सर्व उद्यम से अपने शुद्धात्मा में ही वर्तता है। (देखो, प्रवचनसार गाथा २०० टीका)।

जो जीव पर के साथ कर्ता-कर्मपना, स्व-स्वामिपना आदि संबंध किंचित् भी माने, वह जीव पर का ममत्व छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में प्रवर्तमान नहीं हो सकता, वह तो राग-द्वेष-मोह में ही वर्तता है; वह वास्तव में मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा हूँ; ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही मेरा स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य किसी का मैं स्वामी नहीं हूँ तथा अन्य कोई मेरा स्वामी नहीं है। यह कुटुम्ब- स्त्री-धन-शरीर कोई मेरा स्व नहीं है और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, नियमसार गाथा की टीका में कहते हैं कि – यह स्त्री-पुत्रादिक कोई तेरे सुख-दुःख के भागीदार नहीं होते; यदि तू उन्हें अपना मानेगा तो ठगा जायेगा। ये स्त्री-पुत्रादि कोई वास्तव में इस आत्मा के संबंधी नहीं हैं। तीर्थंकर भगवान आदि आराधक जीव माता के गर्भ में हों उस समय भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपने आत्मा को ऐसा ही मानते हैं; पर के साथ किंचित् संबंध नहीं मानते। समयसार गाथा २०७, २०८ एवं टीका में कहा है –

को णामं भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७
मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

"जो जिसका स्वभाव है वह उसका स्व (धन-सम्पत्ति) है और वह उसका (स्वभाव का) स्वामी है – इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से ज्ञानी अपने आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह नियम से जानता है; इसलिए "यह मेरा स्व नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ" – ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करता।

पुनश्च, ज्ञानी कहते हैं कि – "यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रहण करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो; मैं भी अवश्यमेव उस अजीव का स्वामी होऊँ और अजीव का जो स्वामी वह वास्तव में अजीव ही होता है। इसप्रकार विवश (लाचारी से) भी मुझे अजीवपना आ जायेगा। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझे अजीवपना न हो; मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा; परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करूँगा।

आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त कर ले तो वह भी अपने आत्मा को ऐसा ही जानती है। फिर बड़ी होने पर उसका विवाह हो तब भी अपने अन्तर अभिप्राय में अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा के सिवा अन्य किसी को वह अपना स्वामी नहीं मानती और यदि पति धर्मात्मा हो तो वह भी ऐसा नहीं मानता कि "मैं इस स्त्री का स्वामी हूँ", मैं अपने ज्ञान का ही स्वामी हूँ – ऐसा धर्मी जानता है। पति-पत्नी के रूप में एक-दूसरे के प्रति जो राग है उसे वे अपने दोषरूप मानते हैं और ज्ञायकस्वभाव में उस राग का स्वामित्व भी स्वीकार नहीं करते। हमारे ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट हुए हैं वही हमारा स्व है और उसी के हम स्वामी हैं; – इसप्रकार मात्र अपने स्वभाव में ही स्व-स्वामिपना जानते हैं। इसके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अतिरिक्त शरीर या रागादि के साथ स्व-स्वामिपना नहीं मानते।

आचार्यदेव ने तो कहा है कि – यदि तू अजीव को अपना मानकर उस अजीव का स्वामी बनेगा तो तू अजीव हो जायेगा अर्थात् तेरी श्रद्धा में जीवतत्त्व नहीं रहेगा। इसलिए हे भाई ! यदि तू अपनी श्रद्धा में अपने जीवतत्त्व को जीवित रखना चाहता हो तो अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर उसी का स्वामी बन और अन्य का स्वामित्व छोड़।

प्रश्न – मुनियों ने तो धन-मकान-स्त्री-वस्त्रादि का त्याग कर दिया है इसलिए वे तो उनके स्वामी नहीं हैं; किन्तु हम गृहस्थों के तो वह सब होता है इसलिए हम तो उसके स्वामी हैं न ?

उत्तर – अरे भाई ! क्या मुनि का और तेरा (गृहस्थ का) आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं ? यहाँ आत्मा के स्वभाव की बात है; जगत का कोई भी आत्मा परद्रव्य का स्वामी तो है ही नही। सिद्ध भगवान या संसारी मूढ़ प्राणी; केवली भगवान या अज्ञानी; मुनि या गृहस्थ – किसी का भी आत्मा परद्रव्य का स्वामी नहीं है। अब, चूँकि मुनियों को तो स्त्री-वस्त्रादि का राग छूट गया है और तुझे वह राग नहीं छूटा; इसलिए पहले निर्णय तो कर कि राग होने पर भी आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमूर्ति है; राग का स्वामित्व मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। धर्मी को राग होने पर भी उनके अभिप्राय में ''राग सो मैं'' – ऐसी राग की पकड़ नहीं होती है। चैतन्यस्वभाव को चूककर देहादि पर का स्वामित्व मानना वह तो मिथ्यात्व है ही और शुभाशुभ परिणामों का स्वामित्व भी मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न – शुभाशुभ परिणामों का स्वामी आत्मा नहीं है तो कौन है ?

उत्तर – शुभाशुभ परिणाम आत्मा की पर्याय में होते हैं, उस अपेक्षा से तो आत्मा ही उनका स्वामी है; परन्तु यहाँ तो आत्मा के स्वभाव का, आत्मा की शक्ति का वर्णन चल रहा है। शुभाशुभ परिणाम आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी है; उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले धर्मात्मा शुभाशुभ परिणाम के स्वामी नहीं होते। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वीतरागी परिणाम हुए उन्हीं के स्वामी होते हैं। अज्ञानी को

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिए वही शुभाशुभ परिणाम का स्वामी होकर उनमें एकत्वबुद्धिरूप, मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है।

धर्मी जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनंत गुणों का स्वामी हूँ और वे ही मेरे स्वभाव हैं। मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है कि "मैं विकार का स्वामी होऊँ।" विकार का स्वामी तो विकार होता है, मेरा शुद्धभाव विकार का स्वामी कैसे होगा? मेरे ज्ञायकस्वभाव के साथ एकत्व हुआ जो निर्मल भाव है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही मेरा स्व है और मैं उसका स्वामी हूँ। अपने इस स्व-धन को मैं कभी नहीं छोड़ता। जो मेरा स्व हो वह मुझसे पृथक् कैसे होगा ? स्वभाव में एकाग्र होने पर रागादि तो मुझसे पृथक् हो जाते हैं; इसलिए वे मेरे स्व नहीं हैं।

जो जिसे अपना मानता है वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। जो राग को अपना स्व मानता है वह राग को छोड़ना नहीं चाहता; इसलिए वह राग को अपने स्वभाव से पृथक् नहीं जानता; इसलिए वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। जो ऐसा जाने कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, राग मेरे स्वभाव से भिन्न -भाव है – ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट करे तो फिर उसे जो अल्पराग रहता है वह अस्थिरताजनित चारित्र का दोष कहा जाता है। उसे श्रद्धा में तो ज्ञायकभाव का ही स्वामित्व वर्तता है, राग का स्वामित्व नहीं वर्तता, इसलिए श्रद्धा का दोष छूट गया है। परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता और पर के तथा राग के ही स्वामित्वरूप से परिणमित होता है उसकी तो श्रद्धा ही मिथ्या है और श्रद्धा का दोष अनन्त संसार का कारण है।

प्रश्न – अरहंत एवं सिद्ध भगवान को प्रभु, स्वामी, नाथ क्यों कहा जाता है, जब वे किसी के स्वामी हैं ही नहीं ?

उत्तर – भगवान की और गुरु की भक्ति में भले ही ऐसा कहा जाता है कि हे नाथ! हे जिनेन्द्रदेव! आप ही हमारे स्वामी हैं। किन्तु वास्तव में तो भगवान का आत्मा उनके केवलज्ञान और आनन्द का ही स्वामी है; वह आत्मा कहीं इस आत्मा का स्वामी नहीं है; इस आत्मा के भाव का स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह आत्मा स्वयं ही है; अन्य कोई इस आत्मा का स्वामी नहीं है। यदि ऐसा न जाने और सचमुच भगवान को ही अपना स्वामी मान ले तो उसने अपने आत्मा को पराधीन माना है, अपनी भांति समस्त आत्माओं को भी पराधीन स्वभावी माना है; इसलिए भगवान के आत्मा को भी उसने पराधीन माना है...उसने न तो भगवान को पहिचाना है और न उनकी भक्ति करना ही जानता है।

भगवान की सच्ची भक्ति करनेवाला जीव तो जो कुछ भगवान ने किया वही स्वयं करना चाहता है। हे भगवान सर्वज्ञदेव ! आपने अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर पर का ममत्व छोड़ दिया और परमात्मा बन गये। मेरा आत्मा भी आप जैसा ज्ञायकस्वभावी ही है – इसप्रकार जो जीव भगवान जैसे अपने आत्मा को पहिचाने, वही भगवान का सच्चा भक्त है; उसी ने भगवान को पहिचानकर उनकी भक्ति की है। ऐसी परमार्थ भक्ति सहित भगवान के बहुमान का उल्लास आने पर कहता है कि "हे नाथ ! आप ही मेरे स्वामी हैं; आपने ही मुझे आत्मा दिया है.......... " धर्मी ऐसा बोलते हैं, वह कही मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु यथार्थ विनय का व्यवहार है। धर्मात्मा के अंतर अभिप्राय को न समझ कर अकेली भाषा को पकड़े तो वह बाह्यदृष्टि जीव धर्मात्मा को जानता ही नहीं; वह जड़भाषा को तथा शरीर को जानता है; किन्तु ज्ञानी के चैतन्यभाव को नहीं जानता।

देखो, श्री रामचन्द्रजी ज्ञानी-धर्मात्मा थे; उसी भव में मोक्षगामी थे। रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मणजी वासुदेव। दोनों भाईयों में परस्पर इतना अपार प्रेम था कि "रामचन्द्रजी का स्वर्गवास हो गया" – इतने से शब्द कानों में पड़ते ही "हाय राम !" कहते हुए लक्ष्मण के प्राण-पखेरु उड़ गये। फिर रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के मृत शरीर को लेकर छह महीने तक फिरते रहे......अनेकप्रकार से विलाप और प्रलाप करते थे कि – भाई ! कबतक सोते रहोगे ? अब तो उठो, सबेरा हो गया है....जिनेन्द्र भगवान की पूजा का समय जा रहा है.......जल्दी उठो ! लक्ष्मणजी के शरीर (शव) को कन्धे पर रखकर घूमते हैं.....तथापि रामचन्द्रजी उनके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साथ किंचित् भी संबंध नहीं मानते थे। स्वभाव के साथ स्व-स्वामी संबंध के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ अंशमात्र भी संबंध नहीं मानते थे। किन्तु बाहर से देखनेवाले अज्ञानी जीव धर्मात्मा को ऐसी अन्तर्दृष्टि से देखने की दृष्टि कहाँ से पा सकते हैं ? छह-छह महीने तक उपरोक्तानुसार चेष्टाएँ करते हैं; तथापि उस समय भी लक्ष्मणजी के साथ या उनकी ओर के राग के साथ रामचन्द्रजी स्व-स्वामी संबंध नहीं मानते; उससमय भी अपने ज्ञायक-स्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वर्तते हैं, उन्हीं के स्वामीरूप से परिणमित होते हैं। धर्मात्मा के हृदय की थाह लेना अज्ञानी के लिए कठिन है।

प्रश्न – यदि रामचन्द्रजी लक्ष्मण के साथ किंचित् संबंध न मानते हों तो छह महीने तक उनके शव को लेकर क्यों फिरते रहे ?

उत्तर – अरे भैया ! ज्ञानी निरन्तर अन्तरंग में विवेकसहित हैं। तू रामचन्द्रजी के आत्मा को नहीं देखता; इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि रामचन्द्रजी छह महीने तक शव को लेकर घूमते रहे। किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने अपने आत्मा में राग को या लक्ष्मणजी को एक क्षणमात्र भी नहीं उठाया है; चिदानन्दस्वभाव का स्वामित्व छोड़कर एकक्षण भी राग के या पर के स्वामी नहीं हुए हैं। अपने इस शरीर का स्वामी भी वे स्वयं को नहीं मानते। कंधे पर मुर्दा रखा है, उस समय भी आत्मा में सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों को ही उठाया है – उन्ही का स्वामित्व वर्तता है। वर्तमान में जो कुछ दोष हैं, वह श्रद्धा-ज्ञान का दोष नहीं है; चारित्र की कमजोरी का दोष है। उसे हटाना चाहता है; अतः वह दोष गौण है।

देखो, वेदान्त ऐसा कहता है कि "करे तथापि अकर्ता रहता है (अनासक्ति से करता है)" अरे ! ऐसी यह बात नहीं है; उसमें और इस बात में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। करना फिर भी अकर्ता रहना यह बात ही परस्पर विरुद्ध है। जो करता है वह कर्ता ही है; रागादि का कर्ता भी हो और ज्ञाता भी रहे – ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो ऐसी अन्तर्दृष्टि की अपूर्व बात है कि मुझे अपने ज्ञायकस्वभाव के साथ ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्व-स्वामित्व संबंध है; पर के साथ मुझे संबंध है ही नहीं – ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणमित होनेवाला जीव सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों के साथ ही एकत्वरूप से परिणमित होता है; रागादि के साथ एकत्वरूप से परिणमित होकर कर्ता नहीं होता; इसलिए वह अकर्ता है। जो आत्मा के ऐसे स्वभाव को पहिचाने उस धर्मात्मा को देव-गुरु-शास्त्र का तथा अपने गुण-दोष आदि का यथार्थ विवेक हो जाये, उसे कहीं स्वच्छन्दता या उलझन न हो। धर्मात्मा की दशा बदल जाती है। बाहर से देखनेवाले जीव उसे नहीं जान सकते।

देखो, जब रावण सीता का हरण करके ले जाता है और रामचन्द्रजी उनकी खोज में निकलते हैं उस समय वे वृक्षों और पर्वतों से भी पूछते हैं कि हे वृक्ष! तुमने मेरी सीता को देखा है? हे पर्वत! तुमने कहीं जानकी को देखा है? देखी हो तो मुझसे कहो। और उस समय अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि से उन्हें ऐसा लगता है कि पर्वत ने उत्तर दिया है। ऐसी दशा के समय भी रामचन्द्रजी ज्ञानी-विवेकी-धर्मात्मा हैं; अन्तर्दृष्टि में सीता का या सीता के प्रति राग का स्वामित्व नहीं मानते; किन्तु ज्ञान के ही स्वामीरूप से परिणमित होते हैं। यद्यपि ऐसे उपयोग में निरन्तर नहीं रहते; किन्तु ऐसा परिणमन तो निरन्तर है ही।

मेरे आत्मा की संबंधशक्ति ऐसी है कि निर्मलभाव ही मेरा स्व है और उसका मैं स्वामी हूँ; किन्तु सीता मेरा स्व और मैं उसका स्वामी – ऐसा संबंध मेरे स्वभाव में नहीं है। ऐसा वे जानते हैं। अज्ञानी को स्त्री आदि का वियोग होने पर कदाचित् वह खेद न करे और शुभराग से सहन कर ले, किन्तु उसके अभिप्राय में ऐसा है कि "यह राग मेरा स्व और मैं उसका स्वामी" अथवा "स्त्री मेरी थी और वह चली गई; फिर भी मैंने सहन कर लिया" – इसप्रकार उसका अभिप्राय ही मिथ्या है; उसके अभिप्राय में अनन्त राग और स्त्री का अनन्त स्वामित्व पड़ा है। ज्ञानी को शोक परिणाम हों उस समय भी "मैं ज्ञायक हूँ" – ऐसी दृष्टि नहीं छूटती; इसलिए सारे जगत का और विकार का स्वामित्व उसे छूट गया है। स्वभाव से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह "स्व" और आत्मा स्वयं उसका स्वामी – इस-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकार अन्तिम संबंधशक्ति में द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाकर आचार्यदेव ने ४७ शक्तियाँ पूर्ण की हैं। स्वयं अपने स्वभाव के साथ संबंध रखकर स्वभाव के साथ एकतारूप से परिणमित हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव है और उसी में आत्मा की शोभा है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव में एकता करके सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित हो उसमें आत्मा की शोभा है; परन्तु पर के संबंध से आत्मा को बतलाना उसमें आत्मा की शोभा नहीं है। इसलिए हे जीव! पर का संबंध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में ही एकत्व कर! ज्ञायकस्वभाव में एकता करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए वह तेरा स्व-स्वभाव है और तू ही उसका स्वामी है, इसके अलावा अन्य किसी के साथ तुझे स्व-स्वामी संबंध नहीं है।

इसप्रकार यह संबंधशक्ति अपने स्वभाव के साथ ही संबंध (एकता) कराके पर के साथ का संबंध छुड़वाती है और स्वभाव के साथ एकता करके पर के साथ का संबंध तोड़ने पर विकार के साथ का संबंध भी छूट जाता है। इसप्रकार अकेले शुद्धभाव के साथ ही स्व-स्वामिपना है, विकार के साथ स्व-स्वामिपना नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ वहाँ आत्मा स्वयं ही अपने शुद्धभाव का ही स्वामी है। अज्ञानी जीव ने अपने स्वभाव के साथ एकतारूप से संबंध करके अभी तक उसका स्वामित्व कभी नहीं किया है, पर का स्वामित्व माना है। यदि इस "स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वरूप संबंधशक्ति" को जाने तो पर के साथ संबंध तोड़ दे और स्वभाव में एकता रूप स्व-स्वामित्व संबंध बनाये।

आत्मा को स्वभाव से तो मात्र अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व का संबंध है। यदि ऐसा न हो और पर के साथ भी संबंध हो तो पर के साथ का संबंध तोड़कर, स्वभाव में एकता करके शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। पर से पृथक् होकर अपने स्वरूप में लीन नहीं हो सकता; परन्तु पर से विभक्त और स्वरूप में एकत्व होकर आत्मा अपने में ही अपनी शान्ति का वेदन कर सकता है; क्योंकि उसे अपने साथ ही स्व-स्वामिपने का संबंध है। अपनी शान्ति के वेदन के लिए आत्मा को पर का संबंध नहीं करना पड़ता। नित्य स्वशक्ति के बल से, पर के संबंध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बिना मात्र स्व में एकता द्वारा आत्मा अपनी शांति का अनुभव करता है।

स्व में एकत्व और पर से विभक्त ऐसा आत्मा का स्वभाव है; छह कारक और एक संबंध – इन सातों विभक्तियों द्वारा आचार्यदेव ने आत्मा को पर से विभक्त बतलाया है। संबंधशक्ति भी आत्मा का पर के साथ संबंध नहीं बतलाती; किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी संबंध बतलाकर पर के साथ का संबंध तुड़वाती है; इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। जिसने सब से विभक्त आत्मा को जाना उसने समस्त विभक्तियों को जान लिया।

पर के संबंध को जानने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता। करोड़पति, लक्ष्मीपति, पृथ्वीपति, भूपति, स्त्री का पति – इत्यादि कहे जाते हैं; किन्तु वास्तव में आत्मा उस लक्ष्मी, पृथ्वी या स्त्री आदि का स्वामी नहीं है; इस शरीर का स्वामी भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप स्वभावों का ही स्वामी है और वही आत्मा का "स्व" है। स्व तो उसे कहा जाता है जो सदैव साथ रहे, कभी अपने से पृथक् न हो। शरीर पृथक् हो जाता है, राग पृथक् हो जाता है; किन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द आत्मा से पृथक् नहीं होते; इसलिए उनके साथ ही आत्मा को स्व-स्वामी संबंध है।

आत्मा तो अपने ज्ञायकस्वभाव का ही स्वामी है और वही उसका स्व है; उस ज्ञायकस्वभाव से आत्मा को जानने में ही उसकी शोभा है।

इन्द्रियादि पर के साथ का संबंध तोड़कर ऐसे आत्मा का अनुभव करे, तब उसे सर्वज्ञ भगवान की निश्चय स्तुति कही जाती है। सर्वज्ञ भगवान की निश्चय स्तुति का संबंध सर्वज्ञ के साथ नहीं है; किन्तु अपने आत्मस्वभाव के साथ ही है। जबतक सर्वज्ञ पर ही लक्ष रहे और अपने आत्मस्वभाव में लक्ष न करे, तबतक सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति नहीं होती। अपना आत्मा ही सर्वज्ञशक्ति से परिपूर्ण है – ऐसा प्रतीति में लेकर स्वभाव के साथ जितनी एकता करे उतनी सर्वज्ञ भगवान की निश्चय स्तुति है और सर्वज्ञ की ओर बहुमान का भाव रहे वह व्यवहार स्तुति है।

प्रश्न – जिसप्रकार पुत्र का माता के साथ संबंध है, स्त्री का पति के साथ संबंध है, उसीप्रकार धर्म का संबंध किसके साथ है ?

धर्म का संबंध किसी अन्य के साथ नहीं; किन्तु अपने धर्मी आत्मा के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साथ ही धर्म का संबंध है।

प्रश्न — क्या भगवान के आत्मा के साथ भी इस आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है ?

उत्तर — नहीं, आत्मा का संबंध धर्मी के रूप में मात्र अपने ही आत्मा के साथ है, अन्य किसी के भी साथ नहीं है।

किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावों के साथ इस आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है; वे कोई इस आत्मा का स्व नहीं हैं और न यह आत्मा उनका स्वामी है। इस आत्मा के धर्म का संबंध अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव के साथ ही है। असंख्यप्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र है; स्वभाव में अभेद हुई स्व-परिणति ही धर्म का काल है और ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त गुण ही आत्मा के धर्म का भाव है। ऐसे स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल एवं स्वभाव के साथ ही आत्मा के धर्म का संबंध है और उसी के साथ आत्मा का स्व-स्वामीपना है।

प्रश्न — आत्मा का संबंध अन्य पदार्थों के साथ भले ही न हो; किन्तु कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो है न ?

उत्तर — नहीं; अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व संबंध जानकर, जो उसी में एकतारूप से परिणत हुआ वह कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध की ओर दृष्टि नहीं करता। जो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध की दृष्टि नहीं छोड़ता वह मिथ्यादृष्टि है। जो आत्मा को एकान्त से कर्म के साथ संबंधवाला ही जाने वह जीव आत्मा के शुद्धस्वरूप को नहीं जानता। जहाँ मात्र अपने स्वभाव के साथ ही एकता करके मात्र अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामी संबंधरूप से परिणमित होता है, वहाँ कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी कहाँ रहा ? — इसप्रकार कर्म के साथ आत्मा का संबंध नहीं है। साधक को ज्यों-ज्यों अपने स्वभाव में एकता होती है, त्यों-त्यों कर्म का संबंध टूटता जाता है। इसप्रकार संबंधशक्ति स्वभाव के साथ संबंध कराके कर्म के साथ का संबंध तुड़वाती है।

इसप्रकार यहाँ ४७ वीं संबंधशक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ❖ ❖ ❖

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपसंहार

हे भव्य ! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और संबंध – इन सात विभक्तियों के वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त बतलाया; इसलिए अब तू अपने आत्मा को सबसे विभक्त तथा अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियों के साथ संयुक्त जानकर प्रसन्न हो.....स्वभाव का ही स्वामी बनकर पर के साथ संबंध के मोह को छोड़ !

–स्वभाव का कर्ता होकर पर के साथ कर्ताबुद्धि को छोड़ !

–स्वभाव के ही कर्मरूप होकर दूसरे कर्म की बुद्धि छोड़ !

–स्वभाव को ही साधन बनाकर अन्य साधन की आशा छोड़ !

–स्वभाव को सम्प्रदान बनाकर अपने को निर्मलभाव प्रदान कर !

–स्वभाव को ही अपादान बनाकर उसमें से निर्मलता ले !

–स्वभाव को ही अधिकरण बनाकर उसके साथ एकता का संबंध कर और पर के साथ का संबंध छोड़।

इसप्रकार समस्त पर से विभक्त और निज-स्वभाव से संयुक्त ऐसे अपने आतमराम को जानकर उसके अनुभव से तू आनन्दित हो।

गणधरतुल्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा श्री समयसार के परिशिष्ट में वर्णित "अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों" पर अध्यात्ममूर्ति सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों द्वारा किया गया अद्भुत विवेचन समाप्त हुआ।

'पूर्वकथित चिति, दृशि, ज्ञान, सुख आदि अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है; तथापि वह ज्ञानमात्रता को नहीं छोड़ता' – इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु।।२६४।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकार्थ – (**इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः अपि**) इत्यादि (पूर्व कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से भलीभांति परिपूर्ण होने पर भी (**यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति**) जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता (**तद्**) ऐसा वह, (**एवं क्रम-अक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रम्**) पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप से वर्तमान विवर्त से (रूपान्तर से, परिणमन से) अनेकप्रकार का (द्रव्य-पर्ययमयं) द्रव्य पर्यायमय (**चिद्**) चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्यभाव आत्मा) (**इह**) इस लोक में (**वस्तु अस्ति**) वस्तु है।

भावार्थ – कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है; इसलिए वह एक स्वरूप ही होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी एक वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेकप्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है; फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारणभाव है उसे नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।

कलश २६४ पर प्रवचन

भगवान आत्मा शक्कर में मिठास की भांति निज शक्तियों से भलीभांति भरपूर है। अहा.........! चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अनन्तशक्तिमय है। आत्मा और शक्तियाँ अभेद-एकरूप हैं। अनन्त गुणों एवं शक्तियों से भरा होने पर भी भगवान आत्मा ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता। जिसमें अक्रम वर्तते गुणों एवं क्रम से वर्तती पर्यायों में ज्ञान व्यापक है – ऐसा चैतन्य भावमय है भगवान आत्मा। देखो! यहाँ आत्मा में अक्रम वर्तते गुण व क्रम से वर्तती पर्यायें कहकर प्रमाणज्ञान सिद्ध किया है। प्रत्येक गुण-पर्याय में ज्ञान व्यापक है। इसी से इसे ज्ञानमात्र आत्मा कहा है।

अहाहा...........! शिष्य पूछता है कि आत्मा कैसा है ? आचार्य कहते हैं – आत्मा अनन्त शक्तियों से भरपूर ज्ञानमात्रवस्तु आत्मा है, विकार व कर्मों से भरा नहीं है। वह इनसे भिन्न शुद्ध चैतन्यवस्तु है। अहा......!

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विकार और पर से जुदा यह चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञानमात्रमयपने को कभी छोड़ता नहीं है। जिसतरह अग्नि कभी उष्णता को नहीं छोड़ती; उसीतरह पर से व विकार से भिन्न शुद्ध चैतन्यवस्तु अपने ज्ञानमात्रपने को कभी नहीं छोड़ती। इसलिए हे भाई! ज्ञानभाव से तू अपने आत्मा को लक्ष्य में लेकर उसका अनुभव कर।

अहाहा..........! अन्तर्मुख होकर ज्ञानभाव से जिसने निज चैतन्यवस्तु का अनुभव किया, वह ज्ञानी-धर्मी है। वह ज्ञानभावपने से ही सदा वर्तता है। वह ज्ञानभावमयपने से ही सदा वर्तता है। वह ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता। ऐसा साधक पुरुष यह जानता है कि – मेरा आत्मा सहज ही क्रमपर्यायरूप और अक्रमगुणरूप स्वभाववाला है। अनन्तगुण एकसाथ अक्रमपने वस्तु में तिर्यक्प्रचयरूप रहते हैं तथा पर्यायें नियत क्रमपने अर्द्धप्रचयरूप होती हैं। अहा ....! अक्रमवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों में मैं सदा ज्ञानमात्रभावपने से वर्तता हूँ – ऐसे निर्णय में ज्ञानी को ज्ञाता-स्वभाव के आलम्बन का पुरुषार्थ वर्तता है। जो किंचित् है, उसे ज्ञानी ज्ञानभाव से बाहर परज्ञेयरूप से ही जानता है।

बस, इसतरह ज्ञानमात्रभावपने ही परिणमता हुआ साधक साध्य (सिद्धपद) की ओर बढ़ता चला जाता है।

कलश २६४ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एक स्वरूप ही है; परन्तु वह द्रव्यपर्यायमय है – ऐसा जानना। वस्तु जैसी है वैसी ही अनेकान्तस्वरूप मानना।

प्रश्न – समयसार की छठवीं गाथा में तो आत्मा के प्रमत्त-अप्रमत्तपने का निषेध किया है?

उत्तर – हाँ, वहाँ बात ही जुदी है। वहाँ तो दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को एक ज्ञायकमात्ररूप से बताने का प्रयोजन है और यहाँ दृष्टि व दृष्टि का विषय – दोनों मिलकर एक चैतन्यवस्तु आत्मा – ऐसा प्रमाणज्ञान कराया है; इसलिए कहते हैं कि – चैतन्य भी वस्तु है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और वह द्रव्य-पर्याय मय है। इसमें यहाँ निर्मलपर्याय की बात है। अशुद्धता तो शक्ति का परिणमन नहीं है।

देखो, कहा है न! आत्मा अनन्त शक्तियों से भरपूर है। अपने ज्ञान उपयोग को अन्तर्मुख करने पर वह अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा अनुभव में आता है तथा साथ ही शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं, परिणमती हैं। इसतरह निर्मल परिणमते हुए जब केवलज्ञान हो जाता है। तब अनन्तशक्तियाँ तथा अनन्त प्रदेशों को भिन्न-भिन्न करके प्रत्यक्ष जानता है; इसलिए हे भाई! तेरी चैतन्यसम्पदा साक्षात् देखनी हो तो तू अपने ज्ञानोपयोग को राग से मुक्त करके अपने अन्तर में स्वभावसन्मुख कर दे। स्वभाव में अन्तर्लीन होकर जानते हुए अनन्त चैतन्यसम्पदा साक्षात् ज्ञात हो जायेगी। ❖

'इस अनेकस्वरूप-अनेकान्तमय-वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं' – इस आशय का, स्याद्वाद का फल बतानेवाला काव्य कहते हैं –

(वसंततिलका)

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु–
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयन्तः॥२६५॥

श्लोकार्थ – (**इति वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिम् नैकान्त-संगत-दृशा स्वयमेव प्रविलोकयन्तः**) ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त-संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत, अनेकान्त के साथ मेल वाली) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए, (**स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य**) स्याद्वाद की अन्यन्त शुद्धि को जानकर, (**जिन-नीतिम् अलंघयन्तः**) जिन नीति का (जिनेश्वरदेव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए (**सन्तः ज्ञानीभवन्ति**) सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ – जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगतदृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके जिनदेव के मार्ग का – स्याद्वादन्याय का उल्लंघन न करते हुए ज्ञानस्वरूप होते हैं।२६५।

कलश २६५ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

धर्मी सत्पुरुष स्वयं ही अपने ज्ञान की निर्मलदशा में अनेकान्तमय आत्मवस्तु को स्याद्वाद की नीति का उल्लंघन न करते हुए सुसंगत दृष्टि से देखता है, जानता है।

यहाँ स्याद्वादी जैननीति का अर्थ यह है कि वस्तु नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्, तत्-अतत् इत्यादि प्रकार से वह जैसी है वैसी स्वीकार करके अर्थात् उसके ज्ञान में एवं कथन में जहाँ जो अपेक्षाएँ लगती हैं, उन सब दृष्टिकोणों से वैसा यथार्थ जानकर स्वीकारना।

आत्मवस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, उसे यथार्थ जानकर भगवान जिनेन्द्र-देव के मार्ग का उल्लंघन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप की साधना द्वारा पर्याय में भी पूर्णता को प्राप्त होते हैं अर्थात् केवलज्ञानी हो जाते हैं।

देखो, यह है जैननीति ! जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा ही जानना, वैसा ही श्रद्धान करना तथा स्व-सन्मुख होकर उस आत्मद्रव्य में ही रमणता करना। बस, यही जिननीति और यही है जैनधर्म का मुक्तिमार्ग। सन्तजन इस मार्ग का उल्लंघन नहीं करते हुए केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न – फिर सिद्ध भगवान मुक्ति में बैठे-बैठे क्या करते है ? क्या वे वहाँ सचमुच कुछ नहीं करते ?

उत्तर – स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर उन्हें जो अनन्तसुख प्रगट हो गया, अकेले उस आनन्द को ही भोगते हैं, उस आनन्द का ही अनुभव करते हैं, पर का कुछ नहीं करते।

प्रश्न – इतने बड़े होकर, तीनलोक के नाथ, अनन्तज्ञान के धनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर भी दूसरों का कुछ भी भला नहीं करते ?

उत्तर – हाँ, कुछ भी नहीं करते। वे किसी का कुछ करें – ऐसा उनका स्वभाव ही नहीं है। जिनमार्ग के अनुसार परमाणु-परमाणु का परिणमन पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, सिद्ध भगवान भी तो एक आत्मद्रव्य हैं, भला फिर वे अन्य का क्या कर सकते हैं। इससे विपरीत मानना मिथ्या मान्यता है – ऐसी जिननीति ही नहीं है, बल्कि अनीति है। जो जिननीति का उल्लंघन करता है, वह मिथ्यादृष्टि होकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

भावार्थ में कहते है कि – वस्तुस्वरूप अनेकान्तमय है और स्याद्वाद उसका द्योतक है। यहाँ कहते हैं कि जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगति बैठाकर आत्मा को देखते हैं, वे स्याद्वाद द्वारा वस्तु को यथार्थतया प्रकाशित करते हैं।

भगवान जिनेन्द्रदेव का मार्ग-शुद्ध रत्नत्रय का मार्ग स्याद्वाद न्याय से सिद्ध है – ऐसे जिनदेव द्वारा निरूपित रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का उल्लंघन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होता है अर्थात् परम अमृतमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। यह है अनेकान्तदृष्टि का फल।

बंध अधिकार में आता है कि ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रागभाव व बंधभाव को प्राप्त होता है, वह उसका स्वरूप नहीं है। स्व-स्वभावरूप परिणमना और व्यवहार में, राग में न रचना ही, भगवान आत्मा का स्वभाव है तथा वह स्याद्वाद न्याय से सिद्ध है।

आचार्यदेव ने परिशिष्ट के प्रारंभ में दो बातों को कहने का संकल्प किया था –

(१) स्याद्वाद अर्थात् वस्तु का अनेकान्तस्वरूप कहूँगा।

(२) उपाय-उपेय कहूँगा। स्याद्वाद के कथन में शक्तियों का वर्णन किया। अब उपाय-उपेय की बात कहेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथास्योपायोपेयभावश्चिंत्यते —

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपाय:, यत्सिद्धं रूपं स उपेय:। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शन—ज्ञानचारित्रै: स्वरूपप्रच्यवनात् संसरत: सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहार—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाण—स्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरुढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलिता—स्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानं ज्ञान—मात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामा—संसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभ:। ततस्तत्र नित्य—दुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तय: साधकभावसंभवपरम—प्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवंति। ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैक—भावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव।

इसप्रकार स्याद्वाद के सम्बन्ध में कहकर, अब आचार्यदेव उपाय-उपेय भाव के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं —

अब इसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) × उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया जाता है —

× उपेय अर्थात् प्राप्त करने योग्य और उपाय अर्थात् प्राप्त करने योग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्मा का शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है और मोक्षमार्ग उपाय है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय-उपेयभाव (उपाय-उपेयपना) है ही; क्योंकि वह एक होने पर भी स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों प्रकार से परिणमित होता है। उसमें जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय है; इसलिए अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र द्वारा) स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरोहण कराये जाते हैं। इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद हैं, तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ तथा परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय से प्रज्वलित (दैदीप्यमान) हुये जो अस्खलित विमल स्वभाव-भावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ – यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र की वृद्धि की परम्परा से क्रमशः जब से स्वरूपानुभव करता है, तब से ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है; क्योंकि ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारंभ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते-करते जबतक निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की पूर्णता न हो, तबतक ज्ञान का साधकरूप से परिणमन है। जब निश्चय-सम्यग्दर्शन- ज्ञानचारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् मोक्ष होता है, तब ज्ञान सिद्धरूप से परिणमित होता है; क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान हुआ है। इसप्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय-उपेयता को साधित करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिए सदा अस्खलित एक वस्तु का (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से, मुमुक्षुओं को, कि जिन्हें अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है; फिर उसी में नित्य मस्ती करते हुए (लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अन्त की (अनेक धर्म की) मूर्तियाँ हैं वे – साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली परमप्रकर्ष की कोटिरूप सिद्धिभाव के भाजन होते हैं; परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं, ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में परिभ्रमण ही करते हैं।

टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि यद्यपि भगवान आत्मा त्रिकाल एक ज्ञायक-स्वरूप, ज्ञान का पिण्ड प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप प्रभु है; तथापि उसकी पर्याय में उपाय-उपेय भाव तो है ही। वस्तुस्वरूप से आत्मा नित्य ज्ञानमात्र होते हुए भी इसकी पर्याय में साधकपना-मोक्षमार्ग एवं सिद्धपना – ऐसे दो भाव हैं ही; क्योंकि द्रव्यरूप से एक होते हुए भी पर्यायरूप से स्वयं साधकरूप और सिद्धरूप – ऐसे दोनों से क्रम से परिणमता है। इसमें साधकरूप परिणमन उपाय है और सिद्धरूप परिणमन उपेय है। प्राप्तव्य मोक्ष उपेय है और जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय, वह मोक्षमार्ग उपाय है।

देखो, साधकपना व सिद्धपना – ये दो आत्मा के परिणाम हैं। ज्ञान स्वभाव की दृष्टि और रमणता होने पर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रय की वीतरागीदशा प्रगट होती है, वह साधकदशा है। उस साधकदशारूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है। तथा केवलज्ञान होकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धरूप जो दशा होती है, उसरूप भी आत्मा स्वयं ही परिणमता है। इन दोनों दशाओं में बाहर के साधनों की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि मोक्षमार्गी का बाह्य व्यवहार सही (यथार्थ) ही होता है; परन्तु बाह्य व्यवहार के कारण अन्तर की दशा पर कोई अच्छा या बुरा प्रभाव नहीं पड़ता; अन्तर की निर्मलता बाहर के व्यवहार की मुँहताज नहीं है। फिर दया, दान, व्रत, भक्ति, आदि सब तो राग की वृत्ति का उत्थान है – इन राग की शुभ वृत्तियों से अन्दर आत्मा की निर्मल वीतरागदशा का होना कैसे संभव है? यह बात तीनकाल में कभी हो ही नहीं सकती।

बात यह है कि जिन जीवों को अनादिकाल से अपने चैतन्य आत्मा की महिमा ध्यान में नही आई, इसकारण अपने चैतन्यस्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान न होने से बाह्य क्रिया में – दान, व्रत, तप, भक्ति आदि करते-करते इन्हें ही जिन्होंने मोक्षमार्ग का साधन मान लिया है, वे मिथ्या मान्यता में अटक गये हैं, इसकारण यथार्थ मोक्षमार्ग से भटक गये हैं।

जबकि अन्दर में आप स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप त्रिकाल विद्यमान है, उसे भूलकर 'मैं मनुष्य हूँ' – ऐसी पर्यायबुद्धिरूप स्वयं को मान लिया है। शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान लिया है, जो कि सर्वथा अज्ञान है।

अहा ! इस मिथ्याभ्रान्ति के नाश का उपाय शुद्ध चैतन्य की यथार्थ दृष्टि, ज्ञान एवं आत्मरमणता है, इससे अज्ञान का नाश होकर साधकदशा प्रगट होती है तथा उस साधकदशारूप उपाय से उपेयरूप मोक्षदशा की प्राप्ति होती है। अपने में अपूर्ण शुद्धदशा का होना साधकभाव है और पूर्ण शुद्धदशा साध्यभाव है, मोक्ष है। त्रिकाली शुद्धद्रव्य तो अवलम्बन का– आश्रय का विषय है। यह स्वयं मोक्षमार्ग व मोक्ष नहीं है; किन्तु इसक आश्रय से मोक्ष व मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है।

यद्यपि ऐसा बोला जाता है कि मोक्षमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति होती है; परन्तु ऐसा कहना व्यवहार है। वस्तुतः तो मोक्ष का कारण कर्म-नोकर्म से भिन्न मोक्षस्वरूप निज आत्मा ही है; क्योंकि उसका पूर्ण आश्रय होने पर ही मोक्ष प्रगट होता है तथा इससे भी विशेष विचार करें तो जो मोक्ष की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दशा प्रगट होती है, तत्समय की उस पर्याय की योग्यता ही मोक्षपर्याय (कार्य) का कारण है और जो उस समय जो पर्याय प्रगट हुई, वही मोक्षरूप कार्य है।

अहाहा..........! मैं निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यमूर्ति प्रभु हूँ, मुझमें देह-मन-वाणी-कर्म-नोकर्म आदि कुछ भी नहीं है तथा एक समय में उत्पन्न हुआ विकार भी मेरा नहीं है। मैं तो अनन्त शक्तियों से भरपूर भगवान आत्मा हूँ – ऐसा मैं स्वयं साधकरूप एवं स्वयं ही सिद्धरूप से परिणत होता हूँ।

भले, साधकदशा उपाय हो; परन्तु एक समय की पूर्ण आनन्द की दशा-मोक्षदशा-परम वीतरागीदशारूप आत्मा स्वयं परिणमता है। जब मोक्षमार्ग की पर्याय भी मोक्षपर्याय की कारण नहीं है तो शुभराग के कारण होने की तो बात ही कैसे संभव है?

अहा! जिसतरह नारियल के गोले की लालछाल एवं कठोर नरेटी और नरेटी के ऊपर के जटा आदि गोले की सफेदी से भिन्न हैं; उसीप्रकार सफेदी समान भगवान आत्मा शरीर, द्रव्यकर्म, भावकर्म (पुण्य-पाप) एवं निर्मलपर्याय आदि से भिन्न है तथा अपनी अनन्त शक्तियों एवं गुणों से अभिन्न है – ऐसे अपने भगवान आत्मा के सन्मुख होकर अन्तर में एकाग्र होने से जो साधकदशारूप निर्मलरत्नत्रय की दशा प्रगट होती है, वह उपाय है और आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा की प्राप्ति होना उपेय है। इसप्रकार मोक्षमार्ग की दशा और मोक्षदशारूप आत्मा ही स्वयं परिणमित होता है। राग व निमित्त के कारण वह सिद्धदशा नहीं होती।

भगवान आत्मा में एक अभाव गुण है, जो रागरूप विभाव के अभाव-स्वभाव से निर्मल परिणमन करता है। त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक द्रव्य का आश्रय करने से जो शक्ति का परिणमन प्रगट होता है, वह उपाय है। उसमें पर के सहयोग की गरज/अपेक्षा नहीं करनी पड़ती; इसलिए हे भाई! पर की आशा या अपेक्षा छोड़कर स्वसन्मुख हो, स्व का आश्रय कर। स्व के आश्रय से ही साधकदशा एवं स्व के आश्रय से ही साध्यदशा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होती है, सिद्धदशा प्रगट होती है।

स्व-आश्रय से परिणत आत्मा जब अल्प या अपूर्ण शुद्ध परिणमन करता है, तबतक साधकदशा है तथा आत्मा का पूर्ण शुद्ध परिणमन साध्यदशा है। साधकदशा मोक्षमार्ग है, इसे चाहे संवर-निर्जरा कहें, मोक्षमार्ग कहें या उपाय कहें – सब एक ही बात है।

साधक व साध्य – दोनों दशायें स्व-आश्रय से ही होती हैं। अहा! राग के विकल्प से हटकर अपने विज्ञानघनस्वभाव में लीनता करना साधुदशा है, इसे ही उपेय की अपेक्षा उपाय कहते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र के एक पत्र में ऐसा लिखा है कि – 'मुझमें दूसरों की अपेक्षा अधिक विशेषताएँ हैं' – यह मान्यता ही मूढ़पना है। लोक अभिनन्दनों की लम्बी पूँछ प्रदान करें तो इससे क्या ? इसमें फूल जाना तो सचमुच पूँछवाले पशु जैसी दशा है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि तू स्वयं प्रभु है। तू स्वयं अपने उस स्वभाव की दृष्टि करके अपना अभिनन्दन कर। वही सच्चा अभिनन्दन है। भले दुनिया जाने या न जाने इससे तुझे क्या ? तू स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप का अनुभव कर वही सच्चा अभिनन्दन है। आजतक अनन्तसिद्ध हुए, उनके कोई नाम भी नहीं जानता, उससे उनके आनंद में क्या फर्क पड़ता है। वे तो सदा ही निजानन्दलीन हुए अपने आप में अभिनन्दित हैं।

अहा! अज्ञान ही परतंत्रता का कारण है। कर्म के कारण परतंत्रता नहीं हुई है। अपनी स्वयं की विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण से स्वयं ही अपने स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है। विपरीत श्रद्धान से पर के आधीन होकर पराधीन है; परन्तु अपनी गलती दूसरों पर डालने की इस जीव की अनादिकालीन बुरी आदत है, जो नीतिविरुद्ध है, स्पष्ट अन्याय है। यहाँ इसी अनीति के विरुद्ध स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीटा जा रहा है। कहते हैं कि कर्म तेरी भूल के कर्त्ता नहीं हैं। कर्म भिन्न है और तू भिन्न है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे आत्मन् ! तू स्वयं अखण्ड प्रताप से युक्त स्वातंत्र्य से शोभायमान पूर्णानन्द का नाथ भगवान स्वरूप है। उसकी दृष्टि न करके अर्थात् उसका यथार्थ श्रद्धान एवं ज्ञान न करके स्वयं ही पराधीन हुआ है, किसी कर्म आदि ने तुझे पराधीन नहीं किया है। प्रवचनसार में कहा है कि – आत्मद्रव्य ईश्वरनय से स्वयं परतंत्रता भोगनेवाला है। स्वतंत्रता भी स्वयं से ही भोगता है और परतंत्रता भी स्वयं के अज्ञान से-अनजानेपन से भोगता है।

अनादि से ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से जीव स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है न ! पुण्यभाव में उपादेयबुद्धि-अल्पज्ञदशा में पूर्णदशा की भ्रान्ति – ऐसे मिथ्याभाव-विपरीतश्रद्धा के कारण जीव स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है। यह शरीर मेरा, पुण्य-पाप मेरे एवं स्त्री-कुटुम्ब-परिवार मेरे – ऐसी जो परद्रव्य एवं परभावों में ममत्वबुद्धि है तथा 'मैं शुद्ध चिन्मात्र आत्मा हूँ' – ऐसा न मानकर 'मैं' मलिन हूँ, रागी हूँ, पुण्य-पापवाला हूँ' – ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन है तथा दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि व्यवहार के शुभ-विकल्प से धर्म होता है – ऐसी मान्यता भी मिथ्यादर्शन है। 'शरीरादि परद्रव्य की क्रिया मैं करता हूँ' – यह मान्यता भी मिथ्यादर्शन है। अहा ! इसप्रकार मिथ्यादर्शन से जीव अनादि से स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है।

स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान एवं अपने निज स्वरूप का अस्तित्व स्वीकार न करके जो अपने नहीं हैं – ऐसे देह-मन-वाणी, इन्द्रियाँ और पुण्य-पाप के भावों का ज्ञान करने में रुकना मिथ्याज्ञान है। आत्मज्ञान बिना कदाचित् ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान हो जाय तो उससे क्या लाभ ? आत्मज्ञान के बिना इनकी कुछ भी कीमत नहीं है।

एक ज्ञायकभाव में लीन होकर न रहना तथा शुभाशुभभाव में लीन होकर रहना मिथ्याचारित्र है। आत्मा व अनात्मा के ज्ञान (भेदज्ञान) बिना ही जो क्रिया होती है, वह मिथ्याचारित्र है।

प्रश्न – शुभराग से शुद्धता का अंश प्रगट होता है या नहीं ?

उत्तर – भाई ! ऐसा नहीं है। शुद्धता का अंश तो स्व-आश्रय से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट होता है, जबकि शुभराग पराश्रय का भाव है; क्योंकि शुभभाव पर के लक्ष्य से होता है।

देखो, कहते हैं कि जिनको शुद्ध चिदानन्दघनप्रभु आत्मा की दृष्टि और उसका ज्ञान तथा रमणता हुई है, उन धर्मी जीवों को अपनी भूमिका के योग्य व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र नियम से होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुभराग की मन्दता के प्रकर्ष की परम्परा (क्रमप्रवाह) धर्मी के अवश्य होती है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का शुभराग तथा नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सत् शास्त्रों का-श्रुत का विकल्पात्मक यथार्थ जानपना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। तथा अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के विकल्प व्यवहारचारित्र हैं। धर्मी को जैसे-जैसे स्वद्रव्य का आश्रय बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उतने ही प्रमाण में व्यवहाररत्नत्रय के राग की मन्दता का प्रकर्ष होता जाता है अर्थात् शुभराग घटता जाता है और वीतरागीदशा बढ़ती जाती है।

अहाहा....! एक ओर निर्विकल्प दृष्टि, ज्ञान व रमणता है और दूसरी ओर व्यवहारचारित्र आदि के विकल्प हैं। धर्मी को दोनों साथ-साथ – सहचररूप से होते हैं।

शास्त्र में ऐसा उल्लेख होने से इस बात का निश्चय होता है। यहाँ किसी को ऐसी शंका होती है कि – व्यवहार से निश्चय होता है। व्यवहार निश्चय का कारण है; परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि भूमिका अनुसार धर्मी को व्यवहार होता अवश्य है। उसी उपचार का ज्ञान शास्त्रों में कराया है। भाई ! शास्त्रों में जो कथन जिस अपेक्षा से किया हो, उस कथन की अपेक्षा को समझने से प्रश्न खड़े नहीं होंगे।

सुनिश्चलपने ग्रहण किया व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र राग की मन्दतारूप है और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागीदशा है तथा यही सत्यार्थ साधकपना है। छठवें गुणस्थान में मुनिराज को ऐसी निश्चय साधकदशा प्रगट होती है और उनके इसी भूमिका में सहचर व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव अवश्य होता है। यद्यपि वह शुभभाव है तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बन्ध का ही कारण; तथापि जब उत्कृष्ट भाव से अबन्ध परिणाम नहीं होता, तब ऐसा बन्ध परिणाम होता है।

प्रश्न – शास्त्र में जो 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' – कहा है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – हाँ, यह प्रश्न बहुत अच्छा है; पर ध्यान रहे अकेला परावलम्बी शास्त्र का ज्ञान और राग की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है। इसके विपरीत स्व-आश्रय से प्रगट हुआ स्वरूप का ज्ञान, स्व-संवेदनज्ञान ही ज्ञान है तथा स्वरूप में रमणता-लीनता क्रिया है – ऐसे ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है – यह उपर्युक्त सूत्र में कहा है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने कहा है कि – आत्मा का निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-स्वसंवेदनज्ञान और 'स्व' में लीनता मोक्ष का कारण है तथा नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा व्यवहारसम्यग्दर्शन, शास्त्र-ज्ञानरूप व्यवहारज्ञान तथा पंच महाव्रत के रागरूप व्यवहारचारित्र – ये सब अपराध हैं। अरे! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, वह शुभभाव भी अपराध है। जो भाव अपराध है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

अहाहा........! जब ज्ञानी व्यवहार के विकल्पों को छोड़कर स्वयं चिदानन्दघनस्वरूप में आरोहण करता है, लीन होता है, तब उसके स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतापूर्वक पर्वत से झरने की भांति अनाकुल आनन्द का झरना झरता है – अन्तर में शान्ति की धारा प्रवाहित होती है। इसे ही भगवान मोक्षमार्ग कहते हैं।

समयसार गाथा १२ में कहा है कि – स्व-आश्रय से स्वरूप का ज्ञान, आत्मज्ञान हुआ है; परन्तु वर्तमान पर्याय में पूर्ण शुद्धता, पूर्णज्ञान (केवल-ज्ञान) प्रगट नहीं है और निचलीदशा है – ऐसे जीवों के जो अशुद्धता का विकल्प होता है, उसे वह मात्र जानता ही है। इसी का नाम व्यवहारनय है, जो मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है। इस व्यवहार के पक्ष के कारण अज्ञानी ने अनन्तकाल से अबतक यह बात लक्ष में ली ही नहीं।

अहा ! जिनको अन्तर में अपने भगवान आत्मा का भान हुआ है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान एवं रमणता प्रगट हुई है, प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं, सिंह की भाँति जंगल में रहते हुए प्रचण्ड पुरुषार्थ के धारक ऐसे महामुनिराज को भी जबतक पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई, तबत्तक सहचरपने व्यवहार दर्शन-ज्ञान एवं महाव्रत के विकल्प होते हैं। उसके वे मात्र ज्ञाता रहते हैं तथा उसे छोड़कर स्वरूप में आरोहण करते हुए निश्चय स्थिरता को प्राप्त होते हैं।

जो आनन्द का नाथ आत्मप्रभु अन्दर में विराजता है, उसमें जब आरोहण करे, वही यात्रा सच्ची यात्रा है। शेष सिद्ध, तीर्थक्षेत्रों की यात्रा तो सब शुभभावरूप ही है। वह तो उपचारमात्र यात्रा है। उपचार भी तभी लागू होता है जब अन्तर्यात्रा हो जाय।

भाई! शुभरागरूप होना साधकपना नहीं है तथा व्यवहार के विकल्प से भी साधकपना प्रगट नहीं होता। राग का त्यागकर अन्तर में जाये बिना संसारपरिभ्रमण का अन्त नहीं आता। ये सेठ लोग जो खूब दान करते हैं न! इनका यह करोड़ों का दान एवं दान का शुभपरिणाम मुक्तिमार्ग में कुछ भी साथ नहीं आता। जब जीव विभाव से विमुख होकर निजानन्द स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान एवं लीनता ही एकमात्र मोक्षमार्ग है और यही साधकदशा है।

भगवान तू वस्तु है या नहीं ? यदि वस्तु है तो उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं हीं। उन अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा का अवलम्बन करते ही, उसके आश्रय में स्थिर होने पर जो निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन होता है, वह मोक्षमार्ग है; परन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है। अपनी ऐसी चैतन्यवस्तु के भान बिना, आत्मदर्शन व आत्मज्ञान बिना अकेली क्रियायें कर-करके आत्मा को मरणतुल्य कर डाला है।

अहा! सम्पूर्ण शुभराग का उल्लंघन करके, जिस तरह समुद्र के तल में जाने पर ही मोती हाथ लगते हैं, उसीतरह अन्तर में डुबकी लगाने पर चैतन्यप्रभु आत्मा हाथ आता है। उसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा अन्तर्मुख होने पर जो स्व-संवेदन ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान एवं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्तर्लीनता सम्यक्चारित्र है।

अब कहते हैं कि – अन्तरस्वरूप में मग्न होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ है, वह रत्नत्रय है। रत्नत्रय की परमप्रकर्षरूप उत्कृष्ट दशा होने पर, भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय होने पर उसके फलस्वरूप मोक्षपर्याय प्रगट होती है।

प्रश्न – यदि व्यवहार शुभभाव किंचित् भी मोक्षमार्ग में मददगार नहीं है तो इसे शास्त्र में साधक क्यों कहा है?

उत्तर – धर्मी पुरुष के वर्तमान प्रगट निर्मलदशा में वह व्यवहार सहचररूप से रहता है; अतः उसे उपचार से साधक कहा जाता है।

साधक के किंचित् भी यह व्यवहाररूप शुभराग रहता है और उसी में आयु पूर्ण हो तो स्वर्ग जाता है। यद्यपि ज्ञानी के शुभभावरूप व्यवहार सहचरपने होता अवश्य है; परन्तु ज्ञानी उसे हेय ही मानता है। अहा! जिस शुभभाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, वह भाव भी हेय है। अहा! जिसको अलौकिक चैतन्यनिधान अन्तर में भासित हो गया, उसे पुण्य से क्या काम?

देखो, जीव संसार में कर्म के कारण नहीं भटकता; किन्तु स्वरूप में विपरीत श्रद्धान-ज्ञान एवं आचरण के कारण भटकता है। यद्यपि शास्त्र में ऐसा कथन भी आता है कि जीव कर्मों के कारण संसार में भटक रहा है; परन्तु वह व्यवहारनय की कथनी है, वास्तव में ऐसा नहीं है।

शुद्धचिदानन्दघन प्रभु आत्मा स्वयं है, उसका श्रद्धान न करके उससे विपरीत राग की एवं कर्म की श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है। आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द-स्वरूप है, उसका ज्ञान न करके राग व कर्म का ज्ञान करना मिथ्याज्ञान है। यह मिथ्याश्रद्धान व मिथ्याज्ञान – संसारभ्रमण का मूल है।

अब कहते हैं कि – यह छठवे गुणस्थान की भूमिका की बात है। इसके पहले इसने निज चैतन्यमूर्ति आत्मा का वेदन कर लिया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो गया है, इसीलिए तो कहते हैं कि –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'सुनिश्चलपने ग्रहण किया हुआ; तात्पर्य यह है कि – निश्चय के साथ भूमिका के योग्य जो व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वह भी इसके है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि – अन्दर में जो निश्चय रत्नत्रय प्रगट हुआ, वह अब छूटेगा नहीं अर्थात् अब वह निचली भूमिका में नहीं उतरेगा, किन्तु व्यवहार को छोड़कर अन्दर में ही जायेगा – ऐसा व्यवहार ऊपर के किसी गुणस्थान में है ही नहीं। निश्चय तो वहाँ है ही, व्यवहार का उल्लंघन करके सातवे गुणस्थान में जायेगा। यहाँ यही कहा जा रहा है।

यद्यपि पहले पाँचवे गुणस्थान से ध्यान में सीधे सातवाँ गुणस्थान होता है; किन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो छठवे गुणस्थान में जो शुभ विकल्प आते हैं, उनको लांघकर स्वरूप में जाने की, ऊपर चढ़ने की बात है, व्यवहार के लोप करने की बात नहीं है। जिस गुणस्थान की भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसका निषेध या लोप कौन कर सकता है और भला ऐसा कोई क्यों करेगा ? यहाँ तो उस व्यवहार का उल्लंघन करके ऊपर चढ़ने की बात कही है। धर्मी के यथायोग्य व्यवहार होता है; किन्तु उसमें ज्ञानी की उपादेयबुद्धि एवं स्वामित्व नहीं होता।

यहाँ 'व्यवहाररत्नत्रय की बुद्धि की परम्परा में' ऐसा जो कहा है – वह तो व्यवहाररत्नत्रय का कथन है। व्यवहारनय का कथन तो ऐसा ही होता है, उसके यथार्थ अभिप्राय को समझना चाहिए। वास्तव में तो राग टूटता जाता है और अन्दर में शुद्धि बढ़ती जाती है। उससे अनुक्रम से आत्मा जैसा स्वरूप का प्रगाढ़ अनुभव करता जाता है, वैसे ही वह आत्मा साधकभाव से परिणमता जाता है और व्यवहार छूटता जाता है।

अहा ! भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर है, उसकी दृष्टि-ज्ञान व रमणता होने पर जब उपयोग निर्विकल्प हुआ, शुद्धोपयोगरूप परिणत हुआ, उपयोग निर्विकल्प ज्ञान की भूमिका में आया, तभी से आत्मा साधकपने परिणमता है। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद अन्तर्भूत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं। भेद हैं, अवश्य है; परन्तु मोक्षमार्ग की परिणति में तीनों अभेदरूप हैं, एकरूप हैं। मोक्षमार्ग की परिणति में जब रत्नत्रय के तीन भेदों का भी लक्ष्य नहीं है तो व्यवहार की, राग की क्या कथा? राग का तो इसमें अभाव ही है।

देखो, साधकदशा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक है। जब साधक स्वरूप का अनुभव करता है, तब आत्मा शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप से स्वयं परिणमित होता है। उस समय जो यथायोग्य व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराया है।

प्रश्न – क्या यह कथन एकान्त नहीं हो जायेगा ?

उत्तर – हाँ, एकान्त है; परन्तु यह सम्यक् एकान्त है; क्योंकि स्व की ओर ढलती हुई निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा ही एकान्त से निश्चय साधक है, यद्यपि बीच में भी व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प आते अवश्य हैं; परन्तु वे निश्चय से साधक नहीं हैं। वस्तुतः तो वे बाधक हैं। इन्हें साधक व्यवहारनय से कहने में आता है; परन्तु व्यवहार का कथन तो उपचारमात्र है।

यद्यपि निश्चय रत्नत्रय व व्यवहार रत्नत्रय भी एक-दूसरे के विरोधी हैं; तथापि सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन जैसे विरोधी नहीं हैं। ज्ञान अर्थात् आत्मा जबतक पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक ज्ञान व राग को एकसाथ रहने में विरोध नहीं है। शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार की परस्पर मैत्री भी कही है; किन्तु वहाँ मैत्री का अर्थ मात्र इतना है कि ये दोनों निचली भूमिका में एकसाथ रह सकते हैं; इसलिए निश्चय प्रगट होता है अथवा व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा कारण-कार्यपना कदापि नही है। मैत्री का अर्थ भी मदद करना नहीं है; क्योंकि निश्चय स्व-आश्रय से एवं व्यवहार पर-आश्रय से प्रगट होता है। निश्चय मोक्ष का कारण है और व्यवहारबन्ध का कारण है। दोनों हैं तो सर्वथा विरुद्ध; फिर भी वह व्यवहार निश्चय के साथ में रहकर भी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में बाधा उत्पन्न नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

करता; तथापि ऐसे व्यवहार का उल्लंघन करके ही विशेष स्थिरता होती है। भाई ! वस्तुस्थिति जैसी है, उसे वैसा ही समझना पड़ेगा।

अब कहते हैं कि – देखो, 'निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है– यह व्यवहारनय का विषय है; क्योंकि कर्म तो परद्रव्य की दशा है न ! उन कर्मों का क्षय तो वस्तुतः अपने-अपने स्वकाल में उन्हीं कर्मों के कारण होता है। आत्मा में जो केवलज्ञान हुआ, उससे कर्मों का क्षय नहीं हुआ तथा कर्मों के क्षय के कारण केवलज्ञान हुआ हो – ऐसा भी नहीं है। एक को दूसरे का कारण कहना व्यवहार से की गई कथनपद्धति मात्र है। वस्तुतः तो सिद्धरूप से परिणमने की आत्मा की दशा एवं कर्मक्षयरूप कर्मपरमाणुओं की दशा – दोनों ही भिन्न-भिन्न परिणमन अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से होता है।

स्वाश्रय से स्वानुभव होने पर तथा उसमें वृद्धि होने पर जहाँ पर्याय पूर्णता को प्राप्त हुई, पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह अस्खलित निर्मल स्वभाव है। इसे ही अरहंत व सिद्ध भगवन्तों की दशा कहा है। अब यहाँ व्यवहाररत्नत्रय का नाम-निशान भी नहीं है।

अरे भाई ! यह तो तेरे ही हित की बात है। अरे प्रभु ! तूने अनन्तकाल में क्या-क्या नहीं किया है ? एक आत्मा के आश्रय को छोड़कर शेष सब कुछ तो किया, एक आत्मा का आश्रय ही नहीं किया, इसीकारण धर्म की प्राप्ति नहीं हुई।

धवलाशास्त्र में आया है कि – 'स्व' के आश्रय से प्रगट हुआ सम्यक् मतिश्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। इसका अर्थ यह है कि – जिसे 'स्व' के आश्रय से सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट हुआ है, उसे शीघ्र ही केवलज्ञान होगा।

अब कहते हैं कि – इसप्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमन करता एक ही ज्ञान आत्मवस्तु को उपाय-उपेयपने साधता है। देखो, उपाय-उपेयपना, साधक-साध्यपना – दोनों आत्मा की

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अवस्थायें होने से आत्मवस्तु में ही समाती हैं। व्यवहार होता है। ''सुनिश्चल पने ग्रहण किया हुआ' में जो ग्रहण शब्द है, उस 'ग्रहण' का अर्थ मात्र जानने में पुख्ता प्रयोजनवान जानना चाहिए, आदरणीय नहीं। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी यही अर्थ किया है। समयसार की १२ वीं गाथा की टीका में भी व्यवहारनय को जानने में आया हुआ प्रयोजनवान कहा है।

देखो, आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं – इसप्रकार दोनों में (उपाय-उपेय में) एक ज्ञानमात्र का अनन्यपना है अर्थात् दोनों में अन्यपना नहीं है। तू अन्दर में एक ज्ञानानन्दस्वरूपी चैतन्यमूर्ति आत्मा है न ! उसमें एकाग्र होने पर ज्ञान-श्रद्धा-आनन्द-शान्ति-स्थिरता-प्रभुता – आदि एकसाथ पर्याय में प्रगट होते हैं। स्वरूप में ऐसी रमणतारूप निर्विकल्प परिणति उपाय है, साधकपना है। बीच में जो व्यवहार आता है, वह उपाय या साधकपना नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मा अनन्य नहीं है।

अहाहा........! आत्मा का साधकपना (उपाय) आनन्द की पर्याय है और इसका साध्यपना (उपेय) भी उसी पूर्ण आनन्द की पर्याय है। अहा.! ये दोनों रूप अकेले ज्ञानमात्र-चैतन्य चमत्कार प्रभु आत्मा का ही भवन (होनापना) है। उपाय और उपेय में – दोनों में एक आत्मवस्तु ही अनन्य है। परद्रव्य या रागादि – व्यवहार के विकल्प उसमें अनन्य नहीं हैं अर्थात् दया, दान, व्रत, तप आदि जो बाह्य व्यवहार है, वह निश्चय रत्नत्रय का कारण नहीं है। साधकदशा और उसके फलस्वरूप प्राप्त प्रगट सिद्धदशा – इन दोनों में आत्मा ही अनन्य है।

इसकी बीच की भूमिका में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा और पंच महाव्रतादि के राग की मन्दता का भाव होता है। बस, इतना बताने के लिए व्यवहार की बात की है, निश्चय से बाह्य पंचमहाव्रतादि में साधकपना या मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मा अनन्य नहीं है। शुद्ध चैतन्यवस्तु में थोड़ी लीनतारूप जो मोक्षमार्ग और पूर्ण लीनतारूप जो मोक्ष है – उन दोनों में ज्ञानमात्र शुद्ध चैतन्यवस्तु ही अनन्य है, एकमेक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है तथा साधक को इसके साथ में जो राग है, वह बन्धभाव है, साधकपने में जो विषरूप है, जहर है। निर्मलरत्नत्रय अमृत है व राग जहर है। रागरूप जहर से अमृतरूप मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है।

भावपाहुड़ गाथा ८३ में आता है कि –जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि – पूजा आदि करने में और व्रती होने में 'पुण्य' है तथा मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम 'धर्म' है। वहाँ इसके भावार्थ में स्पष्ट किया है कि – लौकिकजन और अन्यमती कहते हैं कि पूजादि करना एवं व्रतादि का पालन करना जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में तो जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि ये सब 'जैनधर्म' नहीं हैं।

समयसार गाथा १४ में कहा है – जो अबद्धस्पृष्टादि पाँचभाव स्वरूप निज आत्मा को देखता है, वही सकल जैनशासन है। भाई ! जैनशासन तो वीतरागपरिणति है। भाई ! व्यवहार या राग जैनशासन में नहीं है। व्यवहार होता अवश्य है; परन्तु वह मूल जैनशासन नहीं है।

अहा ! स्वयं 'स्व' का आश्रय करे तो ही वास्तविक या निश्चय धर्म हो और इसी धर्म से मुक्ति होती है। 'स्व' के आश्रय में व्यवहार की उपेक्षा ही होती है। प्रमाणज्ञान में दोनों का अर्थात् द्रव्य-पर्याय का ज्ञान वर्तता है; परन्तु आश्रय तो एक स्वद्रव्य का ही होता है तथा उसमें व्यवहार की उपेक्षा ही होती है। यही व्यवहार की सापेक्षता है।

यहाँ कहते हैं कि – मोक्षमार्ग में (उपाय में) और मोक्ष में (उपेय में) ज्ञानमात्र का अर्थात् आत्मा का ही अनन्यपना है। व्यवहार (राग) तो इससे भिन्न ही रह जाता है। जब ऐसा है तो फिर वहाँ राग की क्या अपेक्षा ? अहा ! अपना आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु है और इसके आश्रय से जो राग रहित वीतरागी निर्मल रत्नत्रय की आनन्दमयदशा प्रगट होती है, वह उपाय है तथा जब इस उपाय की परिणति अति उग्र होकर परम प्रकर्षता को प्राप्तकर उपेयरूप होती है, तब आत्मा स्वयं ही सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है। इसतरह ये दोनों (उपाय व उपेय) एक जीव की ही निर्मल एवं पूर्णनिर्मल अवस्थायें हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – यह ठीक है; परन्तु इनका कोई साधन तो होगा न ?

उत्तर – साधनगुण से आत्मा स्वयं साधनरूप होकर साधकपने और सिद्धपने परिणमता है। जब साधन वस्तु की ही शक्ति है तो वहाँ अन्य साधनों की क्या अपेक्षा है ?

इसप्रकार उपाय और उपेय में आत्मा का अनन्यपना है, उसमें राग अनन्य नहीं है। राग आत्मा में अनन्यपने नहीं है। इसलिए कहते हैं कि – सदा ही अस्खलित, अचलित चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा के निष्कम्प ग्रहण करने से निर्विकल्प ज्ञान की परिणति में तत्काल ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। देखो ! यह उपाय की प्राप्ति की रीति शुद्ध आत्मा के ग्रहण द्वारा ही सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त होता है। अहा........! निमित्त व व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर जो एक ज्ञायक के लक्ष्य से परिणमता है, उसको धर्म की प्रथम सीढ़ी अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आता है कि – मोक्ष का उपाय जो सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो योग व कषाय है। जो तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, वह भी योग व कषाय से ही बंधती है। यद्यपि शास्त्र में ऐसा भी कहा है कि समकिती का सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है – सो वह व्यवहारनय का कथन है। ज्ञानी नय के स्वरूप को भलीप्रकार जानता है, इसकारण उसे इस कथन से कोई विरोध नहीं आता। इसीप्रकार और भी कथन हैं – जैसेकि जाति-स्मरण से, देव-शास्त्र- गुरु से, जिनबिम्बदर्शन से, सम्यग्दर्शन होता है – इन सब कथनों का अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होते समय किसके ऊपर लक्ष्य था ? किस शुभ निमित्त से लक्ष्य हटाकर आत्मानुभूति में प्रवृत्त हुआ। ये सब कथन निमित्त की मुख्यता से किए गये कथन हैं – ऐसा ज्ञानी बराबर जानते हैं; अतः वे भ्रमित नहीं होते। वस्तुतः तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही समकित होता है।

आगे कहते हैं कि – सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद स्वरूप में नित्य केलि करते हुए आत्मार्थी सिद्धपद का पात्र बन जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहा..........! जिसने सम्यग्दर्शनरूपी धर्म की ध्वजा हाथ में ली है, वह ज्ञानानन्दस्वरूप में मस्ती करते हुए स्वयं से क्रमरूप व अक्रमरूप प्रवर्तन करते हुए सिद्धभाव का भाजन बनता है।

देखो, यह है स्वाश्रय का कमाल। स्वाश्रय से ही साधकपना एवं स्वाश्रय से ही साध्यपना-सिद्धपद प्राप्त होता है। यह सम्यक् एकान्त है। शुद्ध- चिदानन्द प्रभु – भगवान आत्मा की अन्तर एकाग्रता मार्ग है, इसमें द्रव्यान्तर का स्पर्श नहीं है। इसप्रकार उपाय व उपेय की बात हुई।

अब कहते हैं कि जो ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्तधर्ममय त्रिकाली ध्रुव निज ज्ञानानन्दस्वरूप को प्राप्त नही करते, वे अज्ञान में वर्तन करनेवाले हैं। ज्ञानमात्र भाव के अभावस्वरूप परिणमन करनेवाले वे मूढ जीव सदा अज्ञानरूप ही वर्तते हैं।

अहा! स्वरूप की दृष्टि बिना अज्ञानी जीव अकेले राग के रंग में रंगा रहता है। दया, दान, व्रत, तप आदि राग की क्रियाओं में रचा-पचा रहता है। उसके मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही आचरण है, उसे धर्म की क्रिया का तो भान ही नहीं है; अतः वह चारगति में ही परिभ्रमण करता है। ❖

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति।।२६६।।

श्लोकार्थ – (ये) जो पुरुष, (**कथम् अपि अपनीत-मोहाः**) किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ, (**ज्ञानमात्र-निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं**) ज्ञानमात्र निज भावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उसमय निश्चल भूमिका का) (**श्रयन्ति**) आश्रय लेते हैं (**ते साधकत्वम् अधिगम्य सिद्धा भवन्ति**) वे साधकत्व को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; (**तु**) परन्तु (**मूढाः**) जो मूढ (—मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं वे (**अमूम् अनुपलभ्य**) इस भूमिका को प्राप्त न करके (**परिभ्रमन्ति**) संसार में परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ — जो भव्य पुरुष, गुरु के उपेदश से अथवा स्वयमेव काल लब्धि को प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूप की प्राप्ति करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निज को प्राप्त नहीं होते, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

कलश २६६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

भाई ! अनादिकाल से एकमात्र यही मुक्ति का मार्ग है। समयसार गाथा ११ में कहा है — जो भूतार्थ का आश्रय करता है, वही सम्यग्दृष्टि होता है। अहाहा....! जिस पुरुष के अन्तःपुरुषार्थ द्वारा मोह का नाश हुआ है, जो पुरुष ज्ञानमात्र का निजभावमय, अंकप, निश्चल एवं ज्ञायकभाव का आश्रय करता है वह साधकदशा को प्राप्त कर उसकी उत्कृष्टदशारूप सिद्धपद को प्राप्त करता है। भाई ! दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, आहारदान देना आदि कोरी शुभ क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं हैं, साधकपना नहीं हैं तथा ये साधकपने की, मोक्षमार्ग की अवलम्बन भी नहीं हैं। अहा ! अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को भी ये सब शुभभाव आते हैं; परन्तु ये धर्म नहीं हैं।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ राग के विकल्प से रहित अपने स्वभाव से ज्ञात होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञाता है। प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के प्रथम छह बोलों में आता है कि —

१. जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण हो, जानने में आये भगवान आत्मा ऐसा नहीं है।

२. जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य-जानने योग्य हो — ऐसा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का आत्मा विषय नहीं है।

३. इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक आत्मा अनुमान का विषय नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४. दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान से ही जिसका ग्रहण हो – आत्मा ऐसा नहीं है।

५. आत्मा अकेला अनुमान द्वारा जाने – ऐसा अनुमाता नहीं है।

६. आत्मा अपने स्वभाव से जाने – ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

अहा ! भगवान आत्मा का परोक्ष रहने का स्वभाव नहीं है; इसकारण भगवान आत्मा का अस्तिपने जो अतीन्द्रिय पूर्ण स्वरूप है – जो उसका आश्रय करता है, वह साधकपने को प्राप्त होकर सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न – शास्त्रों में ऐसा कथन भी तो आता है कि – 'व्यवहार साधन एवं निश्चय साध्य' इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – हाँ, आता है; परन्तु वह उपचार कथन है; किन्तु व्यवहार परमार्थरूप साधन नहीं है। आत्मा में स्वयं में ही एक साधन नामक गुण है। उससे आत्मा ही स्वयं साधनरूप होकर अपनी निर्मल वीतरागी पर्याय को प्रगट करता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपना साधन है। विशेष स्पष्ट करें तो जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वही उसका साधन है। अहाहा! त्रिकाली एक ज्ञायकस्वरूप कर्म-नोकर्म से भिन्न स्वद्रव्य के आश्रय से साधकपने को पाकर सिद्ध होते हैं। यही धर्म प्राप्त करने की रीति है। अहा ! स्वरूप के आश्रय से जिसको सिद्धदशा प्रगट हुई, उसे अल्पकाल में अचल सुखधाम सिद्धदशा प्रगट होगी।

अब कहते हैं कि जिन्हें अपने चिदानन्दस्वरूप चैतन्यवस्तु की पहचान नहीं है, जो आत्मा और शुभाशुभभावों को एक ही मानता है, वह मूढ है, अज्ञानी है। ऐसा मूढ-अज्ञानी मिथ्यादृष्टि शुभराग से अपना धर्मलाभ मानता है, व्यवहार करते-करते निश्चय धर्मलाभ होगा – ऐसा मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन की, मोक्षमार्ग की प्राथमिक भूमिका को भी प्राप्त नहीं कर पाते।

इस कलश के भावार्थ में कहा है कि – अहा ! जो भव्य पुरुष गुरु के उपदेश से या स्वयमेव काललब्धि पाकर मिथ्यात्व से रहित होकर ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, उसका आश्रय करता है, वह साधक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर सिद्ध हो जाता है, परन्तु जो ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करता, वह संसार में ही परिभ्रमण करता है। ❖

इस भूमिका का आश्रय करनेवाला जीव कैसा होता है सो अब कहते हैं –

(वसंततिलका)

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री–
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।२६७।।

श्लोकार्थ :– (**यः**) जो पुरुष, (**स्याद्वाद-कौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां**) स्याद्वाद में प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम – इन दोनों के द्वारा (**इह उपयुक्तः**) अपने में उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ) (**अहः अहः स्वम् भावयति**) प्रतिदिन अपने को भाता है (निरन्तर अपने आत्मा की भावना करता है), (**सः एकः**) वही एक (**पुरुष**), (**ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-पात्रीकृतः**) ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ, (**इमाम् भूमिम् श्रयति**) इस (**ज्ञानमात्र निजभावमय**) भूमिका का आश्रय करता है।

भावार्थ – जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभकर्म से संतुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है (रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है) और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भूमिका का आश्रय करनेवाला है।

ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण-त्याग का स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थ के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिए।

कलश २६७ पर प्रवचन

यहाँ स्याद्वाद की प्रवीणता और सुनिश्चल संयम – इसप्रकार दो बातें लीं हैं। यहाँ स्याद्वाद की प्रवीणता से तात्पर्य यह है कि – द्रव्य स्वरूप में, त्रिकाली एक ज्ञायकस्वभाव में निमित्त, राग अथवा पर्याय नहीं है तथा निमित्त, राग या पर्याय में भगवान ज्ञायकस्वभाव नहीं है। इसप्रकार से स्व के आश्रय से जो ज्ञान-श्रद्धान रूप परिणमन होता है, वह स्याद्वाद की प्रवीणता है। शुद्ध में रागादि नहीं एवं रागादि में शुद्ध नहीं – ऐसा ज्ञान का परिणमन-स्याद्वाद की विशेषता है तथा जिसमें अशुद्ध परिणति का त्याग वर्तता है – ऐसी स्वरूप की रमणता, स्थिरता, निश्चलता संयम है।

स्याद्वाद की प्रवीणता और सुनिश्चल संयम – इन दोनों के द्वारा जो पुरुष अपने में ही उपयोग को स्थिर रखता है, प्रतिदिन अपने स्वरूप को भाता है, वह साधकपने को प्राप्त होता है।

अहा! जिसे सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान प्रगट हुआ है, उसे स्व के आश्रय से सुनिश्चल संयम प्रगट होता है। ज्ञान-श्रद्धान होने में स्वभावसन्मुख होने का जो पुरुषार्थ होता है, उससे निश्चल संयम होने में चारित्र का अनेक गुणा पुरुषार्थ होता है। चारित्र अर्थात् सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक आत्मा में विशेषपने रमना, स्थिर होना, जमना, आचरण करना चारित्र है। अहा! चारित्र में स्वानुभव की सुनिश्चलदशा और प्रचुर आनन्द की अनुभूति होती है।

अहाहा.....! कहते हैं कि – जो पुरुष निरन्तर उपयोग को स्वरूप में उपयुक्त करके निज शुद्धात्मा को भाते हैं। वे ही पुरुष ज्ञाननय व क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री के पात्र बनकर इस ज्ञानमात्र निज भावमय भूमिका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का आश्रय करते हैं।

अहा ! देखो, ज्ञान एवं क्रिया अर्थात् चारित्र – दोनों की मैत्री के पात्ररूप होकर वे एक ज्ञानमात्र भूमिका का ही आदर करते हैं। वे ही साधकपने को प्राप्त होते है। अन्य जो राग में रुके हैं, वे सच्चे साधक नहीं हैं।

अहा ....! यह कलश अमृत के सागर से भरा है। यहाँ कहा है कि जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीणता और सुनिश्चल संयम से शुद्धात्मा में उपयुक्त हुआ, अपने स्वरूप को ही भाता है वह पुरुष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होता हुआ साधकपने को प्राप्त होता है।

कलश २६७ के भावार्थ पर प्रवचन

जो केवल शास्त्रों का ही अध्ययन करें, अन्तर्दृष्टि करके अशुद्धता को न टालें, वे प्रमादी और स्वच्छन्दी हैं। ऐसे शुष्क ज्ञानवालों को अन्तर में साधकपना प्रगट नहीं होता। वे केवल एकान्त से ज्ञाननय को ही ग्रहण करते है। वे अशुद्धता को टालकर अन्दर में प्रवेश नहीं करते हैं।

देखो, दया-दान-तप-व्रत-समिति-गुप्ति आदि के शुभभावों में संतुष्ट होते हैं , शुभभाव में ही धर्म मानते हैं, वे ज्ञाननय को ही नहीं जानते। उन्हें शुद्ध चिदानन्दघन आत्मा का भान नहीं है।

अब कहते हैं कि जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानते हैं। द्रव्य-पर्याय स्वरूप आत्मवस्तु में जो त्रिकाली शुद्धद्रव्य है, वह पर्याय नहीं तथा जो एक समय की पर्याय है, वह शुद्धद्रव्य नहीं है। जो पुरुष ऐसे त्रिकाली शुद्धद्रव्य का अनुभव करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी हैं। अहा ! ऐसे सम्यग्ज्ञान और निश्चल संयम में जो वर्तते हैं, वे पुरुष ज्ञानमात्र निजभाव मयी भूमिका का आश्रय करनेवाले हैं।

भगवान आत्मा पुण्य-पाप से रहित चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है। उसके अन्तर्मुख होकर स्व-संवेदन अर्थात् अपने ही से अपना वेदन करना ज्ञाननय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है तथा उसी में स्थिर होकर अशुद्धता के त्यागरूप शुद्ध परिणतिरूप से परिणमना संयम है, क्रियानय है। सम्यग्ज्ञान-आत्मज्ञान व राग के अभावरूप संयम – दोनों में गाढ़ मैत्री है। यह ज्ञाननय व क्रियानय की मैत्री है।

भाई ! अनेकान्त का यह अर्थ नहीं है कि – निज स्वभाव के आश्रय से भी धर्म होता है और राग के, व्यवहार के आश्रय से भी धर्म होता है; बल्कि राग या विभाव के आश्रय से धर्म नहीं होता – इसका नाम अनेकान्त है।

अहाहा.........! स्वयं अन्दर में ज्ञानस्वरूपी परम पवित्रतामय आत्मप्रभु में अन्तर एकाग्र होकर उसी में ठहरने का नाम धर्म है। साथ में शुभभाव भी होता है; परन्तु वह शुभराग धर्म नहीं। शुभभाव की व्यवहार में मैत्री कही है; परन्तु निश्चय से यह मैत्री नहीं है। यहाँ तो स्व-आश्रय से प्रगट सम्यग्ज्ञान और स्वाश्रय से ही प्रगट संयमभाव-निर्मल रत्नत्रय की परस्पर मैत्री कही है।

अहाहा......! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसमें एकाग्र होकर स्थित रहना ज्ञानचेतना है और राग में स्थित रहना कर्मचेतना है। बाह्य व्रतादि में स्थित रहना भी कर्मचेतना है तथा कर्मफल में स्थित रहना कर्मफलचेतना है। ज्ञानी के ज्ञानचेतना और अज्ञानी के कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है।

यहाँ कहते हैं कि जिसने ज्ञाननय व क्रियानय की मैत्री साधी है अर्थात् जिसने सम्यग्ज्ञान और स्वरूपस्थिरता की प्रगाढ़ मैत्री साधी है, वही पुरुष ज्ञानमात्र-निजभावमयी होकर सिद्ध होता है। स्व-आश्रय से जो ज्ञान व वीतरागी शान्ति प्रगटी है, उसे यहाँ ज्ञाननय और क्रियानय की मैत्री कहा है।

❖

इसप्रकार जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है, वही अनन्त चतुष्टयमय आत्मा को प्राप्त करता है – अब इस अर्थ का काव्य कहते है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(वसंततिलका)

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहास:
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात:।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा।।२६८।।

श्लोकार्थ :– (**तस्य एव**) (पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है) उसी के, (**चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हास:**) चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), (**शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभात:**) शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है, (**आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूप:**) आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है (**च**) और (**अचल-अर्चि**) जिसकी ज्योति अचल है ऐसा (**अयम् आत्मा उदयति**) यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ – यहाँ 'चित्पिण्ड' इत्यादि विशेषणों से अनन्त दर्शन का प्रगट होना, 'शुद्ध प्रकाश' इत्यादि विशेषण से अनन्त ज्ञान का प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से अनन्त सुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य का प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमिका का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है।

कलश २६८ एवं भावार्थ पर प्रवचन

जो पुरुष पूर्वोक्त रीति से इस भूमिका का आश्रय करता है, वही अनन्त- चतुष्टयमय आत्मा को प्राप्त करता है। इस अर्थ का सूचक यह काव्य है, कलश में सुप्रभात शब्द आया है। उस सुप्रभात का अर्थ है – जिसप्रकार रात्रि के अंधकार का नाश करके भूमण्डल पर सूर्य अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाता है; उसीप्रकार पुण्य-पाप की एकताबुद्धिरूप अज्ञान अंधकार की भेदक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप चैतन्य की ज्योति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रगट होती है, उसे अध्यात्म में मंगलमय सुप्रभात कहते हैं।

जिसतरह सूर्य के उदय से सहस्त्र पांखुण्डी का कमल खिल उठता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में एकाग्र होकर स्थित होने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि अनन्त गुण-पर्यायें निर्मलरूप में प्रगट हो जाती हैं अर्थात् प्रतिबन्धरहित निरंकुश, मर्यादरहित पूर्ण ज्ञान-दर्शनादिरूप विकास हो जाता है। अहा ! जिसे कोई रोकनेवाला नहीं है – ऐसा अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप विकास खिल जाता है। साधक की भूमिका में व्यवहार आत्मा है; परन्तु वह पूर्णदशा का कारण नहीं है।

कलश में आये 'शुद्धप्रकाश झर निर्झर' का अर्थ है कि – पूर्ण ज्ञान व आनन्द से भरे भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि-ज्ञान व रमणता होने पर पर्याय में केवलज्ञान का दिव्य सातिशय प्रकाश प्रगट हो जाता है। वह केवलज्ञान शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण सुप्रभात के समान है। ऐसा सुप्रभात व्यवहार के आश्रय से प्रगट नहीं होता, शुद्ध निश्चय के आश्रय से ही प्रगट होता है।

यद्यपि केवलज्ञान प्रगट होने की प्रक्रिया में ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव भी होता है; परन्तु कर्मों का अभाव कर्मों की स्वतंत्र योग्यता से अपने स्वकाल में होता है, आत्मा उन्हें नाश करने के लिए कुछ भी नहीं करता। उनका नाश करना आत्मा के अधिकारक्षेत्र में ही नहीं है। अहा ! आत्मा कर्मों से तो जुदा है ही, कर्मों के आधीन हुए विकारी भावों से भी जुदा है। अहा ! भगवान आत्मा में निज शुद्धात्मा के आश्रय से, उसी में पूर्णस्थित होने से केवलज्ञान आदि निर्मलदशायें प्रगट होती हैं।

प्रवचनसार गाथा १६ में कहा है कि – आत्मा स्वयं ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरणरूप होकर पर्याय में केवलज्ञानादि रूप से स्वयंभू प्रगट होता है; इसलिए जीव बाह्य सामग्री को शोधने-खोजने के लिए व्यर्थ ही व्यग्र क्यों होता है ? स्वभाव का आश्रय करने पर अन्दर में शक्तिरूप से वह स्वयमेव पर्याय में प्रगट हो जाता है। उसे बाह्य सामग्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की कोई गरज नहीं है।

प्रश्न – भक्ति में भगवान को दीन-दयाल कहा जाता है और आपके कहे अनुसार तो भगवान को दीनदयाल कहना संभव ही नहीं है तो फिर उस कथन का क्या अर्थ समझा जाय ?

उत्तर – अहा ! भगवान की पूर्वपर्याय में जो 'दीनता' अर्थात् पामरता थी, उसे तोड़कर भगवान ने 'स्व' के आश्रय से अपनी प्रभुता प्रगट करके दीन-दयालपना प्रगट कर लिया है। किसी अन्य पर दया करने के कारण वे दीनदयाल नहीं हैं; बल्कि उन्होंने अपनी पूर्व की पामर पर्याय पर दया करके 'दीनानाथ' का पद प्राप्त किया है। इसकारण उन्हें दीनदयाल, दीनानाथ, पतितपावन आदि कहा जाता है। वे स्वयं पतित से पावन बने, इसकारण पतितपावन हैं, न कि वे दूसरे पतितों को पावन करते हैं।

अहाहा .....! अपने चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होना ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप की शक्ति को व्यक्त करने का उपाय है। अन्तर एकाग्रता की पूर्णता होने पर केवलज्ञान का शुद्ध प्रकाश प्रगट होता है। कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान को सुप्रभात कहा है; क्योंकि उसमें दर्शनमोह का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का जाज्वल्यमान सूर्य उगता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान व पूर्ण केवलज्ञान सुप्रभात समान हैं।

अब कहते हैं कि – 'आनन्द सुस्थित सदा अस्खलित एकरूपः' अर्थात् पूर्णानन्द का नाथ आनन्दघन प्रभु जो अन्दर में स्वयं विद्यमान है, उसको पर्याय में स्वीकार करके उसी में लीन रहने पर अनन्त आनन्द की दशा प्रगट होती है।

अहाहा.....! अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव से छलाछल भरा प्रभु ध्रुव विराजता है। जिसने उसका आश्रय किया, उसको पर्याय में जो अतीन्द्रिय आनन्द होता है, उसके समक्ष इन्द्र के भोग भी तुच्छ भासित होते हैं। यह पूर्ण आनन्द की दशा अस्खलित है।

जो अनन्तवीर्यस्वरूप प्रभु आत्मा में लीन होकर परिणमते हुए अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि सहित निज स्वरूप की रचना करें, उन्हें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्याय में अनन्तबल प्रगट हो जाता है। जो शक्तिरूप से होता है, उसका आश्रय लेने पर ही अचल ज्योतिरूप से प्रगट हो जाता है।

अहा! ऐसा दिव्य सुप्रभात! सूर्य उदय होता है, जो केवलज्ञानरूप सूर्य एकबार उदित हुआ, फिर कभी अस्त नहीं होता।

अब यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो –

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै–
र्नित्योदय: परमयं स्फुरतु स्वभाव:॥२६९॥

श्लोकार्थ – (**स्याद्वाद-दीप्ति-लसत्-महसि**) स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है और (**शुद्ध-स्वभाव- महिमनि**) जिसमें शुद्ध स्वभावरूप महिमा है ऐसा (**प्रकाशे उदिते मयि इति**) यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है, वहाँ (**बन्ध-मोक्ष-पथ-पतिभि: अन्य-भावै: किम्**) बंध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है? (**नित्य-उदय: परम् अयं स्वभाव: स्फुरत**) मुझे तो मेरा नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्तचतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

भावार्थ – स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है; इसलिए मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि – मेरा पूर्ण स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्ध-मोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है?।

कलश २६६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

आचार्यदेव यहाँ यह भावना भाते हैं कि जहाँ ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई कि मैं पुण्य-पाप के विकल्प से रहित ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, वहाँ अन्तर में चैतन्य के तेज का जगमगाता प्रकाशपुंज प्रगट हो गया है, भगवान आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुभव में आ गया है। अब हमें अन्य सांसारिक शुद्ध वस्तुओं से क्या काम है, क्या प्रयोजन है ?

स्याद्वाद से प्रदीप्त हुआ जगमग करता जिसका तेज है और जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है – ऐसा विचार व पर से भेदज्ञान कराता एवं आनन्द जहाँ उदय को प्राप्त हुआ है तथा मैं ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों से भरपूर पूर्ण चिदानन्दघन प्रभु हूँ, आत्मा हूँ – ऐसी स्वरूप की अनेकान्तदृष्टि द्वारा चैतन्य का जगमगाट करता ऐसा तेज प्रगट हुआ है, जिसके आगे मोहान्धकार और रागादि विनष्ट हो गये हैं।

अहा ! अपनी यह चैतन्यवस्तु तो अनादि से है; किन्तु उसे भूलकर अनादिकाल से 'चारगति' में भ्रमण कर दु:खी हो रहा है। अहा ! अन्तर में यह स्वयं आनन्द का नाथ प्रभुरूप से विराजता है। उसमें अन्तर एकाग्र होने पर सम्यग्ज्ञान का तेज प्रगट होता है। शुद्ध-बुद्ध भगवान आत्मा जगमगाता हुआ प्रकाशित होता है। इस सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होने पर पर की महिमा मिटकर निज स्वभाव की महिमा प्रगट होती है। सन्त कहते हैं कि – भाई ! जिसतरह करोंत (आरी) से लकड़ी के दो फाड़ (टुकड़े) जुदे-जुदे करते हैं, वैसे ही भेदज्ञान से स्व और पर को जुदा कर! उसमें ज्ञानानन्दस्वरूप तो मैं हूँ और जड़-देहादि मैं नहीं हूँ। इसप्रकार दोनों को भिन्न कर। अहो ! आचार्य भगवान अपनी बात करके जगत के जीवों को समझाते हैं कि मुझे राग से भिन्न पड़कर स्वभाव में एकाग्र होने पर जगमगाता ज्ञानप्रकाश उदय हुआ है; अतः अब मुझे अन्य भावों से क्या प्रयोजन ? अहाहा ...! मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र बन्धमार्ग है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है; किन्तु इन बन्ध-मोक्ष के विकल्पों से मुझे क्या काम है ? हम तो अपने स्वरूप के निजानन्द रस में रह रहे हैं। हमें अब अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य – ऐसी अनन्त चतुष्टय की दशा प्रगट होओ ? हमें अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। हमारी आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी है। उस स्वभाव की पूर्ण व्यक्तता हमें हो, बस, हमारी यही एक भावना है कि भव का अभाव होकर हमारी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निज-निधि प्राप्त हो।

'यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है; तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है; इसलिए मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूँ – ❖

इस अर्थ का काव्य कहते हैं –

(वसंततिलका)

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक–
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि॥२७०॥

श्लोकार्थ – (**चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा**) अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा (**नय-ईक्षण-खण्ड्य-मानः**) नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर (**सद्यः**) तत्काल (**प्रणश्यति**) नाश को प्राप्त होता है; (**तस्मात्**) इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि – (**अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्**) जिसमें से खण्डों को निराकृत नहीं किया गया है; तथापि जो अखण्ड है, (**एकम्**) एक है, (**एकान्त-शान्तम्**) एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है – ऐसा अत्यन्त शांत भावमय है) और (**अचलम्**) अचल है (अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता) ऐसा (**चिद् महः अहम् अस्मि**)चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।

भावार्थ – आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है; इसलिए यदि नयों की एकान्तदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये, ऐसा होने से स्याद्वादी नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को अनेकशक्ति समूहरूप, सामान्यविशेषरूप, सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलश २७० पर प्रवचन

अनन्त शक्तियों का समुदायमय भगवान आत्मा जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शित्व आदि अनंत गुण एवं शक्तियों का अखण्ड एक चैतन्यवस्तु है। यद्यपि समयसार में संक्षेप में ४७ शक्तियों का ही वर्णन किया है; परन्तु आत्मा वस्तुतः अनन्त गुण एवं अनन्त शक्तियों का समुदायमय वस्तु है।

अहाहा ....! भाई ! यह तो अमृत से भरा अलौकिक कलश काव्य है। जिन्हें संसार का दुःख दूरकर अनाकुल आनन्द में रहना हो, उनके लिए यह अलौकिक बात है। योगसार ग्रन्थ में भी कहा है –

चारगति दुख से डरे, तो तज के सब परभाव।

देखो, अज्ञानी की दृष्टि में अपनी चैतन्यवस्तु गायब है, उसकी प्राप्ति उसे कैसे हो – इसकी यह बात है। यहाँ कहते हैं कि – आत्मा वस्तुरूप से अभेद है, एक है। यद्यपि उसमें अनन्त गुण हैं; परन्तु अनन्त गुणमय वस्तु अभेद, एक है। अहा ! ऐसे आत्मा को एक-एक नय से देखने पर अखण्ड आत्मवस्तु खण्ड-खण्ड हो जाती है अर्थात् पूर्ण आत्मवस्तु दृष्टि में से खो जाती है। ज्ञान व दृष्टि में सम्पूर्ण आत्मवस्तु की प्राप्ति नहीं होती, अभेद वस्तु लक्ष्य में नहीं आती। आत्मा को जहाँ भेद से दृष्टि में लेने का प्रयत्न करता है, वहीं विकल्प खड़े होते हैं, अभेद लक्ष्य में नहीं आता। अहा! पर से व राग से आतम की प्राप्ति होना तो दूर रहो, आत्मा को उसके एक-एक गुण से देखने पर भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि – दूसरी बात (निमित्त से और व्यवहार से होता है, – यह बात) तो तू जाने दे, जानने योग्य जो स्वज्ञेय है – अपना अखण्ड एक आत्मपदार्थ है, उसे जानने जायें तथा उस स्वज्ञेय में रहनेवाली अनन्त शक्तियों के भेद करके देखें तो भी एकरूप आत्मपदार्थ दृष्टि में नहीं आता, विकल्प ही उठते हैं। इसप्रकार आत्मपदार्थ श्रद्धा-ज्ञान में नाश को प्राप्त होता है अर्थात् भगवान ज्ञायक का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान उदित नहीं होता। भाई ! आत्मतत्त्व में अनन्तगुण हैं। उनके रहते यदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक-एक को भेद करके लक्ष्य में लें तो विकल्प ही उत्पन्न होते हैं। अभेद एकरूप द्रव्य की दृष्टि नहीं होती। अतः ज्ञान व दृष्टि एक अभेदद्रव्य पर ही होना चाहिए।

देखो, इस कलश में आचार्यदेव ने आत्मा में से भेदों का बहिष्कार नहीं किया। यद्यपि आत्मा में अनन्तगुण हैं अवश्य; परन्तु अनन्त गुणमय होते हुए भी आत्मा अखण्ड एक ज्ञायक वस्तु है तथा इस अखण्ड की दृष्टि करने से ही आत्मा की प्राप्ति होती है, भेद की दृष्टि से नहीं। भेद की दृष्टि से तो विकल्प उठते हैं, निर्विकल्पता नहीं होती। अहाहा......! अनन्त गुणों का एकरूप आत्मा। ऐसा आत्मस्वरूप सर्वज्ञ के सिवाय और कौन कह सकता है? अहा! ऐसी आत्मवस्तु सर्वप्रकार से शान्त है –ऐसा हम अनुभव करते हैं।

अहा ! अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा एकान्त शान्त भावमय है, पूर्ण शान्त है, अचल है, कर्मोदय से कभी चलायमान नहीं होता। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि एक-एक नय से शक्तियों को देखें तो आत्मा खण्ड-खण्ड होकर नाश हो जाये, अखण्ड द्रव्यवस्तु ज्ञान में आयेगी ही नहीं।

प्रश्न – आत्मा खण्ड-खण्ड कैसे होगा? शास्त्रों में तो आत्मा के विषय में ऐसा कहा है कि – 'न छिदन्ति, न भिदन्ति' अर्थात् आत्मा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है आदि?

उत्तर – कथन करने की अनेक अपेक्षायें हैं, उन्हें समझना चाहिए। वस्तु तो अखण्ड ही है; किन्तु एक-एक गुण को लक्ष्य लेने पर आत्मा अनेक (खण्ड-खण्ड) रूप भासित होता है, अखण्डरूप भासित नहीं होता। ऐसा इसका अर्थ है। वैसे तो आत्मा अनादि-अनन्त त्रिकाल अविनाशी है; किन्तु उस अखण्ड वस्तु में एक-एक भेद करके ग्रहण करने पर खण्ड-खण्ड होकर विनाश को प्राप्त होता है, अपने अखण्ड अस्तित्व का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही निषेध कर देता है। जब ज्ञान में अखण्डपना भासित नहीं हुआ तो अखण्डपना कैसे रहा ? अखण्ड तो है; परन्तु अखण्डता स्वीकार न करने से अज्ञानी के ज्ञान में अखण्डपने की नास्ति ही हुई न !

वस्तु में नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि धर्म हैं तथा सामान्य द्रव्यरूप से एकरूप और विशेष अपेक्षा से भेदरूप वस्तु है; तथापि ज्ञानी तो वस्तु को सर्वशक्तिमय अभेद एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

मैं एक चैतन्यवस्तु हूँ – ऐसी दृष्टि करके वस्तु में एकाग्र होकर परिणमने का नाम धर्म है। इसी का नाम आत्मा की स्वीकृति है, पहचान है और यही स्वानुभव है। यही वस्तुस्वरूप है। स्याद्वादी को इसमें विरोध नहीं है; बल्कि विरोध का निराकरण है।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है – इसप्रकार आचार्यदेव गद्य में कहते हैं –

न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

(ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि–) मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ,, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थ – यदि शुद्धनय से देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।

संस्कृत गद्य टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि मैं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से खण्डित नहीं होता अर्थात् 'मैं द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से जुदा हूँ' – ज्ञानी ऐसा भेदरूप अनुभव नहीं करता। द्रव्य में ही चारों अभेदपने से समाहित हैं। ऐसा अखण्ड, अभेदरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुभव करता है।

कलशटीका में केरी (आम) का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार केरी में रेसा, छिलका, गुठली और मिठास – चारों अंश जुदे-जुदे नहीं हैं। इसीप्रकार एक आत्मद्रव्य में-जीववस्तु में कोई अंश जीवद्रव्य है, कोई अंश जीवक्षेत्र है, कोई अंश जीवकाल है और कोई अंश जीवभाव है – ऐसे चार भेद मानना तो विपरीतता है। वस्तुतः बात तो यह है कि – केरी (आम) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण युक्त पुद्गल का पिण्ड है, इसकारण मात्र स्पर्श से विचार करने पर वही केरी रसमात्र है, गंधमात्र से विचार करने पर वही केरी गंधमात्र है और वर्णमात्र से विचार करने पर वही केरी वर्णमात्र है अर्थात् केरी स्वभाव से तो एकरूप है, अखण्ड है, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से केरी (आम) जुदी वस्तु नहीं है।

इसप्रकार जीवद्रव्य को (एक अखण्ड वस्तु को) द्रव्य से देखें तो भी यह अखण्ड वस्तु है, क्षेत्र से देखो तो भी यह अखण्ड वस्तु है, काल से देखो तो भी यह अखण्ड वस्तु है और भाव से देखें तो भी यह त्रिकाली अखण्ड वस्तु है। चारों ही अभेद एक वस्तु है। ज्ञानी कहते हैं कि मैं एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। चार जुदे-जुदे नहीं हैं।

शुद्धनय से देखा जाय तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है। अतः ज्ञानी अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता है।

अभेद एकद्रव्य को देखा जाय तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है अर्थात् की वस्तु अभेद ही अनुभव में आती है। देखो ! यह ज्ञानी की अनुभूति ! धर्मी ज्ञानी पुरुष अखण्ड एक वस्तु में भेद नहीं देखता है।

जो वस्तु का द्रव्य है, वही क्षेत्र है, वही काल है और वही भाव है। ज्ञानी अपनी ज्ञानमात्र वस्तु को एक अभेदरूप से ग्रहण करता है, खण्ड–खण्ड करके अनुभवता नहीं है। वस्तु को द्रव्य उसके असंख्यात प्रदेश को क्षेत्र, उसकी अवस्थाओ को काल और उसके अनंतगुणों को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाव कहा जाता है। ज्ञानमात्र वस्तु में ज्ञानी जीव इन भेदो को नहीं देखकर निर्विकल्प वस्तुमात्र को ही देखता है। भाई ! अन्तर्दृष्टि में भेद नहीं है, उसमें तो मात्र अभेद का ही अनुभव है। ❖

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है – इस अर्थ का काव्य कहते हैं –

(मालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१ ।।

श्लोकार्थ :– (**यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः**) जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए; (**ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्गन्**) (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह (**ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः**) ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता – इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए।)

भावार्थ – ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्नप्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप दिखाई देता है; परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञानतरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से वे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप हैं और स्वयं ही अपना जानने-वाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता – इन तीनों भावों से युक्त सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता है।

कलश २७१ पर प्रवचन

"मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ' – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ मात्र छह द्रव्यों का जाननेवाला ज्ञानमात्र नहीं समझना; बल्कि ज्ञान, ज्ञेय अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना। स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता – ऐसा ज्ञान-ज्ञाता एवं ज्ञेयरूप तीनों भावों सहित वस्तुमात्र जानना।

'ज्ञेय के आकाररूप होता हुआ ज्ञान की कल्लोलरूप से परिणमित– – ऐसा जो टीका में कहा, वह व्यवहार से कहा है। वस्तुतः तो छहद्रव्यरूप ज्ञेयों का जैसा स्वरूप है, उनको जानने में विशेषरूप से परिणमना ज्ञान की स्वयं की दशा है और वह ज्ञान की स्वयं की सामर्थ्य से है। 'ज्ञेय के आकार से हुआ ज्ञान– यह तो कथनमात्र है; वस्तुतः ज्ञान तो ज्ञानाकार ही है, ज्ञेयाकार हुआ ही नहीं, होता ही नहीं।

अहा ! यहाँ यह कहते हैं कि यह ज्ञान की पर्याय और मेरा द्रव्य-गुण (द्रव्य-गुण-पर्याय) इन तीनों रूप होता हुआ मैं व्यवहार से ज्ञेय हूँ, ज्ञान हूँ, परमार्थ से ऐसा नहीं है। परमार्थ से तो मैं एक ही हूँ। जगत में अन्य वस्तुयें हों तो भले हों, परमार्थ से उनके साथ मेरा जानने तक का संबंध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि – परज्ञेय अर्थात् परपदार्थरूप देव-शास्त्र-गुरु, पंचपरमेष्ठी और व्यवहार रत्नत्रय आदि ज्ञेय के साथ मेरा ज्ञाता-ज्ञेय संबंध तो दूर ही रहो; मैं तो परमार्थ से ज्ञेय-ज्ञान व ज्ञाता – ऐसे तीन भेदरूप भी नहीं हूँ। इन तीनों मय मैं एक ही हूँ। देखो, यह स्वानुभव की दशा ! मैं ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय – ऐसे भेदों से भेदरूप नहीं होता। मैं ऐसा अभेद चिन्मात्र आत्मा हूँ। आत्मा में ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता के भेदों का उत्पन्न होना तो राग है, विकल्प है, वस्तु में वस्तु की दृष्टि में ऐसे भेद नहीं हैं, वस्तु तो अभेद है, एक है।

भाई ! तुझमें तेरा अस्तित्व कितना विशाल है – इसकी तुझे स्वयं ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खबर नहीं है। देखो, तीन लोक के अनन्त द्रव्य – (द्रव्य, गुण, पर्याय) उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें जो अनन्तानन्त हैं, उन सबको जाननेवाली तेरी ज्ञान की दशा – वे सब वस्तुतः तेरे ज्ञेय हैं। न केवल वे ही तेरे ज्ञेय हैं; किन्तु ऐसी सामर्थ्य की धारक तेरी स्वयं की द्रव्य-गुण-पर्यायमय आत्मवस्तु भी तेरी ज्ञेय है।

उन समस्त को जाननहार तेरा अपना ज्ञान, वे समस्त तेरे अपने ज्ञेय और स्वयं ही उन समस्त का ज्ञाता – ये तीनों वस्तुएँ भी एक की एक हैं, तीन भेदरूप नहीं। ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय – इन तीनों भावों सहित वस्तुमात्र स्वयं एक है।

कलश २७१ के भावार्थ पर प्रवचन

बहुत सरस भावार्थ है, वस्तु के मर्म का मक्खन है। कहते हैं कि – अपने द्रव्य पर दृष्टि डालने पर स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञेय है – ऐसा अनुभव होता है। छह द्रव्य ज्ञेय, मैं ज्ञान और मैं ज्ञाता – ऐसा अनुभव नहीं करता; क्योंकि परमार्थ से पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध नहीं है।

आगे कहते हैं कि 'ज्ञानमात्र भाव जाननक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है। जगत के ज्ञेयों को जाननेरूप जाननक्रिया ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेयरूप नहीं। ज्ञान की पर्याय में जो छह द्रव्य जानने में आते हैं, निश्चय से ज्ञान की पर्याय में वे छह द्रव्य जानने में नहीं आते; बल्कि छह द्रव्य सम्बन्धी अपना ज्ञान ही जानने में आता है और वह ज्ञान ही निश्चय से आत्मा का ज्ञेय है। परज्ञेयों को जाना जाता है अथवा परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं – यह कहना तो व्यवहार है। ज्ञेयसंबंधी अपनी जो ज्ञानपर्याय जानने रूप हुई है, वही ज्ञान का ज्ञेय है, परज्ञेय नहीं। अहाहा......! छह द्रव्य को जानने का ज्ञान की पर्याय का अस्तित्व है, पर का नहीं। छह द्रव्य का ज्ञान कहना व्यवहार है। ज्ञेय का ज्ञान निश्चय से ज्ञेय का नहीं; किन्तु ज्ञान का ही ज्ञान है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भी अपने भावार्थ में यही स्पष्ट करते हैं। देखो, वे कहते हैं – बाह्य ज्ञेय – रागादि से लेकर छहों द्रव्य अपने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा से (अपने द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों से) जुदे हैं। यदि वे जुदे न हों तो एक हो जायें; किन्तु ऐसा तो होता ही नहीं है।

राग का ज्ञान होता है, उसमें राग ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है। केवली भगवान को लोकालोक का ज्ञान हुआ तो लोकालोक उनके केवलज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाता। घट को जाननेवाला घटरूप नहीं हो जाता तथा घट को जाननेवाला निश्चय से घट को जानता ही नहीं है। स्व-पर को जाननेवाले ज्ञानरूप आत्मा ही स्वयं होता है। घट को जाननेवाले ज्ञानरूप आत्मा स्वयं ही होता है।

इसकारण घट का ज्ञान नहीं; परन्तु आत्मा का ही ज्ञान होता है। अपने में ज्ञानपरिणाम का ही अस्तित्व है, ज्ञेयों का नहीं। आत्मा का 'ज्ञ' स्वभाव है। स्वयं से हुई अपनी स्वयं की क्रिया है, इसमें परज्ञेयों का कुछ भी नहीं है। इसप्रकार ज्ञेयसम्बन्धी अपने ज्ञान का जो परिणमन हुआ, वह स्वयं ही ज्ञेय स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञाता है।

ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर – ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देता है, परन्तु वह ज्ञान की कल्लोल है।

अहा ! आचार्यों ने कैसा गजब भेदज्ञान कराया है। वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है। इसे जरा ध्यान से सुनना-समझना पड़ेगा। कहते हैं कि – आत्मा पर का कुछ करता है' – यह बात तो बहुत दूर रह गई, पर का कर्ता तो आत्मा है ही नहीं; किन्तु परपदार्थ अपने ज्ञान की पर्याय में जाने जाते हैं, ज्ञान पर को जानता है अथवा परज्ञेय ज्ञान की पर्याय में प्रवेश करे – ऐसा भी नहीं है। आत्मद्रव्य एक ज्ञायकभावपने है। वह स्वयं ज्ञान की पर्यायपने जाननक्रियारूप से होती है, वह स्वयं की स्व-परप्रकाशक की क्रिया है।

'आत्मा में पर जाना जाता है' – यह कहना व्यवहार है। निश्चय से पर नहीं जाना जाता। अपनी जाननक्रिया ही जाननेरूप है, वही ज्ञान में आती है या जानी जाती है।

आत्मा स्वयं जानने के भाववाला तत्त्व होने से लोकालोक के जितने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञेय हैं, उनको तथा अपनी स्वयं की जानने की क्रियारूप से अपने में अपने कारण परिणमित होता है। वस्तुतः ये ज्ञान की पर्यायें हमारे शाश्वत ज्ञेय हैं। हमारे ज्ञान की निर्मल पर्याय में पर पदार्थ झलकने का सहज स्वभाव है, इसकारण पर (पदार्थ) ज्ञेय हैं – ऐसा कहना व्यवहार है। वस्तुतः तो हम अपनी उस निर्मल ज्ञानपर्याय को ही जानते हैं, जिसमें लोक के द्रव्य झलकते हैं।

परद्रव्यरूप ज्ञेयों के आकार अर्थात् ज्ञेयों के विशेष अपनी ज्ञानपर्याय में झलकते हैं अर्थात् ज्ञेयों संबंधी अपना ज्ञान अपने में अपने से परिणमता है, वह ज्ञान ज्ञेयाकार दिखता है – ऐसा कहा; किन्तु वस्तुतः अपना ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ नहीं है। अपना ज्ञान तो ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञान की ही तरंगें हैं। अहाहा.........! जानना-जानना ही अपना (आत्मा) का स्वभाव है, इसमें परवस्तुओं का-परज्ञेयों का प्रवेश नहीं है – ऐसा होते हुए भी जो जानना अपने ज्ञान में होता है, वह वस्तुतः परज्ञेयों को जानता नहीं है, जानने की अपनी दशा है।

देखो, दर्पण के दृष्टान्त से यह बात समझाते हैं – जिसप्रकार दर्पण के सामने कोयला, अग्नि वगैरह रखी हो तो दर्पण में दिखाई देती है; किन्तु वह अग्नि या कोयला दर्पण से बिल्कुल जुदे हैं। दर्पण में तो उन पदार्थों की मात्र झलक दिखती है, वे पदार्थ तो दर्पण में प्रविष्ट हुए नहीं हैं। दर्पण में तो दर्पण की स्वच्छता का ही अस्तित्व है। यदि अग्नि ने दर्पण में प्रवेश किया होता तो दर्पण अग्निमय हो जाता; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। दर्पण अपनी स्वच्छता के परिणाम से स्वयं ही अपने से परिणमा है, कोयला या अग्नि का उसमें कुछ भी नहीं है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वच्छ चैतन्य दर्पण है। उसके ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार की झलक है। उस झलक के पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देता है। ज्ञान के सामने जैसे ज्ञेय होते हैं, उसीप्रकार की विशेषता रूप से अपनी ज्ञान की दशा होकर उन ज्ञेयों को जानती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान ज्ञेयाकार हो गया है; परन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार होता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है; बल्कि ज्ञान की ही कल्लालें हैं, ज्ञान की ही दशायें हैं। ज्ञेयों का उसमें कुछ भी नहीं है।

अहा ! अपनी ऐसी अस्तित्व की महिमा जाने बिना तू दया-दान, व्रत-तप कर-करके शरीर को सुखा लेता है तो भी रंचमात्र भी धर्म नहीं होता। अपने स्वरूप की महिमा के बिना धर्म की क्रिया हो ही नहीं सकती।

अहाहा..........! यहाँ कहते हैं कि – ज्ञान की कल्लोलें ही ज्ञान से ज्ञात होती है। अपने अस्तित्व में दया-दान आदि के भाव और शरीर-मन-वाणी आदि परज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता। इसलिए जानने की क्रिया ही ज्ञान से, आत्मा से ज्ञात होती है। जो दया आदि के परिणाम होते हैं, उन्हें जानने की क्रिया आत्मा की है और वे इसके ज्ञेय हैं। वे दया आदि के परिणाम परमार्थ से आत्मा के नहीं हैं और परमार्थ से आत्मा के ज्ञेय भी नहीं हैं।

देखो, इस सब कथन का सारांश यह है कि – जानने योग्य परपदार्थ पर में ही रहते हैं और जाननेवाला जाननेवाले में रहता है। जाननेवाला ज्ञाता स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ स्वयं को ही जानता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं से ही जाननेयोग्य है। ज्ञानमात्र भाव ही स्वयं का ज्ञेय है। परपदार्थों को ज्ञेय कहना तो व्यवहार है।

तथा स्वयं ही अपना ज्ञान जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। अहाहा...............! पर के साथ परमार्थ से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो जानने में आता है, वे ज्ञेय के प्रतिबिम्ब आत्मा की ही दशायें हैं, जाननेवाला ज्ञाता भी स्वयं और ज्ञान भी स्वयं ही है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय – तीनों एकरूप हैं। अन्तर में दृष्टि डालने पर ऐसे तीन भेद आत्मा के नहीं ठहरते।

अहाहा....! 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' – ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष यह अनुभव करता है कि ज्ञाता भी मैं हूँ, ज्ञान भी मैं हूँ और ज्ञेय भी मैं ही हूँ। – ऐसा अनुभव होना ही धर्म है।

देखो, यहाँ सामान्य-विशेष – दोनों ही एकसाथ लिया है; क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रमाणज्ञान कराना है। प्रमाणज्ञान में वस्तु त्रिकाली सत्, इसकी शक्तियाँ त्रिकाली सत् और इसकी वर्तमान पर्याय – इन तीनों को ही आत्मा कहा है। इसमें शरीर, मन, वाणी, कर्म और विकार आदि नहीं आता।

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेकप्रकार से दिखाई देता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मलज्ञान को नहीं भूलता – इस अर्थ का काव्य कहते हैं –

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥२७२॥

श्लोकार्थ :– (ज्ञानी कहता है –) (**मम तत्त्वं सहजम् एव**) मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव ही है कि (**क्वचित् मेचकं लसति**) कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है, (**क्वचित् मेचक-अमेचकं**) कभी मेचक-अमेचक (दोनों रूप) दिखाई देता है (**पुनः क्वचित् अमेचकं**) और कभी अमेचक (एकाकार शुद्ध) दिखाई देता है; (**तथापि**) तथापि (**परस्पर-सुसंहत-प्रगट-शक्ति-चक्रं-स्फुरत तत्**) परस्पर सुसंहत (सुमिलित, सुग्रन्थित) प्रगट शक्तियों के समूहरूप से स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व (**अमल मेधसां मनः**) निर्मल बुद्धिवालों के मन को (**न विमोहयति**) विमोहित (भ्रमित) नहीं करता।

भावार्थ – आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है; किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलश २७२ पर प्रवचन

'मैं चिदानन्दघन एव चिन्मात्र वस्तु आत्मा हूँ – ऐसी जिसकी दृष्टि हुई, वे सम्यग्ज्ञानी हैं। वे अपने आत्मतत्त्व को कैसा जानते हैं; उसकी यह सरस चर्चा है। कई बार तो मेचक अर्थात् मलिन है, पर्याय में अशुद्धता है, दु:ख है – ऐसा जानते हैं। वह मलिनता पर के कारण नहीं; किन्तु अपने से, अपना ही ऐसा परिणमन है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

प्रवचनसार के ४७ नयों के अधिकार में कर्त्ता व भोक्तानय की बात कही है, वहाँ कहा है कि ज्ञानी की पर्याय में अपनी कमजोरी से राग का परिणमन है। 'राग करने लायक है' – ज्ञानी ऐसा नहीं मानता; किन्तु वर्तमान में उसके पुरुषार्थ की कमजोरी से उसके राग का परिणमन है, अपेक्षा से वह उस राग का कर्त्ता-भोक्ता है – ऐसा यथार्थ जानता है। यद्यपि दृष्टि उस राग को नहीं स्वीकारती; क्योंकि दृष्टि का विषय एक अभेद चिन्मात्र आत्मा है; किन्तु साथ ही सम्यग्ज्ञान ऐसा जानता है कि – मेरी दशा में मेचकपना रागादिभावरूप मलिनता है, ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है न ? इसकारण स्व के साथ पर्याय में जो राग है, उसको वह जानता है। गणधर आदि जो क्षायिक समकिती होते हैं, वे भी ऐसा जानते हैं।

देखो, आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इस समयसार शास्त्र की आत्मख्याति नाम की टीका लिखी। यह महान टीका है, इस टीका के तीसरे कलश में अपनी स्थिति बताते हुए कहते हैं –

द्रव्यदृष्टि से मैं शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, तो भी मेरी परिणति-रागादि परिणामों की व्याप्ति से निरन्तर कल्माषित (मलिन) है। मेरी दृष्टि निरन्तर चिन्मात्र द्रव्यवस्तु पर रहते हुए भी पर्याय में मलिनता है – ऐसा मेरा ज्ञान जानता है। जबतक राग या कर्म की पूर्ण निर्वृत्ति न हो, तबतक ज्ञानी को ज्ञानधारा और कर्मधारा – दोनों एकसाथ चलती हैं। जितना राग है, उतनी कर्मधारा है – ऐसा ज्ञानी यथार्थ जानते हैं।

प्रश्न – एक ओर ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान से शुद्धत्व परिणमन है और दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि – छट्ठे गुणस्थान में भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मलिनता है – यह कैसे संभव है।

उत्तर – भाई ! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए। जबतक यथाख्यात चारित्र न हो, तबतक राग होता है। यद्यपि दृष्टि उसे स्वीकारती नहीं है; किन्तु ज्ञान उसे यथास्थित जैसा है वैसा जानता है।

अहा ! यह सर्वज्ञप्रणीत मार्ग है – इसे युक्ति से जैसा है वैसा जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि – सम्यग्ज्ञानी को चारित्रगुण की एक ही समय की पर्याय के दो निर्मल एवं मलिन – (आंशिक निर्मलता व आंशिक मलिनता) ऐसे दो भाग दिखाई देते हैं। एक समय में दो धारायें हैं न ? ज्ञानी को जैसा शुद्धता का ज्ञान है, उसीसमय वैसी ही जो अशुद्धता-मलिनता है, उसका भी ज्ञान है, वह भी जानने में आती है।

निर्विकल्प अनुभव में, शुद्धोपयोग की दशा में अकेला आनन्द और शुद्धता ही है। उस काल में यद्यपि अबुद्धिपूर्वक होनेवाला राग है; किन्तु वह ख्याल में नहीं आता। निर्विकल्प उपयोग में शुद्धता का ही वेदन है उस काल में अबुद्धिपूर्वक हो रहे राग को उपयोग जान नहीं सकता।

निर्मलपर्याय व मलिन – दोनों परस्पर में अच्छी तरह गुंथी है, एकमेक जैसी हो रही हैं। चौदहवें गुणस्थान तक जो असिद्धत्वभाव कहा है, वह भी संसार है। नीचे समकिती की (चौथे गुणस्थान की) पर्याय में जितने अंश में स्वभाव की दृष्टि व स्थिरता हुई, उतनी निर्मलता तथा जितना राग है, उतनी मलिनता – ये दोनों सुग्रंथित हैं।

जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है – ऐसे समकिती जीव को आत्मतत्त्व की ऐसी विचित्रता-निर्मलता व मलिनता दोनों साथ में दिखती हुई भी उसके मन को विमोहित नहीं करती। धर्मी जीव मिथ्याभाव को प्राप्त नहीं होता। अहाहा.....! धर्मीजीव को एकसाथ सुख का वेदन एवं अशुद्धता के दुःख का वेदन होता है तो भी वह मार्ग से चलायमान नहीं होता। एक पर्याय में जितना मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उतना आनन्द का भाग तथा जितना राग है, उतना दुःख का भाग – दोनों ही वस्तुस्थिति है – ऐसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मी बराबर जानता है।

कलश २७२ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि – आत्मा निश्चयनय से चिदानन्द प्रभु है। धर्मी को उसकी निर्मलप्रतीति एवं अनुभव होने पर उसको पर्याय में आंशिक विकार का और आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द एवं शान्ति का वेदन होता है। किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव करता है। जब अपने अन्तर में उपयोग लगता है तो किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध का भी अनुभव करता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। दोनों को ज्ञानी एकसाथ जानता है। धर्मी को शुद्धता के साथ किंचित् राग का वेदन होता है, विरुद्धभाव भी साथ में रह सकता है। देखो, तीर्थंकरों को जन्म से क्षायिक समकित होता है। आठ वर्ष की उम्र में स्वभाव के विशेष आलम्बनपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं। उनमें अनेक तीर्थंकर चक्रवर्ती भी होते हैं। उनके ९६ हजार रानियाँ और उन संबंधी भोगोपभोग भी होता है; किन्तु उन्हें यद्यपि उन भोगों में सुखबुद्धि नहीं होती; तथापि भोगों की आसक्ति का परिणाम तो होता ही है। इस आसक्ति के परिणाम को वे दुःखरूप मानते हैं तथा जितनी शुद्धता प्रगट है, उतना शान्ति का वेदन होता है, उसे सुखरूप जानते हैं। वे दोनों को एकसाथ जानते हैं। छठवें गुणस्थान में मुनिवरों को जो शुभभाव होता है, वे उसे दुःखरूप जानते हैं तथा आत्मा के आश्रय से जितनी निर्मलता प्रगट हुई है, उतना उन्हें आनन्द का वेदन होता है। साधक इन दोनों स्थितियों को एकसाथ जानते हैं। साधकदशा ऐसी ही होती है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि को एकान्त अशुद्धता का वेदन होता है, भगवान केवली को एकान्त शुद्धता का, आनन्द का वेदन होता है और साधक अवस्था में आंशिक आनन्द एवं आंशिक दुःख – दोनों का वेदन होता है।

अहाहा......! आत्मा की विचित्रता तो देखो! आत्मा में अनेकप्रकार की योग्यतायें हैं। तदनुसार जिनवाणी में नाना अपेक्षा से कथन किए गये हैं। उन्हें यथार्थ समझना चाहिए। ज्ञानी स्याद्वाद के बल से भ्रमित नहीं होता। वस्तु जैसी है, वैसी ही मानता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो, जिस सीता-माता के उदर में तद्भव मोक्षगामी पुत्र (लव-कुश) थे, ऐसी सीताजी के लिए रामचन्द्रजी ने सारथी को आज्ञा देकर ऐसा वनवास करा दिया; जहाँ सिंह, बाघ जैसे हिंसक प्राणियों का निर्बाध संचार था। उस समय कैसे परिणाम रहे होंगे रामचन्द्रजी के? आज्ञा सुनकर सारथी भी स्तब्ध रह गया। जब छाती पर पत्थर रखकर सारथी ने सीता को जंगल में छोड़ा और रामचन्द्र के आदेश का उल्लेख किया तो सीताजी भी आश्चर्यचकित रह गईं। हृदय में आघात लगा, आँखों से अश्रु धार बहने लगी। थोड़ी देर में तत्त्व के आलम्बन से शान्त होकर सीता ने सारथी से कहा – रामचन्द्रजी से कहना कि – 'मैं धर्मात्मा हूँ, निर्दोष हूँ' – यह जानते हुए भी लोकापवाद के भय से तुमने मुझे छोड़ा। यहाँ तक तो कुछ भी नहीं बिगड़ा; परन्तु लोकापवाद के भ्रम से ही धर्म को नहीं छोड़ देना। यद्यपि पर्याय में मेरे रागादि हैं, आर्त परिणाम हैं – ऐसा भान है और स्वभाव से मैं रागरहित हूँ – ऐसा भी जानती हैं। इस-प्रकार धर्मी समकिती पुरुष भ्रमित नहीं होता। वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानता है, मानता है। ❖

आत्मा का अनेकान्तस्वरूप (अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्यकारक) है– इस अर्थ का काव्य कहते हैं –

(पृथ्वी)

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता–
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै–
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्।।२७३।।

श्लोकार्थ – (**अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुत वैभवम्**) अहो! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि – (**इतः अनेकतां गतम्**) एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है और (**इतः सदा अपि एकताम् दधत्**) एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है (**इतः क्षण–**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विभंगुरम्) एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और (**इत: सदा एव उदयात् ध्रुवम्**) एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, (**इत: परम-विस्तृतम्**) एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और (**इत: निजै: प्रदेशै: धृतम्**) एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है।

भावार्थ – पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर ध्रुव; ज्ञान की अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टि से देखने पर परम विस्तार को प्राप्त दिखाई देता है। ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भव-सी बात है! यद्यपि ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता; फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ – ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है और इसलिए आश्चर्य भी होता है।

कलश २७३ पर प्रवचन

परमात्मपुराण में दर्शन व ज्ञान को अद्भुत रस कहा है। वहाँ कहा है कि – आत्मा की एक समय की दर्शन और ज्ञान – इन दोनों पर्यायों में से एक दर्शनोपयोग की पर्याय लोकालोक को, सम्पूर्ण सत् को अभेदरूप से देखती है। उसमें यह जीव है और यह अजीव है – ऐसा भेद नहीं है और तो ठीक है; 'यह है' ऐसा भेद भी नहीं है, जबकि दूसरी एकसमय की ज्ञान -पर्याय सबको भिन्न-भिन्न करके जानती है। इसप्रकार जिस समय दर्शन की पर्याय सबको भिन्न किए बिना देखती है, उसीसमय ज्ञान की पर्याय सबको भिन्न-भिन्न करके जानती है। यही आत्मा का एक सहज अद्भुत रस है।

अब यहाँ आत्मा का वैभव क्या है, इस बात को विशेष कहते हैं – एक ओर पर्यायदृष्टि से, अनेक को देखने की दृष्टि से देखें तो पर्याय में अनेकता दिखाई देती है अर्थात् अनन्त पर्यायें दिखती हैं; क्योंकि अनन्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुणों की अनन्त पर्यायें हैं। दूसरी ओर से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से, वस्तु की दृष्टि से देखें तो आत्मा एकरूप दिखाई देती है तथा आत्मा सदैव एकता को धारण करता है – ऐसा भी कहा है।

यदि वस्तु में अनित्यपना हो ही नहीं तो कार्य तो अनित्यपना में ही होता है न! यह द्रव्य ध्रुव है, शुद्ध है – ऐसा कार्य तो पर्याय में होता है न! अनित्यपर्याय ही तो नित्य का निर्णय करता है।

यहाँ कहते हैं कि – एक तरफ से स्वयं स्वयं से क्षणभंगुर है, क्षण-क्षण में नाश होनेवाली वस्तु है – ऐसा दिखता है। देखो, आत्मा को पर के कारण क्षणभंगुर नहीं कहा, अनित्य नहीं कहा 'पर्याय क्रमशः होती है' इस अपेक्षा से आत्मा को क्षणभंगुर कहा है और इसे अपना ही वैभव कहा है।

एक तरफ से देखने पर तीनों काल आत्मा का उदय होने से ध्रुव कहा है। पर्याय बदलती रहती है; परन्तु ध्रव नहीं बदलता –ऐसा ही आत्मद्रव्य का स्वभाव है।

इसप्रकार पर्याय में अनेकता व क्षणभंगुरता तथा द्रव्य में एकता और ध्रुव है – ऐसा वर्णन किया। अब तीसरे बोल में क्षेत्र से वर्णन करते हैं।

एक तरफ से देखने पर 'परम विस्तृत है' एक तरफ से देखने पर आत्मा एक समय में लोकालोक को जानता है, इससे उसका ज्ञान सर्वगत हो जाता है, तीन लोक में व्याप्त हो जाता है और तीन लोक में व्याप्त हो जाने से विशाल दिखता है। आत्मा अभी भी ऐसा है, जबकि यहाँ तो अभी साधक जीव की बात है। साधक जीव की भी एकसमय की ज्ञानपर्याय लोकालोक को, छह द्रव्यों को जानती है; इसलिए एक ओर से जानें-देखें तो ऐसा जानते हैं कि – जानने की अपेक्षा से आत्मा के क्षेत्र का इतना विस्तार है।

अब कहते हैं कि – आत्मा को द्रव्य की ही अपेक्षा से देखें तो आत्मा ने मात्र अपने क्षेत्र को धारण किया है, अपने क्षेत्र में रहता है, परवस्तु को, अपने प्रदेशों में धारण नहीं किया है।

देखो, इसप्रकार पर्याय के दो बोल कहे हैं – १. पर्याय में अनेकता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२. पर्याय क्षणभंगुर है तथा क्षेत्र के भी दो बोल हैं – १. सर्वगत है २. अनादि से वह अपने प्रदेश में ही है। इसप्रकार आत्मा का सहज अद्भुत वैभव है। ऐसा इस कलश में कहा है।

इसके पहले २७१ कलश भी बहुत श्रेष्ठ था – उसमें कहा था कि – जाननेवाला ज्ञायक भी स्वयं, ज्ञेय भी स्वयं है और जो जाने वह ज्ञान भी स्वयं ही है।

अहा..........भाई ! यह तेरा वैभव है। जो पूर्वापर विरोधी-सा दिखता हुआ भी अविरोधी है।

१. आत्मा में एक ही साथ एकता के साथ अनेकता होती है।

२. क्रम से होती हुई पर्याय क्षणभंगुर दिखते हुए भी वस्तुरूप से एकरूप ध्रुव है।

३. आत्मा एक साथ एक ही समय में स्वक्षेत्र में रहता है – ऐसा दिखते हुए भी जानने की अपेक्षा लोकालोक को धारण करता है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त होकर भी अपने ही स्वक्षेत्र में रहता है – ऐसा आत्मा का वैभव है।

कलश २७३ के भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में द्रव्य-पर्याय का भेद बताया है न ! अतः कहते हैं कि पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; क्योंकि पर्यायें अनेक हैं। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वह त्रिकाल एकरूप दिखाई देता है; क्योंकि द्रव्य अभेद है, अखण्ड है और एकरूप ही है।

इसप्रकार आत्मा अनेकरूप भी है और एकरूप भी है।

अब पर्यायदृष्टि को दूसरी रीति से बताते हैं – क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है। इस बोल में 'पर्यायदृष्टि से दिखाई देता है अर्थात् क्षण-क्षण में नाश होना आत्मा का स्वभाव है – ऐसा कहा है।

यहाँ **प्रश्न** है कि – पर्याय के पहले बोल में 'पर्यायदृष्टि से देखने पर' ऐसा कहा था और तत्काल बाद दूसरे बोल में 'क्रमभावी पर्यायदृष्टि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से देखने पर' यह कहा सो – इन दोनों कथनों में क्या अन्तर है ?

समाधान – भाई ! दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि को ही दूसरी दृष्टि से देखने की बात है। पहले बोल में अनेकता की बात कही है और दूसरे बोल में क्षणभंगुरता की बात की है। क्षणभंगुर कहकर शरीर, स्त्री-पुत्र आदि के संयोग संध्या की लालिमा की भाँति क्षणभर में वियोग में बदलनेवाले हैं, विनष्ट होनेवाले हैं – ऐसा बताया है।

'सहभावी गुणों की दृष्टि से देखने पर ध्रुव से दिखते हैं – देखो, पहले बोल में पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि की बात कही थी और यहाँ दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि व गुणदृष्टि की बात कह रहे हैं। इसकारण इन दोनों बोलों में अन्तर है।

पहले बोल में पर्यायदृष्टि से अनेकपना और द्रव्यदृष्टि से एकपना दिखाया। – ऐसा कहा था। जबकि यहाँ दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि अवश्य ली; किन्तु क्रम-क्रम से होती हुई पर्यायदृष्टि ली है तथा क्रमभावी पर्याय दृष्टि को अक्रमभावी (सहभावी) गुणदृष्टि से देखने की बात भी इस दूसरे बोल में कही है।

गुणदृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि – क्रम-क्रम से होती हुई पर्यायदृष्टि से देखो तो वह क्षणभंगुर है और सहभावी गुणदृष्टि से देखो तो वह ध्रुव है। देखो, पहले बोल में पर्यायदृष्टि के सामने द्रव्यदृष्टि की बात थी और इस दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि के सामने गुणदृष्टि की बात की है; क्योंकि क्रमभावी (सहभावी) कहना है न ! और अक्रमभावी भी गुण है तथा साथ ही अनेक भी बताना है और सहभावी गुण अनेक हैं। द्रव्य एक हैं तो गुण अनेक हैं और वे गुण सहभावी एकसाथ रहते हैं, इसकारण इस बोल में गुणदृष्टि है।

अहा ! सब पर्यायें एकसाथ नहीं होतीं। एक समय में एकसाथ एक ही पर्याय होती है तथा गुण सदैव एकसाथ ही होते हैं; इसकारण उस दृष्टि से देखने पर आत्मा ध्रुव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ कहते हैं कि – इस मनुष्यपने की पर्याय का नाश होकर दूसरे समय में दूसरी गति की पर्याय उत्पन्न होती है – ऐसा उस पर्याय का क्षणभंगुर स्वभाव है तथा सहभावी गुणदृष्टि से देखें तो वह ध्रुव दिखाई देता है। सहभावी का अर्थ है सब गुणों का एकसाथ होना तथा एक गुण की अपेक्षा सब पर्यायें कभी एक साथ कभी नहीं होतीं। हाँ, अनन्त गुणों की अनन्त वर्तमान पर्यायें एकसाथ होती हैं।

ज्ञान की अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टि से देखने पर ज्ञान परम विस्तार को प्राप्त दिखता है, लोकालोक ज्ञान की पर्याय में आ गया हो– ऐसा दिखता है अर्थात् वह सर्वगत है, सब कुछ जानता है। अरे ! यद्यपि लोकालोक का अन्त नहीं है; तथापि उनके ज्ञान में आभास हो जाता है।

आत्मा और उसकी ज्ञानपर्याय अपने असंख्य प्रदेशों में ही है। वह ज्ञान किसी अन्य के प्रदेशों में अथवा दूसरों की पर्यायरूप होकर नहीं रहा।

अब सारांश में कहते हैं कि – ऐसा द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तु का स्वभाव है।

अज्ञानी आश्चर्य प्रगट करते हुए कहते हैं कि 'ऐसा कैसे हो सकता है?'

१. वही वस्तु पर्याय-अपेक्षा अनेक एवं वही वस्तु द्रव्य-अपेक्षा एक है।

२. वही वस्तु पर्याय-अपेक्षा क्षणभंगुर एवं वही वस्तु द्रव्य-अपेक्षा नित्य (ध्रुव) है।

३. वही वस्तु ज्ञान-अपेक्षा सर्वव्यापक एवं वही वस्तु क्षेत्र-अपेक्षा स्वक्षेत्र में रहती है।

इसप्रकार अज्ञानियों को तो आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि वही वस्तु एक, वही अनेक, वही नित्य, वही अनित्य आदि; किन्तु ज्ञानियों को वस्तुस्वरूप में कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। ❖

पुनः इसी अर्थ का काव्य कहते हैं –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(पृथ्वी)

कषायकलिरेकतः स्खलित शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः।।२७४।।

श्लोकार्थ :– (**एकतः कषाय-कलिः स्खलित**) एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और (**एकतः शान्ति अस्ति**) एक ओर से देखने पर शांति (कषायों के अभावरूप शांतभाव) है; (**एकतः भव-उपहति**) एक ओर से देखने पर भव की (सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और (**एकतः मुक्तिः अपि स्पृशति**) एक ओर से देखने पर (संसार के अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; (**एकतः त्रितयम् जगत् स्फुरति**) एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (प्रकाशित होता है, दिखाई देता है) और (**एकतः चित् चकास्ति**) एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। (**आत्मनः अद्भुतात् अद्भुतः स्वभावमहिमा विजयते**) (ऐसी) आत्मा की अद्भुत से अद्भुत स्वभावमहिमा जयवन्त वर्तती है। अर्थात् किसी से बाधित नहीं होती।

भावार्थ – यहाँ भी २७३ वें श्लोक के भावार्थानुसार ही जानना चाहिए। आत्मा का अनेकांतमयस्वभाव सुनकर अन्य वादियों को भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बात में विरोध भासित होता है। वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभाव की बात को अपने चित्त में न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्था में उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि – 'अहो ! यह जिनवचन महा उपकारी हैं, वस्तु के यथार्थस्वरूप को बतानेवाले हैं, मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है।' – वे इसप्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलश २७४ एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यह आत्मा एक वस्तु है। धर्मी को साधक अवस्था में इस आत्मा का स्वरूप कैसा भासित होता है ? यह बात यहाँ करते हैं।

देखो, जब पर्याय की ओर से देखते हैं तो आत्मा में कषाय की आकुलता एवं क्लेश ही क्लेश दिखाई देता है और द्रव्य की दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा शान्ति का पिण्ड दिखाई देता है। निज अकषाय-स्वभाव की दृष्टि से देखने पर प्रभु आत्मा शान्ति का पिण्ड है – ऐसा दिखाई देता है। स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि भी कषाय के अभावरूप शान्तभावमय है।

देखो, जीव की पर्याय में नर-नारकादि गति हैं, उनके राग से जीव मारा जाता है, पीड़ित होता है। इसप्रकार की पर्यायों की ओर से देखें तो नर-नारक गतिसंबंधी पीड़ा दिखाई देती है।

दूसरे द्रव्यस्वभाव से देखें तो द्रव्य तो भाव के अभावस्वरूप मुक्त है। यदि पर्याय का लक्ष्य छोड़ दें तो वस्तु मुक्त ही है अर्थात् मुक्तस्वभावी आत्मा का आश्रय लेने पर 'मैं मुक्त ही हूँ' – ऐसा पर्याय में भासित होता है। आत्मा का ऐसा अद्भुत स्वभाव है।

अहा ! साधकदशा में धर्मी को एक ओर भव दिखाई देता है तो दूसरी ओर मुक्ति दिखाई देती है। एक ओर गति दिखती है तो दूसरी ओर गतिरहित स्वभाव दिखाई देता है।

देखो, जैनदर्शन ऐसा अनेकान्तमय है। कहते हैं कि – एक ओर से अपनी ज्ञान की दशा में भिन्न तीनकाल-तीनलोक जानने में आता है तथा दूसरी ओर से देखने पर, अन्तर्मुख होकर देखने पर केवल एक चैतन्य ही प्रकाशित होता है। पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को देखने पर आत्मा के अस्तित्व में एक चैतन्य ही भासित होता है।

अहा ! यहाँ ऐसा नहीं कहा कि – एक ओर कर्म, नोकर्म, स्त्री, पुत्र, महल, मकान दिखाई देते हैं और दूसरी ओर आत्मा दिखता है; क्योंकि ये सब तो आत्मा के अस्तित्व में ही नहीं है। यहाँ तो स्वभाव से पूर्ण भरपूर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपनी वस्तु का भान हुआ वहाँ साधक को अर्थात् धर्मी को एक ओर वर्तमान भव पीड़ाकारक दिखाई देता है और दूसरी ओर भवरहित अपना भगवान आत्मा भासित होता है। ऐसा ज्ञान में भासते हुंए धर्मी को निश्चय होता है कि अब हमारे भव एवं भव का भाव नहीं रहेगा।

अहा! धर्मी ऐसा नहीं मानता कि – मैंने दया पाली, व्रत पाले, ज्ञान लिया। वर्तमान में जो अल्पराग होता है, वह धर्मी को परज्ञेयरूप भासता है। इसमें स्वामित्व भासित नहीं होता।

अहाहा ....! एक समय की कलुषता-बाधकभाव स्वयं से है, कोई अन्य से बाधित नहीं होता तथा एक समय की शुद्धता-साधक भाव भी स्वयं से है, असहाय है, किसी से बाधित नहीं होता। निज स्वभाव की महिमा ऐसी अद्भुत और गंभीर है। यहाँ प्रमाण ज्ञान कराने के लिए पाँचों भावों को जीवतत्त्व कहा है।

भाई! तू आत्मतत्त्व है। तेरा अस्तित्व तेरे में तेरे से है। क्षणिकपने परिणमना, रागादिपने परिणमना, तेरा तुझमें है, अन्य में नहीं, अन्य से नहीं और दूसरों का तुझमें नहीं। ऐसी तेरे अस्तित्व की परम अद्भुत अलौकिक बात है। ❖

अब टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मंगल के अर्थ इस चिच्चमत्कार को ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं –

(मालिनी)

जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्त्रिलोकी–
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥२७५॥

श्लोकार्थ – (**सहज-तेजः पुंजः-मंजत्-त्रिलोकी-स्खलत्-अखिल-विकल्पः अपि एकः एव स्वरूपः**) सहज (अपने स्वभावरूप) तेजःपुंज में त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं; इसलिए जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं; तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं; इसलिए जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है; तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है), (**स्व-रस-विसर-पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भः**) जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हो जाने से जिसमें स्वरूपानुभव का अभाव नहीं होता) (**प्रसभ-नियमित-अर्चिः**) और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्य से निष्कम्प रहता है) (**एषः चित्चमत्कारः जयति**) ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है। (किसी से बाधित नहीं किया जा सकता – ऐसा सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है)।

(यहाँ 'चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथन में जो चैतन्य चमत्कार का सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मंगल है)।

कलश २७५ पर प्रवचन

अपने स्वभावरूप सहज तेजपुंज में तीनलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं; इसलिए जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं; तथापि जिसका एक ही स्वरूप है।

अहा ! केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकने से वे अनेक ज्ञेयाकाररूप से दिखाई देते हैं तो भी वस्तुतः ज्ञान ज्ञानाकार ही है, ज्ञेयाकाररूप नहीं हुआ। अनेक को जानता हुआ भी ज्ञान एकरूप ही रहता है। लोकालोक को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही रहती है; क्योंकि वह आत्मा की स्वयं की है। उसमें परज्ञेयों का प्रवेश नहीं हुआ है।

अब विशेष कहते हैं – अहा.......! शुद्ध आत्मा की पूर्ण अनुभवदशा का अनुभव नहीं होता। प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका के नवमें बोल में आया है कि उपयोग का किसी से हरण नहीं होता। एकबार शुद्धात्मा के आश्रय से जो उपयोग प्रगट हुआ, उसका किसी से नाश नहीं होता। द्रव्यस्वभाव का नाश हो तो उसके आश्रय से प्रगट हुए उपयोग का नाश हो; किन्तु ऐसा होता नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहाहा ......! जिस भगवान आत्मा ने अपने एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और रमणता की पूर्णता प्राप्त कर ली, वह पुनः नीचे नहीं गिरता और साधकदशा को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि सिद्धपद कभी छिदता नहीं है, वह तो अक्षय-अनन्त ही होता है।

केवलज्ञान ज्योति अनन्तवीर्य से सदा निष्कम्प एकरूप रहती है। अहा ! ऐसा यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्य चमत्कार वर्तता है। जहाँ केवलज्ञानादि सदा निष्कम्प वर्तते हैं – ऐसा चैतन्य चमत्कार प्रभु तू है।

अहाहा.....! सादि अनन्त समाधिसुख में अपने चैतन्य का रहना – ऐसा सिद्धपद जयवन्त वर्तो। ❖

अब इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हैं और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैं –

(मालिनी)

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म–
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता–
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम्॥२७६॥

श्लोकार्थ – (**अविचलित-चिदात्मनि आत्मनि आत्मानम् आत्मना अनवरत-निमग्नं धारयत्**) जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती) (**ध्वस्त मोहम्**) जिसने मोह का (अज्ञानांधकार का) नाश किया है, (**निःसपत्नस्वभावम्**) जिसका स्वभाव निःसपत्न (प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है, (**विमल-पूर्णं**) जो निर्मल है और पूर्ण है;ऐसी (**एतत् उदितम् अमृतचन्द्र-ज्योतिः**) यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति (अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) (**समन्तात् ज्वलतु**) सर्वतः जाज्वल्यमान रहो।

भावार्थ – जिसका न तो मरण होता है और न जिससे दूसरे का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (मीठा) होता है उसे लोग रूढ़ि से अमृत कहते हैं। यहाँ ज्ञान को, आत्मा को, अमृतचन्द्रज्योति (अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत् का लोप होकर अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है।

(यदि 'वत्' न रखकर 'अमृतचन्द्ररूप ज्योति' अर्थ किया जाये तो भेदरूपक अलंकार होता है और 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलंकार होता है।)

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकारक का दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है; 'निःसत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है और 'समन्तात् ज्वलतु' सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में प्रकाश करना बतलाता है; जबकि चन्द्रमा ऐसा नहीं है।

इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव ने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करने से 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्र-ज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं जो कि यथासंभव जानना चाहिए।

कलश २७६ पर प्रवचन

यहाँ अन्तिम मंगल करते हुए आत्मा आत्मा को आर्शीवाद देता है। अहाहा.......! आत्मा के सिवाय आत्मा को और कौन आशीर्वाद दे सकता है? और दूसरा कौन उसके आशीर्वाद को स्वीकार कर सकता है।

अहाहा.....! समकिती को भगवान आत्मा अचल चेतनास्वरूप भासित होता है। वह स्वयं को स्वयं में रत्नत्रय के राग की एवं निमित्त की अपेक्षा बिना ही स्वयं स्वयं से स्वयं को स्वयं में निमग्न रखता है। अहाहा...! दया, दान, व्रतादि के परिणाम कर्मचेतना हैं और सुख-दुःख का वेदन कर्मफल चेतना है। आत्मा दोनों से रहित स्वयं ही स्वयं को स्वयं में अन्तर्मग्न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रखता है।

प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के छठवें बोल में आता है कि आत्मा अपने स्वभाव से जाननेवाला होने से ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। अहा! आत्मा स्वभाव से ही निरन्तर अन्तर्मग्न रहता है। ऐसा अनुभव धर्मी को ही होता है। अज्ञानी को तो विचारों के स्वरूप की ही खबर नहीं है। वे तो क्रियाकाण्ड में ही मग्न रहते हैं; परन्तु इससे कोई लाभ नहीं है; क्योंकि व्यवहार से अन्तर्मग्नता नहीं होती। नियमसार गाथा ३ में कहा है कि – भगवान आत्मा की दृष्टि, उसका ज्ञान अर्थात् स्व-संवेदनज्ञान और उसी में लीनतारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही कर्तव्य है, अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यद्यपि व्यवहार के विकल्प उठते हैं; किन्तु वे कर्तव्य नहीं हैं।

देखो, यहाँ अन्त मंगल में आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि स्वयं ही स्वयं को स्वयं से ही अन्तर्मग्न रखता है। व्यवहार रत्नत्रय तो कथनमात्र है। इससे आत्मा आत्मा में मग्न होता है।

भाई! विकल्प से निर्विकल्प वस्तु किसप्रकार ध्यान में आ सकती है।

प्रथम मंगलाचरण में – 'नमः समयसाराय' कलश में जैसे अस्ति से बात कही है; उसीप्रकार यहाँ भी अस्ति से ही बात की है। समयसार अर्थात् चित्स्वभावी नित्यानन्द प्रभु भगवान आत्मा, 'स्वानुभूत्या चकासते' यह कहकर स्वानुभूतिदशा से प्रकाशित – इसतरह 'पर्याय' की बात की तथा चित्स्वभावाय कहकर 'गुण' की बात की है। भावाय कहकर 'द्रव्य' कहा तथा 'सर्वभावान्तरच्छिदे' कहकर सर्वज्ञता सिद्ध की। इसप्रकार पहले कलश में आत्मा द्रव्य, अचलचेतना गुण एवं आत्मा में मग्नता – यह पर्याय ली है।

इसतरह अस्ति से कहने पर नास्ति की बात स्वतः आ जाती है। शास्त्रों में मंगलाचरण तीन बार आता है – १. आदि मंगल, २. मध्य मंगल एवं ३. अन्त मंगल। कलश १२२ में मध्य मंगल आ गया है। वहाँ कहा है कि – शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से कर्मबन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है। यह शास्त्र का निचोड़ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'जिसने मोह का नाश किया है' – यह व्यवहार का वचन है, वस्तुतः तो पर की सावधानी का भाव ही नहीं होता, फिर मोह का नाश किया – यह बात कहाँ ठहरती है? किन्तु व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। अहाहा ..! चैतन्य के आश्रय से जो चैतन्य का निर्मल उपयोग प्रगट हुआ वह अत्यन्त निर्विकार है।

भगवान आत्मा का स्वभाव कर्मों से भिन्न है, विरुद्ध है। अस्ति से ज्ञान, आनन्द आदि स्वभाव जब पूर्ण प्रगट हो गया, तब कर्म का नाश हो ही जाता है। इसे ही कर्म की ओर से कहें तो व्यवहार से – ऐसा कहा जाता है कि उसने मोह का नाश किया।

अहाहा.....! जैसा आत्मा द्रव्य-गुण से निर्मल है, वैसा ही वह स्व-आश्रय से पर्याय में निर्मल, पूर्ण प्रगट हुआ है अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्याय का निर्मल और पूर्ण प्रगट हो जाना ही साध्यरूप सिद्धदशा है।

अहाहा....! ऐसी उदय को प्राप्त अमृतमय चन्द्रमासमान ज्ञानज्योति सर्व ओर से जाज्वल्यमान रहो। ऐसा स्वयं ही स्वयं को आशीर्वाद दिया है।

अब श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं। ❖

'अज्ञानदशा में आत्मा स्वरूप को भूलकर राग-द्वेष में प्रवृत्त होता था, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता बनता था, क्रिया के फल का भोक्ता होता था – इत्यादि भाव करता था; किन्तु अब ज्ञानदशा में वे भाव कुछ भी नहीं हैं ऐसा अनुभव किया जाता है। इसी अर्थ का प्रथम श्लोक कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल।।२७७।।

श्लोकार्थ – (**यस्मात्**) जिससे (अर्थात् जिस पर संयोगरूप बन्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायजनित अज्ञान से) (**पुरा**) प्रथम (**स्व-परयोः द्वैतम् अभूत्**) अपना और पर का द्वैत हुआ (अर्थात् स्वपर के मिश्रितपनारूप भाव हुआ), (**यतः अत्र अन्तरं भूतं**) द्वैतभाव होने से जिससे स्वरूप में अन्तर पड़ गया (अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), (**यतः राग-द्वेष-परिग्रहे सति**) स्वरूप में अन्तर पड़ने पर जिससे राग-द्वेष का का ग्रहण हुआ, (**क्रिया-कारकैः जातं**) राग-द्वेष का ग्रहण होने पर जिससे क्रिया के कारक उत्पन्न हुए (अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्मादि कारकों का भेद पड़ गया), (**यतः च अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुंजाना खिन्ना**) कारक उत्पन्न होने पर जिससे अनुभूति क्रिया के समस्त फल को भोगती हुई खिन्न हो गई (**तत् विज्ञान-घन-ओघ-मग्नम्**) वह अज्ञान अब विज्ञानघन समूह में मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूप में परिणमित हुआ) (**अधुना किल किंचित् न किंचित्**) इसलिए अब वह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है।

भावार्थ – परसंयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था; इसलिए अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान) कुछ भी नहीं रहा। अज्ञान के निमित्त से राग, द्वेष, क्रिया के फल का (सुख-दुःख का) भोक्तृत्व आदि भाव हुए थे, वे भी विलीन हो गये हैं; एकमात्र ज्ञान ही रह गया है; इसलिए अब आत्मा स्व-पर के त्रिकालवर्ती भावों को ज्ञाता-दृष्टा होकर जानते-देखते ही रहो।

कलश २७७ पर प्रवचन

यह कलश बहुत मार्मिक है। कर्म के निमित्त से जो राग-द्वेषमय पर्याय उत्पन्न हुई, वह बन्धजनित पर्याय है। भावबन्ध बन्धजनित अवस्था है। यह बन्धजनितपर्याय आत्मा की वस्तु नहीं है, उसे अपनी मानना अज्ञान है, मिथ्याभाव है। यह बन्धजनितपर्याय वस्तुतः कर्म के कारण उत्पन्न नहीं होती। यह अपनी तत्समय की योग्यता के कारण उत्पन्न होती है। इसे कर्मजनित कहना व्यवहारनय है। शास्त्रों में ऐसे व्यवहारनय के कथन आते हैं। उन्हें निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया व्यवहार का कथन समझना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहाहा......! स्वयं शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु है। उसे घात करके जो विकारी पर्याय अपने में उत्पन्न होती है, वह अपने से अपने कारण उत्पन्न होती है। ये जो महाव्रतादि के अथवा भक्ति के विकल्प होते हैं, वह राग है, विभाव है, संयोगी भाव है। उसको चैतन्यस्वभाव के साथ एकपने मानना द्वैत है, विसंवाद है। गाथा 3 में आता है कि – भगवान आत्मा से पर, राग का सम्बन्ध कहना विसंवाद करनेवाली कथा है तथा द्रव्यस्वभाव में एकत्व प्राप्त करना सर्वसुन्दर है।

अहाहा.......! जिसके अस्तित्व में अकेला ज्ञानानन्द स्वभाव भरा है, उसको निजसत्ता की दृष्टि बिना राग पर लक्ष्य जाने पर अज्ञान उत्पन्न होता है। अहा! मैं तो एक चिन्मात्र वस्तु हूँ। ज्ञान में राग नहीं एवं राग में ज्ञान नहीं है– यह परमार्थ सत्य है; तथापि अनादि निगोद से लेकर अज्ञानी को स्व-पर की एकता से अज्ञान उत्पन्न हो गया है। शुद्ध चैतन्य तो अकेला अद्वैत है, इसमें राग को, पर को मिलाने से द्वैत हुआ है जो कि जीव को महादुःखद है, विसंवाद करनेवाला है। इस राग की पकड़ के कारण ज्ञानानन्द प्रभु दूर रह गया, स्वरूप की प्राप्ति में विघ्न पड़ गया।

अरे भाई ! भगवान केवली तो यह कहते हैं कि – मेरे सामने मत देख; क्योंकि मेरे सामने देखते ही राग उत्पन्न होता है, उससे दुःख होता है; इसलिए तू अपने स्वयं की ओर देख, स्वसन्मुख हो और अन्तर में देख! उससे तुझे आनन्द प्रगट होगा।

अहाहा.........! स्व-स्वरूप आनन्दकन्द दूर हो जाने पर राग-द्वेष का ग्रहण हुआ और राग का ग्रहण होने पर राग की क्रिया के षट्कारक उत्पन्न हुए। रागादि का मैं कर्त्ता व रागादि मेरे कर्म, रागादि का मैं करण इत्यादि अज्ञानरूप रागादि क्रिया के षट्कारक उत्पन्न हुए। अहा ! यह भूख कैसे हुई और इसका परिणमन क्या होता है – अब यह बताते हैं –

अज्ञानी को अपनी भूल की खबर नहीं है। वह तो ऐसा समझता है कि – दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व हुआ है, जबकि दर्शनमोह तो जड़ है और जो आत्मा की पर्याय में विकार होता है वह चिदाभास है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोनों के बीच अत्यन्ताभाव है; इसकारण कर्म आत्मा का क्या कर सकते हैं, कुछ भी नहीं कर सकते हैं। परमार्थ से भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट ही है।

अनादि से इस अज्ञानी जीव को द्रव्य की दृष्टि छूटी हुई है। इसकारण अनादि से इसे परद्रव्य की पकड़ है। राग अपनी वस्तु नहीं होते हुए भी अज्ञान के कारण राग की पकड़ हो रही है, इससे राग की क्रिया के षट्कारक राग की पर्याय में हैं, कर्म आदि परद्रव्य में नहीं तथा द्रव्य-गुण में भी नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही हैं।

अहाहा.........! 'मैं राग हूँ' राग में ऐसी एकताबुद्धि से राग का फल भोगते हुए हुए खेदखिन्न हो गया। भले शुभराग हो तो शुभराग में भी खेदखिन्न ही हो गया। उसने खेद को ही भोगा है।

जो मिथ्यादृष्टि नवग्रैवेयक जाते हैं, उनके शुक्ललेश्या का परिणाम होता है; किन्तु यह कोई महत्त्वपूर्ण बांत नहीं है। इन छहों लेश्या में रागभाव है, क्लेशभाव है। शुक्ललेश्या भी कषाय के रंग से ही रंगी हुई है। लोग प्रशस्त राग को भला मानते हैं; किन्तु इन्हें तो अशुभ की अपेक्षा प्रशस्त कहा है; किन्तु वस्तुतः तो ये भी कर्म की जाति के हैं। इनकी रुचि में आत्मा स्वरूप से तो दूर रहा है।

'क्रिया के समस्त फल को भोगता' – ऐसा जो शब्द है, उसका अर्थ यह है कि जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है उसका फल भोगता है। अहा ! आत्मा का अनुभव तो है नहीं, स्वभावसन्मुखता है नहीं और राग व विभाव की सन्मुखता है, इससे वह उस काल में राग-द्वेष का दुःख भोगता है। ऐसा कहते हैं।

देखो, यहाँ कहते हैं कि – 'तत् विज्ञान ओघं मग्नम्' अर्थात् दृष्टि ने ज्यों ही पलटा खाया, वहीं अन्दर राग की एकत्वबुद्धि मिटकर विज्ञानघन रूप हो जाती है।

'मैं विज्ञानघन आत्मा ही हूँ' – ऐसी दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। विज्ञानघन के ओघ में, समूह में समा जाता है। द्रव्य में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पारिणामिक भाव से मिल जाता है।

चाहे अज्ञान की क्षयोपशमदशा हो, चाहे सम्यग्ज्ञान की क्षयोपशमदशा हो, ये नष्ट होकर जल में तरंग की भांति द्रव्य में समा जाती हैं। भले राग की पर्याय हो या अज्ञान की पर्याय हो -- वह सत् है और उसका व्यय होकर अन्दर द्रव्य में योग्यतारूप से विलीन हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो सत् का अभाव हो जायेगा और सत् का अभाव होने पर अन्दर में योग्यता ही नहीं रहेगी। यहाँ तो यह कहते हैं कि वह अज्ञान अब विज्ञानघन के समूह में मग्न हो गया अर्थात् अज्ञान का व्यय होकर सम्यग्ज्ञान हो गया। पहले जो अज्ञानदृष्टि थी, विपरीतदृष्टि थी, पर्यायदृष्टि थी वह पलटकर अब द्रव्यदृष्टि हो गई। 'मैं विज्ञानघन परम प्रभु हूँ' – ऐसा दृष्टि एवं ज्ञान का परिणमन हो गया। परिणमन हुआ है, विकल्प नहीं। जबतक विकल्प रहते हैं, तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह बात कर्ता-कर्म अधिकार में भी आ गई है।

कलश २७८ की उत्थानिका पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ, एक ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि होने पर शरीर की, वाणी की व राग की क्रिया अपनी नहीं भासती। अहा ! ज्ञानपर्याय राग से विमुख होकर जब स्वभाव के सन्मुख हो गई, अपना अस्तित्व पूर्णस्वरूप से अनुभव में आ गया तो फिर ज्ञानी को शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया और व्यवहार के विकल्पों का मैं कर्त्ता हूँ – ऐसा पर में कर्तापना भासित नहीं होता। देखो, यह है धर्म और धर्मी की अन्तर्दशा।

अहाहा........! ज्ञानानन्दस्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा पूर्णविज्ञान-घन प्रभु है। उसका अनुसरण करके जो अनुभव हुआ, वह अनुभव कैसा है? तो कहते हैं कि –

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप।।

अहा ! आचार्य कहते हैं कि -- अरे ! मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसा विकल्प

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी जहाँ नहीं है, वहाँ शब्दों की रचना मैंने की – यह क्रिया मेरी है और मैं इसका कर्त्ता हूँ' ऐसा स्थूल विकल्प होना कैसे संभव है ?

अतः यहाँ कहते हैं कि – जो ऐसा मानता है कि – मैंने भाषण दिया या उपदेश दिया – ऐसा मानना मिथ्यात्वभाव है, मिथ्या-अभिमान है। भाई ! तू उपदेश की भाषा का कर्त्ता कौन ? क्या उस भाषा का कर्त्ता आत्मा है ? नहीं, आत्मा तो जड़भाषा का कर्त्ता है नहीं। भगवान की जो दिव्यध्वनि खिरती है, उस दिव्यध्वनि के कर्त्ता भी भगवान नहीं हैं। दिव्य-ध्वनि स्वयं से प्रामाणिक है। भगवान से वाणी की प्रामाणिकता कहना तो व्यवहार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि – यह व्याख्या (टीका) मैंने की है, मुझ से हुई है – ऐसा नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ, स्वरूपगुप्त हूँ, भाषा की क्रिया मेरी नहीं है। शब्दों को मैंने गूंथा भी नहीं है।

यहाँ दूसरी बात यह है कि – सत्य उसे कहते हैं जिसमें दूसरे नय की अपेक्षा हो अर्थात् जो सुनय सापेक्ष है। सापेक्षता का अर्थ है पर्याय, भेद एवं राग का लक्ष्य छोड़ना; पर उनकी अपेक्षा रखना। यही इसकी सापेक्षता है। जैसे कि – स्वभावसन्मुख होने पर निश्चयनय प्रगट हुआ तो निश्चयनय को दूसरे नय की अपेक्षा होना चाहिए कि नहीं ? हाँ, पर की, राग की एवं भेद की अपेक्षा ही दूसरे नय की अपेक्षा है। यह सुनय की व्याख्या की है। कुनय में दूसरे विस्तृत धर्म की अपेक्षा नहीं है।

नियमसार की दूसरी गाथा में आता है कि – शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है। देखो, निश्चय मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है, उसमें व्यवहार का लक्ष्य नहीं, व्यवहार की उसमें अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार निश्चयनय को व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। भाई ! ऐसा अन्तर का मार्ग अनन्तकाल में इस अज्ञानी ने समझा नहीं है। बाह्य में क्रियाकाण्ड करके ही भावमरण करता रहा है; किन्तु इसने अन्तर आत्मा को लक्ष्य में नहीं लिया। अरे ! जो उपेक्षा योग्य है, उसकी तो अपेक्षा की और जिसकी अपेक्षा करनी थी, उसकी उपेक्षा की। यही अनर्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अबतक हुआ है।

'पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानदशा में पर की क्रिया अपनी भासित न होने से, इस समयसार की व्याख्या करने की क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है' – इस अर्थ का, समयसार की व्याख्या करने की अभिमानरूप कषाय के त्याग का सूचक श्लोक अब कहते हैं –

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै–
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः।।२७८।।

श्लोकार्थ – (**स्व-शक्ति-संसूचित-वस्तुतत्त्वैः शब्दैः**) जिनने अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व (यथार्थ स्वरूप) को भलीभांति कहा है ऐसे शब्दों ने (**समयस्य इयं व्याख्या**) समय की यह व्याख्या (आत्मवस्तु का व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र की टीका) (**कृता**) की है; (**स्वरूपइयंगुप्तस्य अमृतचन्द्रसूरेः**) स्वरूपगुप्त (अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूपगुप्त) अमृतचन्द्र-सूरि का (इसमें) (**किंचित् एव कर्तव्यम् न अस्ति**) कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

भावार्थ – शब्द तो पुद्गल हैं। वे पुरुष के निमित्त से वर्ण-पद वाक्यरूप से परिणमित होते हैं; इसलिए उनमें वस्तुस्वरूप को कहने की शक्ति स्वयमेव है; क्योंकि शब्द का और अर्थ का वाक्यात्मक सम्बन्ध है। इसप्रकार द्रव्यश्रुत की रचना शब्दों ने की है – यही बात यथार्थ है। आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है; इसलिए वह मूर्तिक पुद्गल की रचना कैसे कर सकता है ? इसीलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'इस समयप्राभृत की टीका शब्दों ने की है, मैं तो स्वरूप में लीन हूँ, उसमें (टीका करने में) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यदेव की निरभिमानता को भी सूचित करता है; पर निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुष ने यह अमुक कार्य किया है। इस न्याय से यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत ही है; इसलिए पढ़ने-सुननेवालों को उनका उपकार मानना भी युक्त है; क्योंकि इसके पढ़ने-सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्या ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

कलश २७८ पर प्रवचन

देखो, आचार्यदेव कहते हैं – वस्तुस्वरूप को यथार्थ कहनेवाले इस समयसार की टीका शब्दों से बनी है, मुझसे नहीं। शब्दों के गूंथने की क्रिया शब्दों से ही हुई है, मुझसे नहीं। स्व-पर को कहने की शक्ति शब्दों की स्वयं की है। यदि कोई यह कहता है कि शब्दों की रचना मैंने (आ. अमृतचन्द्र ने) की है तो यह उसकी मूढ़ता है। अरे भगवान! मैंने तो शब्दों का स्पर्श ही नहीं किया और न शब्दों ने मुझे स्पर्श किया। जगत के अनंत पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, एक-दूसरे को छूते ही नहीं हैं तो फिर वे एक-दूसरे के कर्त्ता कैसे हो सकते हैं?

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वस्तुतः बात यह है कि समयसार की टीका तो आचार्यदेव ने ही की है; परन्तु अपनी लघुता बताने हेतु उन्होंने यह कलश लिखा है। जैसा कि प्रायः लोकव्यवहार में भी सज्जन लोग कहा करते हैं। उनसे आचार्य कहते हैं कि – सचमुच मैंने कुछ नहीं किया। अरे भाई! शब्द तो जड़-पुद्‌गल की पर्याय है, आत्मा उसकी रचना कैसे कर सकता है? मैं तो गुप्त हूँ, ज्ञानस्वभाव में रहता हूँ, वाणी की पर्याय उसके परमाणुओं से हुई है।

व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि समयसार के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं और उसके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र हैं, सो यह तो निमित्त का ज्ञान कराया गया है। वस्तुतः ग्रन्थ की रचना तो शब्दों के परमाणुओं से हुई है। – ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान आचार्य अमृतचन्द्र ने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कराया है। वस्तुतः तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का काम करता ही नहीं है, यह अकाट्य सिद्धान्त है। इसे जानने और मानने से ही सच्ची निरभिमानता आती है। माने तो ऐसा कि मैंने किया और कहे कि मैंने नहीं किया – इसमें निरभिमान रहना कैसे संभव है ? यदि कोई ऐसा कहेगा तो वह तो छल की श्रेणी में ही गिना जायेगा।

अहा ! आचार्यदेव कहते हैं कि – मैं जीव हूँ, शब्द अजीव हैं, मैं चैतन्य हूँ, शब्द जड़ हैं। मैं अमूर्तिक-अरूपी हूँ, शब्द मूर्तिक-रूपी हैं। मैं तो ज्ञानमात्र स्वभाव में गुप्त हूँ, मैं शब्दों में गया ही नहीं तो फिर मैं वाणी की रचना का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? इस वाणी की रचना में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। बस यह आचार्यदेव की निर्मानता है।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका समाप्त हुई।

अब पण्डित जयचन्दजी भाषाटीका पूर्ण करते हुए कहते हैं –

(सवैया)

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं;
देश की वचनिका में लिखि जयचन्द पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्प बुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो-सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनूं।।१।।

(दोहा)

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनन्त;
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त।।२।।

इसप्रकार इस समयप्राभृत (अथवा समयसार) नामक शास्त्र की आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमें संस्कृत टीका अर्थ लिखा है और अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है। संस्कृत टीका से न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाय तो अनुमान प्रमाण के पांच अंगपूर्वक-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन पूर्वक-स्पष्टता से व्याख्या करने पर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाय; इसलिए आयु, बुद्धि, बल और स्थिरता की अल्पता के कारण, जितना बन सकता है उतना, संक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थ को समझना। किसी अर्थ में हीनाधिकता हो तो बुद्धिमानजन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदाय का (गुरु परम्परागत उपदेश का) व्युच्छेद हो गया है; इसलिए जितना हो सके उतना यथाशक्ति अभ्यास हो सकता है; तथापि जो स्याद्वादमय जिनमत की आज्ञा मानते हैं; उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं कोई अर्थ को अन्यथा समझना भी हो जाय तो विशेष बुद्धिमान निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।

अहाहा.......! जैसा चैतन्यदेव प्रभु आत्मा है, वैसा ही शुद्धात्मा का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस समयसार में प्रसिद्ध किया है और आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका रची है। तथा पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने वर्तमान में चलती हिन्दी भाषा में संस्कृत टीका का अर्थ एवं ऐसा सरल, संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, जिससे अल्पबुद्धि जीव भी समझ सकते हैं। संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं।

अब अन्त मंगल के प्रयोजन से पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके शास्त्र को समाप्त करते हैं –

मंगल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवज्झाय मुनि मंगलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे;
अठबीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूँ पंचगुरुचरणकूं मंगल हेतु करार हैं।।१।।

अहा! जिन्होंने चार घातिकर्मों का नाश करके परमात्मपद प्राप्त किया है, वे अनन्तचतुष्टयधारी अरहन्त हैं। जो शरीररहित होकर अकेले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूर्ण आनन्दमूर्ति-ज्ञानमूर्ति आत्मरूप हुए हैं और जिन्होंने सर्व पराश्रय का नाश किया है, वे सिद्ध भगवान हैं तथा वीतरागी संत, आत्मा के आनन्द के साधक आचार्य, उपाध्याय और मुनि – ये पंच परमेष्ठी मंगलमय हैं।

आचार्य दीक्षा-शिक्षा देकर भव्य जीवों को तारते हैं। २८ मूलगुणों को धारण करनेवाले सर्वसाधु अनगार हैं। ये मंगल के हेतु के करनेवाले होने से मैं इन पंच परमेष्ठी के चरणों में नमस्कार करता हूँ। पाप का नाश एवं पवित्रता की प्राप्ति में जो निमित्त हैं–ऐसे पंचपरमेष्ठी को यहाँ मंगल कहा है।

अब पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा अपनी बात करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जैपुर नगरमाँही तेरापंथ शैली बड़ी
बड़े बड़े गुनी जहाँ पढ़ैं ग्रन्थ सार हैं,
जयचन्द्र नाम मैं हूँ तिनिमें अभ्यास किछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागतें विचार हैं;
समयसार ग्रन्थ ताकी देशके वचनरूप
भाषा करी पढ़ो-सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूँ, यहै बात सार है।।२।।

(दोहा)

संवत्सर विक्रम तणूं, अष्टादश शत और;
चौसठि कार्तिक बदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर।३।।

जयपुर नगर में जैनों की बहुत भारी संख्या है, उनमें एक तेरा पंथियों की बहुत बड़ी शैली (स्वाध्याय करनेवालों का समूह) है, अनेक मन्दिर हैं, बड़े-बड़े गुणीजन धर्मग्रन्थों का अभ्यास करते हैं। उनमें जयचन्द नाम का मैं भी एक व्यक्ति हूँ, जो अपनी भक्ति के अनुसार थोड़ा-बहुत अभ्यास करता हूँ। अपनी बुद्धि के अनुसार देशभाषा में समयसार ग्रन्थ का अर्थ लिखा है। उसे जानो, समझो और निर्णय करो। आपने इस ग्रन्थ को समझा – ऐसा कब कहा जाय? तो कहते हैं कि – जब कहे प्रमाण समझ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

-कर अन्तर में स्व-संवेदन करे, अन्दर आनन्द की अनुभूति प्रगट करे तब यह कहा जायेगा कि हमने पढ़ा है, सुना है एवं समझा है। इसलिए स्व-पर का भेद जानकर हेय को त्याग दो और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करो।

बस, इस सम्पूर्ण कथन का इतना ही सार है। इसके बिना शेष सब श्रम व्यर्थ है।

इसप्रकार इस महान ग्रन्थ पर परमोपकार की भावना रखनेवाले आत्मज्ञसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने जो सारगर्भित प्रवचन किये, वे यहाँ पूर्ण हुए। ❖ ❖ ❖

परतंत्रता की श्रद्धा में दुःख ही है

यहाँ यह हजारों आत्मा आये हैं सो किसलिए ? यह सब सुख का मार्ग समझ कर सुखी होने के लिए आये हैं। कोई भी आत्मा नरक में जाने और दुःखी होने की इच्छा नहीं करता। सुख स्वाधीनता में होता है या पराधीनता में ? यदि सुख पर के आधीन हो तो वह नष्ट हो जाय और दुःख आ जाय, परन्तु सुख स्वाधीन है और वह आत्मा में ही स्वतंत्ररूप में विद्यमान है किसी परवस्तु की उपस्थिति से आत्मा को सुख मिलता है यह मान्यता गलत है, पराधीन दृष्टि है और वह महा दुःख देनेवाली है। पैसा इत्यादि से मुझे सुख मिलता है अथवा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु से आत्मा के धर्म होता है इसप्रकार जो परद्रव्य की आधीनता की मान्यता है सो आत्मा की अपनी शक्तिमें लूला, लंगड़ा बना देनेवाली है। भला ऐसा होना किसे अच्छा लगेगा। जो जीव परवस्तु से अपने में सुख–दुःख मानता है उसे जीव ने अपने को शक्तिहीन लूला, लंगड़ा मान रख है, जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वह आत्मशक्ति को नहीं पहचानता और इसीलिए व जीव चार गति में दुःखी हो रहे हैं। जगत के जीव अपनी आत्मा की सामर्थ्य की सम्भाल नहीं करते और आत्मा को परावलंबी मानकर उससे सुख-शांति है ही नहीं। स्वतंत्रता की यथार्थ मान्यता न हो तो उसे स्वतंत्र सुख कदापि नहीं मिल सकता, इसलिए परतंत्रता की (निमित्ताधीनता की) श्रद्धा में दुःख ही है। धर्म अथवा सुख तो आत्मा की पहिचान के द्वारा ही होता है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : मूल में भूल, पृष्ठ – ८०–८१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com